प्रकाशक :

नागरीप्रचारिणी सभा,

वाराणसी

प्रथम संस्करण :

सं० २०२६ वि०

११०० प्रतियाँ

मूल्य : ३०-७०

मुद्रक :

मधुकर प्रेस

मध्यमेश्वर, वाराणसी—१

श्रद्धेय गुरुदंपति—

आचार्य डॉ० भगीरथ मिश्र

तथा

स्नेहमयी सौ० हेमादेवी मिश्र

के

कर कमलों में

सादर

समर्पित

—कृष्ण दिवाकर

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी जिन ग्रंथमालाओं द्वारा हिंदी को श्रीसंपन्न बनाने का प्रयत्न किया है, उनमें 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला' का विशिष्ट योगदान है। प्राचीन ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ होने पर खोजविवरण के प्रकाशन के साथ ही हिंदी के विशेष लाभ की दृष्टि से सभा ने यह भी अनुभव किया कि खोज में प्राप्त चुने हुए ग्रंथों का प्रकाशन भी हो। उसने संवत् १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला' का आयोजन किया। आरंभ में इसकी पृष्ठसंख्या ६४ और मूल्य आठ आने स्थिर किए गए। वर्ष में इसके चार अंकों के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। इस ग्रंथमाला के संवत् १९७६ तक ६४ अंक प्रकाशित हुए। इस समय तक इस ग्रंथमाला के संपादक क्रमशः श्रीराधाकृष्णदास (संवत् १९६१ तक) थे, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी (सं० १९६५ तक), श्री माधवप्रसाद पाठक (सं० १९६७ तक) और श्री श्यामसुंदरदास (संवत् १९७६ तक) रहे। प्रांतीय सरकार ने इस ग्रंथमाला की उपयोगिता के कारण ३०० रुपया वार्षिक की सहायता पाँच वर्षों के लिये संवत् १९६१ से देना स्वीकार किया। फलस्वरूप इसकी पृष्ठसंख्या ८० कर दी गई, पर इसका मूल्य आठ आने ही रहने दिया गया। इस ग्रंथमाला में तबतक ग्रंथ खंडशः प्रकाशित होते थे। संवत् १९७७ से इस ग्रंथमाला में पूरे ग्रंथों का प्रकाशन आरंभ हुआ। अलवरनरेश श्रीमंत महाराज सवाई जयसिंहजी ने इस ग्रंथमाला के लिये ५ हजार रुपया सभा को प्रदान किया। तब से यह ग्रंथमाला निरंतर प्रकाशित हो रही है जिसमें अबतक ६३ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। पृथ्वीराज रासो जैसा बृहत् ग्रंथ सभा ने इसी माला में प्रकाशित किया था। इस माला में अब निम्नांकित ग्रंथ प्राप्त हैं—

१—भक्तनामावली, २—हम्मीररासो, ३—भूषण ग्रंथावली, ४—जायसी ग्रंथावली, ५—तुलसी ग्रंथावली, ६—कबीर ग्रंथावली, ७—सूरसागर, ८—खुसरो की हिंदी कविता, ९—प्रेमसागर, १०—रानी केतकी की कहानी, ११—नासिकेतोपाख्यान, १२—कीर्तिलता, १३—हमीर हठ, १४—नंददास ग्रंथावली, १५—रत्नाकर, १६—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, १७—

हिंदी टाइपराइटिंग, १८-हिंदी साहित्य का इतिहास, १९—घनानंद और उनकी स्वच्छंद काव्यधारा, २०—प्रतापनारायण ग्रंथावली, २१-तुलसीदास, २२-हिंदी में मुक्तक काव्य का विकास, २३—नाटक के तत्व, २४—तोष और सुधानिधि, २५—खालिकबारी, २६—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त खोज विवरण, २७—रसरतन, २८-द्विजदेव और उनका काव्य, २९—नाटक और यथार्थवाद, ३०—उग्र और उनका साहित्य। इस ग्रंथमाला में प्रकाशित होनेवाला यह ६४वाँ पुष्प है।

शौरसेनी प्राकृत वस्तुतः मध्यदेशीय प्राकृत थी। कुछ दृष्टियों से उसे भारत की केंद्रदेशस्थ प्राकृत कहा जा सकता है। मध्यकालीन शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृतों और अपभ्रंशों में कितना अधिक साम्य एवं नैकट्य था—इसे भाषाविज्ञ भलीभाँति जानते हैं। इस ऐतिहासिक परिवेश में शौरसेनी और महाराष्ट्री अपभ्रंशों या तदुत्तरकालीन लोकभाषाओं से विकसित हिंदी (व्रजभाषा सहित) और मराठी भाषा के साहित्यकारों एवं कवियों की घनिष्ठ संपृक्ति सहज हो उठती है। अतः भोसला राजदरबार से संबद्ध हिंदी के कृतिकारों का अनुशीलन विशेष महत्त्व रखता है। इस कारण उक्त विषय का शोधपरक अध्ययन अपने आप में तो महत्त्वपूर्ण है ही, हिंदी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उसका विशिष्ट स्थान हो जाता है। साहित्यनिर्माण के लिये प्रयुक्त भाषा की क्षेत्रविस्तृति के संदर्भ में विवेच्य पक्ष का शोध और आकलन—निश्चय ही बड़ा मूल्यवान माना जायगा।

प्रस्तुत 'प्रबंध' को यदि इस परिप्रेक्ष्य से देखा जाय तो भोंसला-दरबार-संबद्ध हिंदी कवियों का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण लगता है और भोंसला राजाओं की हिंदी भाषा के प्रति स्वकीयता के भाव की गुरुता और भी बढ़ जाती है। उन राजाओं ने अपने शासनकाल में संस्कृत के बाद हिंदी को सहज और निःसंकोच रूप से व्यापक भाषा के पद पर बैठाया। उनकी भविष्यदर्शी राष्ट्रीय दृष्टि ने संस्कृत के अनेक गौरवशाली ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद कराया। इसी तथ्यचेतना के कारण उनके दरबार में चिंतामणि, भूषण, लोकमणि, सीताराम, संकर कवि आदि हिंदी भाषी कवियों को दरबारी संमान, आश्रय और प्रतिष्ठा अर्पित की गई और जयराम, देवनाथ, रामदास, नृपशंभु, शहाराम सुकवि आदि अनेक मराठी भाषी संस्कृत मराठी के कवियों ने हिंदी में भी काव्यरचना को आवश्यक समझा। इन कवियों में कुछ तो स्वयं राजा भी थे। प्रस्तुत शोध प्रबंध में कवि नामों की भारी संख्या सामने

आई है—उसे देखकर कम आश्चर्य नहीं होता। इन कवियों में अनेक तो अल्प ज्ञात हैं पर कुछ अज्ञात भी हैं। चिंतामणि जैसे मुख्य कवियों के अज्ञात ग्रंथों की उपलब्धिसूचना भी इस प्रबंध से मिलती है। ग्रंथागारों की अश्रांत यात्रा, लगन के साथ मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते हुए सुधी ग्रंथकार ने अपने शोधकार्य का जो फल प्रस्तुत किया हैं वह स्वागतार्थ और प्रशंसनीय है। इस कृति द्वारा अनेक कवियों और अज्ञात ग्रंथों को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है।

इसके साथ ही साथ ग्रंथ में लेखक ने एक और कार्य किया है। हिंदी साहित्य के इतिहास से संबद्ध अनेक पक्षों के विवेचन द्वारा कुछ ऐसी सामग्री भी शोधकार ने उपस्थित की है जो ऐतिहासिक संदर्भ में कम महत्त्व की नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहास परक अध्ययन में सहायक ही नहीं संभवतः वह आवश्यक भी होगी। इस शोधग्रंथ के अलावा भी ग्रंथकार के चार ग्रंथ प्रकाशित और विद्वानों में आदृत हो चुके हैं। अतः विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रंथ में आकलित सामग्री का विद्वज्जन उचित मूल्यांकन करेंगे। यह भी आशा है कि अपनी शोधवृत्ति और सामग्री-संकलन-क्षमता के प्रभाव से डा० कृष्ण दिवाकर द्वारा भविष्यत् में इस क्षेत्र की और भी बहुमूल्य सामग्री प्रकाश में लाई जायगी।

प्रबोधनी ११, सं० २०२६

करुणापति त्रिपाठी
प्रकाशन मंत्री,

प्रस्तावना

देश की एकता और राष्ट्रीय एकसूत्रता का एक बहुत बड़ा आधार देश में प्रचलित राष्ट्रभाषा के द्वारा निर्मित होता है। भारत देश की एकता के लिये राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत संस्कृत भाषा ने वह आधार तैयार किया था। एक समय था जब संस्कृत भाषा का व्यवहार सारे देश में होता था और उसमें साहित्य रचना राष्ट्रीय गौरव का कार्य माना जाता था। संस्कृत के उपरांत जिस भाषा पर यह गंभीर दायित्व आया वह हिंदी भाषा थी। आज के राजनीतिक वातावरण में यह बात कुछ अटपटी लग सकती है किंतु जब हम विभिन्न भारतीय प्रदेशों के निर्मित हिंदी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा लगता है कि यह बात पूर्णतः सत्य है और हमारे मन में शंकाएँ एवं भ्रम तथ्यों की पूर्ण जानकारी के अभाव के कारण हैं। हिंदी भाषा में साहित्यरचना का कार्य अहिंदी क्षेत्रों और अहिंदी भाषाभाषियों के द्वारा एक बहुत बड़े परिमाण में किया गया है। असम, बंगाल, पंजाब, गुजरात, आन्ध्र आदि प्रदेशों में किए गए कार्यों के साथ साथ बहुत बड़ा भाग इस कार्य का है जो कि महाराष्ट्र में संपादित हुआ।

यों तो महाराष्ट्र की मराठी भाषा भारतीय आर्य परिवार की भाषा है फिर भी हिंदी से उसकी काफी भिन्नता है। परंतु हिंदीभाषी प्रदेश के साथ संपर्क, संबंध तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कारण महाराष्ट्र प्रदेश का योगदान राष्ट्रभाषा हिंदी के विकास के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है, यह बात केवल आधुनिक राष्ट्रीय चेतना और दृष्टिकोण के कारण ही नहीं वरन् पूर्ववर्ती ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी सत्य सिद्ध होती है।

जिस समय पूना विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष के रूप में मैं कार्य कर रहा था उस समय मुझे जयराम पिंड्येकृत 'राधामाधवविलास चंपू' के पढ़ने का सुयोग मिला और उसमें उल्लिखित महाराज शहाजी के दरबार में बारह भाषाओं के कवियों और उनमें अनेक हिंदी कवियों का विवरण देखकर मेरे मन में यह विचार जाग्रत हुआ कि महाराष्ट्र प्रदेश से संबंधित हिंदी साहित्य की सूक्ष्मता से खोज की जानी चाहिए। इसके पहले भूषण और चिंतामणि जैसे प्रसिद्ध हिंदी कवियों का महाराष्ट्र के राजाओं से संबंध ज्ञात था ही। साथ ही इस बीच डा० विनयमोहन शर्मा का शोध-

प्रबंध 'हिंदी को मराठी संतों की देन' भी प्रकाशित हो चुका था। अतः संतेतर कवियों और साहित्यकारों पर कार्य करना मुझे आवश्यक जान पड़ा। उसी बीच प्राध्यापक कृष्ण दिवाकर मेरे संपर्क में आए और उन्होंने हिंदी में शोध कार्य करने की इच्छा प्रकट की। मैंने उनको यह सुझाव दिया कि महाराष्ट्र के भोंसला राजाओं से संबंधित कवियों की खोजबीन की जाय। प्राध्यापक दिवाकरजी को यह विषय रुचिकर लगा और उन्होंने खोजबीन प्रारंभ की। परंतु अनेक स्थानों पर भटकने के उपरांत बहुत कम सामग्री उनके हाथ लगी और अनेक बार वे निराशा ही लेकर लौटे। मेरे मन में यह विश्वास दृढ़ था कि इस विषय पर काफी सामग्री मिलनी चाहिए। इसलिये मैंने उन्हें बराबर प्रोत्साहित किया। अनवरत अध्यवसाय और अटूट विश्वास को लेकर श्रीयुत् दिवाकरजी ने अपना परिभ्रमण आरंभ किया और जब उन्होंने तंजावर के सरस्वती महल तथा हैदराबाद, नागपुर, धुलिया, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, बड़ौदा, प्रयाग और काशी के ग्रंथालयों और संग्रहालयों का अवलोकन किया तब उन्हें आश्चर्यकारी सामग्री प्राप्त हुई और पहले ऐसा लगा जैसे यह विषय एक शोधप्रबंध की सीमा के लिये अधिक विस्तृत हो, परंतु इस सारी सामग्री को समेटकर उन्होंने कार्य आरंभ किया जिसका परिणाम प्रस्तुत ग्रंथ है।

मेरे लिये स्वयं यह आश्चर्य की बात हुई कि जहाँ मैं केवल दो चार कवियों को ही जानता था वहाँ अब भोंसला राजाओं से संबंधित और आश्रित कवियों की संख्या लगभग साठ हो गई। प्रा० दिवाकरजी के सामने पहले तो कई कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं जिनमें मुख्य दो थीं—एक प्राचीन देवनागरीलिपि के हस्तलिखित ग्रंथों को पढ़ना और दूसरी पुरानी ब्रजभाषा को समझना। मुझे यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि उन्होंने अपनी उत्कट शोधवृत्ति और कठिन अध्यवसाय से इन दोनों कठिनाइयों पर विजय पाई और ऐसा कार्य संपन्न किया, जो हिंदी शोधपरंपरा में अपना स्थान बना सकेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ में विषय से संबंधित बहुत सी ऐसी सामग्री का भी परीक्षण किया गया है जो अनेक पूर्ववर्ती ग्रंथों में उपलब्ध तो थी पर तथ्यात्मक दृष्टि से उसमें कुछ भ्रांतियाँ थीं। मिश्रबंधु विनोद, हिंदी साहित्य का इतिहास तथा रीतिकालीन काव्य से संबंधित बहुत से ऐसे ग्रंथ थे जिनमें व्यापक और परिपूर्ण तथ्यों के अभाव में त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए थे। डॉ० दिवाकरजी

ने उनका परीक्षण करके वास्तविकता को प्रस्तुत किया। कुछ उल्लेखनीय प्रसंग ये हैं—चिंतामणि के आश्रयदाता साहि मकरंद नागपुर के मकरंदशाह न होकर शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले थे। भूषण शिवाजी और साहूजी दोनों से संबंधित थे। मतिराम को आश्रय देनेवाले शंभुनाथ सिंह सोलंकी न होकर नृपशंभु अर्थात् छत्रपति संभाजी थे। कवींद्राचार्य सरस्वती और परमानंद भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। पद्माकर के आश्रयदाता रघुनाथराव पेशवे न थे, आदि। इस प्रकार के अनेक तथ्यों के द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास के एक अल्पज्ञात पक्ष की समुचित जानकारी देकर उन्होंने साहित्य के ज्ञानक्षितिज का विस्तार किया है।

इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर यह आवश्यक हो गया है कि नवीन तथ्यों का प्रकाशन करने के पूर्व उसकी संबद्ध भूमिका दी जाय इसी लिये कुछ प्रसंग अधिक विस्तार से चर्चा के विषय बने हैं परंतु भ्रम और शंकाओं के निवारण के लिये उनका होना आवश्यक था। मुझे यह कहते हुए कोई संकोच नहीं है कि हिंदी शोधपरंपरा में यह एक उच्चकोटि का कार्य है। इसके द्वारा न केवल साहित्यकारों और उनकी रचनाओं से संबंधित नए तथ्य ही सामने आए हैं वरन् इतिहास और हिंदी भाषा के विस्तृत प्रचार प्रसार से संबंधित भी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। यह ग्रंथ डॉ० कृष्ण दिवाकरजी के गहन अध्यवसाय का परिणाम है।

डॉ० दिवाकर मूलत: और प्रवृत्तितः एक साहित्यिक अभिरुचि के अध्ययनशील अनुसंधायक हैं। मेरी हार्दिक कामना है कि वे उत्साहपूर्वक अपने बहुसंख्यक ग्रंथों द्वारा हिंदी शोधसाहित्य का समृद्ध करते रहें।

समस्त शुभकामनाओं सहित,

अध्यक्ष हिंदी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (मध्यप्रदेश)
१६, नवंबर १६६६

भगीरथ मिश्र

प्राक्कथन

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास में हिंदीभाषियों के अतिरिक्त अहिंदीभाषियों ने भी पर्याप्त मात्रा में सहयोग दिया है। इस तथ्य की पुष्टि अनुसंधान में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रंथों, समकालीन लेखकों की रचनाओं में प्राप्त उल्लेख तथा ऐतिहासिक संदर्भ आदि से सहज ही हो जाती है। मराठीभाषियों ने इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय कार्य किया है। अंतरप्रांतीय व्यवहार की देशभाषा के रूप में संस्कृत के पश्चात् उन्होंने हिंदी को ही स्थान दिया जिसके फलस्वरूप मराठीभाषी क्षेत्र में हिंदी को राजाश्रय तथा लोकाश्रय दोनों प्राप्त हुए। यहाँके अनेक संतों एवम् कवियों ने मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी काव्यरचना की है। महाराष्ट्र के अधिकांश मराठा राजाओं ने जिनमें भोंसला राजवंश प्रमुख रहा, हिंदी के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा। उन्होंने न केवल हिंदीभाषी कवियों को ही प्रोत्साहन दिया अपितु मराठीभाषियों द्वारा रचित हिंदी रचनाओं का भी सम्मान किया। इन राजाओं में शिवराज, शंभुराज तथा शाहजी के पौत्र शाहराज ने तो संस्कृत, मराठी के अतिरिक्त हिंदी भाषा में भी ग्रंथरचना कर हिंदी साहित्य में प्रत्यक्ष योगदान दिया है।

आज की विशेष परिस्थिति में अहिंदीभाषी प्रदेश की जनता में इस विश्वास का निर्माण करना आवश्यक है कि 'हिंदी भाषा तथा साहित्य' केवल हिंदीभाषियों की ही संपत्ति नहीं वरन् अहिंदीभाषी जनता की भी है। हिंदी के अतिरिक्त भारत के अन्य भाषाभाषी प्रदेशों ने हिंदी के विकास में जो सहयोग दिया उसका प्रामाणिक एवम् विस्तृत विवेचन प्रस्तुत होना चाहिए। यह प्रबंध इसी प्रकार का एक लघु प्रयास मात्र है। इसमें केवल मराठीभाषियों के द्वारा हिंदी के विकास में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जो सहयोग प्राप्त हुआ उसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

अनुसंधान में, भोंसला राज से संबंधित कवियों में हिंदीकाव्यरचना करनेवाले अनेक कवि तथा उनकी हिंदी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें से अधिकांश का वास्तविक परिचय हिंदी साहित्य जगत् को नहीं है। अतः इन अज्ञात कवियों तथा उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाना तथा ज्ञात कवियों के अप्राप्य एवम् अज्ञात ग्रंथों की खोज कर, अद्ययावत् सामग्री के आधार पर

उनके संबंध में फैली हुई अस्पष्ट एवम् भ्रांत धारणाओं की परीक्षा कर, उनका उचित मूल्यांकन करना आवश्यक था। इस प्रबंध में इसी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है।

यह प्रबंध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में महाराष्ट्र में हिंदीप्रसारण की संक्षिप्त पृष्ठभूमि दी गई है। इसके अंतर्गत सोदाहरण विवेचन द्वारा यह बताया गया है कि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवम् साहित्यिक क्षेत्रों में हिंदी का स्वीकार किस रूप में हुआ था और उसके कारण क्या थे।

द्वितीय अध्याय में भोंसला राजाओं द्वारा आश्रयप्राप्त प्रमुख कवियों तथा हिंदीकाव्य रचना करनेवाले नृप कवियों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसके अंतर्गत इन कवियों का जीवनवृत्त, साहित्यिक कृतियाँ, समयनिर्धारण, आश्रयदाता तथा अन्य विवाद्य समस्याओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख आश्रित कवियों में जयराम, चिंतामणि, संकर सुकवि, भूषण, लोकमणि, सीताराम तथा नृप कवियों में शिवराज, नृपशंभु तथा शाहराज का समावेश है। कवींद्राचार्य सरस्वती को 'संदिग्ध' के अंतर्गत इसलिये रखा गया है कि लेखक ने पूर्वमत का खंडनकर, अनेक प्रमाणों से कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद का भिन्नत्व सिद्ध कर, उन्हें भोंसला राजाओं के आश्रित कवियों की श्रेणी में नहीं रखा है।

इन कवियों में से संकर सुकवि तथा शाहराज का परिचय प्रथम बार ही हिंदी साहित्य जगत् को हो रहा है। शेष कवियों में भूषण के अतिरिक्त अन्य किसी पर भी सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत नहीं हुआ है। भूषण के संबंध में भी पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित जी की भ्रांत धारणाओं के कारण यदुनाथ सरकार जैसे अनेक विद्वानों को भी भ्रम हुआ तो सामान्य व्यक्तियों की बात ही क्या! इधर कुछ दिनों से कैप्टन शूरवीर सिंह जी ने भी मुरलीधर कवि-भूषण के उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर दूसरे प्रकार की भ्रांतियाँ निर्माण की हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने 'भूषण' के द्वितीय संस्करण में इनमें से बहुत सी भ्रांतियों को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है, परंतु उसमें भी भूषण विषयक सभी भ्रांतियों का तथा उनके निवारण का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। अतः इस अध्याय में श्रद्धेय गुरुवर्य आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी के विवेचन का प्रमुख आधार ग्रहण करने पर भी कुछ बातों में लेखक ने अद्ययावत् सामग्री के आधार पर अपना मौलिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य के रूप में चिंतामणि का परिचय हिंदी जगत् को है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल के प्रवर्तक के रूप में जब से इनका समर्थन किया तब से हिंदी विद्वानों ने चिंतामणि पर समय समय पर कुछ लिखा। भूषण, मतिराम, केशव आदि के विवेचन के प्रसंग में भी इनकी चर्चा पर्याप्त की गई है। परंतु चिंतामणि के जीवन तथा साहित्यिक कृतियों का सर्वांग विवेचन करनेवाला कोई ग्रंथ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से बहुत दिन पूर्व कविकुलकल्पतरु छपा था जो आज दुर्लभ है। चिंतामणि के उपलब्ध ग्रंथों को प्रकाशित रूप में उपलब्ध न होने और उनके अप्राप्य तथा नवीन ग्रंथों क खोज न होने का परिणाम यह हुआ कि कुछ विद्वान् चिंतामणि को 'कृतित्व से शून्य' भी मानने लगे। चिंतामणि के विषय में परंपरा से जो किंवदंतियाँ रहीं उनकी कभी परीक्षा भी नहीं की गई और वही पिटी पिटाई बात हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास जैसे अद्ययावत् ग्रंथों में भी आ गई। अतः चिंतामणि का नागपुर के मकरंदशाह भोंसला के आश्रय में जाना, भाषापिंगल (छंदविचार) का रचनाकाल, चिंतामणि का शाहू के दरबार में जाना, चिंतामणि का जन्मकाल, चिंतामणि के ग्रंथों का अप्राप्य होना आदि अनेक बातों पर विचारविमर्श करके सबल प्रमाणों के आधार पर लेखक ने अपने निष्कर्ष दिए हैं। इसके अतिरिक्त चिंतामणि के रसविलास तथा कृष्णचरित्र ये दो अज्ञात ग्रंथ प्रकाश में लाकर उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है।

ठीक यही बात 'नृपशंभु' के संबंध में भी हुई है। 'शिवसिंह सरोज' से लेकर 'हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास' तक के लगभग सभी ग्रंथों में 'नृपशंभु' को सितारागढ़ वाले शंभुनाथ सिंह सुलंकी माना है,[1] जिनका इतिहास में नाम तक नहीं मिलता। इनका जन्मकाल भी संवत् १७३८ वि० माना है जब कि वह 'नृपशंभु' का उपस्थिति काल है। इस प्रकार की भ्रांतियों का मुख्य कारण यही है कि किसी ने इनके ग्रंथों को ठीक तरह से पढ़ा ही नहीं। यदि पढ़ा होता तो समस्त भ्रांतियों का निराकरण स्वतः हो जाता। इनके ग्रंथों में नायिकाभेद तथा नखशिख के उल्लेख मिलते हैं जिनमें से नखशिख की अपूर्ण प्रति को बाबू श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने सन् १८९३ ई० में प्रकाशित किया था, जो आज दुर्लभ है। नायिकाभेद के कुछ फुटकर छंद

---

१. शिवसिंह सरोज, कविसंख्या ८३७, माडर्न वर्नाक्युलर ऑव् हिंदी लिटरेचर कविसंख्या १४१, हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, भा० ६, पृष्ठ ४३३।

ही प्राप्त होते हैं। लेखक को अनुसंधान में इनके नखशिख तथा सातसतक नामक ग्रंथों की संपूर्ण हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें से 'सातसतक' पूर्णतः अज्ञात ही था। इस प्रकार नृपशंभु के संस्कृत उपलब्ध ग्रंथों तथा तद्विषयक अन्य सामग्री के आधार पर लेखक ने सभी बातों की परीक्षा कर यथावश्यक भ्रांतियों का निवारण किया है और यह सिद्ध किया है कि ये 'नृपशंभु' शिवाजी के सुपुत्र शंभुराज ही हैं।

शेष कवियों में संकर सुकवि, जयराम, लोकमणि, सीताराम, शिवराज, शाहराज के उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहासों में प्राप्त नहीं होते। इनमें से संकर सुकवि तथा शाहराज तो पूर्णतः अज्ञात ही थे। जयराम तथा शिवराज के उल्लेख यत्रतत्र प्राप्त होते हैं, परंतु उनके जीवन तथा साहित्य के संबंध में विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता। कुछ ही दिन पूर्व पं० प्रयागदत्त शुक्ल ने 'विदर्भ की हिंदी साहित्य को देन' लिखी जिसमें लोकमणि तथा सीताराम का स्थूल परिचय दिया है, परंतु उसमें भी इन कवियों के जीवनवृत्त अथवा ग्रंथों की परीक्षा कर उनका सर्वांग विवेचन नहीं किया गया। अतः लेखक ने इस अध्याय में इन सभी कवियों के जीवन तथा साहित्य का सर्वांगपूर्ण विवेचन अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उनके संबंध में प्रस्तुत भ्रांत धारणाओं की अद्यावत् सामग्री के आधार पर परीक्षा कर प्रमाणों के आधार पर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालने का प्रयास भी किया गया है, जो लेखक का अपना मौलिक कार्य है। यह अध्याय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में भोंसला राजाओं द्वारा सम्मानित एवम् प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले कवियों तथा उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। सम्मानित कवियों में तुकाराम, रामदास, देवनाथ तथा कविकलश आते हैं जिनका विस्तृत परिचय दिया गया है परंतु प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले कवियों की संख्या ४५ होने से उनका परिचय संक्षेप में ही दिया गया है। इन कवियों में से अधिकांश कवि हिंदी रचनाकार के रूप में अज्ञात ही हैं। इनमें से अनुसंधान में प्राप्त अज्ञात कवियों की सूचना एवम् ज्ञात कवियों के संबंध में विशेष विवेचन के कारण इस अध्याय में भी लेखक का नवीन सामग्री और विवेचन देने का प्रयत्न है।

चतुर्थ अध्याय में आलोच्य कवियों के काव्य का भावपक्ष है। इसके

अंतर्गत रसवर्णन, भाववर्णन, रूपवर्णन एवं प्रकृतिवर्णन की सोदाहरण चर्चा लेखक ने अपनी शैली में प्रस्तुत की है।

पंचम अध्याय में काव्यकला और आचार्यत्व की दृष्टि से आलोच्य कवियों के काव्य का मूल्यांकन किया गया है। काव्यकला का विवेचन मुख्यतः भारतीय काव्यशास्त्र के मानदंड पर किया गया है जिसके अंतर्गत अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि का समावेश है। अंत में कला की दृष्टि से कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है और निष्कर्ष रूप में निवेदन भी दिया गया है। इसके पश्चात् काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना करनेवाले कवि चिंतामणि, भूषण, संकर सुकवि तथा लोकमणि के आचार्यत्व पर भी विचार किया गया है। इन आचार्य कवियों की काव्यशास्त्र विषयक कृतियों की तुलना तत्संबंधी आद्धृत संस्कृत ग्रंथों से भी की गई है और अंत में लेखक ने निष्कर्ष रूप में अपना मत व्यक्त किया है। अधिकांश अप्रकाशित एवम् अज्ञात ग्रंथों का काव्यकला की दृष्टि से यह विवेचन लेखक ने विशिष्ट दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

षष्ठ अध्याय में आलोच्य कवियों के काव्य की भाषाशैली तथा उनके द्वारा प्रयुक्त छंदयोजना पर विचार किया गया है। भाषाशैली का विभाजन मुख्यतः शब्दावली, भाव तथा गुणों के आधार पर किया गया है। इसके अंतर्गत काव्य में प्रयुक्त मुहावरों तथा कहावतों का भी विवेचन किया गया है। छंदयोजना में इन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रमुख छंदों पर विवेचन प्रस्तुत कर छंदप्रयोग की दृष्टि से इनकी सफलता असफलता पर विचार किया गया है। अंत में इनके द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष गीतशैलियों का भी सोदाहरण परिचय दिया गया है।

सप्तम अध्याय में भोंसला राजदरबार के कवियों की रचनाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर तत्कालीन सामाजिक जीवन एवं ऐतिहासिक तथ्य का विवेचन किया गया है और सामाजिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से इनके महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार संपूर्ण शोधप्रबंध में भोंसला दरबार के हिंदी कवियों में से अज्ञात कवियों तथा उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाने तथा ज्ञात कवियों के संबंध में फैली हुई भ्रांतियों का अनुसंधान में उपलब्ध नए ग्रंथों तथा अद्यावधि प्राप्त सामग्री के आधार पर निराकरण कर कुछ निश्चित निष्कर्ष दिए

गए हैं। इसके अतिरिक्त आलोच्य कवियों के समस्त हिंदी काव्य का भावपक्ष, कलापक्ष, आचार्यत्व, भाषाशैली, छंदयोजना, सामाजिक एवम् ऐतिहासिक महत्त्व आदि की दृष्टि से सोदाहरण विवेचन किया गया है। इस विषय पर इस प्रकार का विवेचन प्रथम बार ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे यह भी सहज ही ज्ञात हो सकता है कि हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास में महाराष्ट्र ने किस रूप में और किस मात्रा में सहयोग दिया है।

जब इस शोधप्रबंध का विषय निश्चित हुआ तब भूषण के अतिरिक्त कोई कवि दृष्टिपथ में नहीं था, इसलिये काल की परिधि सन् १६०० से १८५० ई० तक ली गई। प्रारंभ में अनुमान था कि भूषण के अतिरिक्त अधिक से अधिक ५-६ कवि मिल सकेंगे, परंतु अनुसंधान में उपलब्ध कवियों की संख्या कल्पना से अधिक बढ़ गई, आलोच्य काल के महाराष्ट्र के मराठा राजाओं में आदि से अंत तक जो राजवंश प्रमुख रहा वह था भोंसला-राजवंश, अतः शोधविषय को उन्हींतक सीमित रखना आवश्यक हुआ।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में एम० ए० का अध्ययन करते समय से ही रीतिकालीन काव्य के प्रति लेखक का विशेष आकर्षण रहा। एम० ए० के पश्चात् भूषण के विषय में खोज करने की प्रबल इच्छा रही परंतु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों से लेखक इस दिशा में न बढ़ सका था। सौभाग्य से सन् १९६० ई० पूना विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खुला और शोधकार्य की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हुईं। इस विभाग में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष के रूप में रीतिसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ० भगीरथ मिश्र जी का आना लेखक के लिये वरदान सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप व्यावहारिक कठिनाइयों से अवरुद्ध अनुसंधान कार्य उन्हीं के निर्देशन में लेखक पूर्ण कर सका। विषयनिर्वाचन से लेकर प्रबंध की समाप्ति तक की सभी स्थितियों में श्रद्धेय गुरुवर डॉ० भगीरथ मिश्र जी ने न केवल मार्गदर्शन ही किया अपितु संकल्पित कार्य में आनेवाली कठिनाइयों पर विजय पाने की संजीवनी शक्ति भी दी। कार्यव्यस्त रहने पर भी इस प्रबंध को आद्यंत पढ़कर उन्होंने जो मौलिक सूचनाएँ दीं उनके लिये लेखक उनका अत्यंत कृतज्ञ है।

इसी प्रकार प्रबंध के विशिष्ट स्थलों पर श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार, प्रो० वेलणकर, के० वासुदेव शास्त्री, स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० नगेंद्र, डॉ० रामनिरंजन पांडेय, आदि ने जो मूल्यवान् सुझाव दिए, उसके लिये लेखक अपने को धन्य

मानता है। शोधविषय की सामग्री प्राप्त करने के लिये लेखक को भारतवर्ष के लगभग सभी महत्वपूर्ण ग्रंथालयों में जाना पड़ा। यदि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त न होती तो यह सारस्वती यात्रा संभव ही नहीं थी। अतः विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना कर्तव्य हो जाता है। नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, साहित्य संमेलन, प्रयाग, राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, दिल्ली विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय ग्रंथरक्षा गृह, दिल्ली, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर. राजस्थान प्राच्यविद्या संस्थान, जोधपुर, राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान जयपुर, महाराजा सयाजीराव गायकवाड विश्वविद्यालय, बड़ौदा, एशियाटिक सोसायटी, बंबई, भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर, पूना; भारतीय इतिहास संशोधन मंदिर, पूना, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, केंद्रीय ग्रंथालय, पूना, पूना विश्वविद्यालय का जयकर ग्रंथालय, राजवाड़े संशोधन मंदिर, धुलिया, श्रीसमर्थ वाग्देवता मंदिर, धुलिया, करवीर ग्रंथालय, कोल्हापुर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर, सरस्वती महल ग्रंथालय तंजौर आदि ग्रंथालयों से महत्त्वपूर्ण हस्तलेख प्राप्त हुए।

इसके अतिरिक्त डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० सत्यकुमार चंदेल, श्री० य० न० केलकर, कैप्टन शूरवीर सिंह पँवार आदि साहित्यान्वेषकों ने निजी संग्रह में उपलब्ध हस्तलिखित पांडुलिपियाँ लेखक के लिये उदारतापूर्वक सुलभ कर दीं। अतः लेखक इन सभी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता है। अपने विवेचन को स्पष्ट एवम् पुष्ट करने के लिये तत्संबंधी अनेक हस्तलिखित एवम् मुद्रित ग्रंथों से सहायता ली गई है जिनके साभार उल्लेख यथास्थान किए गए हैं। जीवन के सुख दुःख की मौन सहचरी मेरी सहधर्मचारिणी सौभाग्यवती सुनीता के लिये कुछ कहना अपने लिये ही कहना होगा जिसने गृहस्थी की समस्त चिंताओं से मुक्त कर प्रबंध की समाप्ति तक सभी प्रकार का रचनात्मक सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समय समय पर जो सहायता की है उन सभी का लेखक आभारी है। पूना विश्वविद्यालय ने यह शोधप्रबंध प्रकाशित करने की जो अनुमति दी है उसके लिये श्रद्धेय कुलगुरु डॉ ह० वि० पाटसकरजी तथा संबंधित अधिकारियों के प्रति लेखक कृतज्ञता प्रकट करता है।

यह शोधप्रबंध पूना विश्वविद्यालय द्वारा पी एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ है। इसका मूल शीर्षक 'भोंसला राजाओं तथा उनके

आश्रित, संमानित एवम् संबंधित कवियों का हिंदी काव्य (सन् १६००–१८५० ई०)' था। परंतु अनेक दृष्टियों से विचार कर प्रकाशित ग्रंथ का शीर्षक 'भोंसला राजदरबार के हिंदी कवि (सन् १६००–१८५० ई०)' रखा गया है। प्रकाशन की व्यावहारिक सुविधा के लिये मूल शोधप्रबंध के प्रथम अध्याय के लगभग सत्तर पृष्ठ इसमें समाविष्ट नहीं किए गए जिनमें भोंसला शासन की विस्तृत पृष्ठभूमि थी। ग्रंथ की समाप्ति पर लेखक को कविकलस का 'चंद कँवर की वात'—शीर्षक का एक नया हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुआ जिसका विवेचन किसी कारण इस ग्रंथ में लेखक दे न सका परंतु लेखक ने अपने 'हिंदी साहित्य शोध और समीक्षा' ग्रंथ में इसका विस्तार से विवरण दिया है।

पूना में रहकर ग्रंथ का प्रूफ देखना मेरे लिये संभव न था फिर भी साहित्याचार्य विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने अत्यंत सावधानी से समस्त ग्रंथ का प्रूफ देखकर उसे यथासंभव निर्दोष रखने का कार्य किया, इसलिये वे तथा कलात्मक दृष्टि से विषयानुकूल रूपसज्जा बनानेवाले चित्रकार वैजनाथ वर्मा धन्यवाद के पात्र हैं। इस शोध प्रबंध के प्रकाशन में नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी के प्रधान मंत्री पं० सुधाकरजी पांडेय, सहायक मंत्री शंभुनाथ बाजपेयी जी तथा अन्य संबंधित अधिकारियों तथा व्यक्तियों ने जो सहृदयता एवम् आत्मीयता दिखाई है उसके लिये लेखक उन सभी का हृदय से आभारी है। अत्यधिक सावधानी बरतने पर भी ग्रंथ में यदि कोई त्रुटि रही हो तो लेखक पाठकों का क्षमाप्रार्थी है। आशा है कि साहित्यमर्मज्ञ विद्वानों के बीच यह ग्रंथ समादृत होगा।

'साधना'
१०७/१४ एरंडवणे,
भारती निवास, पूना—४
दीपावली, १९६९ ई०

कृष्ण दिवाकर
प्राध्यापक, हिंदी विभाग
पूना विश्वविद्यालय, पूना—७

विषय सूची

का मृत्युकाल, काव्यकृतियाँ—शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक, स्फुट रचनाएँ, महाकवि भूषण का हिंदी साहित्य में स्थान।

लोकमणि : जीवन वृत्त, आश्रयदाता, ग्रंथ परिचय तथा वर्ण्य-विषय, लोकमणि का हिंदी साहित्य में स्थान।

सीताराम : जीवनपरिचय, आश्रयदाता, ग्रंथपरिचय तथा वर्ण्य-विषय, उपसंहार।

कवींद्राचार्य सरस्वती (संदिग्ध) : कवींद्र सरस्वती और कवींद्र परमानंद, जन्मभूमि, कवींद्र की उपाधि और काशीवास, संन्यास ग्रहण तथा मूल नाम, कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद का भिन्नत्व।

शिवराज : जीवनपरिचय, साहित्यप्रेम, हिंदी काव्यरचना तथा उसका महत्त्व।

नृपशंभु : हिंदी साहित्य में वर्णित नृपशंभु, नृपशंभु वास्तव में कौन थे ? नृपशंभु का समय, जीवनपरिचय, शिक्षा दीक्षा, येसूबाई का सहयोग, असामान्य व्यक्तित्व का गठन, संभाजी तथा शाहजादा मुअज्जम, संभाजी विषयक पूर्वाग्रह दूषित दृष्टिकोण तथा नया दृष्टिकोण, संभाजी शासक के रूप में, नृपशंभु का साहित्यिक व्यक्तित्व, काव्यकृतियाँ—बुधभूषण, नायिकाभेद, नखशिख, सातसतक, नृपशंभु की कविता पर कविकलस का प्रभाव।

शाहराज 'सुकवि' : पूर्ववृत्त, लोकप्रिय शासक, धार्मिक वृत्ति, कवियों तथा पंडितों का सम्मान, शाहराज अर्थात् शहाजी द्वितीय का साहित्यिक व्यक्तित्व, अनेक भाषा कोविदत्व, साहित्यिक कृतियाँ—राधा-बंशीधरविलास, विश्वातीतविलास, 'विश्वातीतविलास' के रचयिता के संबंध में शंका एवं समाधान, हिंदी साहित्य में शाहराज की रचनाओं का महत्त्व।

तुकाराम, रामदास, देवनाथ, कविकलस तथा रघुनाथ व्यास, रघुनंदन, ठाकुर, लछिराम, श्याम गुसाईं, ठाकुर शिवदास, नारायण भट्ट, केहरी, गयंद, सुधारकवि, द्वारकादास, बलभद्र, सुखलाल, अल्लीखान, रघुनंद 'रामानुज', सुबुधीराव, हिंदुस्तानी भाट, विश्वंभर, लालमनि, घनश्याम, श्री गोविंद, गणेश, दत्तकवि, सोनकवि, कविराज, अज्ञानदास, तुलसीदास, पाला कवि, गणेश, गौतम, नीलकंठ, महेसदास, मतिराम,

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट—२

१.

महाराष्ट्र में हिंदीप्रसारण की पृष्ठभूमि

महाराष्ट्र जैसे अहिंदीभाषी प्रदेश में हिंदीकाव्य रचना करनेवालों की विपुल संख्या देखकर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस क्षेत्र में हिंदीप्रसारण की पृष्ठभूमि क्या रही होगी ? ऐतिहासिक संदर्भ, समकालीन विवरण तथा अनुसंधान में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठा शासनकालीन महाराष्ट्र में यह कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लगभग सभी क्षेत्रों में संपन्न हुआ था। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में विविध कारणों से मराठीभाषी जनता का हिंदी भाषा तथा हिंदी साहित्य से संपर्क स्थापित हो सका था। हिंदी साहित्य के प्रति यहाँ के लोगों में जो अभिरुचि उत्पन्न हो रही थी उसको विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य महाराष्ट्र के मराठा राजाओं ने किया। महाराष्ट्र के राजाश्रयी हिंदी कवियों में हिंदीभाषी कवियों के अतिरिक्त मराठीभाषी कवियों की संख्या भी पर्याप्त है। अतः इन कवियों तथा उनके काव्य का अध्ययन करने के पूर्व तत्कालीन महाराष्ट्र में हिंदीप्रसारण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में विवेचन वांछनीय है।

राजनीतिक :

मराठा शासनकालीन महाराष्ट्र में हिंदी के विभिन्न रूप पाए जाते हैं जिनमें दक्खिनी हिंदी एवम् ब्रजभाषा विशेष उल्लेखनीय हैं। देवगिरि का महाराष्ट्रीय साम्राज्य नष्ट हो जाने पर अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद तुगलक के बार-बार दक्षिण अभियान से तथा अंत में वहाँ शासन व्यवस्था करने से यहाँकी जनता 'हिंदुई' या 'देहलवी' भाषा से अधिक परिचित हो गई थी। परिणामस्वरूप उसे अधिकारियों तथा फौजियों के संपर्क में बार-बार आना पड़ा था। मुसलमानों के संसर्ग से यह अवश्य हुआ कि प्रचलित हिंदी में जो तुर्क शासन के पूर्व भी यहाँ थी, विदेशी अरबी फारसी के शब्दों का क्रमशः प्रयोग होने लगा।[1]

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, पृ० ४२।

बहमनी राज्य की स्थापना से ही वास्तव में यहाँ का मुस्लिम शासन स्थिर हुआ। उसके विकेंद्रीकरण के पश्चात् बीजापुर की आदिलशाही, अहमदनगर की निजामशाही, बीदर की बरीदशाही तथा बरार की इमादशाही जैसे छोटे-छोटे राज्यों में मराठा सरदारों की संख्या भी बहुत थी। अतः उन सुलतानों का हिंदू जनता से घनिष्ठ संबंध होने लगा। नौकरी पाने, अपनी पदोन्नति करने या अपना स्थान बनाए रखने के लिये यहाँकी मराठी जनता ने स्वभावतः मुसलमान शासकों की हिंदी भाषा को ग्रहण किया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तो हिंदी कविता के बड़े रसिक थे। उनके आश्रय में कई हिंदी कवि थे। स्वयम् आदिलशाह हिंदी में कविता करते थे जिनका 'नवरस'[१] नामक हिंदी ग्रंथ पाया जाता है।

मध्यकाल में संस्कृत के पश्चात् हिंदी ही एक ऐसी भाषा थी जिसको भारत के अधिकांश लोग जानते थे। महाराष्ट्र के मराठा राजाओं ने इस तथ्य को जाना था। शहाजी महाराज ने अपने आश्रित संकर कवि को भानुमिश्र की संस्कृत 'रसमंजरी' की हिंदी छाया प्रस्तुत करने की जो आज्ञा दी थी उसमें यही उद्देश्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। संकर सुकवि ने रसमंजरी की हिंदी छाया 'शाहविलास' काव्य के प्रारंभ ही में इस आशय को व्यक्त करते हुए कहा है—

साहभूप आयसु दियो कवि संकर को आजु।
रसमंजिरी भाषा करो चले जगत को काजु॥[२]

संभवतः इसी तथ्य को जानकर मराठा राजाओं ने अंतर प्रांतीय भाषा के रूप में हिंदी को स्वीकार किया था जिसके फलस्वरूप संस्कृत कवियों के साथ-साथ हिंदी रचनाकार कवियों को भी उनके दरबार में आश्रय मिलने लगा। कुछ विद्वानों का मत है कि मराठा राजाओं ने अपनी कीर्तिसुगंध को भारत भर में प्रसारित करने के हेतु हिंदी कवियों को आश्रय दिया था।[३] परंतु केवल यही उनका उद्देश्य नहीं हो सकता क्योंकि वे स्वयम् भी हिंदी काव्य में रस लेते थे। साहित्यिक अभिरुचि तथा हिंदीभाषा विषयक अनुराग होने के कारण कुछ मराठा राजाओं ने संस्कृत, मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी

---

१. राष्ट्रवाणी (नवंबर सन् १९६० ई०), प्रयागदत्त शुक्ल का लेख, पृ० १८० ।
२. शाहविलास (हस्तलिखित), संकर सुकवि, पृ० १ ।
३. महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण (सन् १९२८ ई०), डॉ० श्री० व्यं० केतकर, पृ० ६१ ।

साहित्यिक कृतियों का प्रणयन किया था। छत्रपति संभाजी महाराज के 'नखशिख', 'सातसतक', 'नायिका भेद' काव्य और तंजौर के शहाजी राजा के 'राधा वंसीधर विलास' एवम् 'विश्वातीतविलास' इसी के द्योतक हैं।

औरंगजेब की कट्टर नीति के फलस्वरूप तो मुगल दरबार से हिंदी का बहिष्कार ही हो गया।[१] औरंगजेब के शुष्क व्यक्तित्व में इन कवियों की रसात्मक वृत्तियों के लिये स्थान न होने के कारण राजकीय संरक्षण की संभावना न थी। अतः तत्कालीन हिंदू नरेशों ने हिंदी कवियों को प्रश्रय देना अपना कर्तव्य समझा। संभवतः कुछ हिंदी कवि इसी समय महाराष्ट्र में भी आए थे जिनका सम्मान यहाँ के राजदरबारों में हुआ। यह तथ्य भी विचारणीय है कि हिंदी के उच्चकोटि के कवि चिंतामणि, भूषण, मतिराम, लोकमणि, सीताराम आदि मराठा राजाओं के दरबारों में जब अपनी हिंदी कविताएँ सुनाया करते थे तब वहाँके श्रोताओं में उन्हें समझ लेने की क्षमता अवश्य थी। यदि वहाँ की मराठी जनता हिंदी भाषा को न समझती होती तो इन कवियों का तीन चार वर्षों तक वहाँ सम्मान सहित रहना भी क्या संभव था? अतः यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन महाराष्ट्र के समाज में हिंदी को जाननेवाले काफी थे।

औरंगजेब की मृत्यु तक महाराष्ट्र में मुसलमानों तथा उत्तर भारतीयों का आगमन होता रहा परंतु सन् १७०७ ई० से अर्थात् औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् एक नई शक्ति का उदय मराठों में हुआ जिसके फलस्वरूप पेशवाओं के समय मराठा राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ और उत्तर दक्षिण सीमाएँ एक दूसरे से मिल कर एक हो गई। सीमाओं का यह मिलन एक अभूतपूर्व घटना थी। अब उत्तर भारत में अभियान के उपलक्ष्य में तथा अन्य राजनीतिक कारणों से मराठों का आवागमन शुरू हुआ। बार बार हिंदीभाषी प्रदेश में आने जाने तथा वहाँ निवास करने से प्रतिदिन के व्यवहारों की सुगमता के लिये मराठों को हिंदी भाषा को जानना आवश्यक हुआ।

शासनव्यवस्था तथा कामकाज के निमित्त यहाँके शासकों को पत्रव्यवहार भी करना पड़ा था। मुगल शासन के अंत तक भारत का शासन

---

१. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), संपादक—डॉ० नगेंद्र (संवत् २०१९ वि०), पृ० ६४

केंद्र दिल्ली था। मराठा दरबारों में अंतर्प्रांतीय पत्रव्यवहार के लिये हिंदी का माध्यम आवश्यक था। अतः मराठा दरबारों में तथा सरकारी कचहरियों में उच्च स्थान पाने के लिये मराठी जनता को हिंदी जानना आवश्यक हो गया था।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक :

मराठों की सेना में अरब, मुसलमान तथा उत्तर भारतीय हिंदीभाषी लोग भी बहुत थे।[1] अन्य सैनिकों को उनके साथ बातें करने के लिये हिंदी का प्रयोग अवश्य करना पड़ता था, चाहे वह हिंदी टूटी फूटी ही क्यों न हो। सैनिकों के मनोरंजनार्थ जो लोकगीत, लोकनाट्य या अन्य दृश्यकाव्य प्रस्तुत किए जाते थे, उस समय इन हिंदीभाषी सैनिकों का विचार भी प्रस्तुतकर्त्ताओं को करना पड़ता था और उसी के परिणामस्वरूप बीच बीच में हिंदी में रचित लावनियों, पवाड़ों तथा लोकनाट्यों का प्रयोग होता था। ऐसी हिंदी रचनाएँ अनुसंधान में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई हैं।[2]

छत्रपति शाहू महाराज के समय से लेकर मराठा शासनकाल के अंत तक नागपुर, धार, देवास, इंदौर, ग्वालियर आदि हिंदीभाषी क्षेत्र में मराठों के राज्यों का निर्माण हुआ। फलस्वरूप उत्तर दक्षिण के सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदानप्रदान होने लगा। उत्तरी भारत की विलासप्रियता महाराष्ट्रीय समाज में प्रविष्ट होने लगी। विलासी पद्धति के कपड़ों, आभूषणों, दीवानखाने को सजाने की वस्तुओं आदि का तथा चित्रकारी, संगीत, नृत्य आदि कलाओं के विलासमय ढंग का आगमन महाराष्ट्र में हुआ तो लगान का हिसाबकिताब, भूमि की नापजोख, शासन संबंधी अनेक कार्यों तथा धार्मिक कृत्यों में महाराष्ट्रीय प्रणाली को उत्तर भारत के लोगों ने अपनाया।[3] क्या यह आदानप्रदान बिना किसी भाषा के माध्यम से हुआ था? अर्थात् यह असंभव है। अधिकांश जनता ने तत्कालीन अंतरप्रांतीय हिंदी भाषा का ही प्रयोग इस लेनदेन के प्रसंग में संभवतः किया था।

उत्तर भारत के राज्यों में स्थित मराठा सरदारों के पास द्रव्यार्जन की इच्छा से मनोरंजन करनेवाली कुछ मंडलियाँ तथा लोग सदैव जाते रहते थे।

---

१. हिंदुस्थानचा अभिनव इतिहास—वि० सी० चितले, पृ० ४१७।

२. दे० महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य—डॉ० कृष्ण० दिवाकर, प्रथम सं० के परिशिष्ट में संगृहीत रचनाएँ।

३. मराठों का इतिहास—गो० स० सरदेसाई, पृ० ११०-११२।

वहाँ उन्हें ऐसी जनता के सामने भी मनोरंजन करना पड़ता था जिनकी मातृभाषा मराठी न थी। लोकप्रियता, प्रसिद्धि तथा द्रव्य प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने जानबूझ कर हिंदी में 'पोवाड़ा', 'लावनी', 'ललीत', 'भारूड', 'लोकनाट्य' तथा तत्सम लोकगीतों का प्रणयन किया था। उनकी हिंदी भाषा में कहींकहीं मराठीपन भी झाँक उठता है फिर भी महाराष्ट्र की लोक-रंजन पद्धति की दृष्टि से इनका अपना महत्व है। मनोरंजनात्मक साहित्य के अंतर्गत पाई जानेवाली हिंदी रचना का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

श्री रामराजा की सभा घनदाट, मजलस थाट, भरपूर भरी है।
ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, चंद्र, सूरज, दुरूवास, ऋषी आये हैं।
इंद्र सिंहासन बैठे, अरुण वरुण ऋद्धिसिद्धि हैं।
पवन चौकीदार खड़े सब याचक प्रसाद माँगनेकू आये ॥[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित विनोदपूर्ण वार्तालाप भी द्रष्टव्य है—

पाटील : तुम नोकरी करोगे ?
चोपदार : नोकरी करेंगे।
पाटील : क्या दरमाह लेवोगे ?
चोपदार : तुम क्या देवोगे ?
पाटील : सौ देयेंगे ?
चोपदार : सौ के तो पान लगते हैं।
पाटील : दो सौ देयेंगे।
चोपदार : दो सौ की तो सुपारी लगती है।
पाटील : फिर आप क्या लेवोगे ?
चोपदार : किस लंडी ने क्या देना और किस लंडी ने क्या लेना। हम भगवान के पास नौकरी करेंगे।[2]

मुसलमान शासनकालीन महाराष्ट्र में दक्खिनी हिंदी या सरल रूप उर्दू लिखनेवाले अनेक शायर थे जिनकी शायरी इस क्षेत्र के जनसामान्य में प्रचलित थी। संभवतः उन्हीं का विस्तार या प्रभाव यहाँ के लोककवियों पर हुआ था जिससे अनुकरणात्मक शैली में उन्होंने भी वैसी रचनाएँ कीं। इनके

---

१. कोल्हापुर में प्राप्त हस्तलिखित संग्रह से उद्धृत।
२. कोल्हापुर में प्राप्त हस्तलिखित संग्रह से उद्धृत।

द्वारा रचित 'इश्क' से पूरित 'गुलजार' हिंदी कविताएँ[1] इसी की द्योतक हैं।

महाराष्ट्र के संगीतकारों में चीज, ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी आदि उत्तरी ढंग की पद्धति प्रचलित थी। उसके अंतर्गत कई हिंदी पदों या गीतों को गाया जाता था। अर्थात् इन पदों की ओर संगीतात्मक की दृष्टि से ही अधिकतर देखा जाता था। तराना, रेखता, कव्वाली आदि उत्तर भारतीय संगीत-प्रणाली का आकर्षण भी जनता में कम न था। कई उत्सवों तथा पर्वों पर जो संगीत के पद गाए जाते थे उनमें हिंदी के पद भी पर्याप्त रहते थे।

पेशवाओं के समय व्यापारधंधों में काफी प्रगति हो रही थी। व्यापार की वृद्धि कराने के हेतु से अरब, उत्तरभारत के व्यापारियों तथा विदेशियों को महाराष्ट्र में उपनिवेश करने की अनुमति दी गई थी।[2] इन लोगों के संपर्क में आकर तथा इनसे वार्तालाप करते समय मराठों को हिंदी जैसी अंतरप्रांतीय भाषा का व्यवहार संभवतः करना पड़ा था।

धार्मिक :

हरिद्वार, प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, काशी जैसे हिंदुओं के पुरातन तीर्थ क्षेत्र उत्तरभारत में स्थित होने के कारण महाराष्ट्र की जनता को वहाँ जाना पड़ता था। मराठा शासनकाल में या उसके पूर्व भी यातायात के विपुल तथा सुविधाजनक साधन न होने से यात्राओं में महीनों बीत जाते थे। इसी काल में महाराष्ट्रीय यात्रियों का उत्तर की जनभाषा हिंदी से अवश्य ही परिचय होता था।

इसी तरह दक्षिण के तीर्थों के लिये उत्तरभारत के साधुसंत, वैरागी और गृहस्थ यहाँ पहुँचते थे। वे स्वयम् भी यहाँ के लोगों से कुछ सीखते थे और दूसरों को सिखा भी जाते थे। दशनामी, संन्यासी, उदासी, वैरागी, रामानंदी, कबीरपंथी, नाथपंथी, वल्लभमार्गी आदि विविध मतमतांतरों के मूल केंद्र उत्तरभारत में ही थे। इनके अनुयायियों को हिंदी भाषा का जानना आवश्यक था। नाथपंथियों ने मराठी के साथ साथ हिंदी में भी धर्मप्रचार किया है। नाथपंथियों में हिंदी भाषा जानना एक आवश्यक अंग माना जाता था क्योंकि गुरुपरंपरा तथा उनका प्रमुख साहित्य हिंदीभाषी प्रदेश का

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य—डॉ० कृष्ण दिवाकर (परिशिष्ट में संगृहीत रचनाएँ)।

२. मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष—न्या० म० गो० रानडे, पृ० २६१।

था। संभवतः इसी लिये महाराष्ट्र के मराठीभाषी नाथपंथियों ने हिंदी भाषा में भी रचनाएँ की हैं।

महानुभाव संप्रदाय के प्रचारकों ने मराठी के साथ साथ हिंदी भाषा को भी अपने प्रचार का माध्यम बनाया था। इस कारण इस पंथ के अनुयायियों के हिंदी पद भी प्राप्त होते हैं। इस संप्रदाय के प्रणेता चक्रधर की भी हिंदी चौपदी प्राप्त है।

महाराष्ट्र के लगभग सभी संतों की हिंदी रचनाएँ पाई जाती हैं। मराठी रचनाओं के अतिरिक्त हिंदी में भी रचना करने की उन्हें आवश्यकता पड़ी। नामदेव तो पंजाब में कई वर्ष रहे और उनकी हिंदी वाणी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, बहिणाबाई, मध्व-मुनीश्वर, शिवदिनकेसरी, अमृतराय, देवनाथ महाराज आदि संत कवियों की हिंदी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। संभवतः इन संतों ने स्वधर्म की रक्षा करने तथा परधर्मियों पर प्रभाव जमाने के हेतु यह काव्य-रचना की थी। अधिकांश संत सदैव घूमते रहते थे। तीर्थ यात्रा के निमित्त वे जब उत्तर भारत में जाते रहते थे तब उस समय उन्होंने वहाँकी जनता में अपने विचार हिंदी भाषा के माध्यम से प्रकट करना संभवतः उचित समझा होगा जिसकी परिणति हिंदी पदों में हो गई।

साहित्यिक :

हिंदी भाषा के ग्रंथ पढ़ने तथा उनका मराठी में अनुवाद करने की क्षमता भी तत्कालीन मराठीभाषी साहित्यिकों में पाई जाती है। नाभादास की 'भक्तमाल' नामक हिंदी रचना को पढ़कर महिपति को मराठी में एक ही ग्रंथ में अनेक संतों के चरित्र लिखने की प्रेरणा मिली और उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन 'चरित्र काव्य' निर्माण करने में बिताया। नाभादास के शिष्य प्रिय-दास के हिंदी ग्रंथ भक्तिरसबोधिनी का मराठी अनुवाद मार्तंड बुवा नामक साहित्यकार ने किया था। मीरा, सूरदास, तुलसीदास, कबीर आदि संत-कवियों के पद यहाँ बहुत ही लोकप्रिय थे। महाराष्ट्र के हस्तलिखित संग्रहालयों में इनके असंख्य पदों की कई प्रतिलिपियाँ सर्वत्र मिलती हैं। स्वयं मोरोपंत जैसे श्रेष्ठ कवि ने सूर, तुलसी, मीरा के पदों की मधुरता की प्रशंसा की है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ के साहित्यिक भी हिंदी साहित्य को प्रसन्नता से तथा स्वेच्छा से पढ़ते थे तथा उससे प्रेरणाएँ भी लेते थे।

मराठी साहित्य में पंडित कवियों का काव्य तथा हिन्दी साहित्य का रीतिकालीन काव्य इन दोनों का प्रमुख स्रोत संस्कृत भाषा का साहित्य ही था। उत्तर भारत से यहाँ के संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों, काव्यों, प्राचीन धर्म-ग्रंथों की माँग[१] आती रहती थी तो महाराष्ट्र में रीतिकालीन तथा भक्ति-कालीन हिंदी ग्रंथों की। तुलसी की रामायण, पद्माकर का जगद्विनोद, बिहारी की सतसई केशव की रसिकप्रिया तथा कविप्रिया, जैसे काव्यग्रंथों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ महाराष्ट्र के लगभग सभी हस्तलिखित संग्रहालयों में में पाई जाती हैं। इससे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि सुदूर दक्षिण में हैदराबाद, तंजौर जैसे स्थानों पर उपर्युक्त ग्रंथों के साथ ही सुंदर कवि-राय कृत 'सुंदर शृंगार', चिंतामणि कृत 'भाषा पिंगल' जैसे हिंदी काव्य को उर्दू तथा तेलुगु लिपि में लिपिबद्ध किया है। इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि अहिंदी भाषी लोगों में हिंदी भाषा के प्रति ही नहीं बल्कि हिंदी साहित्य के प्रति भी कितनी रुचि थी। उर्दू तथा तेलुगु लिपि में लिखित कई हिंदी ग्रंथ हैदराबाद की स्टेट लायब्रेरी तथा सालारजंग म्यूजियम और तंजौर के सरस्वती महल ग्रंथालय में सुरक्षित हैं। इस प्रकार महाराष्ट्र तथा दक्षिण में हिंदीभाषा के प्रति गहरा आकर्षण था। विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मराठा शासनकालीन महाराष्ट्र में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवम् साहित्यिक क्षेत्रों में विभिन्न कारणों से हिंदी भाषा तथा साहित्य को स्वीकार किया गया था। महाराष्ट्र में हिंदीप्रसारण की संक्षिप्त पृष्ठभूमि यही है।

हिंदी काव्य के प्रति सम्मान एवं प्रेम :

साहित्य को जब राजाश्रय प्राप्त होता है तब उसे विशेष प्रतिष्ठा मिलती है और वह अधिक ही संपन्न एवम् समृद्ध हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि राजाश्रय के पश्चात् उस साहित्य को लोकाश्रय सहज ही प्राप्त होता है और विभिन्न क्षेत्रों में उसके प्रति स्वभावतः संमान एवं प्रेम प्रकट किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्र की जनता ने हिंदी को किस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रेम से अपनाया था। महाराष्ट्र में हिंदीप्रचार के जो विभिन्न कारण हैं उनमें भोंसला राजवंश का बहुत बड़ा हाथ रहा। इन राजाओं में हिंदी काव्य के प्रति सम्मान एवं प्रेम था।

---

१. मराठों का इतिहास, गो० स० सरदेसाई, पृ० ११० ।

इनका यह प्रेम विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। इस वंश के अधिकांश राजा रसिक एवं उदारचरित थे। उन्होंने हिंदी के प्रतिभासंपन्न कवियों के अतिरिक्त हिंदी में काव्यरचना करनेवाले मराठीभाषी कवियों को अपने दरबार में आश्रय देकर उनको उत्कृष्ट हिंदी ग्रंथों की रचना करने के लिये प्रोत्साहित किया। इनके द्वारा आश्रयप्राप्त प्रमुख कवियों में जयराम, चिंतामणि, संकर सुकवि, भूषण, लोकमणि तथा सीताराम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मराठा राजाओं ने कवियों को आश्रय देकर न केवल हिंदी ग्रंथरचना को प्रोत्साहन ही दिया बल्कि उनमें से कुछ राजाओं ने स्वयं हिंदी में ग्रंथ भी लिखे हैं। हिंदी में रचना करनेवाले नृपकवियों में शिवराज, नृपशंभु तथा शाहराज की परिगणना होती है।

आश्रयप्राप्त प्रमुख हिंदी कवियों के अतिरिक्त गुरुतुल्य एवं संमानित कवियों की हिंदी रचनाओं का भी इन राजाओं ने विशेष सम्मान किया। इस प्रकार के कवियों में तुकाराम, रामदास, देवनाथ एवं कविकलश के नाम आ जाते हैं। संमानित कवियों के अतिरिक्त प्रसंगवश इन राजाओं के दरबार में एवं संपर्क में आनेवाले हिंदी रचनाकार कवियों की संख्या भी कम नहीं है। इन कवियों की रचनाओं को सुनकर उनकी योग्यतानुसार पुरस्कार देकर महाराष्ट्र के मराठा राजाओं ने अपना हिंदीप्रेम व्यक्त किया है। इस प्रकार महाराष्ट्र में हिंदीकाव्य के प्रति किस प्रकार संमान एवं प्रेम था यह सहज ही प्रकट हो जाता है।

———

(१) राजन् भोंसलवंशमौक्तिकमिलद्धारावलिप्रोल्लसत्
श्रीमन्नायकशाहसूनुमणिना योर्हर्निशं भूषितः,
गंभीरांबुनिधेरमूज्जनयितुर्गंगाविकायां च यो
बालेन्दुर्जयराम एष तनुते चंपूमयीं चंद्रिकां ॥[१]

(२) एवम् कतिपय दिवसैः श्रीमत्कृष्णभास्करगरुडध्वजात्मज भोजराज सहायः सूर्यपर्व ज्योतिष्मती प्रयोगप्रभावप्राप्त कवित्वसिद्धिर्जामदग्निवत्स गोत्र संभवः पिंड्योपनामको जयरामो नाम कविः ॥[२]

(३) मार्कंडेयाहिवंतादि सप्तपर्वताध्यक्षतां अविरतम् वितन्यमानो गंभीरराय इत्यभिधाप्रसिद्धः स्वामिभिर्नयनपथं नीतः भविष्यति चंडीपर्वतपुरतो मार्कंडेयोस्ति पर्वतो विपुलः तत्रोद्भवेन जयरामेण ॥[३]

इससे ज्ञात होता है कि जयराम के पिता का नाम गंभीरराय था और माता का गंगाविका। ये जामदग्नि वत्सगोत्रीय थे और इनका उपनाम पिंड्ये था। नासिक प्रांतांतर्गत सप्तशृंगी के सामने स्थित मार्कंडेय नामक पर्वत की तलहटी के एक ग्राम में इनका जन्म हुआ। अपनी जन्मतिथि तथा ग्राम के नाम का उल्लेख जयराम ने नहीं किया। अतः उनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। संभव है कि विशेष प्रसिद्ध ग्राम न होने से कवि ने उसका उल्लेख न किया हो। मार्कंडेय पर्वत से अहिवंत पर्वत तक जो सात किले हैं उनका अध्यक्षत्व जयराम के पिता करते थे अर्थात् उन किलों का संरक्षण तथा देखभाल करने का उत्तरदायित्व उनपर था। राजवाड़े जी लिखते हैं कि जयराम के पिता गंभीरराय और शहाजी महाराज का परिचय उस समय हुआ था जब शहाजी अपने पूर्व जीवन में अहमदनगर के निजामशाह के राज्य का पुनरुज्जीवन करने में जुट गए थे।[४]

कवित्वस्फूर्ति :

ज्योतिष्मती के प्रयोग के प्रभाव से कवित्वसिद्धि प्राप्त होने की बात

---

१. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू—संपा० वि० का० राजवाड़े, शक १८४४, पृ० २२६।
२. वही, पृ० २२७।
३. वही, पृ० २३४ और २७८।
४. वही (प्रस्तावना), पृ० ४।

जयराम ने स्पष्टतः लिखी है। 'सह्याद्रि' में प्राप्त ज्योतिष्मती नामक वनस्पति का तैलकल्प विशेषतः सूर्यपर्व के सुअवसर पर सेवन करने से ब्रह्मांड भ्रमण की ध्वनि सुनाई देती है। इसका समर्थन ज्येष्ठ भिषग्वर्य (वैद्यक शास्त्र में पारंगत) व्यक्तियों के द्वारा भी किया गया है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रह नक्षत्रों के परिभ्रमण के समय जो महाध्वनि उत्पन्न होती है उसे सुनने की क्षमता ज्योतिष्मती के तैलकल्प का सेवन करनेवाले व्यक्तियों में आ जाती है। यह ध्वनि सामान्य मनुष्य के कानों को सुनाई नहीं देती। कहा जाता है कि ज्योतिष्मती वनस्पति का यह तैलकल्प इतना प्रखर होता है कि करोड़ों में एकाध मनुष्य ही इसकी तीव्रता को सह सकता है।[1] ऐसे बिरले व्यक्तियों की श्रेणी में जयराम की परिगणना की जाती थी। जयराम स्वभावतः ही बुद्धिमान थे तिसपर उन्हें यह सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी जिससे उनकी प्रतिभा को विशेष चैतन्य प्राप्त हुआ होगा। बारह भारतीय भाषाओं पर उनका जो अधिकार था वह कवि के असाधारणत्व का साक्षी है।

जन्मकाल :

जयराम ने अपनी रचनाओं में जन्मकाल के संबंध में कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अतः उसके विषय में प्रामाणिक रूप से तथा निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन सा हो जाता है परंतु कुछ ऐतिहासिक घटनाओं तथा प्रसंगों के आधार पर उनके जन्मकाल का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। शाहजहाँ के आश्रित संस्कृत तथा हिंदी के प्रकांड पंडित एवम् कवि कवींद्राचार्य सरस्वती ने काशी, प्रयाग आदि तीर्थ क्षेत्र के स्थानों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करवाकर हिंदू जनता को अपना ऋणी बनाया था और इसी ऋण को किसी अंश में चुकाने के लिये तत्कालीन संस्कृत एवम् हिंदी के प्रसिद्ध पंडितों और कवियों ने संस्कृत श्लोकों तथा हिंदी पद्यों में गुणगान कर इनका अभिनंदन किया।[2] संस्कृत श्लोकों का अभिनंदन ग्रंथ पूना से 'कवीन्द्रचंद्रोदय'[3] नाम से और हिंदी का अभिनंदन ग्रंथ 'कवींद्र-

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृ० ९।

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका—कार्तिक-माघ सं० १९९९, वर्ष ४७ अंक ३-४ में दशरथ शर्माजी का लेख, पृ० २७१।

३. 'कवीन्द्र चन्द्रोदय' इस संस्कृत ग्रंथ को डॉ० पाटकर और श्रीशर्मा के संपादन में पूना के ओरिएंटल बुक एजेन्सी ने सन् १९३९ ई० में प्रकाशित किया है।

चंद्रिका' नाम से प्रकाशित है। हिंदी ग्रंथ की मूल हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत ग्रंथालय में वर्तमान है और उसी की एक प्रतिलिपि पूना के भांडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट में भी उपलब्ध है। इस 'कवींद्र चंद्रिका' में जयराम कवि के भी पाँच छंद हैं जिनमें कवींद्राचार्य सरस्वती का अभिनंदन किया गया है। इनमें से एक छंद इस प्रकार है—

किधौं कवि दंडी किधौं देह घरै आपु चंडी,
किधौं सुर गुरु ह्वै कै करै सकाजु है।
कवि 'जयराम' जाके कंठ आवै चार्‌यों वेद,
ठाढ़ी कर जोरे वाकबानी करै साजु है॥[1]

कवींद्राचार्य सरस्वती का उपस्थितिकाल सन् १६५० ई० के लगभग माना जाता है।[2] तीर्थस्थानों को करमुक्त कराने तथा उसके उपलक्ष्य में विद्वानों द्वारा कवींद्राचार्य सरस्वती का अभिनंदन ग्रंथ लिखे जाने का समय भी संभवतः यही था। तत्कालीन प्रसिद्ध पंडितों तथा कवियों में इनकी गणना की गई थी। अतः उस समय (सन् १६५० ई०) तक जयराम कवि की आयु लगभग ४५ के आसपास अवश्य होगी। इस हिसाब से इनका जन्मकाल सन् १६०५ ई० (संवत् १६६२ वि०) के आसपास ठहरता है। सन् १६५३ ई० में जयराम कवि शहाजी महाराज के दरबार में आए थे और उन्होंने शक १५७५ (सन् १६५३ ई०) में राधामाधव विलास चंपू का आरंभ कर उसे शक १७८० (सन् १६५८ ई०) में समाप्त किया।[3] संस्कृत में लिखे इस ग्रंथ के अंतर्गत बारह भाषाओं में रची कविताएँ भी हैं। बारह भाषाओं पर अधिकार करने तथा उन भाषाओं में कविता लिखने की क्षमता होने के लिये असाधारण बुद्धिमत्ता के साथ ही साथ अध्यवसाय की भी आवश्यकता होती है। भारत की प्रमुख बारह भाषाओं पर जयराम ने कैसे अधिकार किया होगा? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप दो कल्पनाओं को प्रश्रय मिलता है। एक तो उन्होंने इन सभी भाषाओं का अध्ययन किया होगा अथवा उन्होंने देश के विभिन्न प्रांतों में भ्रमण किया होगा और प्रसंगवश वहाँ रहने तथा वहाँकी

---

१. कवींद्र चंद्रिका—इस हिंदी ग्रंथ को डॉ० कृष्ण दिवकर ने संपादित किया है। यह ग्रंथ महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना से प्रकाशित है।

२. द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्थान—डॉ० ग्रियर्सन (हिंदी अनुवाद डॉ. गुप्त), प्रथम संस्करण, पृ० १६०।

३. राधामाधव विलास चंपू—पृ० ४।

जनता से संपर्क में आने के कारण उन भाषाओं का ज्ञान जयराम ने प्राप्त किया होगा। इन दो में से प्रथम पर्याय इसलिये संभव नहीं जान पड़ता क्योंकि किसी एक स्थान पर एक साथ बारह भाषाओं का अध्ययन करना उस समय उतना सरल न था। दूसरी बात विशेष संभवनीय लगती है क्योंकि देश के विभिन्न प्रांतों के भ्रमण से तथा वहाँकी जनता के संपर्क से वहाँकी भाषाओं का ज्ञान होना सहज स्वाभाविक है। मराठी संतों ने हिंदी भाषा पर इसी प्रकार का अधिकार किया था। इस प्रकार सन् १६५० ई० के आसपास कवींद्राचार्य सरस्वती का अभिनंदन करनेवाले तत्कालीन श्रेष्ठ पंडितों तथा कवियों में जयराम की गणना होना, सन् १६५३ ई० में शहाजी महाराज के दरबार में आते समय उनका बारह भाषाओं में काव्य करने का अधिकार तथा वहाँ मिलनेवाला सम्मानित पद आदि का विचार करने से इस अनुमान को पुष्टि ही मिलती है कि उनका जन्मकाल सन् १६०५ ई० के आस-पास था।

शहाजी के आश्रम में आगमन तथा गौरव :

शहाजी महाराज के दरबार में पुरस्कृत एवम् सम्मानित होकर संतोष के साथ अपने प्रांत में लौटनेवाले चारणों के मुख से शहाजी के औदार्य एवम् गुणग्राहकता की कीर्ति जयराम ने सुनी। तबसे शहाजी महाराज के दर्शन करने की अभिलाषा उनके मन में उत्पन्न हुई। दिन प्रतिदिन शहाजी के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा दातृत्व के पुनीत संगम का समीर उनकी कीर्तिसुगंध दूर दूर तक प्रसारित करने लगा। जयराम कवि भी अपने पूर्वनिश्चय के अनुसार तुलजा भवानी तथा पांडुरंग—इन देवताओं का स्मरण कर महाराष्ट्र देश से शहाजी महाराज की राजधानी बंगलूर में पहुँच गए। वहाँके ब्रह्म-विद्यापारंगत शिवराय गोस्वामी नामक दरबार के विद्वान् एवम् प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वारा उन्होंने अपनी इच्छा शहाजी महाराज तक पहुँचाई। गुणग्राहक एवम् उदार शहाजी महाराज ने बड़ी उत्सुकता से अविलंब उनकी प्रार्थना मान्य की और अपने दरबार के शिवराय वेदांती तथा वीरेश्वर वैद्य को आज्ञा की कि वे जयराम कवि को सम्मान सहित दरबार में लाएँ।

दरबार में प्रवेश करने पर जयराम कवि ने शहाजी महाराज के लिये शुभकामना व्यक्त कर उन्हें आशीर्वाद दिया। निर्दिष्ट स्थान पर विराजित होने के पश्चात् जयराम ने बारह नारियल के फल उपहार के रूप में शहाजी

के सामने रखे। महाराज के कुतूहल तथा जिज्ञासा से इसका कारण पूछने पर उत्तर के रूप में जयराम ने कहा—ये बारह नारियल उन बारह भाषाओं के प्रतीक हैं जिनमें मैं काव्यरचना किया करता हूँ। उन्होंने बारह भाषाओं के नाम भी गिनाए हैं जिनमें संस्कृत, प्राकृत, गोपाचलीय, गुर्जरी, वक्करी, ढुंढारी, पंजाबी, हिंदुस्तानी, बग्गुली (बागलाणी), यावनी, दाक्षिणात्य यावनी (दक्खिनी) तथा कर्नाटकी इन भाषाओं का समावेश है।[1] ग्वालेरी अथवा ब्रज भाषा को गोपाचलीय भाषा कहा जाता था। ग्वालेर के किले का प्राचीन नाम गोपाचल, गोपालगिरि था।[2] शहाजी की इच्छा के अनुसार जयराम कवि ने राधामाधव विलास चंपू का बाललीला, दानलीला तथा मानलीला विषयक काव्य सुनाया जिससे शहाजी तथा दरबार के कविगण कवि की योग्यता जान सके।

जयराम की रचना सुनकर सभी प्रसन्न हुए। उस समय की प्रथा के अनुसार समस्यापूर्ति का कौशल कवि की प्रतिभा, बुद्धिमत्ता, सम्यक् चातुर्य आदि की कसौटी माना जाता था। अतः दरबार में स्थान देने के पूर्व कवि का यह कौशल भी देखना उचित होगा, यह समझ कर स्वयं शहाजी राजा ने 'शतचंद्रमनभस्तलम्' की संस्कृत पंक्ति समस्यापूर्ति के लिये दी। जयराम ने अविलंब उस समस्या की पूर्ति कर अपना चातुर्य दिखा दिया। उसके पश्चात् मल्हार भट पुरोहित, नारोपंत दीक्षित, नरहरी कवीश्वर, विष्णु ज्योतिषी, रघुनाथ भट्ट, विश्वनाथ भट्ट, नीलकंठ पुराणिक, प्रल्हाद, सरस्वती, वीरेश्वर भट्ट, अय्यशास्त्री, तुकदेव पाठक, शेष पंडित, अनंत पंडित, युवराज संभाजी (शिवाजी के ज्येष्ठ बंधु), यलोजी महाले घंटाघोष आदि शहाजी दरबार के विद्वानों ने जयराम कवि को पूर्णार्थ अनेक समस्याएँ दीं जिनकी पूर्ति बड़ी सफलता से जयराम ने की। अनेक प्राकृत भाषाओं के विद्वान् कवियों ने अपनी अपनी भाषाओं में भी कुछ समस्याएँ जयराम को दीं जिनमें हिंदी के भी अनेक कवि थे। रघुनंदन कवि की 'नौ द्रुम के नव पल्लव रातें' इस समस्या की जयराम ने जो पूर्ति की वह द्रष्टव्य है—

---

१. द्वादशभाषासु संस्कृत प्राकृत गोपाचलीय गुर्जर वक्कर ढुंढार पंजाब हिंदुस्थान बग्गुल यावनी दाक्षिणात्ययावनी कर्णाटकाख्यासु निरर्गलं कवयामीति ज्ञापयितुमिति।—राधामाधव विलास चंपू—षष्ठोल्लासः, पृ० २२७।

२ राधामाधव विलास चंपू, पृ० ८।

वारिज लोचनि वाल नवोढजु खेलति ही कहु ख्याल के नाते।
कान्ह अचानक आन गही कर छूवत छातिन्ह काम के माते
चौंकि गई द्रिग चंचल तारनि कोंल में भौंर मनों फहराते।
हात नचावत वातन यों मनों नौ द्रुम के 'नव वल्लव राते' ॥[१]

इस प्रकार विविध बारह भाषाओं पर कवि का अधिकार, समस्यापूरण की क्षमता, प्रभावशाली शैली, आशु कवित्व की प्रतिभा एवम् प्रसंगचातुर्य आदि बातें देखकर शहाजी महाराज अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने जयराम कवि को अपने दरबार में विशिष्ट सम्मान का स्थान दे दिया। जैसे जैसे जयराम का शहाजी से संपर्क बढ़ने लगा वैसे वैसे अनेक प्रसंगों पर अपनी काव्यप्रतिभा से महाराज को प्रभावित करने के अवसर उन्हें प्राप्त होते रहे। 'राधामाधव विलास चंपू' के आठवें उल्लास में स्वयम् जयराम ने इस बात का विस्तृत वर्णन किया है। अवकाश के समय जयराम शहाजी राजा के साथ शिकार आदि में भी जाते रहते थे। जयराम के साथ काव्यशास्त्र विनोद में शहाजी महाराज का समय बड़ी प्रसन्नता से व्यतीत होता था। शहाजी महाराज के साथ व्यक्तिगत संपर्क बढ़ने से जयराम का महत्त्व भी अधिक बढ़ा और सभी लोग उनको आदर की दृष्टि से देखने लगे। शहाजी महाराज के दर्शनार्थी भी जयराम कवि की कृपा से अपनी मनोकामना पूर्ण किया करते थे। युवराज संभाजी के नवीन अमात्य गंगाधर पंत ने जयराम की कीर्ति सुनकर मिलनार्थ निमंत्रित किया। उस प्रसंग के निमित्त जयराम ने अमात्य के लिये एक श्लोक रचा जिसे सुनकर अमात्य इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसी श्लोक को अपनी मुद्रा में खुदवा लिया। वह श्लोक था —

महाराजार्णवोत्पन्न एकः पूर्ण कलाधरः।
मौलो गंगाधरस्येव श्रीभरो यस्य राजते ॥[२]

शहाजी महाराज के दो पत्नियाँ थीं। एक का नाम जिजाबाई था जो संभाजी और शिवाजी की माता थी और दूसरी का नाम तुकाई था जो एकोजी की माता थी।[३] ये सभी पुत्र साहित्यप्रेमी एवं रसिक थे।

---

१. राधामाधव विलास चंपू—पृ० २४७।
२. वही, पृ. २४१।
३. शंभाजिराजश्च शिवाजिराजो जिजांबिकायां तनयावभूताम्।
तुक्काम्बिकायां सुत एक भूपस्तस्य त्रिभिस्तैर्मुदितं मनोभूत् ॥
—श्रीधर व्यंकटेश कृत शाहेंद्र विलास : संपा० डॉ० राघवन् (सन् १९५२ ई०), प्रथम सर्ग, छंद २८, पृ० ६।

युवराज संभाजी ने जयराम को 'आकाशे चरणद्वयेन तनुते धीरं मदंगध्वनिम्' यह संस्कृत समस्या पूरणार्थ दी थी जिसकी पूर्ति जयराम ने इस प्रकार की—

शैलूषी निजवेशपेशलतनुर्वंशे नभश्चुंबिनी।
स्थित्वा केशविचारणाय शिरसि न्यासक्तहस्तद्वया॥
अग्रे तावदहो महोत्सवविधिर्व्यस्यासवल्गद्वपुः।
आकाशे चरणद्वयेन तनुते धीरं मदंगध्वनिम्॥'[1]

युवराज संभाजी के कनिष्ठ बंधु शिवाजी का असामान्यत्व देखकर बारह वर्ष की अवस्था (सन् १६४२ ई०) में ही शहाजी महाराज ने उन्हें आवश्यक मंत्री, हाथी, घोड़े तथा विपुल द्रव्य देकर पूना की ओर रवाना किया,[2] जहाँ माता जिजाबाई और गुरु दादोजी कोंडदेव की देखभाल में स्वराज्य निर्मिति के लिये आवश्यक शिक्षादीक्षा शिवाजी ने ग्रहण की। जयराम जब शहाजी महाराज के पास आए तब शिवाजी शहाजी के पास न थे इसलिये उनका उल्लेख जयराम ने उस प्रकार नहीं किया जिस प्रकार संभाजी तथा एकोजी का किया। संभाजी और एकोजी का उस समय प्रत्यक्ष संपर्क में आने से प्रसंगवश उनका वर्णन आना स्वाभाविक है। ये दोनों युवराज जयराम को बड़ा सम्मान देते थे। संभाजी का स्वर्गवास होने के पश्चात् एकोजी को युवराजपद मिला। संभाजी की भाँति संस्कृत, प्राकृत कवियों की कविता सुनने और उनका रसास्वादन करने में वे भी रुचि रखते थे। उन्होंने विशेष निमंत्रण देकर जयराम कवि से 'राधामाधव विलास चंपू' सुना और विपुल संपत्ति देकर जयराम का सम्मान किया। जयराम ने श्रीशैल पर्वत का जो उत्कृष्ट वर्णन किया है उसमें एकोजी के साथ स्वयं कवि के होने का उल्लेख है। इतिहासकार सरदेसाई ने भी इस गमन का उल्लेख किया है।[3] इस प्रकार जयराम का ऐश्वर्य एवं सम्मान दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था।

शिवाजी और जयराम :

सन् १६६४ ई० की जनवरी में शहाजी का स्वर्गारोहण हुआ। उसके बाद भी जयराम संभवतः सन् १६७० ई० तक एकोजी राजा के आश्रय में

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २२२।
२. परमानंद कृत शिवभारत, संपादक स० म० दिवेकर, (शके १८४६), पृ० १६।
३. शहाजी—गो० स० सरदेसाई, (सन् १९२९ ई०), पृ० ७६।

वहीं रहे। जयराम कविकृत 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' काव्यग्रंथ से ज्ञात होता है कि सन् १६७० से १६७३ ई० तक जयराम शिवाजी के आश्रय में रहे। उसके पश्चात् पुनः एकोजी राजा के यहाँ आए थे और अपने तीन वर्षों के निवास में जो शिवचरित्र उन्होंने देखा उसका वर्णन 'पर्णाल-पर्वत ग्रहणाख्यान' के द्वारा एकोजी राजा को सुनाया। इस समय जयराम की अवस्था अनुमानतः ६८ वर्ष के आसपास होगी।

जयराम का मृत्युकाल :

इसके बाद वे एकोजी राजा के पास कितने दिन रहे इसके संबंध में कोई प्रमाण अथवा उल्लेख नहीं मिलता। 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' के कई छंदों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने 'राधामाधव विलास चंपू' और 'पर्णाल-पर्वत ग्रहणाख्यान' के अतिरिक्त अन्य भी ग्रंथरचना की थी जो दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं होती है। एकोजी के पुत्र शहाजी के दरबारी कवियों में जयराम का उल्लेख नहीं मिलता। शहाजी (द्वितीय) का राज्यारोहण सन् १६८४ ई० में हुआ था।[1] अतः यह निश्चित हो जाता है कि सन् १६८४ के पश्चात् जयराम तंजौर के दरबार में न थे। शहाजी द्वितीय भी स्वयं कवि तथा पंडितों एवं कवियों के आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध थे। जयराम जैसे प्रतिभावान् कवि का ऐसे उदार एवं रसिक राजा के दरबार को छोड़कर जाना संभव नहीं लगता। शिवाजी के पिता शहाजी महाराज, एकोजी राजा, शिवाजी महाराज आदि के द्वारा जयराम को इतनी विपुल धनराशि एवं संमान मिला था कि इस राजकवि का भोंसलों का दरबार छोड़कर अन्य किसी दरबार में आश्रयार्थ जाना भी संभव नहीं लगता। एकोजी के पुत्र शहाजी द्वितीय के दरबारी कवियों में इनका उल्लेख न होने का यही कारण प्रतीत होता है कि संभवतः उस समय जयराम जीवित न थे। अतः जयराम का मृत्युकाल अनुमानतः सन् १६८०-१६८४ ई० के बीच मानना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

काव्यकृतियाँ :

जयराम की केवल दो ही रचनाएँ तथा कुछ फुटकल छंद अबतक उपलब्ध हुए हैं। इनमें से 'राधामाधव विलास चंपू' संपूर्ण ग्रंथ के रूप में प्राप्त होता है। 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' के केवल पाँच ही अध्याय प्राप्त हैं।

---

१. तंजावरचे राजे—श्री वाकसकर (सन् १९३३ ई०), पृ० ४०।

'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' के अंतर्गत ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जयराम की इनके अतिरिक्त भी रचनाएँ थीं। दुर्भाग्य से वह प्राप्त नहीं होती हैं। कवींद्राचार्य सरस्वती के हिंदी अभिनंदनग्रंथ 'कवींद्र चंद्रिका' के अंतर्गत कवींद्राचार्य की प्रशस्ति के जयराम द्वारा रचित पाँच छंद प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती।

राधामाधव विलास चंपू :

'राधामाधव विलास चंपू' ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। एक प्रति राजवाड़े इतिहास संशोधन मंदिर, धुलिया में सुरक्षित है जिसे ग्रंथरूप में इतिहासाचार्य राजवाड़ेजी ने विस्तृत प्रस्तावना के साथ शक १८४४ सन् १९२२ ई०) में चित्रशाला प्रेस पूना से प्रकाशित करवाया। दूसरी प्रति सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर में सुरक्षित है। दोनों हस्तलिखित प्रतियों को, जो देशी कागज पर लिखी हैं, देखने से ज्ञात होता है कि तंजौर की हस्तलिखित प्रति की अपेक्षा धुलिया की हस्तलिखित प्रति प्राचीन है। तंजौर की प्रति उतनी जीर्ण प्रतीत नहीं होती जितनी कि धुलिया की प्रति है। इसके अतिरिक्त तंजौर की प्रति अपूर्ण भी है। उसमें एकादश उल्लास के लगभग १३-१४ पृष्ठ नहीं हैं। शेष विभागों में पाठांतर की दृष्टि से विशेष अंतर नहीं ज्ञात होता। स्व० राजवाड़ेजी ने मूल प्रति मैसूर, मद्रास तथा तंजौर में होने की संभावना व्यक्त की थी, अतः लेखक उक्त तीनों स्थानों पर इसकी खोज में गया था, परंतु तंजौर के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर 'राधामाधव विलास चंपू' की हस्तलिखित प्रति प्राप्त न हो सकी। सारांश, उपलब्ध प्रतियों में धुलिया की प्रति जीर्ण एवं प्राचीन है। इस प्रति के इ, क, ज, म आदि अक्षरों को लिखने की पद्धति शिवकालीन होने से स्व० राजवाड़ेजी ने इसका लिपिकाल शक १६०० (सन् १६७८ ई०) के लगभग ठहराया[1] है जो उचित ही प्रतीत होता है।

रचनाकाल :

जयराम कवि ने 'राधामाधव विलास चंपू' के अंत में अथवा अन्यत्र कहीं भी उसका रचनाकाल नहीं दिया है। 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' में

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २।

बंगलूर के 'गौरी विलास' नामक सभागृह में शहाजी को रचना सुनाने का उल्लेख है।[१] चंपू में दो तीन स्थानों पर स्वयं कवि ने महाराष्ट्र देश से शहाजी महाराज की राजसभा में अपना आगमन तथा चंपू को सुनाने की बात का उल्लेख किया है। कर्नाटक में बंगलूर के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर शहाजी का स्थायी निवास न था। बंगलूर शहर ही में शहाजी ने अपना केंद्र किया था और अपनी जागीर का उपभोग वे लेते थे। अपने जीवन के अंतिम १५ वर्ष उन्होंने वहीं बिताए थे। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राधामाधव विलास चंपू' की रचना सन् १६५०-१६६४ ई० के बीच हुई होगी। गुरु नारायण भट्ट की इच्छा दर्शाने पर शहाजी महाराज की प्रशस्ति में जयराम कवि ने जो छंद पढ़ा उसके आधार पर यह काल अधिक सीमित किया जा सकता है—

> जगदीश विरंचिकु पुछत है कहो शिष्टि रची रखे कौन कहाँ।
> कर जोरि कही जयराम विरंच्ये तिरिलोक जहाँ के तहाँ॥
> ससि वो रवि पूरब पश्चिम लों तुम सोय रहो सिरसिंधु महा।
> अरु उत्तर दछन रछन को इत साहजु है उत साहिजहाँ॥[२]

इस छंद की काव्यमयी कल्पना तथा अतिशयोक्ति को छोड़ देने पर भी इसमें एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होता है। इसमें प्रयुक्त वर्तमान-कालीन क्रियाएँ इस बात की द्योतक हैं कि यह छंद शाहजहाँ की जीविता-वस्था एवं वैभवकाल के समय बनाया गया था। इतिहास के अनुसार शाह-जहाँ की पदच्युति सन् १६५८ ई० में हुई थी। अतः यह निश्चित हो जाता है कि 'राधामाधव विलास चंपू' की रचना सन् १६५८ ई० के पूर्व होनी चाहिए। छंद में शहाजी महाराज का गौरव दक्षिण के लोकपाल के रूप में किया है। शहाजी का वैभवकाल शक १५७५ (सन् १६५३ ई०) के आस-पास माना जाता है। इसी आधार पर राजवाडेजी ने इस ग्रंथ के रचनाकाल का प्रारंभ शक १५७५ (सन् १६५३ ई०) और समाप्तिकाल शक १५८० (सन् १६५८ ई०) माना है,[३] जो युक्तिसंगत जान पड़ता है। ग्रंथ को

---

१. जयरामकृत पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान–संपा० स० म० दिवेकर, (शक १८४९), पृ० ८।

२. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २५०।

३. राधामाधव विलास चंपू, पृ० ४।

पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसकी रचना कवि ने एक साथ न की होगी प्रत्युत् इन ४–५ वर्षों के बीच प्रसंगवश तथा राजदरबार में इसकी रचना क्रमशः हुई होगी।

वर्ण्य विषय :

'राधामाधव विलास चंपू' ग्रंथ ग्यारह उल्लासों में विभाजित है। प्रथम दस उल्लासों की भाषा संस्कृत है और एकादश उल्लास की भाषा प्राकृत है जिसमें हिंदी, मराठी, कर्नाटक आदि ग्यारह भाषाओं का समावेश है। प्रथम पाँच उल्लासों में राधाकृष्ण के विलास का परंपरानुसार वर्णन किया गया है। इन उल्लासों के नाम क्रमशः जलक्रीडा, पुष्पशय्यारिरंसा, नखशिख, षड्ऋतु, चंद्रोदयसूर्यास्तसमय रखे गए हैं। उल्लासों के शीर्षकों से वर्ण्य विषय की कल्पना की जाती है। ग्रंथ में चंद्रालोक, काव्यप्रकाश, काव्यकल्पलता, काव्यादर्श, रसमंजरी आदि प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों के उल्लेख तथा संदर्भ मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि जयराम ने इन ग्रंथों का अध्ययन किया था। इन उल्लासों में संभोगश्रृंगार, विप्रलंभ श्रृंगार, नायिकाभेद वर्णन, नखशिख वर्णन, ऋतुवर्णन आदि के वर्णन में जयराम की प्रतिभा के सहज दर्शन होते हैं। प्रथम पाँच उल्लासों में ऐतिहासिक तथ्य नहीं के बराबर ही प्राप्त होता है। समस्त ग्रंथ का एक तिहाई भाग इन पाँच उल्लासों के वर्णन में लग गया है। शेष दो तिहाई भाग ऐतिहासिक एवं शहाजी राजा की प्रशस्ति विषयक है जिसमें राधाकृष्ण का वर्णन अपवाद रूप में ही मिल सकेगा। षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम उल्लासों का नामकरण क्रमशः राजदर्शन समस्यापूरण, राजसभा वर्णन, राजरीति वर्णन, युवाराज्यावाप्ति तथा राजनीति वर्णन किया गया है। इन उल्लासों के वर्णन में भी ग्रंथ का लगभग एक तिहाई भाग लग गया है। अंतिम एकादश उल्लास के लिये अन्य उल्लासों की भाँति जयराम ने विशेष नाम नहीं दिया। इस उल्लास की प्रस्तावना में सांकेतिक रूप में 'भाषा समस्या प्रकरणम्' कहा है। वास्तव में यह उल्लास संस्कृतेतर ग्यारह भाषाओं के ज्ञाता कवियों की समस्याओं की जयराम कवि के द्वारा उन्हीं की विभिन्न भाषाओं में समय समय पर की गई पूर्ति मात्र है। इस प्रकार समस्त ग्रंथ तीन विभागों में विभाजित है। यद्यपि विषय की दृष्टि से तीनों स्वतंत्र विभाग भी हो सकते हैं तथापि कवि ने हेतुपूर्वक उन तीनों को एक ही ग्रंथ के अंग माना है और उसी दृष्टि से उल्लासों के क्रमांक भी दिए हैं।

पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान :

जयराम कवि के दूसरे उपलब्ध ग्रंथ का नाम 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यानम्' है। इस ग्रंथ की मूल हस्तलिखित प्रति सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर में सुरक्षित है जिसका प्रकाशन महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध इतिहास संशोधक श्रीमान् स० म० दिवेकरजी ने शके १८४५ (सन् १९२३ ई०) में किया है। इस ग्रंथ के पाँच अध्याय हैं। ग्रंथांत की पुष्पिका देखने से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ अपूर्ण है जिनमें से केवल पाँच अध्याय ही उपलब्ध हैं। संभव है कि इस ग्रंथ के और भी अध्याय हों जो अबतक अज्ञात हैं। इसके प्रथम अध्याय के अंत में लिखा है—

'इति श्रीमज्जयरामकवि विरचिते पर्णालपर्वतग्रहणाख्याने शिवराज चरित्रे प्रथमोध्यायः ।'[1]

लगभग यही छाप शेष चार अध्यायों के अंत में भी मिलती है। इससे अनुमान हो जाता है कि शिवचरित्र के अनेक आख्यानों में पर्णालपर्वत-ग्रहणाख्यान यह एक आख्यान है। ग्रंथांतर्गत प्रमाणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि जयराम कवि ने अनेक आख्यानकाव्यों की रचना की थी। इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय की प्रस्तावना में जयराम कहते हैं—

(१) यथाभूतंहि तद्युद्धम् कविभिर्वर्णितं पुरा।
तथापि तत्प्रसादेन किंचिदाकर्ण्य वर्णितम् ॥
महाराजाधिराजोपि शृण्वंस्तुष्टो भवत्पुरा ।
भावादिभिरपि यद्गौरीविलासाख्ये सभांतरे ॥
बेंगरूलाख्यनगरे श्रुतं पूर्वार्धमादितः ।
तस्मादेवाहमाहूतः श्रीमद्भिः श्रोतुमुत्सुकैः ॥
ततः कतिपयैर्वर्षैर्मया काव्यानि तन्वता।
छंदो विनिर्मितं तस्मिन् कृतः सर्वस्य संग्रहः ॥[2]

(२) मया द्वादश भाषाभिः कविकर्म विरच्यते।
तस्मादादौ महाराष्ट्रभाषया किल वर्णितम् ॥

---

१. जयराम कृत पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, संपा० स० म० दिवेकर, (शके १८४५), पृ० ८।

२. जयरामकृत पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, संपा० स० म० दिवेकर, (शके १८४५), पृ० ८।

इतो राजगडे गत्वा गृहीतं राजदर्शनम् ॥
ततः श्रीमच्छिवेनेयं सुरती लुंठिता पुनः ।
तदद्वैवमहाराष्ट्र भाषा युग्मेन वर्णितम् ॥
ततः श्रीत्र्यंबको नाम विख्यातः पुण्यपर्वतः ।
हर्षेण सहसाप्यस्मिन् प्रयाणे स्ववशीकृतः ॥[1]

ततः कारंजनगरं श्रीकृष्णेन यथा पुरा ।
भागदत्तं पुरं तद्व (त्) लुंटयित्वा समागतम् (?) ॥
तदप्यहो महाराष्ट्र हिंदुस्थान भवेन वै ।
भाषा युग्मेन विहितं ततः सह्याद्रि मस्तकः ॥[2]

उक्त छंदों से ज्ञात हो जाता है जयराम ने शिवचरित्र का पूर्वार्ध शहाजी महाराज तथा एकोजी राजा को बंगलूर नगर में गौरीविलास नामक सभागृह में सुनाया था। आगे भी उन्होंने अनेक पदों की रचना की और कुछ वर्षों के पश्चात् इन सबका संग्रह किया। द्वादश भाषाओं में रचना करना कवि अपना गौरव समझते थे। शिवाजी महाराज ने दूसरी बार जब सूरत शहर लूटा तब का वर्णन जयराम ने हिंदी और मराठी में किया था। उसके पश्चात् उसी अभियान में त्र्यंबक नामक पर्वत को हस्तगत करने तथा कारंजा शहर लूटने आदि का वर्णन भी जयराम ने मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में किया था। इसके अनंतर और भी अनेक प्रसंगों के वर्णन कवि ने किए थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राधामाधव विलास चंपू तथा पर्णालपर्वत-ग्रहणाख्यान इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त जयराम कवि के अन्य भी काव्य ग्रंथ थे जो दुर्भाग्य से कालकवलित हो गए हैं अथवा अबतक अज्ञात हैं।

पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान यह ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। श्रीमान् दिवेकरजी ने इस काव्यग्रंथ का रचनाकाल शक १५९५ (सन् १६७३ ई०) माना है[3] जो समुचित जान पड़ता है। इस ग्रंथ में शके १५९४ फाल्गुन कृष्ण १३ के दिन शिवाजी महाराज के पन्हाला किले पर (पर्णाल पर्वत) अधिकार ग्रहण से लेकर उसके एक मास पश्चात् उम्राणी नामक स्थान के पास बहिलोल खान के साथ प्रतापराव और आनंदराव के

---

१. जयरामकृत पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, संपा० स० म० दिवेकर, (शके १८४५), पृ० ३,४,५।

२. वही—पृ० ५।

३. वही—पृ० १।

युद्ध तक का वर्णन किया गया है। संपूर्ण ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखा गया है। जयराम के समकालीन तथा शिवाजी के आश्रित महाकवि भूषण के और जयराम के कुछ छंदों के भाव एक दूसरे से इतना मेल खाते हैं कि उन्हें पढ़कर लगता है, दोनों ने एकसाथ एक ही दृश्य देखा होगा और उसी को भिन्न भिन्न भाषाओं में व्यक्त किया होगा। दोनों के समकालीन तथा एक ही आश्रयदाता के आश्रित होने पर ऐसा होना असंभव भी नहीं प्रतीत होता। परंतु न भूषण के काव्य में जयराम का उल्लेख मिलता है और न जयराम के काव्य में भूषण का। जयराम तथा भूषण दोनों की अप्राप्य रचनाएँ यदि प्राप्त होंगी तो संभवतः कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

हिंदी साहित्य में जयराम का स्थान :

जयराम कवि की रचनाओं का काव्य तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से महत्व है। उनकी बारह भाषाओं में काव्यरचना करने की क्षमता उनकी असाधारण बुद्धिमत्ता का परिचय करा देती है। संस्कृत भाषा के प्रति अधिक ममत्व होते हुए भी अन्य भाषाओं का अध्ययन कर उनमें अपने भाव प्रकट करने का जो प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, वह प्रशंसनीय है। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बंगलूर जैसे सुदूर दक्षिण में स्थित नगर में एक अहिंदी-भाषी व्यक्ति का हिंदी में काव्यसृजन करना, उसे मराठा राजाओं द्वारा प्रोत्साहन मिलना तथा वहाँ के उच्च समाज द्वारा उसका रसास्वादन करना आदि बातें हिंदी भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

चिंतामणि :

पूर्ववृत्त—चिंतामणि की गणना हिंदी के प्रसिद्ध आचार्यों और कवियों में की जाती है। रीतियुग की परंपरा अनवरत रूप में इनसे ही चली और इन्हीं की पद्धति को अपना कर चली। इनका जन्मकाल सन् १६०९ ई० के लगभग और रचनाकाल सन् १६४० से १६८० ई० तक माना जाता है[1]। ये कानपुर जिले में यमुना के समीपवर्ती गाँव टिकमापुर के रहनेवाले थे। भूषण ने इस गाँव का नाम त्रिविक्रमपुर लिखा है जिसका अपभ्रंश टिकमापुर है। भूषण और मतिराम इनके छोटे भाई थे। इस गाँव के समीप ही राजा बीरबल का बनवाया हुआ बिहारीश्वर का मंदिर है जो

1. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास—रामबहोरी शुक्ल और डा० भगीरथ मिश्र (सन् १९५६ ई०), पृ० ८६।

सड़क के किनारे है। चिंतामणि के पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये काश्यप गोत्र के कान्यकुब्ज त्रिपाठी ब्राह्मण थे।

'टिकमापुर' में अब भी एक घर 'कविन का घर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके दक्षिणी किनारे पर बहता हुआ जमुना में आकर गिरनेवाला एक नाला है। उसके पार प्रसिद्ध 'रनबन की देवी' का मंदिर है। टिकमापुर में प्रचलित किंवदंती है कि रत्नाकर त्रिपाठी देवी के परम भक्त थे और अपने कार्य से छुट्टी पाने पर देवी की पूजा करने जाते थे। एक समय वर्षा के दिन थे और जब ये पूजा के लिये गए तब नाला बहुत चढ़ा हुआ था। फिर भी नियमानुसार इन्होंने तैरकर नाला पार किया और देवी की पूजा के लिये उपस्थित हुए। पूजा करके जब मंदिर के बाहर आए तो देखा कि एक कंडा बीननेवाली अपनी डलिया को उठवाने के लिये इनसे कह रही है। जैसे ही उसे इन्होंने उठवाया, वैसे ही और सब गायब हो गया, केवल डलिया में चार शिर रह गए। लौटकर ये घर आए तब इन्हें स्वप्न हुआ कि यही तुम्हारे पुत्र होंगे। इस प्रकार चिंतामणि, मतिराम, भूषण और जटाशंकर इनके पुत्र हुए।[1] इनमें से तीन हिंदी के प्रसिद्ध कवि हैं।

त्रिपाठी बंधुओं का भ्रातृत्व :

चिंतामणि, मतिराम, भूषण तथा नीलकंठ के भ्रातृत्व के संबंध में कुछ विद्वान् संदेह प्रकट करते हैं। इनको परस्पर भाई न माननेवालों में पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने भूषण और चिंतामणि को परस्पर भाई न मानने का कारण देते हुए लिखा है कि भूषण का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १७३८ है, और मिश्र बंधुओं के अनुसार चिंतामणि का जन्म संवत् १६६६ में हुआ था। इस प्रकार दोनों भाइयों के जन्मकाल में सत्तर वर्षों का अंतर होता है, जो सहोदर भाइयों में संभव नहीं है।[2] इसी प्रकार चिंतामणि, मतिराम, भूषण और नीलकंठ को परस्पर भाई मानने की जो परंपरा रही उसका मूल कारण उन्होंने सरोजकार शिवसिंह सेंगर की भ्रांतियुक्त धारणा माना है। जबकि चिंतामणि और भूषण का सहोदरत्व न था यह दिखाने के लिये पुष्टि के रूप में

---

१. शृंगारमंजरी, संपादक डॉ० भगीरथ मिश्र, भूमिका (सन् १९५६ ई०), पृ० १४–१५।

२. माधुरी पत्रिका, ६ जुलाई, १९२४, पृ० ७३६।

शिवसिंह सेंगर की बातों को प्रामाणिक माना है। किन्तु 'शिवसिंह सरोज' की पूर्ववर्ती ऐसी सामग्रियाँ प्रकाश में आई हैं जिनमें त्रिपाठी बंधुओं के सहोदरत्व की बात स्वीकार की गई है। अतः श्रीदीक्षित जी का तर्क अपने आप बलहीन हो जाता है।

चिंतामणि, मतिराम तथा भूषण को 'शिवसिंह सरोज' के पूर्व भी सहोदर माना जाता था, इस बात को सिद्ध करने के लिये पंडित मयाशंकर याज्ञिक जी ने[1] बूँदी निवासी प्रसिद्ध विद्वान् सूर्यमल्लजी कृत 'वंशभास्कर' तथा बिलग्राम निवासी मीर गुलाम अली कृत 'तजकिरा सर्व आजाद' इन दो ग्रंथों का उल्लेख किया है जो क्रमशः 'शिवसिंह सरोज' से पूर्व संवत् १८९७ अर्थात् ४३ वर्ष और सन् ११६६ हिजरी में अर्थात् १३२ वर्ष पूर्व बने थे। संभवतः शिवसिंह के आधार पर ही डा० ग्रियर्सन, मिश्रबंधु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, रामबहोरी शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि साहित्य के इतिहासकारों ने भी त्रिपाठी बंधुओं के सहोदर होने की बात स्वीकार की है।

कुछ विचारकों के द्वारा त्रिपाठी बंधुओं के सहोदरत्व में जो संदेह व्यक्त किया गया उसके मूल में उनके जन्म तथा रचनाकाल संबंधी निश्चित तिथियों का अभाव ही है। इस समस्या को कुछ हद तक मतिराम के पंती बिहारीलाल की रसचंद्रिका, भूषण का शिवराजभूषण तथा चिंतामणि के रामाश्वमेध के प्राप्त पृष्ठ आदि के आधार पर सुलझाया जा सकता है। मतिराम के पंती बिहारीलाल चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के राजकवि थे। इन्होंने महाराज द्वारा लिखित ग्रंथ 'विक्रम सतसई' पर एक टीका लिखी जो 'रसचंद्रिका' के नाम से प्रसिद्ध है। उस टीका ग्रंथ में उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

> बसत त्रिविक्रम पुर नगर, कालिंदी के तीर,
> बिरच्यो भूप हमीर जनु, मध्य देश को हीर।
> भूषन चिंतामनि तहाँ, कवि भूषन मतिराम,
> नृप हमीर सनमानते, कीन्हें निज निज धाम।
> है पंती मतिराम के, सुकवि बिहारी लाल,
> जगन्नाथ नाती विदित, सीतल सुत सुभचाल।

१. माधुरी पत्रिका, ६ जुलाई, १९२४ ई०, पृ०-७३६।

कस्यप वंश कनौजिया, विदित त्रिपाठी गोत,
कविराजन के वृंद में, कोविद सुमति उदोत।
विविध भाँति सनमान करि, ल्याए चलि महिपाल,
आए विक्रम की सभा, सुकवि बिहारीलाल।[१]

यह 'रसचंद्रिका' संवत् १८७२ में बनी थी। उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि मतिराम के पुत्र का नाम जगन्नाथ, पौत्र का शीतल तथा प्रपौत्र का बिहारीलाल था। नवीन कवि ने भी बिहारीलाल को मतिराम के वंश का माना है। नवीन और बिहारीलाल का समय बहुत पासपास आता है। उपर्युक्त छंद में अपना परिचय देते हुए बिहारीलालजी ने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि भूषण और चिंतामणि मतिराम के भाई थे। पं० कृष्णबिहारी मिश्रजी ने छंद के आधार पर चर्चा करते हुए अनुमान किया है कि ये तीन कवि कहीं दूसरे स्थान से लाकर यहाँ संमानपूर्वक हमीर राजा द्वारा बसाए गए थे और इन्होंने अपने अपने घर यहाँ बना रखे थे। इन तीनों के घर अलग अलग थे। ये भाई थे या नहीं, इस संबंध में बिहारीलाल भी कुछ नहीं कहते।[२] डा० त्रिभुवनसिंह इसी छंद के आधार पर अनुमान करते हुए लिखते हैं कि इन तीनों भाइयों का यहाँ जन्म नहीं हुआ था बल्कि कहीं और हुआ था। किंतु इनके पिता इन्हें लेकर यहाँ चले आए थे और बस गए थे।[३] जो भी हो इस छंद से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भूषण, चिंतामणि और मतिराम ये तीनों टिकमापुर (त्रिविक्रमपुर) नामक एक ही स्थान पर रहते थे और जटाशंकर या नीलकंठ नामक कोई व्यक्ति उनके साथ न थे।

भूषण कवि ने शिवराज भूषण के अंतर्गत अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार वे भी काश्यप गोत्र के कनौजी ब्राह्मण थे और त्रिविक्रमपुर के निवासी थे।[४] बिहारीलाल के उपर्युक्त छंद के अनुसार मतिराम भी काश्यप गोत्र के कनौजी ब्राह्मण थे और त्रिविक्रमपुर में भूषण तथा चिंतामणि के साथ रहते थे। अब रही बात चिंतामणि की, जिनका परिचय उनके

---

१. रसचंद्रिका, बिहारीलाल।
२. मतिराम ग्रंथावली, संपा० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, (संवत् १९९१ वि०), पृष्ठ १२१।
३. महाकवि मतिराम, डा० त्रिभुवनसिंह, (संवत् २०१७), पृष्ठ ११४।
४. भूषण ग्रंथावली, सं० मिश्रबंधु (संवत् २०१५), पृ० ८।

द्वारा लिखित प्राप्त ग्रंथों में भी अधिक नहीं मिलता। यद्यपि वे मतिराम के पंती बिहारीलाल के अनुसार त्रिविक्रमपुर के निवासी तो सिद्ध हो जाते हैं परंतु उनके गोत्र आदि का उल्लेख उसमें नहीं है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के हस्तलिखित संग्रह के अंतर्गत याज्ञिकजी द्वारा प्रदत्त चिंतामणि कृत 'रामाश्वमेध'[१] काव्य के कुछ पृष्ठों में चिंतामणि का जो अत्यल्प परिचय प्राप्त होता है उसमें उनके काश्यप गोत्र के होने तथा त्रिपाठी उपनाम होने का स्पष्ट उल्लेख है। सौभाग्य से यदि 'रामाश्वमेध' की संपूर्ण प्रति मिल जाती तो चिंतामणि का अधिक परिचय मिल भी सकता था। परंतु पर्याप्त प्रयत्न करने पर भी लेखक को उसकी प्रति देखने को न मिली। अतः प्राप्त सामग्री के आधार पर इतना अवश्य कहा जाता है कि चिंतामणि, मतिराम और भूषण ये तीनों कवि काश्यप गोत्र के कनौजी ब्राह्मण थे, उनका उपनाम त्रिपाठी था और वे त्रिविक्रमपुर नामक गाँव में एक साथ रहते थे। उपलब्ध प्रमाणों से इनके परस्पर भाई होने की परंपरागत बात अधिक पुष्ट हो जाती है।

नीलकंठ उपनाम जटाशंकर त्रिपाठी के संबंध में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। इनका उपस्थितिकाल शिवसिंह सेंगरजी ने[२] संवत् १७३० वि० तथा डा० ग्रियर्सन ने[३] सन् १६५० ई० में मान लिया है। दोनों ने संभवतः जनश्रुति के आधार पर ही इनको चिंतामणि, मतिराम आदि के भाई माना है। मिश्र बंधुओं ने[४] चिंतामणि, मतिराम तथा भूषण को तो सहोदर भाई माना है परंतु किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में नीलकंठ को उनका सगा भाई मानने में संदेह प्रकट किया है और इसलिये उन्होंने 'संभवतः जटाशंकर उनके सगे भाई न थे' इस तरह दिया है। रसचंद्रिका के रचयिता बिहारीलाल ने केवल चिंतामणि, मतिराम और भूषण का ही उल्लेख किया है। उसमें इन कवियों के साथ नीलकंठ का नाम न होने से त्रिपाठी बंधुओं में उनका समावेश अस्वीकार करनेवाले पक्ष को बल तो अवश्य मिल जाता है परंतु केवल इतनी बात से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भूषण, चिंतामणि आदि के भाई ही नहीं थे। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा

---

१. रामाश्वमेध, हस्तलिखित—याज्ञिक संग्रह, ग्रंथसंख्या ११६, बस्ता २३।
२. शिवसिंह सरोज, कविसंख्या—४१६।
३. द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान, डॉ० ग्रियर्सन, (हिंदी रूपांतर), कवि सं०—१४८।
४. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, (सं० १९९८), पृ० ३६३।

प्रकाशित सन् १९०३ ई० की खोज रिपोर्ट में 'अमरेश विलास' का निर्माण-काल संवत् १६९८, श्रावण की सप्तमी लिखा है और उसके कर्ता नीलकंठ के विषय में लिखा है—कदाचित् भूषण प्रभृति चार भाइयों में यह नीलकंठ हों।'[1]

खोज रिपोर्ट में प्रयुक्त 'कदाचित्' शब्द अनिश्चितता का द्योतक है जिससे किसी भी मत का निश्चय के साथ समर्थन नहीं हो पाता। श्रीअरुणोदयराय ने अपनी 'भूषण ग्रंथावली' की भूमिका में लिखा है कि भूषण तथा मतिराम के छोटे भाई जटाशंकर उपनाम नीलकंठ शिवाजी के पुत्र संभाजी के दरबार में रहे थे।[2] इनके कथन में निश्चितता के साथ ही साथ नई सूचना भी मिलती है जो अन्यत्र नहीं प्राप्त होती। नीलकंठ की उपलब्ध रचनाओं में 'अमरेश विलास' तथा एक दो स्फुट छंदों के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। इनकी रचनाओं में प्राप्त उल्लेखों में इनकी निजी जीवनी पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री नहीं है। अतः अंतःसाक्ष्य सामग्री से भी यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता कि ये 'त्रिपाठी बंधुओं' में से थे अथवा नहीं? इनकी रचना पर भूषण की शैली का जो प्रभाव[3] परिलक्षित होता है उससे इतना तो स्पष्ट होता है कि इन दोनों कवियों का परस्पर घनिष्ठ संबंध था। ऐसी घनिष्ठता एक तो भाई के नाते हो सकती है अथवा मित्र के। यह सत्य है कि उपलब्ध सामग्री में ऐसा कोई उल्लेख अथवा प्रमाण नहीं प्राप्त होता जिससे निश्चयपूर्वक 'नीलकंठ' को चिंतामणि, भूषण आदि का सगा भाई माना जाय। परंतु नीलकंठ का त्रिपाठी बंधुओं में से न होने का ठोस प्रमाण जबतक नहीं मिलता तबतक परंपरागत कथन को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

उपलब्ध सभी सामग्रियों से चिंतामणि, मतिराम आदि त्रिपाठी बंधुओं के सहोदर भाई होने के परंपरासिद्ध पक्ष का समर्थन ही हो जाता है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी को संवत् १८१८ वाली शिवराजभूषण की प्रति में यह दोहा मिला है—

द्विज कनोज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा जमुनाकंठ सुठार॥

---

१. माधुरी पत्रिका, २९ अप्रैल १९२६, पृ० ३६१।
२. भूषण ग्रंथावली सं० अरुणोदयराय, कलकत्ता, (सं० १९९७ वि०), भूमिका।
३. इसी प्रबंध के तृतीय अध्याय में 'नीलकंठ' का विवेचन देखिए।

शिवराज भूषण की अन्य प्रतियों में 'कविवंशवर्णन' के अंतर्गत जो दोहा प्रसिद्ध है उसके अनुसार 'रत्नाकर' भूषण के पिता थे और उपर्युक्त दोहे के अनुसार भूषण के पिता 'रतिनाथ' ठहराए जाते हैं। पं० जवाहर-लाल चतुर्वेदी की कृपा से पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को प्राप्त मतिराम की वंशावली में भी मतिराम के पिता का नाम 'रतिनाथ' ही मिलता है। संवत् १८६६ में मतिराम के वंशज श्रीशिवसहाय तिवारी आदि मथुरा की तीर्थयात्रा करने गए थे। प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्होंने चौबे की बही में (कन्हैयालाल छगनलाल, मानिक चौक, मथुरा कनौजियों के मुहे में) अपना वंशपरिचय भी अपने ही हाथों से लिखा है जो निम्नलिखित अनुसार है[1]—

'शिवसहाय, श्रीभाई बिहारीलाल तथा शिवगुलाम तथा रामदीन। बैजनाथ के बेटा दुइ, शिवसहाय व रामदीन, सीतलजू के बेटा दुइ, बिहारी-लाल व शिवगुलाम। जगन्नाथ के नाती, मतिराम के पंती, रतिनाथ के पर-पंती। शिवसहाय के बेटा गयादत्त, रामदीन के बेटा दुइ प्रयागदत्त व नंद-किसोर, बिहारीलाल के बेटा काशीदत्त, शिवगुलाम के बेटा शिवराखन। तिवारी गूदरपुर के, सुखवास तिकवाँपुर, वीरअलक अकबरपुर म० गूदरपुर पट्टी सुराजपुर। संवत् १८६६ भादों सु० ८।'

इस वंशपरिचय से ज्ञात होता है कि मतिराम रतिनाथ के पुत्र थे और उनके पुत्र जगन्नाथ के पुत्र शीतल और शीतल के पुत्र बिहारीलाल थे। ये लोग गूदरपुर के तिवारी (कान्यकुब्ज) थे। तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) में सुखवास करते थे। यह वंशवृत्त बिहारीलाल के रसचंद्रिका में दिए गए वंश-परिचय से बिलकुल मेल खाता है। इस तरह भूषण तथा मतिराम के पिता का नाम 'रतिनाथ' हो जाता है। इतना होने पर भी 'शिवराज भूषण' की दूसरी प्रतियों में प्राप्त भूषण के पिता के 'रत्नाकर' इस पाठ को बिना विचार किए अशुद्ध नहीं ठहराया जा सकता। अंत में समाधान प्रस्तुत करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने जो धारणा व्यक्त की है[2] उसे यदि

---

१. भूषण-आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० ८२-८३।

२. 'इनके (भूषण) पिता के दो नाम ठहरते हैं—रतिनाथ और रत्नाकर। हस्तलेखों में पाठ ही भिन्न भिन्न हैं और यह भी संभावना नहीं है कि 'रतिनाथ' का स्थानापन्न 'रत्नाकर' पद हो सके या इसका विपर्यास, अतः दोनों के संबंध में यह कल्पना की जा सकती है कि एक नाम है और दूसरा उपनाम—(भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० ६०)।

माना जाय तो रतिनाथ त्रिपाठी को ही भूषणादि भाइयों का पिता मानना उचित जान पड़ता है जिनका उपनाम रत्नाकर था। साधारणतः वंशपरिचय लिखते समय असल नाम ही देने की पद्धति है, उपनाम नहीं। अतः पंडों की बही में वंशवृक्ष के अंतर्गत जो 'रतिनाथ' नाम मिलता है वही सही हो सकता है। 'रत्नाकर' यह उपनाम पुकार का नाम अथवा काव्य में छाप देने का नाम भी हो सकता है। 'वृत्त कौमुदी' के रचयिता 'मतिराम' प्रसिद्ध 'मतिराम' कवि से भिन्न व्यक्ति थे—इस बात की विस्तृत चर्चा तृतीय अध्याय में 'मतिराम' के परिचय के समय की जायगी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि, मतिराम, भूषण ये तीनों काश्यप गोत्र के कनौजिया ब्राह्मण रतिनाथ उपनाम रत्नाकर के पुत्र थे और यमुना तीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे। नीलकंठ के संबंध में भी जबतक विरोधी प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं तबतक परंपरागत कथन के अनुसार त्रिपाठी बंधुओं में इनका भी समावेश करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

त्रिपाठी बंधुओं के जन्म तथा रचनाकाल संबंधी प्राप्त तिथियों में अनिश्चितता तथा प्राप्त तथ्यों में संदेह व्यक्त किए जाने के कारण ही उनके परस्पर छोटे तथा बड़े होने के संबंध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। चिंतामणि के बाद भूषण, भूषण के बाद मतिराम, तथा मतिराम के बाद नीलकंठ के जन्म होने की बात परंपरासिद्ध है। इनके अग्रानुज विषयक विभिन्न प्रमुख मतों को सुविधा तथा तुलनात्मक विचार के लिये क्रमानुसार नीचे दिया जाता है—

१. सूर्यमल्ल (वंशभास्कर)—भूषण, मतिराम, चिंतामणि।
२. लज्जाराम मेहता (पराक्रमी हाडाराव)—भूषण; मतिराम, चिंतामणि।
३. मुंशी देवीप्रसादजी—भूषण, मतिराम, चिंतामणि।
४. शिवसिंह सेंगर (शिवसिंह सरोज)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम, नीलकंठ।
५. पं० नंदकुमारदेव शर्मा (वीरकेसरी शिवाजी)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम।
६. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (हिंदी साहित्य का इतिहास)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम।
७. कृष्णबिहारी मिश्र (मतिराम ग्रंथावली)—चिंतामणि, मतिराम, भूषण।

८. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य)—चिंतामणि, मतिराम, भूषण, जटाशंकर।

९. डॉ० भगीरथ मिश्र (कला, साहित्य और समीक्षा)—चिंतामणि, मतिराम, भूषण।

१०. डॉ० रामकुमार वर्मा (हिंदी साहित्य का इतिहास)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जटाशंकर।

११. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (हिंदी साहित्य का इतिहास)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जटाशंकर।

१२. मिश्रबंधु (हिंदी नवरत्न)—चिंतामणि, मतिराम, भूषण, नीलकंठ।

१३. श्यामसुंदर दास (हिंदी साहित्य)—चिंतामणि, भूषण, मतिराम, जटाशंकर।

१४. डॉ० त्रिभुवन सिंह (महाकवि मतिराम)—मतिराम, भूषण, चिंतामणि।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि कुछ विद्वानों ने जटाशंकर या नीलकंठ को त्रिपाठी बंधुओं में रखा है तो कुछ ने नहीं। कुछ ने चिंतामणि को सबसे बड़ा माना है कुछ ने सबसे छोटा। कुछ ने भूषण को सबसे बड़ा माना है तो कुछ ने सबसे छोटा भी। अधिकांश विद्वानों ने चिंतामणि, भूषण, मतिराम, नीलकंठ इस क्रम को भी स्वीकार किया है। चिंतामणि, मतिराम, भूषण तथा नीलकंठ के अग्रानुजत्व के संबंध में निश्चित तिथियों के अभाव, प्राप्त नई सामग्री का अधूरापन, आदि कारणों से इस प्रकार का मतभेद पाया जाता है। इनके प्राप्त ग्रंथों के रचनाकाल तथा इनके आश्रयदाताओं के शासनकाल आदि के आधार पर इनके क्रमशः अग्रानुजत्व का ठीक ठीक पता लगाया जा सकता है। अनुसंधान में प्राप्त सामग्रियों की सहायता से हिंदी साहित्य के इतिहासों तथा अन्य ग्रंथों में प्राप्त संदेहों तथा भ्रम का यथोचित निवारण किया जा सकता है।

आश्रयदाता तथा काव्यकृतियाँ :

अधिकांश इतिहासों तथा खोज रिपोर्टों में चिंतामणि के छंदविचार (भाषा पिंगल), कविकुल कल्पतरु, रामायण, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, रसमंजरी आदि छह ग्रंथों का उल्लेख पाया जाता है। इन्होंने अकबरसाह

जो ग्रंथ की महत्ता एवम् लोकप्रियता का द्योतक है। चिंतामणि के इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियाँ लगभग सभी प्रमुख हस्तलिखित संग्रहालयों में उपलब्ध होती हैं। काशी, प्रयाग, बड़ौदा, रीवाँ, जयपुर, हैदराबाद से लेकर सुदूर तंजावर तक के संग्रहालयों में इसकी प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि हैदराबाद की स्टेट लायब्रेरी में जहाँ लगभग बारह सौ हिंदी हस्तलिखित ग्रंथ उर्दू लिपि में सुरक्षित हैं उनमें चिंतामणि कृत भाषा-पिंगल भी समाविष्ट है। गुलाम अली खाँ ने 'भाषा पिंगल' का उर्दू रूपांतर किया है।[१] उपलब्ध प्रतियों में तंजावर की हस्तलिखित प्रति अति जीर्ण अवस्था में होने से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

'भाषा पिंगल' के किसी भी छंद में नागपुर के मकरंद शाह भोंसले का उल्लेख नहीं मिलता। इतिहासों में नागपुर के भोंसला राजाओं की परंपरा में 'मकरंद शाह' का नामोल्लेख तक नहीं है। चिंतामणि के समय यह प्रांत मराठों के अधिकार में भी नहीं था। सन् १७०७ ई० के लगभग मराठों का वास्तव में प्रवेश इस प्रदेश में हुआ।[२] ऐसी स्थिति में ज्ञात नहीं होता कि 'सरोज'कार ने 'साहि मकरंद' को किस आधार पर नागपुर के मकरंद शाह भोंसला कहा है ? संभवतः 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर ही परवर्ती लगभग सभी साहित्य के इतिहासकारों ने इसी परंपरागत बात को स्वीकार किया है। पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने तो इस भ्रममूलक बात को अधिक स्थिर बनाकर उसके अनुसार 'पिंगल' ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७०० अर्थात् सन् १६४३ ई० के लगभग न मानते हुए संवत् १७७९ अर्थात् सन् १७२३ के लगभग मान लिया है।[३]

इस परंपरागत भ्रममूलक बात को सर्वप्रथम पं० कृष्णबिहारी मिश्रजी ने अस्वीकार करते हुए लिखा कि चिंतामणि के 'भाषा पिंगल' में शिवाजी के पितामह मकरंदशाह और उनके पिता शहाजी की प्रशंसा है।[४] इसमें उन्होंने 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह अर्थात् मालोजी माना है। संभ-

---

१. स्टेट लायब्रेरी, हैदराबाद, हस्तलिखित संग्रह—क्र० क० ३२६।
२ नागपूरचा सांस्कृतिक इतिहास, दे० गो० लांडगे, (सन् १९५४ ई०), पृ० १।
३. भूषण विमर्श, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, (द्वितीयावृत्ति), पृ० ३०।
४. मतिराम ग्रंथावली—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, (संवत् १९९१), पृ. २२२।

न्वतः इन्हीं के कथन के आधार पर डॉ० भगीरथ मिश्र [१] तथा डॉ० किशोरी-लाल गुप्त ने [२] 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह मालोजी अर्थात् माल मकरंद मान लिया है जिनके आश्रय में चिंतामणि ने भाषा पिंगल' ग्रंथ की रचना की थी। पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने भी अपने 'भूषण-विमर्श' की द्वितीयावृत्ति में 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह मकरंदशाह मान लिया है।[३]

वास्तव में ये 'साहि मकरंद' शिवाजी के पितामह मालोजी न होकर उनके पिता शहाजी भोंसले ही थे जिनकी आज्ञा से चिंतामणि ने 'भाषा पिंगल' ग्रंथ की रचना की थी। अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य दोनों सामग्रियों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'साहि मकरंद' अर्थात् 'मकरंद शाह' छत्रपति शिवाजी महाराज के पिता शहाजी ही थे। भूषण कवि ने शिवाजी के पितामह मालोजी के लिये 'माल मकरंद' तथा शिवाजी के लिये 'सिवसरजा मकरंद' शब्दों का प्रयोग किया है—

(१) महावीर ता बंस मैं भयो एक अवनीस।
लियो बिरद 'सीसौदिया' दियो ईस को सीस॥
ता कुल मैं नृपवृंद सब उपजे बखत बुलंद।
भूमिपाल तिन मैं भयो बडो माल मकरंद॥[४]

(२) सूर सिरोमनि सूर कुल सिव सरजा मकरंद।[५]
क्यों जीतै सिवराज सों अब अंधक अवरंग?

जब 'माल मकरंद' मालोजी हैं, 'सिवसरजा मकरंद' शिवाजी हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि 'साहि मकरंद' शहाजी ही हैं। शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये कृत 'राधामाधव विलास चंपू' में भी शहाजी के लिये 'साहि मकरंद' शब्द का प्रयोग किया गया है—

---

१. शृंगारमंजरी, संपादक—डा० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६), पृ० १७।
२. ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, हिंदी अनुवादक—डा० किशोरीलाल गुप्त, (सन् १९५७), पृ० सं० १५६।
३. भूषणविमर्श, पृ० ३०।
४. भूषण ग्रंथावली संपादक—मिश्रबंधु, (संवत् २०१५), पृ० २१
५. वही, पृ० ४१।

उचित न लगा होगा कि अन्य प्रतियों में प्राप्त पंक्ति को स्वीकार कर लें। अतः अपनी पूर्वोक्त स्थापना को स्थिर बनाने के उद्देश्य से उन्होंने यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार शिवाजी की प्रशंसा में भूषण ने 'शिवराज भूषण' उनके मरने के पीछे सं० १७७३ वि० में रचा था, उसी प्रकार चिंतामणि ने इस पिंगल ग्रंथ की रचना शिवाजी के पितामह मकरंद शाह के लिये संवत् १७७६ वि० में की थी।[1] अतः पंडित भगीरथप्रसाद दीक्षित के विचारों में किसी प्रकार की स्थिरता न होने तथा ऐतिहासिक सत्य का अभाव होने से उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये ने चिंतामणि का उल्लेख अपने राधामाधव विलास चंपू में किया है।[2] स्वयम् चिंतामणि ने 'भाषा पिंगल' में स्पष्ट लिखा है कि—

चिंतामनि कवि कों हुक्म कियौ साहि मकरंद।
करौं लछ लछन सहित भाषा पिंगल छंद॥
साहि नृपति के हुक्म तें मो मति कौ परगास।
नैनतु कौं रवि कें उवैं अंधकार कौ नास॥[3]

'भाषा पिंगल' में प्रस्तुत वर्तमानकालीन क्रियाएँ, आशीर्वादात्मक वचन आदि सभी बातों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ चिंतामणि ने शहाजी के आश्रय में २३ जनवरी १६६४ के पूर्व अर्थात् उनकी मृत्यु के पहले लिखा था। भाषा पिंगल के प्रारंभिक दस छंदों के अंतर्गत एक छंद मिलता है जिसे 'पिंगल' के निर्माणकाल का सूचक माना जाता है—

१ ७ १४
कहि कवि मनि अरु दीप द्वै जानि बराबरि लेहु।
गुन प्रकाश तब करत जब पावत पूरन नेहु॥
—भाषा पिंगल, छंद ८।

---

१. भूषण विमर्श, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित पृ०, ३०।
२. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २७१ तथा 'भूषण', संपा० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८८।
३. चिंतामणि कृत भाषा पिंगल, हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, छंद—८।

यही छंद अधिकांश हस्तलिखित प्राप्त प्रतियों में मिलता है। यदि इस छंद को निर्माणकाल सूचक दोहा मान लिया जाय तो कहना न होगा कि इसका पूर्वार्ध ही सूचनात्मक दिखाई देता है। संकेतकोश[१] के अनुसार इस दोहार्द्ध में लिखित निर्माणकाल (कवि = १, मनि = ७ और दीपद्वै = १४ = १७१४) संवत् १७१४ वि० अर्थात् सन् १६५७ ई० ठहर जाता है। शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये ने 'राधामाधव विलास चंपू' की रचना शहाजी के आश्रय में शक १५८० अर्थात् सन् १६५८ ई० के लगभग पूर्ण की थी।[२] जयराम कवि ने अपने ग्रंथ में चिंतामणि का उल्लेख भी किया है! सन् १६५३ से सन् १६६४ तक का काल शहाजी महाराज के जीवन का वैभवसंपन्न काल था; बंगलोर की जागीर में एक स्वतंत्र राजा के समान शहाजी का ऐश्वर्य था। दूर दूर के कवि, पंडित उनके दरबार में पहुँचते थे और पुरस्कार प्राप्त कर लेते थे। शहाजी के अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता तथा रसिक और गुणग्राहक होने से उस समय उनके दरबार में विभिन्न भाषाओं के दूरस्थ कवियों तथा पंडितों का सदैव आवागमन रहता था। जयराम कवि ने अपने 'चंपू' में ऐसे लगभग ७० नामों का उल्लेख किया है। अतः अनेक दृष्टियों से 'पिंगल' का रचनाकाल संवत् १७१४ अर्थात् सन् १६५७ ई० ही समीचीन लगता है।

'भाषा पिंगल' की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में तंजौर के सरस्वती महल ग्रंथालय की हस्तलिखित प्रति अति जीर्ण एवम् प्राचीन प्रतीत होती है। इस हस्तलिखित प्रति में भी उपर्युक्त छंद तो मिलता ही है परंतु अंत में भी एक ग्रंथसमाप्ति का सूचक छंद इस प्रकार मिलता है—

> संवत् सत्रहसै वरष बीती जब उनईस।
> पाँचै वदि वैशाख की रच्यौ ग्रंथ अवलीस॥[३]

इस छंद के अनुसार इस ग्रंथ का समाप्तिकाल संवत् १७१९ की वैशाख मास की वदि पंचमी हो जाता है अर्थात् सन् १६६२ ई० के लगभग यह

१. संकेत कोश, श्री० शा० हणमंते, (प्रथम संस्करण), पृ० ११४।
२. राधामाधव विलास चंपू, पृ० ४।
३. चिंतामणि कृत छंदविचार, हस्तलिखित प्रति, तंजौर, टी० एम० एस०, नं० बी ४३६८।

समय आ जाता है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि 'भाषा पिंगल' के पूर्वार्ध में पाया जानेवाला संवत्सूचक छंद ग्रंथ का प्रारंभकाल सूचक छंद है न कि समाप्ति सूचक। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पिंगल' का प्रारंभ संवत् १७१४ अर्थात् सन् १६५७ ई० को हुआ और उसकी समाप्ति संवत् १७१६ की वैशाख मास की बदि पंचमी को हुई। शिवसिंह सरोज आदि ग्रंथों में चिंतामणि के 'साहि मकरंद' के यहाँ 'बहुत दिनतक' रहने की बात जो लिखी है उससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। 'पिंगल' की रचना 'शृंगार मंजरी' और 'कविकुल कल्पतरु' के पूर्व हुई थी। 'कविकुल कल्पतरु' में चिंतामणि ने इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'मेरे पिंगल ग्रंथ ते, समुझै छंद विचार।
रीति सुभाषा कवित की, बरनत बुध अनुसार॥'[1]

तथा

प्रोषित भर्तृका को लक्षण। 'शृंगार मंजरी' यथा—

० ०

बड़े साहब अपने ग्रंथसाह। निर्नय कीन्हो कवि बुद्ध नाह।[2]

चिंतामणि ने अपने 'भाषापिंगल' ग्रंथ में छदविचार को समझाने का का प्रयत्न किया है। यह ग्रंथ छदविचार की दृष्टि से एक उत्तम रचना है। जिस प्रकार भूषण कवि ने 'शिवराज भूषण' में विभिन्न अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरण के रूप में छत्रपति शिवाजी के चरित्र को काव्यरूप दिया उसी प्रकार चिंतामणि के पिंगल में भी छंदों के लक्षण देकर उदाहरण के रूप में शहाजी की प्रशस्ति की गई है। चिंतामणि के इस सुंदर ग्रंथ की ओर अबतक विद्वानों ने ध्यान ही नहीं दिया था।

शृंगारमंजरी

चिंतामणि की 'शृंगारमंजरी' को प्रकाश में लाने का सर्वप्रथम श्रेय हिंदी के मान्य विद्वान् डॉ० भगीरथ मिश्र को दिया जाता है। 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' लिखते समय दतियाराज पुस्तकालय में सबसे पहले उन्होंने 'शृंगारमंजरी' की हस्तलिखित प्रति देखी। हिंदी साहित्य के

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, १।६।
२. वही, कविकुल कल्पतरु, ४।२।१८३।

इतिहासकारों ने चिंतामणि की 'शृंगारमंजरी' का उल्लेख नहीं किया है। उनकी 'रसमंजरी' का उल्लेख है परंतु विवरण प्राप्त नहीं है। डॉ० भगीरथ मिश्र का कथन है कि 'शृंगारमंजरी' में भानुदत्त मिश्र की रस-मंजरी की चर्चा बहुत होने से संभव है कि अपूर्ण प्रति के आधार पर किसी ने इसी को 'रसमंजरी' कहा हो।[1] काशी नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में 'रसमंजरी' नामक अन्य रचना भी चिंतामणि की लिखी बताई गई है जो वस्तुतः शृंगारमंजरी है और भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है।[2] परंतु जबतक 'रसमंजरी' की प्रति देखने को नहीं मिलती तबतक इसके संबंध में निश्चयपूर्वक निर्णय करना कठिन ही है।

चिंतामणि ने जिस 'शृंगारमंजरी' का ब्रजभाषा रूपांतर किया वह अकबरसाहि कृत मूल तेलुगु ग्रंथ की संस्कृत में रचित छाया थी जिसका संपादन डाक्टर राघवन् ने किया है। दोनों का मिलान करने से ज्ञात होता है कि भाषा शृंगारमंजरी संस्कृत ग्रंथ के लक्षण और चर्चा भाग का ब्रजभाषा रूपांतर है, परंतु इसके उदाहरण संस्कृत ग्रंथ से भिन्न हैं जो कविवर चिंतामणि की मौलिक रचनाएँ हैं। इस प्रकार यह ग्रंथ संस्कृत छाया का अंशतः हिंदी रूपांतर होते हुए भी उदाहरणों की दृष्टि से मौलिक है। साथ ही इसका महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह सत्रहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का तथा कविपुंगव चिंतामणि की पंडिताऊ गद्यशैली का ज्वलंत उदाहरण है।[3] चिंतामणिकृत ब्रजभाषा में रूपांतरित 'शृंगारमंजरी' तथा संस्कृत 'शृंगार-मंजरी' के परिचय भागों में कुछ अंतर है। बड़े साहिब अकबर साहि तथा उनके पिता गुरुराज साहिराज की जैसी प्रशंसा और वर्णन चिंतामणि कवि ने किया है, वह सब संस्कृत शृंगारमंजरी में नहीं मिलता। चिंतामणि ने 'भाषा शृंगारमंजरी' में संस्कृत की गद्यचर्चा का तो जहाँतक हो सका शब्दशः अनुवाद किया है परंतु लक्षणों में कहीं कहीं अंतर भी दिखाई देता है। लक्षणों में इन्होंने काफी स्वच्छंदता बरती है यद्यपि शृंगारमंजरी के संस्कृत लक्षणों का भाव इनमें समाविष्ट है। संस्कृत शृंगारमंजरी के लक्षण के भावों को ही 'भाषा' में देने का प्रयत्न किया गया है।

---

१ शृंगारमंजरी, भूमिका, पृ० १।

२. हिंदी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (सन् १९५५ ई०), पृ० ३११।

३. शृंगारमंजरी, डा० भगीरथ मिश्र की भूमिका, पृ० २।

संस्कृत शृंगारमंजरी में आए किसी भी उदाहरण का भाषा रूपांतर चिंतामणि ने अपने ग्रंथ में नहीं किया है। इन उदाहरण के छंदों में चिंतामणि की रचना का काव्यसौंदर्य देखा जा सकता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शृंगारमंजरी में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत समस्त छंद उत्कृष्ट कोटि के हैं क्योंकि कुछ में तो केवल भाव को किसी प्रकार प्रकट करने का प्रयत्न ही जान पड़ता है, परंतु कुछ छंदों में अवश्य ही सुंदर कल्पना देखने को मिल जाती है। उनमें प्रमुख सौंदर्य उपमा और उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का है। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

वै ललकैं लखिबे को ए घूँघट ओट छपावति है मुख नीको।
बाहर आनि प्रकास कढ़ै जैसे पातरे बादर ओट ससी को।
लोचन पंजर खंजन से मुसुक्यानि को रूप अनूपम ती को।
लाज सुहाति कहूँ पिय को, ए तौ लाजहू मैं मन मोहति पी को॥
—शृंगारमंजरी, छंद ३४३।

गद्य के अनुवाद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है; वरन् स्थान स्थान पर कनौजी, अवधी या बुंदेलखंडी के रूपों का पुट मिलता है। मुख्य ढाँचा ब्रजभाषा का ही है जो कि उस समय की सांस्कृतिक या साहित्यिक राष्ट्रभाषा का काम कर रही थी। २८८ वें छंद के पूर्ववर्ती गद्य में चिंतामणि की जो व्याकरण संबंधी व्याख्या है वह डा० राघवन् संपादित संस्कृत ग्रंथ में नहीं है। यह या तो उनकी निजी है या उनके भाषारूपांतर का आधार कोई दूसरी प्रति होगी जिसमें यह व्याख्या इसी प्रकार रही होगी।[1]

डा० जगदीश गुप्त ने चिंतामणिकृत शृंगारमंजरी के संबंध में डा० सत्यदेव चौधरी के किसी एक लेख को पढ़कर जो मतप्रदर्शन किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होने शृंगारमंजरी मूलतः देखी नहीं है। उन्होंने लिखा है कि डा० चौधरी के प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि शृंगारमंजरी चिंतामणि की एक मौलिक रचना न होकर इसी नाम के संस्कृत एवम् तेलुगू लिपि में लिखित एक प्राचीन गद्यग्रंथ का अंशतः पद्यमय अनुवादमात्र है। चिंतामणि का नाम भी शृंगारमंजरी के प्रारंभिक दो तीन पद्यों में ही आता है अन्यथा सारा ग्रंथ उनके कृतित्व के नाम से शून्य है।[2]

---

१. शृंगारमंजरी, डा० भगीरथ मिश्र की भूमिका, पृ० ६ तथा ३१—३२।
२. रीतिकाव्य संग्रह—संपा० डा० जगदीश गुप्त, (सन् १९६१ ई० , पृ० २२।

उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया गया है कि अकबरसाहि कृत मूल तेलुगु ग्रंथ की छाया संस्कृत शृंगारमंजरी का चिंतामणि कृत ब्रजभाषा रूपांतर उदाहरणों की दृष्टि से किस तरह मौलिक है।

यदि डा० जगदीश गुप्त अपने 'रीतिकाव्य संग्रह' में संगृहीत चिंतामणि के छंदों से 'शृंगारमंजरी' के उदाहरण के छंदों का मिलान कर देखते तो उन्हें सहज ज्ञात हो जाता कि दोनों में शब्दसाम्य, भावसाम्य, शैलीसाम्य कितना है। केवल कुछ ही छंदों में चिंतामणि का नाम आता है और अन्य छंदों में नहीं आता इसलिये वे छंद 'चिंतामणि के कृतित्व से शून्य हैं' यह कथन समीचीन नहीं जान पड़ता। डा० जगदीश गुप्त ने अपने 'रीतिकाव्य संग्रह' में चिंतामणि के जिन छंदों को उद्धृत किया है उनमें भी कुछ छंद ऐसे हैं जिनमें चिंतामणि का नाम तक नहीं है। तो क्या छंदों में चिंतामणि का नाम न होने से वे छंद चिंतामणि के न माने जायँ? डॉ० गुप्त के कथन में मूल ग्रंथ के सूक्ष्म अध्ययन का अभाव होने से उसको ग्राह्य मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

शृंगारमंजरी की हिंदी छाया चिंतामणि के कविकुल कल्पतरु इस ग्रंथ के पूर्व की ही हो सकती है क्योंकि चिंतामणि ने अपने कविकुल कल्पतरु में नायिकाभेद के प्रसंग में 'शृंगारमंजरी' तथा 'बड़े साहिब' इस दोनों का उल्लेख किया है।[1] इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि कविकुल कल्पतरु के रचयिता और शृंगारमंजरी के ब्रजभाषा रूपांतरकार दोनों एक ही व्यक्ति हैं और वे हैं हिंदी के प्रसिद्ध कवि और आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी। शृंगारमंजरी में अनेक संस्कृत ग्रंथों के आधार के उल्लेख के साथ साथ 'रसिकप्रिया' तथा 'सुंदर शृंगार' इन दो हिंदी ग्रंथों का भी उल्लेख पाया जाता है। 'रसिकप्रिया' सन् १५९३ वि० अर्थात् संवत् १६५० ई० की और 'सुंदर शृंगार' सन् १६३१ ई० अर्थात् सं० १६८८ वि० की रचनाएँ हैं।[२]

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगारमंजरी हिंदी छाया का रचनाकाल सन् १६३१ ई० के पश्चात् का है। डॉ० पी० एस० राघवन् ने इस ग्रंथ के मूल रचयिता संत अकबर साहि का जन्म सन् १६४३ के आस पास और मृत्युकाल सन् १६७२-७५ ई० के बीच माना है।[३] अतः यह निश्चित हो जाता है

---

१. कविकुल कल्पतरु, ४।२।१८।

२. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), संपा० डॉ० नगेंद्र, पृ० ६६७-६६८।

३. शृंगारमंजरी (संस्कृत). संपा०डॉ०वी० राघवन्. (प्रथम सं०), प्रस्तावना।

कि श्रृंगार मंजरी की हिंदी छाया ई० सन् १६४६ और सन् १६७२-७५ के बीच हुई थी। श्रृंगारमंजरी जैसे ग्रंथ का प्रणयन कम से कम बीस वर्ष की अवस्था में अथवा उसके बाद ही संभव है। यदि बीस वर्ष की अवस्था में मूल श्रृंगारमंजरी की रचना अकबर साहि ने की होगी तो उसका रचनाकाल सन् १६६६ ई०के लगभग हो जाता है। इसी हिसाब से अनुमानतः संस्कृत छाया सन् १६६७ ई० के लगभग तथा हिंदी छाया सन् १६६८ ई० के लगभग की होनी चाहिए। अतः यह निश्चित हो जाता है कि श्रृंगारमंजरी का ब्रज-भाषा रूपांतर चिंतामणि ने भाषा पिंगल के बाद और कविकुल कल्पतरु के पूर्व किया था। शहाजी की मृत्यु सन् १६६४ ई० हुई थी और यह बहुत स्वाभाविक है कि उनकी मृत्यु के पश्चात् बंगलोर के समीपवर्ती हैदराबाद राज्यांतर्गत गोलकुंडा में बड़े साहब अकबर साह के आश्रम में चिंतामणि गए हों और सन् १६६८ के लगभग 'श्रृंगारमंजरी' की हिंदी छाया प्रस्तुत की गई हो। डॉ० भगीरथ मिश्र ने[1] अकबरसाहि कृत मूल श्रृंगारमंजरी का रचनाकाल सन् १६६० ई० के आसपास तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी ने[2] सन् १६६३ ई० (संवत् १७२०) के आसपास माना है। यदि अकबर साहि का जन्म सन् १६४६ को माना गया है तो श्रृंगारमंजरी जैसे ग्रंथ के प्रणयन के समय उनकी अवस्था क्रमशः चौदह अथवा सत्रह हो जाती है। श्रृंगारमंजरी जैसे नायिकाभेद विषयक ग्रंथ का निर्माण चौदह या सत्रह वर्ष की अवस्था में संभव नहीं जान पड़ता। अतः श्रृंगारमंजरी का निर्माणकाल सन् १६६६ ई० के लगभग मानना ही अधिक तर्कसंगत है।

'भाषा पिंगल' के विवेचन में यह स्पष्ट हो चुका है कि चिंतामणि ने 'भाषा पिंगल' ग्रंथ की रचना शहाजी महाराज के आश्रय में संवत् १७१६ वि० अर्थात् सन् १६६२ में समाप्त की थी। अतः सन् १६६४ ई० में शहा-जी की मृत्यु के उपरांत अकबर साहि के पास चिंतामणि का जाना भी अधिक स्वाभाविक ज्ञात होता है। मूल तेलुगु में लिखित श्रृंगारमंजरी का निर्माण-काल सन् १६६६ ई० के आसपास मानने पर उसकी संस्कृत छाया का ब्रजभाषा रूपांतर सन् १६६८ ई० के लगभग ही मानना अधिक समीचीन है।

---

१. श्रृंगारमंजरी (हिंदी), संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६)। पृ० ११।

२. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास—संपा० डा० नगेंद्र, (सं० २०१५ , पृ० ३१२।

कविकुल कल्पतरु

कविकुल कल्पतरु का रचनाकाल आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने संवत् १७०७ वि० माना है [1] परंतु इस धारणा की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण उपस्थित नही किया। चिंतामणि ने अपने ग्रंथ में भी ग्रंथसमाप्ति विषयक कुछ भी उल्लेख नहीं किया। कविकुल कल्पतरु में भाषा पिंगल और श्रृंगारमंजरी के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यह निश्चित हो जाता है कि 'कविकुल कल्पतरु' की रचना उक्त दोनों ग्रंथों के बाद की है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कविकुल कल्पतरु की रचना सन् १६६८ ई० के बाद की है। कविकुल कल्पतरु के निम्नलिखित छंद से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ चित्रकूटाधिपति राजा रुद्रसाह सुलंकी के आश्रय में लिखा गया था।

साहेब सुलंकी शिरताज बाबू रुद्रशाह
तोसो नर रचत बचत खलकत है।
काढी करवाल डाढ़ी कटत दुवन दल,
श्रोणित समुद्र छीर पर छलकत है।
चिंतामनि भनत भषत भूतगन मांस,
मेद गूद गीदर और गीध गलकत है।
फारे करि कुंभन सो मोती दमकत,
मानो कारे लाल बादर में तारे झलकत हैं॥[2]

डा० भगीरथ मिश्र का कथन है कि यह रुद्रशाह सुलंकी वही थे जिनके संबंध में भूषण ने लिखा है कि उन्होंने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। यह रुद्रशाह चित्रकूट के राजा थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि शहाजी और अकबरशाह के आश्रय में काव्यरचना समाप्त कर अपने घर वापस आते समय चिंतामणि चित्रकूट के राजा रुद्रशाह सुलंकी के आश्रय में कुछ दिन रहे होंगे और वहीं 'कविकुल कल्पतरु' की रचना की होगी। मिश्र बंधुओं ने भूषण के चित्रकूटाधिपति सुलंकी के द्वारा सम्मानित होने तथा 'कवि भूषण' की उपाधि प्राप्त करने का समय सन् १६६६ ई० के लगभग

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (सं० २०१८), पृ० २३४।
२. शिवसिंह सरोज में यह छंद कविकुल कल्पतरु के उदाहरण छंद के रूप में दिया है, पृ० ८९।
३. हिंदी रीति साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० ७७।

माना है।[1] शृंगारमंजरी के ब्रजभाषा रूपांतर का समय सन् १६६८ ई० ठहर जाता है। अतः यह अधिक समीचीन जान पड़ता है कि चिंतामणि चित्रकूटाधिपति रुद्रशाह सुलंकी के आश्रय में भूषण के पश्चात् शीघ्र ही अर्थात् सन् १६६८ ई० के आसपास गए होंगे। यह भी संभव है कि चित्रकूट नरेश रुद्रशाह ने जो भूषण के कवित्व पर अत्यधिक प्रसन्न थे, चिंतामणि को भूषण का ज्येष्ठ भ्राता होने से विशेष सम्मान दिया हो। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'कविकुल कल्पतरु' की रचना चित्रकूटाधिपति रुद्रशाह सुलंकी के आश्रय में सन् १६७० ई० अर्थात् संवत् १६२७ वि० के लगभग हुई होगी।

चिंतामणि के 'कविकुल कल्पतरु' ग्रंथ की नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित (१८७५ जनवरी) प्रति ही प्राप्त होती है, जिसमें रचनाकाल नहीं दिया है। यह ग्रंथ २१५ साधारण आकार से बड़े पृष्ठों में है। इसके भीतर काव्यगुण, अलंकार, दोष, रस आदि का वर्णन किया गया है। काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगोंपर प्रकाश डाला गया है पर प्रमुखतया ये रसानुयायी जान पड़ते हैं, जैसा कि उनकी काव्यपरिभाषा से प्रकट है।[2]

'बतकहाउ रसमैं जु है, कवित कहावै सोइ।'[3]

यह ग्रंथ संस्कृत के अनेक ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन के उपरांत लिखा गया है। चिंतामणि के श्रेष्ठ ग्रंथों में यह सर्वोपरि प्रतीत होता है। इसमें आठ प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में काव्यभेद, काव्यलक्षण, काव्यस्वरूप, रूपक की चर्चा के उपरांत शब्दगुण और अर्थगुण का निरूपण है। द्वितीय और तृतीय में क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार का निरूपण है। इसमें वृत्ति और रीति का भी उल्लेख है। शब्दालंकार प्रकरण में आचार्य मम्मट के अनुकरण पर अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत 'रतिप्रसंग' की चर्चा की गई है। विद्यानाथ के आधार पर इन्होंने उत्प्रेक्षा के २७ भेद किए हैं और इनका विचार है कि उपमा के भी ये भेद हो सकते हैं। 'कुवलयानंद' का भी आधार कहीं कहीं उल्लिखित है। चतुर्थ प्रकरण में दोषनिरूपण है।

---

१. भूषण ग्रंथावली—संपा० मिश्रबंधु, (सं० २०१२), पृ० ७।
२. हिंदी रीतिसाहित्य—डा० भगीरथ मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० ८०।
३. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, १।४ (डा० भगीरथ मिश्र की कृपा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति)।

पंचम प्रकरण विस्तृत है जो दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में शब्दार्थनिरूपण है और द्वितीय में अंततक ध्वनिनिरूपण है। ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग के अंतर्गत रसादि का विस्तृत विवेचन किया गया है और शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत नायिका नायकभेद का। नायिकाभेद प्रकरण को चिंतामणि ने 'राधावर्णन' नाम से अभिहित किया है और नायक के विभिन्न भेदों के विवेचन को 'कृस्न प्रत्यंग वर्णनम्' नाम दिया है।

षष्ठ प्रकरण के अंतर्गत अनुभाव एवम् संचारी भावों का वर्णन है। सप्तम प्रकरण में हाव भावों का वर्णन है और अष्टम के अंतर्गत शृंगार रस के विस्तृत विवेचन के उपरांत शेष आठ रसों का संक्षिप्त वर्णन है। उसके बाद रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता के वर्णन के पश्चात् ग्रंथ समाप्त किया गया है। इसमें मम्मट के काव्यप्रकाश, धनंजय के दशरूपक तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से पर्याप्त सहायता ली गई है। काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये चिंतामणि ने दोहा तथा सोरठा छंदों का प्रयोग किया है और उदाहरणों के लिये अधिकांश रूप में कवित्तों और सवैयों का। कुछ स्थलों पर स्पष्टीकरणार्थ गद्य का भी प्रयोग हुआ है परंतु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। इस ग्रंथ के विवेचन, निरूपण आदि से इनके आचार्यत्व के और उदाहरणों में इनके कवित्व के सहज ही दर्शन हो जाते हैं। रीतिकालीन श्रेष्ठ ग्रंथों में इसकी परिगणना सहज रूप से हो जाती है।

रसविलास

हिंदी साहित्य के किसी भी इतिहास में अथवा अन्य किसी ग्रंथ में चिंतामणि की काव्य कृतियों के अंतर्गत इस ग्रंथ का उल्लेख तक नहीं मिलता। अनुसंधान के क्रम में लेखक ने जब अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर की हस्तलिखित ग्रंथों की सूची देखी तो ज्ञात हुआ चिंतामणि की 'रसविलास' नामक कोई रचना उनके संग्रह में है। अतः जिज्ञासा एवम् आवश्यकता के कारण लेखक बीकानेर गया। वहाँ चिंतामणि कृत 'रसविलास' की हस्त-लिखित प्रति की परीक्षा कर ली। यद्यपि ग्रंथ में सर्वत्र 'रसविलास' शब्द ही का प्रयोग मिलता है फिर भी इस हस्तलिखित ग्रंथ पर मोटे अक्षरों में 'रसविलास भाषा' शीर्षक लिखा है। यह ग्रंथ देसी कागज पर सुवाच्य एवम् सुस्पष्ट अक्षरों में लिखा है। इसमें दोहा, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय,

सोरठा, हरिगीतिका आदि छंदों के विशेष प्रयोग हैं। ग्रंथ के प्रत्येक परिच्छेद के अंत में चिंतामणि की वैसी ही पुष्पिका प्राप्त होती है जैसी उनके अन्य ग्रंथों में मिलती है।

ग्रंथ के अंतिम परिच्छेद के अंत में उस परिच्छेद की अथवा ग्रंथ की समाप्ति सूचक पुष्पिका नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि ग्रंथ की यह प्रति अपूर्ण अथवा खंडित है। इस प्रति के सभी पृष्ठ उत्कृष्ट स्थिति में होने तथा लिखावट पठनीय एवम् सुवाच्य होने पर भी ग्रंथ पढ़ते समय प्रतिलिपिकार की असावधानी का अनुभव अवश्य होता है। प्रतिलिपि करते समय अनेक स्थलों पर शब्दों तथा वाक्यांशों को छोड़ दिया गया है जिससे अर्थ लगाने में कठिनाई प्रतीत होती है। इस ग्रंथ के अंतर्गत रस, विभाव, नायिकाभेद, उद्दीपन विभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव आदि के वर्णन के उपरांत बिरुदावली का सविस्तर वर्णन किया गया है। बिरुदावली के बाद ग्रंथ समाप्त हो जाता है। इस ग्रंथ में शाहजहाँ के अतिरिक्त उसके समकालीन दाराशिकोह, हृदयशाह, जाफरखान, जैनदीं मुहम्मद आदि की प्रशस्ति के छंद भी प्राप्त होते हैं।

यद्यपि 'रसविलास' के छंदों में प्रयुक्त 'चिंतामणि' नाम एवम् परिच्छेदों के अंत में दी हुई पुष्पिकाओं के आधार पर यह चिंतामणि की रचना सिद्ध होती है फिर भी यह शंका उठाई जा सकती है कि यह चिंतामणि कविकुलकल्पतरुकार प्रसिद्ध चिंतामणि से अभिन्न है, इस बात का प्रमाण क्या है? शैलीसाम्य, भावसाम्य, शब्दसाम्य, विचारसाम्य आदि के विचार से 'रसविलास' की तुलना 'कविकुलकल्पतरु' से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों ग्रंथों का रचयिता एक ही है। कुछ छंद तथा वाक्यांश तो दोनों ग्रंथों में समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

(१) अनजानत हुए धौं जानत है यह जानि रहै मुँह नाइ लजानी।
कोऊ आपस में कछू कहै समुझै सब आपनियै पै कहानी॥
मुसक्यात कछूक सखी जनू तौ गढ़ि जात सँकोचनि बाल अयानी।
स्याम तिहारे सनेह रहे सो मयंकमुखी यह संक डेरानी॥'[1]

यही छंद नाममात्र अंतर से 'कविकुलकल्पतरु' में इस प्रकार मिलता है—

---

१. चिंतामणिकृत रसविलास, ७।१०, (हस्तलिखित प्रति, बीकानेर)।

जाने बिना हम जानत है यह जानि रहै मुह नाइ लजानी ।
कोऊ कहूँ कछुबात कहै, समुझै सब आपनियै पै कहानी ॥
केहू हँसे जो सखी जन तो गड़ि जात सकोचन बाल अयानी ।
स्याम तिहारे सनेह रहै मृगलोचनी सोच सँकोच समानी ॥[1]

(२) रस सों रति मैं अलसात उठी तकिया मैं तिया करि एक दिए ।
मनि बैनी पीठि परी बिथुरी अपने कर दूसरी वाम लिए ॥
झलकैं श्रमबिंदु छुटीं-अलकैं विहंसौंहैं से गोल कपोल किए ।
अब ये उपजावत सोचन कौं संकुचौंहैं से लोचन आनि हिए ॥[2]

यही छंद कविकुल कल्पतरु में 'श्रम' के उदाहरण के अंतर्गत दिया है, देखिए—

रति अंत कछू अलसाइ उठी तकिया मैं तिया करि एक दिए ।
मनि बेनि है पीठि परी बिथुरी अपने कर दूसरी वाम लिए ॥
झलकैं श्रमबिंदु छुटी अलकै विहंसौंहैं से गोल कपोल किए ।
अब ये उपजावत सोचन कौ सकुचौंहैं सलोचन आन हिए ॥[3]

संचारी भावों का निरूपण दोनों ग्रंथों में एक ही सा प्राप्त होता है, देखिए—

(३) सदा रहत थिति भाव मै प्रगट होत इहि भाँति ।
ज्यों कल्लोल समुद्र मैं यों संचारी जाति ॥[4]

कविकुल कल्पतरु में संचारी भावों का निरूपण इस प्रकार किया है—

रहत सदा थिर भाव मैं, प्रगट होत इहि भाँति ।
ज्यों कल्लोल समुद्र मैं, यों संचारी जाति ॥[5]

दोनों ग्रंथों में प्रयुक्त समान वाक्यांश तथा पद भी द्रष्टव्य है—

जाके जोबन अंकुरित मुगुधवधू जानि ।
लज्जाधिकता सुरत में दूहै नवोढा मानि ॥[6]

---

१. चिंतामणिकृत कविकुलकल्पतरु, ६।२२ ।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ७।२३ ।
३. कविकुलकल्पतरु, ६।२३ ।
४. रसविलास, ७।१ ।
५ कविकुलकल्पतरु, ६।६ ।
६. रसविलास, ३।१२ ।

'कविकुल कल्पतरु' में वर्णित निम्नलिखित छंद में उपर्युक्त छंद के स्थूलाक्षरांकित वाक्यांश मिलते हैं; देखिए—

जाके जोवन अंकुरित सो मुग्धा वर नारि।
दुहू वही क्रम संधि मैं, तब वय संधि निहारि॥[1]

इसी प्रकार और कुछ उदाहरण देखिए—

धीरा और अधीरा तिय धीरा धीरा पेष॥
—रसविलास, ३।२८।

धीरा और अधीरा तिय धीरा धीरा मानि॥
—कविकुलकल्पतरु, ५।२।१०६।

हरष और उतकरष ते आसव जोवन जात।
उपजत है मद भाव तित कहत सत्य सबबात॥
—रसविलास, ७।३४।

धन विद्या रूपोद्भव, आसव जोवन जात।
उपजत है मद्भाव तित, कढति अलस गत बात॥
—कविकुलकल्पतरु, ७।५२।

इसके अतिरिक्त दोनों ग्रंथों में प्राप्त विभिन्न नायिकाओं के उदाहरणों में भी पर्याप्त भावसाम्य दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिये कुछ छंद देखिए—

अंग सुकुमार अति सुंदर सुढार बने।
ऊँचें कुच भार चारु लाँकु लचकत है॥
—रसविलास, ३।२०।

कच लाँबे लचै कुच भार सो लंक सबै तन कंचन रंग गनौ॥
—कविकुलकल्पतरु, ५।२।६६।

'रसविलास' के अतिरिक्त इनके अन्य ग्रंथों में प्राप्त नायिकाभेद की विवेचनपद्धति एवं विचारधारा में भी पर्याप्त साम्य है। कविकुलकल्पतरु के समान 'रसविलास' में भी कवि ने स्वकीया नायिका के प्रेम की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और परकीया प्रेम को स्पष्टतः हेय समझा है।

---

1. कविकुलकल्पतरु, ५।२।७७।

चिंतामणि के अन्य ग्रंथ भाषापिंगल अथवा छंदविचार, शृंगारमंजरी आदि की शब्दावली से भी 'रसविलास' की शब्दावली पूर्ण रूपेण मेल खाती है। इतिहास से भी यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध चिंतामणि कवि के आश्रयदाताओं में शाहजहाँ, दाराशिकोह, जैनदीं मुहम्मद भी हैं जो रसविलास के रचयिता के भी आश्रयदाता हैं। इससे दोनों रचयिताओं का समय भी एक सिद्ध होता है।

विवेचन से निश्चित हो जाता है कि कालसाम्य, भावसाम्य, विचार-साम्य, शब्दसाम्य, छंदसाम्य आदि के कारण 'रसविलास' के रचयिता चिंतामणि कविकुलकल्पतरु, भाषापिंगल आदि के रचयिता प्रसिद्ध चिंता-मणि से भिन्न नहीं हैं।

रसविलास का रचनाकाल :

इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में ग्रंथ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। चिंतामणि की 'शृंगारमंजरी' और 'कविकुलकल्पतरु' में भी रचनाकाल नहीं दिया गया है। अतः ग्रंथ के अंतर्गत जिन आश्रयदाताओं की प्रशस्ति की गई है उसी के आधार पर कुछ अनुमान किया जा सकता है। 'रस-विलास' के अंतर्गत शाहजहाँ, दाराशिकोह, हृदयशाह, जाफरखान तथा जैनदीं मुहम्मद की प्रशस्ति के निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

शाहजहाँ :

(१) साहि जहाँगीर जू साहि मनि साहिजहाँ
जासों जंग जोरि कँह कौन ठहरात है॥

(२) साहिजहाँ जू के हाथी अरिदल के प्रमाथी
गिरिन के साथी सोरु पारत अलक में॥

दाराशिकोह :

(१) साहिजहाँ जू के नंद दारासाहि चतुरंग
सैन साजि जीतिवे को धरापर धाए हैं॥

(२) तारे तन सारे मुकुताहल पसारे मानो
गज दारासाहि जू के कारे कारे कद के॥

---

१. रसविलास, ८।२३, ८।२६।

(३) दारा साहि तच्छन सो देत दान लच्छन सो
जगत के रच्छन विचच्छन विसेषिए ॥[१]

हृदयशाह :

(१) हिरदै नरिंद दानि हिरदै अनंद भरौ
वृंदनि में गरवी गयंद वकसत है ॥
(२) प्रेमसाहि जू के नंद महाराजा हृदैसाहि
भिरौ अगहारो वीर संगर को आकरो ॥[२]

जाफरखान :

(१) करि किरवान कर नवाव जाफरखान
कीन्हों घसासान अरिसैना क्यों बचति है ॥
(२) ऐसो को जालिम वीर जहान जो जाफरखान सो जंग जुरे ।
जाफरखान नवाव करसो खग्ग गहि रणमग्ग ॥[३]

जैनदी मुहम्मद :

(१) जोरावर वीरवलि जैनदीं मुहम्मद जू
खैचि कै कमान सरसी समाइयो ॥
(२) लोचन हैं लाल लाल जैनदी मुहम्मुद जू
अब कहौ कहा कहा चीहि चीहि लीजिए ॥[४]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाओं तथा प्रशस्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि ने 'रसविलास' की रचना शाहजहाँ, दाराशिकोह, हृदयशाह, जाफरखान एवम् जैनदीं मुहम्मद के जीवनकाल में की है। इनमें से शाहजहाँ का शासनकाल संवत् १६८४ वि० से १७१४ वि० तक था।[५] शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की मृत्यु सन् १६५६ ई० अर्थात् संवत् १७१६ वि० में हुई।[६] प्रेमशाह के सुपुत्र हृदयशाह

---

१. रसविलास, ८।१२, ८।२१, ८।३० ।
२. रसविलास, ८।२८, ८।२६ ।
३. वही, ८।२६, ८।१८० ।
४. वही, ८।१८३, ८।१८४ ।
५. कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ४, (सन् १९३७ का संस्करण), पृ० ६१८ ।
६. दाराशिकोह, डा० कालिकारंजन कानूनगो, (सन् १९३८ ई०), पृ० १२३ ।

अपनी सत्तर वर्ष की अवस्था में संवत् १७३५ वि० में परलोक सिधारे।[1] इतिहास से ज्ञात होता है कि जाफरखान की मृत्यु सन् १६७० ई० अर्थात् संवत् १७२७ वि० में हुई थी।[2] जैनदीं मुहम्मद मनसबदार के पदपर संवत् १६९० वि० में नियुक्त हुआ था।[3] अतः यह स्पष्ट है कि इन सभी लोगों का समय संवत् १६८४ वि० से लेकर संवत् १७३५ वि० तक हो जाता है। इतनी दीर्घ कालावधि में इस ग्रंथ का रचनाकाल निश्चित करना अपने आप में कठिन प्रतीत होता है।

इन आश्रयदाताओं के समय का विचार करने पर जैनदीं मुहम्मद ही एक व्यक्ति दिखाई देते हैं कि जिनकी नियुक्ति सब से बाद में—अर्थात् १६९० वि० में हुई है। शेष सभी का समय तो इनके पूर्व से ही प्रारंभ होता है। शाहजहाँ की प्रशस्ति एवम् छंद में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाओं को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ उन्हीं की उपस्थिति में लिखा गया था। ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि 'रसविलास' की रचना संवत् १६९० वि० और संवत् १७१४ वि० के बीच हुई थी। 'भाषापिंगल' के प्रसंग में इस बात की चर्चा की गई है कि संवत् १७१४ अर्थात् सन् १६५७ ई० में चिंतामणि शहाजी भोंसला के दरबार में पहुँचे थे। अतः इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि रसविलास की रचना संवत् १७१४ वि० के पूर्व ही हुई थी।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो निश्चित हुआ कि रसविलास की रचना संवत् १६९० वि० और संवत् १७१४ वि० के बीच हुई थी। शाहजहाँ के दरबारी कवियों में चिंतामणि का उल्लेख तो इतिहासों में मिलता है[4] परंतु कहीं भी इस बात को नहीं लिखा गया कि चिंतामणि शाहजहाँ के आश्रय में किस समय से किस समय तक थे। बुंदेलखंड के इतिहास में लिखा है कि संवत् १६९१ वि० में शाहजहाँ ने हृदयशाह की सहायता के लिये पहाड़

---

१. गोरेलाल तिवारी कृत बुंदेलखंड का इतिहास, संवत् १९९० का संस्करण, पृ० ०९६।

२. जदुनाथ सरकार कृत 'औरंगजेब', भा० ३, सन् १९१६ का अंग्रेजी संस्करण, पृ० ७६।

३. ब्रजरत्नदास द्वारा किया हुआ 'मआसिर उल-उमरा' का हिंदी अनुवाद 'मुगलदरबार' प्रथम संस्करण भा० ३, पृ० ३४४।

४. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, भा० ४, पृ० २२१।

सिंह पर चढ़ाई की थी।[1] अतः अनुमानतः कहा जा सकता है कि संवत् १६६१ के पूर्व अर्थात् संवत् १६६० वि० में 'रसविलास' की रचना हुई होगी।

रसविलास आठ परिच्छेदों में विभाजित है। प्रथम के अंतर्गत मंगलाचरण के उपरांत रस विभावादि का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में नायकनिरूपण के प्रसंग में धीर ललित, धीर शांत, धीरोद्धत एवम् धीरोदात्त—इन चार भेदों के साथ श्रृंगारी नायक के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट इन भेदों का भी वर्णन है। यहीं पर पति, उपपति के भेदनिरूपण के साथ ही प्रोषितपति के प्रोषित उपपति एवं वैशिक प्रोषितपति—ये दो उपभेद तथा नायक के सहायकों—पीठमर्द, विट एवम् विदूषक के भी लक्षण और उदाहरण दिए हैं। तृतीय परिच्छेद के अंतर्गत नायिका के पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी एवम् शंखिनी इन चार भेदों के अतिरिक्त नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन भेद भी दिए हैं। यह परिच्छेद नाट्यशास्त्रम्, दशरूपक, एवम् शृंगारतरंगिणी के आधार पर लिखा गया है। नायिकाओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये जो उदाहरण दिए गए हैं वे अत्यंत कवित्वपूर्ण हैं। लक्षणों के पश्चात् उनके स्वरूप को समीचीन उदाहरणों से स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है। नायिका की अवस्था के अनुसार स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा आदि सात भेद दिए हैं।

चतुर्थ परिच्छेद के अंतर्गत उद्दीपन विभाव में रम्यदेश, वापी, तडाग, नगर, महल, वन, बाग, शैल, रम्य समय (वसंतादि षड्ऋतु) का वर्णन किया गया है जिसमें बारहमासा वर्णन को भी स्थान दिया है। पंचम परिच्छेद में अनुभावों का वर्णन भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर किया है। षष्ठ परिच्छेद में सात्विक भावों का वर्णन है और सप्तम में संचारी भावों का वर्णन जो भरत, धनंजय और विश्वनाथ के आधार पर किया गया है। अष्टम परिच्छेद के अंतर्गत सभी रसों के लक्षण प्रस्तुत करने के बाद नखशिख वर्णन किया है। अंत में अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली का सविस्तर वर्णन कर ग्रंथ को समाप्त किया गया है।

कवित्व और आचार्यत्व की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। जहाँतक गुणों का प्रश्न है यह ग्रंथ कविकुलकल्पतरु से भिन्न है। 'रसविलास' में

---

१. गोरेलाल कृत 'बुंदेलखंड का इतिहास', संवत् १६६० का संस्करण, पृ० १४६।

वीर रस का विस्तृत वर्णन है तो कविकुल कल्पतरु में अत्यल्प। 'रसविलास' में माधुर्यमिश्रित ओज गुण का प्राधान्य रहा है और 'कविकुल कल्पतरु' में माधुर्यमिश्रित प्रसाद गुण का। शैली, विषय, भाषा आदि की दृष्टि से रसविलास यद्यपि 'कविकुल कल्पतरु' के समकक्ष ही ठहरता है फिर भी सूक्ष्मता, निरूपण शैली आदि की दृष्टि से 'कविकुल कल्पतरु' 'रसविलास' से अधिक प्रौढ़ रचना प्रतीत होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो सकता है कि 'रसविलास' कविकुल कल्पतरु के पूर्व की रचना है।

कृष्णचरित्र :[1]

रसविलास की भाँति चिंतामणि का यह भी एक अज्ञात ग्रंथ खोज में प्राप्त हुआ है। चिंतामणि के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा इस ग्रंथ का स्वरूप भिन्न है। इसकी सर्वप्रथम सूचना लेखक को कैप्टन शूरवीरसिंह जी से दि० १८-८-१९६० के पत्र द्वारा मिली। इसकी मूल प्रति पं० देवीप्रसाद शुक्ल खजुआ नगर तहसील, जिला फतेहपुर के पास सुरक्षित है। डॉ० चंदेल की कृपा से लेखक को कैप्टन शूरवीरसिंहजी वाली 'कृष्ण चरित्र' की प्रति अध्ययनार्थ प्राप्त हुई। यह प्रति पर्याप्त शुद्ध है। यद्यपि इसमें भाषा विषयक अशुद्धियाँ मिलती भी हैं तो वे अत्यल्प मात्रा में। लिपिकारों की असावधानी से कुछ पाठदोष भी कहीं कहीं अवश्य मिलते हैं फिर भी भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से यह रचना कवि की प्रौढ़ कृति प्रतीत होती है। बारह सर्गों के इस विशालकाय प्रबंध काव्य में चिंतामणि ने कृष्ण के चरित्र का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें मूलतः ७५८ छंद हैं परंतु मूल प्रति के कुछ पृष्ठ नष्ट हो जाने से केवल ७२३ छंद ही प्राप्त होते हैं। इसमें घनाक्षरी, दोहा, छप्पय, सवैया, इन छंदों के प्रयोग किए गए हैं। चिंतामणि ने इसमें न रचनाकाल का कहीं निर्देश किया है और न किसी आश्रयदाता का। अतः ग्रंथावलोकन से अनुमान होता है कि चिंतामणि ने इस ग्रंथ की रचना स्वांतःसुखाय की होगी और वह भी जीवन के उत्तरार्ध में।

चिंतामणि के नामपर जितने भी ग्रंथ बताए जाते हैं उनमें 'कृष्णचरित्र' का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता। 'रसविलास' की भाँति यह ग्रंथ भी हिंदी साहित्य में अज्ञात ही था। इस ग्रंथ के छंदों में एवम् प्रत्येक सर्ग के

---

१. इस ग्रंथ विषयक अधिकांश सामग्री डॉ० सत्यकुमार चंदेल द्वारा साभार प्राप्त हुई है।

अंत में दी हुई पुष्पिकाओं में प्रयुक्त चिंतामणि का नाम इस बात का स्पष्ट रूप से द्योतक है कि यह कृति चिंतामणि नामक कवि की ही है। यह कृति अन्य किसी चिंतामणि नामक कवि की न होकर प्रसिद्ध कवि चिंतामणि की ही है, इस बात की पुष्टि कृष्ण चरित्र और कविकुल कल्पतरु में प्राप्त समान छंदों एवम् शैली आदि से हो जाती है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

साँवरो सलौनो नित बड़ी आँखियान को जु,
होत अभरनु आनि जमुना के तीर को।
'चिंतामनि' कहे गारी दीजै तो हँसत ढीठ,
धँसी निकारैया नीकी नारिन की भीर को।
मैं आजु जानी अब लौं न हौं जानति ही
करतु अनीति जैसो छोहरा अहीर को।
पनिघट रोकत कन्हैया याको नाम दैया
खोटो है निपट छोटो छोहरा अहीर को ॥[1]

यह छंद 'कृष्णचरित्र' के अंतर्गत यमुनातट विहार के प्रसंग में आया है। यही छंद 'कविकुलकल्पतरु' के प्रथम प्रकरण में प्रसाद गुण के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित छंद भी देखिए—

कोमल कमल करतें करकस गिरि उतारि
धीर लाल धरो मेरो मनु अकुलातु है।
मरिहौ सुमरौ, जो जीवैगो वह तौ मोसों
कैसे निजु बालक कलेसु देख्यो जातु है।
मेरो कह्यौ करि न तो निकरि मरौंगी कहि
कढी जहाँ करका सिलानि को निपातु है।
जहाँ कढ़े गोप गोपी गन संग नंदरानी
तहाँ रछा कीवै कौं अचल अधिकातु है।[2]

यह छंद 'कृष्णचरित्र' में गोवर्धन लीला के प्रसंग में आया है। 'कविकुल कल्पतरु' के अंतर्गत यही छंद पंचम प्रकरण में ध्वनिभेद के उदाहरण रूप में मिलता है। इसी प्रकार यह भी छंद द्रष्टव्य है—

---

१. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र, ५।३१।
२. वही, कृष्णचरित्र, ७।१७।

श्री राधा के अंग रंग रुचि ज्यों रुचिर वासु
गुलाब के फूल रुचि सौरभनि सों भिरी।
चितहिं चोरावति कोकिल कल बानी लगी।
कानन चितौंनि प्रेमसद की मनौ फिरी॥
चिंतामनि सोही रसाल और कुंजनि मिलि
अलिन झुंड सोही मनौ मुनि आचिरी।
बालपन बीच लरिकाई आई सिसिर में
माघ सुदि पंचम में ज्यों बसंत की सिरी॥[1]

उपर्युक्त छंद 'कृष्ण चरित्र' में बसंत पंचमी के प्रसंग में लिखा गया है। चिंतामणि के 'कविकुल कल्पतरु' में यही छंद पंचम प्रकरण में मुग्धा नायिका के उदाहरण रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार और भी अनेक छंद हैं जो 'कृष्णचरित्र' और 'कविकुलकल्पतरु' में समान रूप से प्रयुक्त हैं।

दोनों ग्रंथों में समान छंदों का प्रयोग तथा छंदों और अध्यायों के अंत में दी हुई चिंतामणि की छाप इनके अतिरिक्त संस्कृतबहुला शब्दावली, अलंकार एवं प्रतीकयोजना का चमत्कारपूर्ण प्रयोग, भाषा, शैली आदि की दृष्टि से भी दोनों ग्रंथों में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों ग्रंथों के विषयों में भिन्नता होने से भावसाम्य खोजना व्यर्थ होगा। इस प्रकार 'कृष्णचरित्र' का रचयिता प्रसिद्ध कवि चिंतामणि से पूर्णतः अभिन्न सिद्ध हो जाता है। चिंतामणि की यह कृति अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

रचनाकाल

'कृष्णचरित्र' में रचनाकाल एवम् किसी भी आश्रयदाता का उल्लेख न मिलने से इस अनुमान को पुष्टि मिलती है कि चिंतामणि ने इस ग्रंथ की रचना संभवतः स्वान्तःसुखाय की थी और वह भी जीवन के अंतिम दिनों में। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने साधारणतः भक्तिपरक रचनाएँ जीवन के अंत में ही की हैं जो एक दृष्टि से स्वाभाविक भी था। 'कृष्णचरित्र' और 'कविकुल कल्पतरु' में बहुत से छंद समान रूप में प्राप्त होते हैं। इससे अनुमान होता है कि कवि ने पहले 'कविकुल कल्पतरु' के अंतर्गत इन छंदों को उदाहरण रूप में रचा होगा और बाद में 'कृष्णचरित्र' की रचना के

---

१. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र, ३।६।

समय आवश्यकता के अनुसार इन्हीं उदाहरणों का सहज ही समावेश किया होगा। 'कविकुल कल्पतरु' का रचनाकाल संवत् १७२७ अर्थात् सन् १६७० ई० के आसपास ठहरता है।[1] चित्रकूटाधिपति रुद्रशाह सुलंकी द्वारा पर्याप्त सम्मान एवम् पुरस्कार पाकर चिंतामणि अपने घर लौटे होंगे। उस समय उनकी अवस्था लगभग ७१–७२ वर्षों की थी। संभव है कि उसके बाद चिंतामणि वृद्धावस्था के कारण किसी के आश्रय में नहीं गए होंगे। इसके बाद चिंतामणि का किसी के आश्रय में जाने का उल्लेख भी नहीं मिलता। अतः यह अधिक संभव जान पड़ता है कि घर आने पर ही चिंतामणि 'कृष्णचरित्र' जैसी भक्तिपरक रचना करने में संलग्न रहे होंगे। ग्रंथ का विशाल कलेवर और कवि की वृद्धावस्था के हिसाब से इसकी रचना के लिये तीन चार वर्षों का कालावधि सहज ही लगा होगा। अतः अनुमानतः इस ग्रंथ की रचना संवत् १७३२ वि० के आसपास हुई होगी।

वर्ण्यविषय :

यह ग्रंथ बारह सर्गों में विभाजित है। प्रथम सर्ग के अंतर्गत मंगलाचरण, कृष्णजन्म, कृष्ण का अलौकिक सौंदर्यदर्शन, वसुदेव का कृष्ण को गोकुल ले जाना, कृष्ण की कृपा से समस्त बाधाओं का निवारण, गोकुल पहुँचकर कृष्ण को नंद के यहाँ रखना और उनकी नवजात कन्या को मथुरा लाना, देवकी की प्रसूति की वार्ता सुनते ही कंस का देवकी के पास आना और उस कन्या को छीनकर पत्थर पर पटकने के लिये उद्यत होना, परंतु उस कन्या का हाथ से छूट जाना और आकाशवाणी द्वारा कृष्ण के जन्म तथा सुरक्षित होने की सूचना देना, सुनकर कंस का व्याकुल होना और वसुदेव तथा देवकी को बंधनमुक्त करना, इधर नंदगृह में पुत्र जन्मोत्सव की सर्वत्र प्रसन्नता, यशोदा के भाग्य की सराहना, कृष्ण की क्रीड़ाएँ, पूतनावध आदि का सविस्तर वर्णन किया गया है।

द्वितीय सर्ग में प्रारंभिक छंदों में वात्सल्य का वर्णन है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का उत्कृष्ट वर्णन परंपरा के अनुसार ही किया गया है। कृष्ण द्वारा बाल्यावस्था में किए गए वीरकर्मों का वर्णन भी इसी सर्ग के अंतर्गत किया गया है। तृतीय सर्ग के अंतर्गत कृष्णसौंदर्य का वर्णन, भक्तिभाव की अभिव्यक्ति, कृष्ण के अनंत गुण तथा उसका महत्त्व, कृष्ण की वंशी का

१, देखिए इसी अध्याय का 'कविकुलकल्पतरु' विषयक विवेचन।

माधुर्य तथा उसका ब्रजयुवतियों पर प्रभाव आदि बातों का विवरण किया है। चतुर्थ सर्ग में कृष्ण के युवक होने की सूचना मिलती है। गोप और गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का वर्णन सुंदर रीति से किया गया है। कृष्ण का एक असुर को मारना, गोपियों का कृष्ण के सौंदर्य पर लुब्ध होकर प्रेम करना तथा मुरली के माधुर्य का प्रभाव आदि के वर्णन के बाद इस सर्ग की समाप्ति होती है। पंचम सर्ग के अंतर्गत कालियादमन तथा बन की प्रचंड अग्नि का पान कर ब्रजवासियों को संकटों से मुक्त करने का विस्तृत वर्णन है। इसके बाद कृष्ण के महत्व का प्रतिपादन और कृष्ण एवम् गोपियों की लीलाओं के अनंतर यह सर्ग समाप्त कर दिया गया है।

षष्ठ सर्ग में कृष्ण के प्रति राधा की अनुरक्ति, चीरहरण लीला, कृष्ण द्वारा गोधन चराना तथा कृष्ण के प्रति भक्तिभाव का वर्णन है। सप्तम सर्ग के अंतर्गत गोवर्धन पूजा तथा इंद्र के कोप से ब्रजवासियों को बचाने के हेतु गोवर्धन पर्वत को कृष्ण द्वारा उँगली पर उठाने आदि का वर्णन है। अष्टम सर्ग कृष्ण एवम् राधा के प्रेमवर्णन से ओतप्रोत है। नवम सर्ग में दोनों के प्रेमवर्णन के अतिरिक्त सौंदर्यवर्णन भी किया गया है। दशम सर्ग में राधा और कृष्ण की विलास क्रीडाओं का विस्तृत वर्णन और राधा का वियोगवर्णन दोनों का समावेश किया गया है। एकादश सर्ग लगभग ऐसे ही वर्णनों से युक्त है। बिहार वर्णन के अतिरिक्त सुरत के कुछ चित्र भी इसमें मिलते हैं। द्वादश सर्ग के अंतर्गत कृष्ण का राधा के अतिरिक्त अन्य गोपियों के साथ रमण भी वर्णित है। इसी में भक्तिभाव की महत्ता का वर्णन कर कवि ने इस ग्रंथ को समाप्त किया है।

चिंतामणि के उपलब्ध ग्रंथों में यही ग्रंथ प्रबंध काव्य के रूप में प्राप्त होता है। चिंतामणि के रामायण नामक ग्रंथ के संबंध में यह अनुमान होता है कि वह ग्रंथ भी संभवतः प्रबंध काव्य ही होगा। यह सौभाग्य की बात है कि चिंतामणि के ऐसे भी ग्रंथ खोज में मिल रहे हैं कि जो अबतक पूर्णतः अज्ञात ही थे। यदि अन्य अप्राप्य ग्रंथों का भी पता लग जाय तो चिंतामणि के आचार्यत्व और कवित्व के दर्शन अधिक मात्रा में प्राप्त हो सकेंगे। 'कृष्ण चरित्र' में यद्यपि परंपरागत कथानक वर्णन है फिर भी अनेक स्थलों पर कवि की उर्वरा प्रतिभा के दर्शन सहज ही हो जाते हैं। इस कृति के कवि के जीवन के अंतिम समय की होने से भाषा भाव, शैली, वर्णन आदि में पर्याप्त मात्रा में प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है।

चिंतामणि के खंडित ग्रंथ :

कवित्त विचार :

चिंतामणि का यह ग्रंथ खंडित रूप में प्राप्त हुआ है। ग्रंथावलोकन से यह प्रतीत होता है कि इसमें साहित्य के विविध अंगों का विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ के ५७ पृष्ठ प्राप्त हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर ५६ पंक्तियाँ हैं। पृष्ठ ६ इंच लंबे और ६ इंच चौड़े हैं। इसमें गणपति वंदना, कविता-लक्षण, गुण वर्णन, शब्दालंकार, अर्थालंकार, कवितादोष विचार, रसदोष, शब्द अर्थ विचार, शब्दशक्ति, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव, नखशिख, नायिकाभेद इतने विषयों का समावेश है। अष्टम परिच्छेद में विभाव, नवम में अनुभाव और दशम में विरह की दस अवस्थाओं का वर्णन है।[1] खोजरिपोर्ट में इसके उद्धृत अंश ये हैं[2]—

पूजौंगी आछे कै गणाधिप जीवन पति
गौरी के चरन चारु सिर पर धरिहौं।
सत कविता के जे हैं सत कविता के मग,
ईस के प्रसाद एक हू तो पूरो परिहौं।
'चिंतामणि' चिंतामणि कामतरु कामधेनु
कृपा जिनकी है तातैं सबै फल फरिहौं।
हरदी सुमति सिद्धि दूनो दै समन सौं कहौं
नीके रुचि रोचन कै सकल काज करिहौं।
चिंतित फल निज भगति को, ताही फल में देत।
मनु सुख आदि हि बरन कै निज बरनन सजि लेत॥ २१॥

अंत—

कैसे मिलिये प्रियजनै, क्यों बस होइ बनाइ।
यहि विधि चिंता बरनिये, सब कबि जनन सुनाइ॥७८५॥
क्यों निरखें मृगलोचनी, क्यों बोले सुकुमार।
यों सोचत निस द्यौस हरि मोचत लोचन वारि॥७८६॥
लखत सुधासी तब लगी, अब जारति क्यों आनि।
विषै बिसासिन की भई वह मुरि कै मुसक्यानि॥७८७॥

---

१. भूषण, मतिराम तथा उनके अन्य भाई—ले० डॉ किशोरीलाल गुप्त (जून, १९६१), पृ० ११

२. नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्ट—१९२०-२१।

इसमें भी ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। प्रति खंडित होने से कई बातें अज्ञात हो रही हैं। डा० चंदेल का विचार है कि 'छंद विचार' की रचना के बाद ही चिंतामणि के मन में इसी टक्कर का 'कवित्त विचार' लिखने का विचार उत्पन्न हुआ होगा और इसी के फलस्वरूप उन्होंने संवत् १७१६-१८ वि० के आसपास इस ग्रंथ को समाप्त किया होगा।[१] परंतु यह केवल तर्क मात्र है। इस अनुमान के लिये कहीं भी पुष्टि नहीं मिलती। चिंतामणि के छंद विचार अथवा भाषा पिंगल का ग्रंथसमाप्ति काल संवत् १७१९ वि० अर्थात् सन् १६६२ ई०[२] और शृंगारमंजरी का रचनाकाल सन् १६६६ ई० के लगभग ठहरता है।[३] कविकुलकल्पतरु का रचनाकाल सन् १६७० ई० के[४] आसपास और कृष्ण चरित्र का सन् १६७५ ई० के लगभग ठहरता है।[५] अतः यह संभव नहीं प्रतीत होता कि इतनी कार्यव्यस्तता में चिंतामणि ने संवत् १७१६–१८ अर्थात् सन् १६५९–१६६१ के आसपास 'कवित्त विचार' जैसे साहित्य विषयक ग्रंथ की रचना की होगी। चिंतामणि का जन्मकाल सन् १६०० ई० के आसपास है और उनके जीवन के पूर्वार्ध की केवल 'रसविलास' रचना ही प्राप्त होती है जो संवत् १६९२-९३ वि० अर्थात् सन् १६३५–३६ ई० के आसपास की रचना है। चिंतामणि जैसे प्रतिभासंपन्न और उत्कृष्ट कोटि के आचार्य और कवि के लिये यह असंभव प्रतीत होता है कि उन्होंने जीवन के प्रारंभिक ५०–५५ वर्षों में 'रसविलास' नामक एक ही ग्रंथ की रचना की हो। लेखक का अनुमान है कि कवित्त विचार तथा चिंतामणि के अन्य अप्राप्य ग्रंथ 'काव्य विवेक' और 'काव्य प्रकाश' की रचना कवि ने जीवन के पूर्वार्ध में ही की होगी। सन् १६५० ई० के आसपास कवींद्राचार्य सरस्वती के 'कवींद्र चंद्रिका' इस अभिनंदन ग्रंथ में तत्कालीन श्रेष्ठ तथा दिग्गज पंडित कवियों में चिंतामणि की गणना थी।[६] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सन् १६५० ई० के पूर्व चिंतामणि के तीन चार काव्यांग विवेचन

---

१. डा० सत्यकुमार चंदेल कृत 'चिंतामणि त्रिपाठी और उनका काव्य' पृष्ठ-१०७।
२. चिंतामणिकृत छंदोविचार-हस्तलिखित प्रति, सरस्वती महल, तंजौर, ग्रंथांत।
३. इसी अध्याय का 'भाषा पिंगल' विवेचन।
४. इसी अध्याय का कविकुलकल्पतरु विवेचन।
५. इसी अध्याय का 'कृष्णचरित्र' विवेचन।
६. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७, अंक३-४ कार्तिक-माघ सं० १९९९, पृ० २७१।

करनेवाले विद्वत्ताप्रचुर ग्रंथ अवश्य ही तत्कालीन पंडितों ने देखे होंगे जिसके फलस्वरूप चिंतामणि तत्कालीन श्रेष्ठ पंडितों में परिगणित हुए थे। यह तथ्य इस अनुमान की पुष्टि करता है कि 'कवित्त बिचार' चिंतामणि के जीवन के पूर्वार्ध अर्थात् सन् १६५० ई० के पूर्व की रचना होगी।

रामाश्वमेध :

प्रस्तुत ग्रंथ की खंडित एवम् अपूर्ण हस्तलिखित प्रति काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रहालय में उपलब्ध थी। बहुत प्रयत्न करनेपर भी लेखक को वह प्रति देखने भर के लिये भी प्राप्त न हो सकी। उसकी जो पुष्पिका प्राप्त होती है उससे चिंतामणि के काश्यप गोत्रीय त्रिपाठी ब्राह्मण होने का पता लगता है जो चिंतामणि के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक होता है। जबतक यह ग्रंथ पूर्णतः प्राप्त नहीं होता तबतक इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह ग्रंथ पहाड़सिंह नामक राजा के आश्रय में लिखा गया है। ग्रंथ में पहाड़सिंह का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

(१) पृथ्वीपति महाराज सो ब्रह्म रूप में लीन।
ता सुत कों राजा करैं पालै धरनि नवीन ॥ ६४ ॥

(२) पहारसिंह स्वसुत को दीनों राज बनाय।
आप ब्रह्मरत हुअ सदा करैं राज सुख पाय ॥ ६७ ॥

(३) तिन के नीचे पुर बसै नाम विछोर सुथान।
तामै नरनारी सकल लसै देव परमान ॥ ७० ॥

—रामाश्वमेध।

इसके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वीपति महाराज के पुत्र और पिछोर के शासक पहाड़सिंह के आश्रय में इस ग्रंथ की रचना हुई थी। प्रा० चंदेल ने यह ग्रंथ प्रसिद्ध चिंतामणि के अतिरिक्त चिंतामणि नामधारी किसी अन्य व्यक्ति का माना है। अपने कथन की पुष्टि में पहाड़सिंह के वंशज राजा महेंद्रसिंहजी की मौखिक सूचना का हवाला देते हुए कहा है कि पहाड़सिंह महादजी सिंधिया और गुलाम कादिर के समकालीन थे और इसी के आधार पर पहाड़सिंह की उपस्थिति सं० १८७५ तक मानी है। साथ साथ यह भी लिखा है कि किसी भी इतिहास ग्रंथ में इनके समय का उल्लेख न

होने के कारण एतद्विषयक जानकारी के लिये उन्हें पिछोर जाना पड़ा।[1] वास्तव में बुंदेलखंड के इतिहास में पहाड़सिंह का न केवल उल्लेख मात्र है बल्कि संवत् १६९१ वि० में शाहजहाँ के द्वारा हृदयशाह की सहायता के लिये पहाड़सिंह पर चढ़ाई को जाने का वर्णन है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि पहाड़सिंह चिंतामणि के समकालीन थे। अतः रामाश्वमेध के रचयिता प्रसिद्ध चिंतामणि से निःसंदेह रूप से अभिन्न प्रतीत होते हैं। रामाश्वमेध की रचना चिंतामणि ने पहाड़सिंह के आश्रय में कब की होगी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है परंतु अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि चिंतामणि संवत् १६९१ वि० के पूर्व ही पहाड़सिंह के आश्रय में रहे होंगे क्योंकि शाहजहाँ ने हृदयशाह की सहायता के लिये पहाड़सिंह पर जब चढ़ाई की तब चिंतामणि शाहजहाँ के आश्रय में थे। अतः यह कहना असंगत न होगा कि चिंतामणि ने 'रामाश्वमेध' की रचना पहाड़सिंह के आश्रय में सं० १६९१ वि० के पूर्व अर्थात् सन् १६२६-२७ के आसपास की होगी।

चिंतामणि के अप्राप्य ग्रंथ :

काव्यविवेक :

प्रस्तुत ग्रंथ शिवसिंह सेंगर जी के पास था। इसकी प्रति अब अप्राप्य है। खोज में अन्यत्र भी इसकी प्रतिलिपि आदि प्राप्त नहीं हुई। उन्होंने इस ग्रंथ के विवरण में न तो रचनाकाल का उल्लेख किया है न आश्रयदाता का नाम दिया है। वर्ण्य विषय के संबंध में उन्होंने कहीं कुछ नहीं कहा है। प्रमाण के लिये उन्होंने जो चार छंद उद्धृत किए हैं उनमें से दो तो 'कविकुल-कल्पतरु' में समान रूप से प्राप्त होते हैं, शेष दो निम्नानुसार हैं —

(१) इक आजु मैं कुंदन बेलि लखी, मन मंदिर को सुचि वृंद भरैं।
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ अरविंदन ते मकरंद झरैं।
उन बुंदन ते मुकतागन ह्वै फल सुंदर द्वै पर आनि परैं।
लखि यौं करुना द्युति चंद्रकला नँदनंद सिलाद्रव रूप धरैं॥

(२) सूधो चितौनि चितै न सकै, औ सकै न तिरीछी चितौनि चितै।
गुडियान को खेलिबो फीको लगै, अरु कामकला को विलास कितै॥

---

१. डा० सत्यकुमार चंदेल कृत चिंतामणि त्रिपाठी और उनका काव्य, पृ० २३-२४।

२. गोरेलाल तिवारी कृत बुंदेलखंड का इतिहास (सं० १९९०), पृ० १४६।

लरिकापन जोवन संधि भई, दुहूँ बैस को भाव मिलै न हितै।
बिबि चुंबक बीच को लोहो भयो मन, जाइ सकै न इतै न उतै ॥[1]

इन छंदों की शब्दावली, पद, वाक्यांश आदि बातें चिंतामणि की अन्य कृतियों—कविकुलकल्पतरु, रसविलास और कृष्णचरित्र—से संपूर्णतः मेल खाती हैं। इसके अतिरिक्त दो छंदों का कविकुलकल्पतरु में समान रूप से प्राप्त होना तो इस ग्रंथ का रचयिता प्रसिद्ध चिंतामणि ही होने की पुष्टि करता है। 'कवितविचार' के विवेचन में यह दिखा दिया गया है कि काव्यविवेक की रचना सन् १६५० के पूर्व ही मानना क्यों युक्तिसंगत है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि चिंतामणि ने काव्यविवेक की रचना रसविलास और कवितविचार के पश्चात् सन् १६४५–१६४६ के आसपास की होगी।

काव्यप्रकाश :

शिवसिंह सेंगरजी ने चिंतामणि के जिन पाँच ग्रंथों का अपने पास होने का उल्लेख किया है उनमें 'काव्यप्रकाश' भी है। परंतु ठा० शिवसिंहजी ने इस ग्रंथ से अन्य ग्रंथों की भाँति कोई छंद उद्धृत नहीं किए। इससे दो कल्पनाओं को प्रश्रय मिलता है। एक या तो वह ग्रंथ अत्यंत जीर्ण एवम् खंडित अवस्था में होगा अथवा वह शृंगारमंजरी की भाँति मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुवाद मात्र होगा जो चिंतामणि की मौलिक रचना के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। खोज में भी इस ग्रंथ के प्राप्त होने का उल्लेख नहीं है। अतः इसके संबंध में कुछ कहना अपने आप में कठिन प्रतीत होता है।

रामायण :

चिंतामणि कृत 'रामायण' भी ठा० शिवसिंह के पास थी। उन्होंने इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में कोई संकेत नहीं किया है। वर्ण्यविषय तथा ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिये उन्होंने 'रामायण' के दो छंद उद्धृत किए हैं जो इस प्रकार हैं—

जाके हेतु जोगी जोग जुगुति अनेक करै,
जाको महिमा न मन वचन के पथ की।
औरन की कहा जाहि हेरि हर हारे, जाहि
जानिबे को कहा विधि हूँ की बुधि न थकी।

---

1. भूषण, मतिराम तथा उनके अन्य भाई—ले० डा० किशोरीलाल गुप्त (सन् १९६४ ई०), पृ० ९२–९४।

ताहि लै खेलावै गोद अवध नरेस नारी।
अवधि कहा है ताके आनंद अकथ की।
जाके माया गगन झुलाए सब जग, ताहि
पलना मैं ललना झुलावै दसरथ की॥

× × ×

हंसन के छौना स्वच्छ सोहत बिछौना बीच
होत गति मोतिन की जोति जोन्ह जामिनी।
सत्य कैसी ताग सीता पूरत सुहाग भरी
चली जयमाल लै मराल मंद गामिनी।
जोई उर बसी ओई मूरति प्रतच्छ लसी
'चिंतामनि' देखि हँसी संकर की भामिनी।
मानो सरदचंद चंद मध्य अरविंद,
अरविंद मध्य विद्रुम बिदारि कढ़ी दामिनी॥[1]

उपर्युक्त छंदों के आधार पर रामायण के वर्ण्य विषयादि की कल्पना की जा सकती है। यह ग्रंथ भक्तिपरक एवम् प्रसिद्ध कथा पर आधारित है। इसलिये उसकी तुलना चिंतामणि की इसी कोटि की रचना 'कृष्णचरित्र' के साथ की जा सकती है। तुलना के उपरांत दोनों ग्रंथों में भाव, भाषा, विचार आदि का विशेष साम्य दृष्टिगोचर होता है। कृष्णजन्म के अवसर पर कृष्ण के अलौकिकत्व का जैसा वर्णन 'कृष्णचरित्र' में किया है लगभग वैसा ही वर्णन रामजन्म के अवसर पर राम की महत्ता दिखाने के हेतु किया है। राम के वात्सल्य का वर्णन भी कृष्ण के वात्सल्य वर्णन से पर्याप्त समता रखता है। इन छंदों में प्रयुक्त भाषा से अनुमान होता है कि रामायण ग्रंथ की भाषा प्रौढता की द्योतक है। इस काव्य की भक्तिभावना एवम् विचारधारा से अनुमान होता है कि इस ग्रंथ की रचना कृष्णचरित्र के पश्चात् संवत् १७३७ अर्थात् सन् १६८० ई० के आसपास हुई होगी। संभवतः चिंतामणि के जीवन की यह अंतिम ही कृति थी।

---

१. भूषण, मतिराम तथा उनके अन्य भाई—ले डॉ० किशोरीलाल गुप्त (जून १९६४), पृ० १३-१४।

चिंतामणि का कालनिर्धारण :

शाहजहाँ का शासनकाल सन् १६२७ ई० से १६५८ ई० तक माना जाता है। सन् १६५७ ई० में चिंतामणि का शहाजी दरबार में आना और काव्यरचना करना सिद्ध हो चुका है। चिंतामणि के 'रसविलास' का समय सन् १६३५ ई० के आसपास ठहर जाता है। 'रसविलास' जैसे प्रौढ़ ग्रंथ की रचना के समय कवि की आयु लगभग ३०–३५ के आसपास होनी चाहिए। शाहजहाँ के दरबार में सम्मानित तथा बादशाह के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह के गुरुतुल्य, श्रेष्ठ विद्वान् कवींद्राचार्य सरस्वती ने प्रयाग, काशी आदि तीर्थ क्षेत्रों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करवा कर हिंदू जनता को अपना ऋणी बनाया था। इसी ऋण को किसी अंश में भी क्यों न हो चुकाने के लिये तत्कालीन संस्कृत तथा हिंदी के पंडितों और कवियों ने संस्कृत श्लोकों तथा हिंदी पद्यों में उनका गुणगान किया था जो क्रमशः कवींद्रचंद्रोदय तथा कवींद्रचंद्रिका जैसे अभिनंदन ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवींद्र-चंद्रिका के अंतर्गत जिन हिंदी कवियों ने कवींद्राचार्य सरस्वती की प्रशंसा की है उनमें कविवर चिंतामणि भी एक थे। 'कवींद्रचंद्रिका' में उनके सबसे अधिक छंद हैं।[1]

कवींद्राचार्य सरस्वती की प्रशस्ति करनेवाले व्यक्ति तत्कालीन प्रसिद्ध कवि एवम् पंडित थे। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि शाहजहाँ के समय चिंतामणि कवि की गणना प्रसिद्ध कवियों में की जाने से वे उस समय के प्रसिद्ध कवि रहे होंगे। कवींद्राचार्य सरस्वती के इस अभिनंदन ग्रंथ का समय सन् १६५० के लगभग था। डॉ० सत्यदेव चौधरी ने चिंतामणि का जन्म संवत् १६६०-६५ माना है और समर्थन में लिखा है कि कविकुल-कल्पतरु जैसे शास्त्रीय तथा शृङ्गाररसपूर्ण उदाहरणों से युक्त ग्रंथ के निर्माण के समय ग्रंथकार की आयु ३०-३५ होनी चाहिए।[2] वास्तव में उनका यह विचार तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। यदि डा० चौधरी की कल्पना के अनुसार ग्रंथ के शृंगारिक उदाहरणों के आधार पर ग्रंथकार की अवस्था का निर्णय किया जाय तो 'हरिऔध' जी का 'रसकलश' भी उनकी युवावस्था की रचना सिद्ध होगी। यह सुप्रसिद्ध है कि हरिऔध ने रसकलश जैसे शास्त्रीय

---

१ देखिए डॉ० कृष्ण दिवाकर द्वारा संपादित कवींद्रचंद्रिका, पृष्ठ ७४-८६।

२ हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग), संपा० डा० नगेंद्र, पृ० ३१४, (डॉ० सत्यदेव चौधरी द्वारा लिखित।

तथा शृंगाररसपूर्ण उदाहरणों से युक्त ग्रंथ काफी प्रौढ़ावस्था में लिखा है। साहित्य ससार में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं। डा० चौधरी के अनुसार चिंतामणि का जन्मकाल संवत् १६६५ अर्थात् सन् १६३८ ई० मान लेने पर 'कवींद्रचंद्रिका' के समय चिंतामणि की आयु लगभग बारह वर्षों की ठहर जाती है। चूँकि कवींद्राचार्य सरस्वती के अभिनंदन ग्रंथ 'कवींद्रचंद्रिका' में जिनके प्रशस्तिछंद हैं वे तत्कालीन दिग्गज पंडित तथा प्रसिद्ध कवि थे,[1] अतः यह निश्चित हो जाता है कि उस समय चिंतामणि जैसे प्रसिद्ध कवि की आयु प्रौढ़ावस्था की ही होगी न कि बारह वर्ष की।

चिंतामणि और छत्रपति शाहू महाराज :

याज्ञिकजी ने अपने तर्कों के द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि चिंतामणि भूषण से छोटे थे और उनका जन्म संवत् १६८७ अर्थात् सन् १६३० ई० के लगभग था।[2] अपने तर्कों की पुष्टि में उन्होंने शाहशुजा तथा साहू महाराज की प्रशस्ति विषयक चिंतामणि के कुछ फुटकल छंद उद्धृत किए हैं। साहू महाराज की प्रशस्ति के छंद निम्नानुसार दिए हैं—

कविन को राजा भोज, ओज को सरोज बंधु,
दीन को दयाल, दानसिंधु, सील को जहाज,
कोटि काम सुंदर है, साहिबी पुरंदर है,
मंदर है वैरि बल वारिधि मथन काज।
जंग मद्धि जालिम अवलंब कुल आलम को,
वालम धरा को, सब सूरन को सिरताज,
विक्रम अपार, सत्य सुजस को पारावार,
भारी भार थंभन समत्थ 'साहू' महाराज ॥

× × ×

गाढ़े गाढ़े गढ़गज धक्कन ढहावत, न
पावत प्रताप समताहि सक्क अकवै,
'चिंतामनि' भनत गनत घने गुन गन,

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ४७, अंक ३-४, कार्तिक माघ, संवत् १९९९, पृ० २७१।

२. माधुरी पत्रिका, ६ जुलाई १९३४ ई०, पृ० ७४०।

सारदा गनेस, सेस, थक्कत अथक्कवै।
नीरधी जो महिमा गंभीर, महाधीर बीर,
पावक प्रताप छीर छीरधि को पक्कवै,
थप्पन उथप्पन समत्थ पातसाहन को,
'साहू' नरनाह चाहूँ चक्कन को चक्कवै।[1]

वास्तव में उपर्युक्त छंद शहाजी महाराज के आश्रय में लिखित चिंतामणि कृत 'भाषा पिंगल' के हैं जिनमें 'साहू' की छाप कहीं भी नहीं है बल्कि उपर्युक्त छंदों में जहाँ 'साहू' का पाठ दिया है वहाँ 'साहि' पाठ मिलता है।[2] यह भी इतिहाससिद्ध बात है कि शाहू महाराज प्रत्यक्ष रूप में किसी अभियान में सम्मिलित नहीं हुए थे। शहाजी तथा शिवाजी के समान महान् पराक्रमी व्यक्ति के रूप में शाहू की प्रसिद्धि उतनी न थी जितनी कि एक सुयोग्य शासनकर्ता के रूप में थी।[3] अतः उपर्युक्त प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार शहाजी की ही हो सकती है न कि 'साहू' की। शहाजी के अतुल पराक्रम तथा औदार्य आदि बातें इतिहास प्रसिद्ध हैं। इसके साथ शहाजी महाराज के आश्रित तथा चिंतामणि के समकालीन कवि जयराम ने शहाजी महाराज की जो प्रशस्ति की है वह भी उपर्युक्त छंदों से तुलनीय है जिसमें अर्जुन के समान शहाजी का पराक्रम, विक्रमादित्य के समान दातृत्व, भोजराजा के समान ज्ञातृत्व आदि का उल्लेख है--

पार्थः स्थाद्धेति पृथ्वीपरिवृढनिवहो यस्य निध्याय शौर्यं।
दातृत्वं यस्य बुद्ध्वा स्मरति बुधजनो विक्रमार्काह्वयस्य ॥
ज्ञातृत्वं यस्य मत्वा स्मरति कविजनो भोजभूमिभुजोपि।
क्षोणीभृत् शाहनामा भवतु कथमसावन्य सामान्यशीलः ॥[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रीयाज्ञिक द्वारा उद्धृत छंदों में 'साहू' शब्द 'साहि' स्थान पर लिपिकार की गलती के

---

१. माधुरी पत्रिका, ६ जुलाई सन् १९२४, पृष्ठ ७४०-४१।
२. भाषापिंगल चिंतामणि कृत, हस्तलिखित प्रति, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २।२३, छंद क्रमांक ४-५।
३. मराठी रियासत—मध्यविभाग २—गो० स० सरदेसाई (सन् १९२१), पृ० १८७ तथा १७५।
४. राधामाधव विलास चंपू—जयराम पिंड्ये—संपा० राजवाडे (शक १८४४), पृ० २२७।

कारण लिखा गया है जो वस्तुतः 'साहि' ही है। चिंतामणि के शाहू के दरबार में जाने की बात याज्ञिकजी, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित,[1] डा० त्रिभुवन सिंह[2] आदि सज्जन जो मानते हैं उनका आधार उपर्युक्त 'साहू' छापवाले छंद ही है। अतः जब वे छंद प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुके हैं तब यह निश्चित हो जाता है कि चिंतामणि शाहू के दरबार में नहीं गए थे। साथ ही साथ यह भी निश्चित हो जाता है कि चिंतामणि भूषण से छोटे नहीं थे।

शाहशुजा के संबंध में चिंतामणि का जो छंद याज्ञिक ने उद्धृत किया है[3] उसके संबंध में प्रमाणों के अभाव से कुछ कहा नहीं जा सकता। यह बहुत स्वाभाविक तथा संभव भी है कि शाहजहाँ के आश्रय में रहनेवाले चिंतामणि कवि ने आश्रयदाता के पुत्र दाराशिकोह की तरह की शाहशुजा की प्रशस्ति में कुछ छंद बनाए भी हों। शाहशुजा विषयक छंद यदि ठीक हैं तो इस बात की भी पुष्टि होती है कि चिंतामणि शहाजी महाराज के आश्रय में आने के पूर्व तक शाहजहाँ के पास थे। परंपरा मानती आई है कि चिंतामणि अपने सभी भाइयों में बड़े थे। अतः जबतक इसके विरोध में कोई सबल प्रमाण प्राप्त नहीं होता तबतक परंपरा के अनुसार चिंतामणि के ज्येष्ठत्व पर किसी प्रकार की आपत्ति करना समीचीन न होगा। उपलब्ध सामग्री के आधार पर चिंतामणि के ज्येष्ठत्व को अधिक बल ही प्राप्त हो रहा है। कवींद्राचार्य सरस्वती के अभिनंदन ग्रंथ 'कवींद्रचंद्रिका' में प्रशस्ति छंद लिखनेवाले प्रसिद्ध कवि चिंतामणि की आयु निश्चित ही प्रौढावस्था की रही होगी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चिंतामणि का जन्मकाल सं० १६६६ अर्थात् सन् १६०९ के लगभग माना है।[4] उनका यह अनुमान ही रहा है। पं०

---

१. भूषणविमर्श—पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, (द्वि० आ०), पृ० ३०।

२. महाकवि मतिराम—डा० त्रिभुवनसिंह (सं० २०१७), पृ० १२१।

३. 'सहज सिकारि साहि'मनि' साहिसुजाजू के,
छौंनी पर छार है पहार पुंज छुटि गए,
कच्छ की मसकि पीठि धरनि धसकि गई,
जामि गए महामद, कीरीटीहू कटि गए।
प्रबल अभंग अति नगर उदंगल ज्यों,
जंगल भजत बैरी नटि गे, समुद सातो अटि गए,
सुदिग्गज दबटिगे, फनीस फन फाटि गए।
—माधुरी पत्रिका ६, जुलाई १९३४, पृ० ७४०।

४. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (सं० २०१८), पृ० २३४।

कृष्णबिहारी मिश्र ने 'फूल मंजरी' की चर्चा करते हुए उसके आधार पर मतिराम का जन्म संवत् १६६० के लगभग अर्थात् सन् १६०३ के आसपास मान लिया है।[1] यदि मतिराम का जन्म संवत् १६६० के आसपास माना जाय तो ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण चिंतामणि का जन्मकाल भी सं० १६६० के पूर्व ही होना चाहिये। हिंदी साहित्य के रीतिकाल में त्रिपाठी बंधुओं की प्रसिद्धि तथा समकालीनत्व देखकर अनुमान होता है इन चारों भाइयों में क्रमशः २-३ वर्षों से अधिक अंतर न होगा। अतः इस हिसाब से यदि मतिराम का जन्मकाल सन् १६०३ के लगभग माना जाय तो चिंतामणि का जन्मकाम सन् १६०० के आसपास अर्थात् संवत् १६५७ के लगभग ठहर जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चिंतामणि कवि प्रमुखतया क्रमशः पहाड़सिंह, हृदयसाहि शाहजहाँ, शहाजी, अकबरसाह, बाबू रुद्रसाह आदि के आश्रय में रहे थे। रामायण यदि उनके जीवन के अंतिम समय की कृति मान ली जाय तो संभवतः सन् १६८० ई० के दो तीन वर्षों के पश्चात् ही उनकी मृत्यु हुई होगी। इनकी मृत्यु के संबंध में जबतक निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तबतक अनुमान पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। अतः अनुमानतः इनकी मृत्यु सन् १६८२-८३ ई० के बीच मानी जा सकती है।

रीतिकाल के प्रतिनिधि आचार्य :

हिंदी साहित्य में चिंतामणि का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनकी परिगणना प्रसिद्ध आचार्यों एवम् कवियों में की जाती है। हिंदी के रीतिकालीन काव्य की परंपरा आचार्य तथा कवि चिंतामणि द्वारा निर्देशित किए हुए मार्ग की अनुगामिनी हुई। अतः यद्यपि केशवदास ने हिंदी साहित्य में रीतिकाव्य का प्रारंभ किया फिर भी रीतिकाव्य की परंपरा की दृष्टि से प्रतिनिधि चिंतामणि ही हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का मौलिक नामकरण तथा स्वरूप निर्धारण करते हुए रीतिकाल के वास्तविक प्रवर्तक की भी चर्चा तर्कसंगत उदाहरणों से की है। केशवदास के उपरांत तत्काल हिंदी साहित्य के रीति ग्रंथों की परंपरा चला नहीं। 'कविप्रिया' के पचास वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने मार्गपर (भामह, उद्भट आदि के) न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्गपर चली जिसमें अलंकार अलंकार्य का भेद

---

१. मतिराम ग्रंथावली – पं० कृष्णबिहारी मिश्र, (सं० १९९१), पृ० २३०।

हो गया था। हिंदी के रीतिग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिये।[1]

बाबू श्यामसुंदरदास ने चिंतामणि विषयक विवेचन में लिखा है कि चिंतामणि की रीतिरचना के संबंध में सबसे महत्व की बात यह है कि महाकवि आचार्य केशवदास ने हिंदी में जिस प्रकार अलंकार संप्रदाय का सृजन किया था, उसे छोड़कर इन्होंने सुंदर रसपूर्ण रचना की जिसमें अलंकार को उपयुक्त स्थान दिया गया। इस प्रकार वे हिंदी के दूसरे प्रधान रीतिसंप्रदाय के प्रायः सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं तथा भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं।[2]

डा० रामकुमार वर्मा का भी केशव तथा चिंतामणि के संबंध में जो विवेचन है वह भी चिंतनीय है। वे लिखते हैं कि हिंदी के सर्वप्रथम रीति-काव्यकार केशव अपनी 'रामचंद्रिका' के कारण हिंदी साहित्य में सर्वमान्य हैं, रीतिग्रंथों के कारण नहीं। परंतु प्रारंभिक हिंदी रीतिकाव्यकार होने के नाते उनका महत्त्व हिंदी रीतिकाव्य के क्षेत्र में भी है। चिंतामणि की विवेचना में उनके ग्रंथों का उल्लेख करने के बाद वे लिखते हैं कि इन ग्रंथों में चिंतामणि कवि ने काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर प्रकाश डाला है और साथ ही,साथ शृंगार विषयक उत्कृष्ट छंद भी लिखे हैं। काव्यगत दृष्टिकोण में विस्तार लाने का प्रयत्न किया है।[3]

रीतिकालीन कविता पर विशेष शोधकार्य करनेवाले डा० राजेश्वर चतुर्वेदी ने केशव को महत्व देते हुए भी रीतिकाल के वास्तविक प्रवर्तक आचार्य चिंतामणि को ही स्वीकार करते हुए लिखा कि इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया परंतु हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल तथा अखंडित परंपरा का प्रवाह चिंतामणि से ही चला। अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिये।[4] डा० भगीरथ मिश्र ने भी रीतिकाल का आरंभ चिंतामणि से ही स्वीकार किया है। साथ ही साथ उन्होंने लिखा है कि चिंतामणि के बाद ही उन्हीं

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (सं० २०१८), पृ. २२६ ।
२. हिंदी साहित्य—श्यामसुंदरदास, (सन् १९५६) पृ० २६२।
३ हिंदी साहित्य का इतिहास-डा० रामकुमार वर्मा, (सन् १९५७), पृ० २६५ तथा २६६ ।
४. रीतिकालीन कविता एवम् शृंगाररस का विवेचन—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, (सन् १९५३ ; पृ० १५६ ।

की पद्धति पर आगे के कवियों ने लिखा, अतः रीतिकालीन काव्य शास्त्र का ही नहीं, वरन् रीतिपरंपरा का प्रारंभ चिंतामणि से ही मानना अधिक उपयुक्त है।[1] रीतिकालीन आचार्यों पर डा० नगेंद्र के निर्देशन में अध्ययन करनेवाले डा० सत्यदेव चौधरी ने भी चिंतामणि के महत्व को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखते हुए लिखा है कि ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो रीतिकालीन प्रमुख आचार्यों को विविधांगनिरूपण के प्रशस्त मार्गदर्शन का श्रेय चिंतामणि को ही प्राप्त है। इन्होंने चिंतामणि को ही रीतिकाल का प्रतिनिधि आचार्य मान लिया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विद्वान् रीतिकाल के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में चिंतामणि को ही स्वीकार करने के पक्ष में हैं। डा० जगदीश गुप्त ने अपने 'रीतिकाव्य संग्रह' की भूमिका में रीतिकालीन कविता विषयक जो विस्तृत प्रस्तावना लिखी है उसमें यह प्रश्न उठाया है कि रीतिकाल के आदि प्रवर्तक केशव या चिंतामणि ? विवेचन में अनुकूल प्रतिकूल कुछ मतों की चर्चा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चिंतामणि को आदि आचार्य कहना अन्याय है। यहाँतक तो ठीक है परंतु केशव की तुलना चिंतामणि के साथ करते समय उनका संतुलन टूट सा गया है, यह देखकर सखेद आश्चर्य होता है। वे लिखते हैं कि वास्तव में व्यक्तित्व और प्रभाव की दृष्टि से चिंतामणि की केशव से कोई तुलना नहीं की जा सकती।[3] श्रृंगारमंजरी की चर्चा में यह दिखाया गया है कि मूल ग्रंथ देखे बिना ही केवल एक लेख के आधार पर डा० गुप्त ने किस तरह गलत धारणा बना रक्खी है। अन्य समीक्षकों पर जिस बात का आप आक्षेप करते हैं लगभग उसी बात का अनुसरण स्वयम् ही करते हैं। केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक सिद्ध करने के लिये चिंतामणि की हीनता बताना भी आवश्यक था और वह भी सबल प्रमाणों के अभाव में! यदि तुलना में चिंतामणि को केशव से श्रेष्ठ न माना जाता तो भी कुछ सीमा तक मतभिन्नता की दृष्टि से उसे भी लोग समझ सकते थे, परंतु जब चिंतामणि के ग्रंथ को कृतित्व की दृष्टि से शून्य कहने का दुस्साहस वे करते हैं तब सीमातीत आश्चर्य होता है।

---

१. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास - डा० भगीरथ मिश्र, (सं० २०१२), पृ० ६६।
२. हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य डा० सत्यदेव चौधरी, (सन् १९५९ ई०), पृ० ७४६ तथा १५।
३. रीतिकाव्य-संग्रह—डा० जगदीश गुप्त, (सन् १९६१ ई०), पृष्ठ २०।

चिंतामणि के ग्रंथों के संबंध में डा० जगदीश गुप्त लिखते हैं कि 'शृंगारमंजरी के अमौलिक सिद्ध होने के बाद प्राप्त मौलिक सामग्री के नामपर चिंतामणि का एकमात्र ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' ही शेष रह जाता है जो मम्मट के काव्यप्रकाश, भानुदत्त की रसमंजरी, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और धनंजय के दशरूपक पर समाश्रित है। इसके बाद भी यदि कोई केशव के स्थानपर चिंतामणि को ही रीतिकाव्य एवम् रीतिकाल का आदि प्रवर्तक कहने का हठ करे तो उसके हठ की नहीं साहस की सराहना करने की इच्छा होगी।'[१] डा० नगेंद्र, डा० रसाल, डा० भगीरथ मिश्र आदि विद्वानों के जो विभिन्न मत डा० गुप्त ने अपने विवेचन में उद्धृत किए हैं उनमें चाहे मतभिन्नता भले ही है परंतु उनका संतुलन टूट नहीं गया है।

कविकुल कल्पतरु, छंदविचार पिंगल, काव्यप्रकाश, काव्यविवेक तथा रामायण इन पाँच ग्रंथों को ठा० शिवसिंह सेंगरजी ने देखा था, इतना ही नहीं, वे सभी ग्रंथ उनके पुस्तकालय में मौजूद थे।[२] इनमें से कविकुलकल्पतरु, भाषापिंगल (छंदविचार) पूर्ण रूप से तथा रामाश्वमेध, कवित्तविचार, काव्यविवेक अपूर्ण तथा खंडित रूप में आज भी प्राप्त हैं। चिंतामणि के रसविलास' और 'कृष्णचरित्र' दो अज्ञात ग्रंथ खोज में मिले हैं। उनके द्वारा ब्रजभाषा में रूपांतरित शृंगारमंजरी भी अब प्रकाश में आ चुकी है जिसमें लगभग सभी उदाहरण चिंतामणि के अपने हैं। इतना होने पर भी केवल एकमात्र ग्रंथ कविकुलकल्पतरु ही चिंतामणि के मौलिक ग्रंथों में है यह कहना कहाँतक उचित है ? यह भी सर्वमान्य है कि केशव से लेकर लगभग सभी रीतिकालीन आचार्यों की रचनाओं का पृष्ठाधार संस्कृत आचार्यों के ग्रंथ ही थे, केवल चिंतामणि ने ही उनका आधार नहीं लिया प्रत्युत् सभी में यह बात द्रष्टव्य है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० जगदीश गुप्त की धारणाओं में प्रमाणों की अशक्तता तथा अद्ययावत् सूचनाओं के अभाव आदि के कारण किसी प्रकार का बल नहीं है। इसलिये उसको स्वीकार करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता।

अबतक किसी भी विद्वान् लेखक या समीक्षक ने चिंतामणि के ग्रंथों को कृतित्व की दृष्टि से शून्य नहीं ठहराया। संभवतः यह कल्पना तक उनके मन में न उठी होगी। आचार्य केशवदास के पूर्व भी सं० १५६८ में कृपाराम

---

१. रीतिकाव्य संग्रह—वही, पृष्ठ २३।

२. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल. (सं० २०१७), पृ० २३१।

थोड़ा रसनिरूपण कर चुके थे। इसी समय चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगारसागर' नामक एक ग्रंथ शृंगार रस संबंधी लिखा था। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार संबंधी लिखे, पर किसी कवि ने संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था।[1] हिंदी साहित्य में काव्यरीति का सम्यक् समावेश वास्तव में प्रथम रूप में केशवदास द्वारा ही किया गया, परंतु केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। हिंदी साहित्य की रीतिकाव्य की अनवरत परंपरा वास्तव में चिंतामणि त्रिपाठी से ही चली। यह परंपरा केशव द्वारा दिग्दर्शित मार्ग पर न चलकर चिंतामणि के मार्ग पर चली। अतः हिंदी साहित्य के रीतिकाव्य का प्रतिनिधित्व स्वभावतः चिंतामणि की ओर ही जाता है। इसके अतिरिक्त आचार्य केशव का समय भी भक्तियुग में है। यद्यपि यह सत्य है कि रीतिकाव्य का सम्यक् प्रवर्तन हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास ने किया परंतु जहाँतक परंपरा तथा प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठता है वहाँ रीतिकालीन आचार्यों को काव्य के विविध अंगों के निरूपण के प्रशस्त मार्गदर्शन का वास्तविक श्रेय चिंतामणि को ही दिया जाना चाहिए।

संकर सुकवि :

हिंदी साहित्य के इतिहास में संकर सुकवि का उल्लेख अथवा विवरण तक नहीं प्राप्त होता। तंजौर के सरस्वती महल ग्रंथालय में संस्कृत के काव्य-विभाग में संकर कवि का 'शाहविलास' नामक हिंदी हस्तलिखित ग्रंथ अज्ञात रूप में पड़ा था। सरस्वती महल ग्रंथालय द्वारा प्रकाशित सूची में इसका उल्लेख तक नहीं था। अप्रकाशित सूची में भी अबतक उसका समावेश न था। अनुसंधान कार्य के लिये लेखक को सन् १९६० तथा १९६३ ई० में दो बार तंजौर जाने की आवश्यकता पड़ी। इसी यात्रा में हिंदी के अन्य हस्तलिखित ग्रंथों के साथ 'शाहविलास' की हस्तलिखित प्रति लेखक को प्राप्त हुई। संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों में शाहजहाँ के किसी दरबारी कवि की हिंदी रचना के होने की सर्वप्रथम सूचना वहाँ के ग्रंथपाल श्रीमान् शर्माजी ने दे दी। शाहजहाँ के दरबारी कवि का यद्यपि लेखक के अनुसंधान क्रम से सीधा संबंध नहीं आता था फिर भी उक्त ग्रंथालय में स्थित अन्य हिंदी ग्रंथों को जिज्ञासा

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (वि० सं० २०१७), पृ० २२६।

की दृष्टि से लेखक ने देखा था। अतः संकर सुकवि कृत 'शाहविलास' को भी स्वभावतः देखा गया। 'शाहविलास' को संपूर्ण रूप में पढ़ने के पश्चात् ही निश्चय हो सका कि यह ग्रंथ संकर सुकवि ने शिवाजी के पिता शहाजी के आश्रय में लिखा है न कि शाहजहाँ के। इस ग्रंथ के प्रारंभ में और प्रत्येक 'प्रभाव' के अंत में तथा ग्रंथसमाप्ति पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अतः भोंसला राजाश्रित कवियों में संकर सुकवि का समावेश करना आवश्यक हुआ।

जीवनवृत्त :

संकर सुकवि के जीवनवृत्त विषयक सामग्री शाहविलास के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होती। अतः शाहविलास में उपलब्ध अतःसाक्ष्य के आधार पर ही इनका जीवन परिचय प्राप्त किया जा सकता है। संकर सुकवि ने शाहविलास के अंत में अपना संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया है—

(१) संकर कवि रूपेस सुत बासी कनउज देस।
जानत जाको सुकवि है मानत सकल नरेस॥

(२) अंतरवेदि पुनीत महि जज्ञदान की खानी।
जहाँ साहिजहान की राजनीति सुखदानी॥

(३) विष्णुपुरी धृव पिता तहँ रची बड़ो जो भूप।
ताके तट गंगा बहे चारचो मुक्ति सरूप॥

(४) पावन प्रवाह प्यारी पंकज नयनि जूको
बर पानी छुएँ फिरि पापु परसे नहीं,
संकर सुकवि कहे अमर मूरि जह्नु सुता
जामें मरें मानों ते गनीजे मरसे नहीं।
सरस सलोनि मेदिनी की सुखदेनी
बयकुंठ की निसेनी ताको कौन तरसे नहीं,
भीखम को जननी जगन माता जंबूदीप
जाके लखें नेक जनु जमु दरसे नहीं॥[1]

१. संकर सुकवि कृत 'शाहविलास' हस्तलिखित प्रति, नवम प्रभाव, छंद सं० २९३, २९४, २९५ तथा २९६।

इन परिचयात्मक छंदों से ज्ञात होता है कि संकर कवि के पिता का नाम रूपेस था और वे कनौज देश के निवासी थे। शहाजी की गुणग्राहकता तथा दानवीरता की कीर्ति सुनकर संभवतः संकर कवि शहाजी के आश्रय में अंतर्वेद जैसे दूरस्थ प्रदेश से आए थे। अंतर्वेद जैसी यज्ञभाग की खान तथा पुनीत भूमि में स्थित 'विष्णुपुरी' कवि की मूल निवास भूमि थी। चारों मुक्तियों की स्वरूप गंगा नदी विष्णुपुरी के पास से बहती थी। गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश को अंतर्वेद कहा जाता था। अंतर्वेद में स्थित कनौज देश आज उत्तरप्रदेश के अंतर्गत आता है। संकर सुकवि का परिचय इससे अधिक प्राप्त नहीं होता।

आश्रयदाता :

संकर कवि के आश्रयदाता के संबंध में श्री पी० वी० बी० शर्मा ने[1] यह शंका प्रकट की है कि संकर सुकवि के आश्रयदाता 'शाहभूप' प्रसिद्ध मुगल सम्राट शाहजहाँ तो नहीं हैं? उनकी इस धारणा का प्रमुख आधार शाहविलास के अंत में कवि द्वारा अपना परिचय देते समय किया हुआ अंतर-वेदि तथा गंगा नदी का उल्लेख है। वस्तुतः ग्रंथ के अंत में अंतरवेदि तथा गंगा नदी का जो वर्णन है वह 'कविपरिचय' के अंतर्गत है न कि 'भूप-परिचय' के अंतर्गत। जिस तरह भूषण ने भी अपना परिचय देते समय यमुना तीरस्थ अपने स्थान का वर्णन किया है उसी प्रकार यहाँ भी संकर सुकवि ने अपने मूल निवासस्थान कनौज देश का वर्णन किया है। 'शाहविलास' में स्थान स्थान पर शहाजी के लिये 'हिंदुन के पति', 'हिंदू महिपति' इन विशेषणों का प्रयोग मिलता है जो शाहजहाँ जैसे मुसलमान शासक के लिये संभव नहीं है।

'हिंदुन के पति' साहि महिपति सो मन में इसि भाँति विचारे।
कुंजतरे पिक नाद जहाँ रचिबें मोहि हे रुचि रंग सुधारे॥
चंद्रमुखो गहिके मधु विभ्रम मानहूँ मैन दिए हैं नगारे।
डीठि पसारी तहाँ लखि हे करि नैन सरोजन वंदन वारे॥[2]

इसके अतिरिक्त 'शाहविलास' के समस्त उदाहरणों, पुष्पिकाओं तथा

---

१. दि जर्नल ऑव दि तंजौर सरस्वती महल लायब्रेरी—भा० १७, नं० १—१९६३ ई०।

२. वही शाहविलास ६।२७३।

परिचयात्मक छंदों में संकर सुकवि ने शाहजी का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। ग्रंथारंभ के निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

(१) 'साहभूप' आयसु दयो कवि संकर को आजु।
रस मंजरी भाषा करौ चले जगत के काजु॥

(२) भाषा में रसमंजरी तातें करतु जहान।
जाते रीझै सुनत ही भूपति 'साहिखुमान'॥[1]

ग्रंथ के अंत में लिखा है—

इति श्रीमन्महाराजाधिराज शाहिराजाज्ञा संकर सुकविकृते साहिविलासे संपूर्ण॥

उपर्युक्त छंदों से यह ज्ञात होता है कि संकर सुकवि ने 'साहभूप' अर्थात् शिवाजी महान् के पिता शहाजी की आज्ञा से भानुदत्त की संस्कृत रसमंजरी का व्रजभाषा रूपांतर किया है। संपूर्ण ग्रंथ में विभिन्न स्थानों पर संकर कवि ने शहाजी के लिये साहभूप, साहिजू महीपति, साहिखुमान, शाहमहीपति, साहिजू सुजान, साहिब महीपसाहि, साहि, हिंदुपति साहि, शाहिराज आदि शब्दों के प्रयोग किए हैं। शहाजी राजा के आश्रित अन्य कवियों की रचनाओं में भी शहाजी के लिये इन्हीं शब्दों के प्रयोग किए गए हैं। शहाजी के आश्रय में सन् १६५० ई० में वेदकवि द्वारा रचित 'संगीत मकरंद'[2] नामक संस्कृत ग्रंथ में शाहमहीप, शाहराज, शाहभूपाल, शाहभूप आदि के प्रयोग मिलते हैं। संकर सुकवि के समकालीन तथा शहाजी के आश्रित कवि जयराम ने भी अपने 'राधामाधव विलास चंपू' में शहाजी के लिये साहित्र, साहमहीपति, साहिखुमान, शाहराज, साहभूप आदि शब्दों के प्रयोग किए हैं।[3] शहाजी के लिये रचे गए चिंतामणि के 'भाषा पिंगल' में भी साहि, साहिजू, साहिनृपति, साहिमहीपति आदि शब्दप्रयोग पाए जाते हैं।[4] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनके आश्रय में संकर सुकवि ने 'शाहविलास' की रचना की वे शाहभूप अथवा शाहराज निश्चित रूप से शिवाजी के पिता शहाजी ही थे जिनका ऐश्वर्यकाल सन् १६५० से १६६४ ई० तक था। 'शाहविलास' का

---

१. वही—शाहविलास, पृ० १।

२. देखिए वेदकविकृत संगीत मकरंद—हस्तलिखित प्रति, तंजौर ग्रंथ, क्र० १०७२४।

३. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू—पृ० २४७, २५५, २६२, २६८, २६९।

४. देखिए चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार)।

रचनाकाल संवत् १७१३ अर्थात् सन् १६५६ ई० होने से यह बात निश्चित हो जाती है कि संकर सुकवि के आश्रयदाता 'शाहभूप' अथवा 'शाहिराज' अन्य कोई नहीं थे अपितु शहाजी भोंसले ही थे जिन्होंने हिंदी, मराठी, संस्कृत आदि भाषा के कवियों को उदारता से आश्रय दिया था।

ग्रंथपरिचय :

संकर सुकवि का शाहविलास नामक एक ही ग्रंथ खोज में मिला है और वह भी मौलिक रचना न होकर संस्कृत की भानुदत्त कृत रसमंजरी का ब्रज भाषा रूपांतर ही है। इस रूपांतर का नामाभिधान कवि ने 'शाहविलास' किया है। इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति तंजौर के सरस्वती महल ग्रंथालय में उपलब्ध है। यह हस्तलिखित प्रति ११ × ४ इंच के देशी कागज पर नारायणात्मज कृष्ण नामक किसी लिपिकार के द्वारा मूल 'शाहविलास' की बनाई गई प्रतिलिपि है। इसके कुल मिलकर ६ पृष्ठ हैं। यद्यपि लिपिकार ने लिपिकाल का निर्देश नहीं किया तो भी यह हस्तलिखित ग्रंथ काफी पुराना ज्ञात होता है। तंजौर के हस्तलिखित विभाग के तज्ज्ञों की धारणा है कि यह प्रतिलिपि लगभग २००-२२५ वर्ष पुरानी है।

रचनाकाल :

इस प्रति के आरंभ में रचनाकाल का उल्लेख संवत् में किया गया है और अंत में शक में ग्रंथ का समाप्ति काल दिया गया है। प्रारंभ में रचनाकाल दर्शक छंद इस प्रकार है—

संवत सत्रह सय सही तेरह श्रो बुधवार।
सुचि[1] सुदि नोमी को कियो संकर ग्रंथविचार॥

शाहविलास के अंत में समाप्तिसूचक जो पुष्पिका है वह इस प्रकार है—

'इति श्री मन्महाराजाधिराज शाहिराजाज्ञा संकर सुकविकृते साहिविलासे। ॥ संपूर्ण ॥' सके १५७८ दुर्मुखनाम संवत्छरे आषाढ वदी चतोर्दसी गुरुवार तादिनी ग्रंथ समाप्तम् ॥

इससे ज्ञात होता है कि संवत् १७१३ की ज्येष्ठ शुद्ध नवमी को बुधवार के दिन 'शाहविलास' का प्रारंभ हुआ और शके १५७८ अर्थात् संवत् १७१३

---

१. सुचि ज्येष्ठ महीना (पौर्णिमांत), शिवचरित्र प्रदीप—आपटे-दिवेकर (शके १८४७), पृ० ३०६।

की आषाढ़ वदी चतुर्दशी गुरुवार के दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ब्रजभाषा रूपांतर लगभग डेढ़ महीने में पूर्ण हुआ था। अतः इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७१३ अर्थात् सन् १६५६ ई० में निश्चित हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जयराम तथा चिंतामणि के पूर्व संकर सुकवि शहाजी के दरबार में थे जहाँ उन्होंने भानुदत्त की संस्कृत रसमंजरी का ब्रजभाषा रूपांतर किया।

वर्ण्यविषय :

यह ग्रंथ भानुदत्त मिश्र के सुप्रसिद्ध ग्रंथ रसमंजरी का ब्रजभाषा रूपांतर है। स्वयम् संकर सुकवि ने इस तथ्य का उल्लेख शाहविलास के अंतर्गत किया है—

> भाषा में 'रसमंजरी' तातें करतु जहान।
> जाते रीझे सुनत हीं भूपति साहिखुमान॥[1]

इस ग्रंथ की एक विशेषता है कि इसमें आद्धृत ग्रंथ के मूल संस्कृत छंद भी दिए गए हैं। इसमें विवेचन का क्रम मूल संस्कृत रसमंजरी के अनुसार ही है। 'शाहविलास' में लक्षणों की छंद संख्या १३८ और उदाहरणों की संख्या २६६ है। जहाँतक लक्षणों अथवा सिद्धांतों का प्रश्न है कवि ने रसमंजरी के लक्षणों का अधिकांशतः शब्दानुवाद ही किया है परंतु उदाहरणों के समय कवि ने स्वतंत्रता से काम लिया है। 'रसमंजरी' के उदाहरणों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक स्वरचित उदाहरण भी दिए हैं। इन उदाहरणों में कवि की प्रतिभा का परिचय मिलता है। संभवतः रसमंजरी का शब्दानुवाद करने की स्वयम् कवि की भी इच्छा न थी। 'शाहविलास' के प्रारंभ ही में कवि ने लिखा है—

> गुरु गणेश के चरण गहि ले हरिहर को नाम।
> पूजि भारती कालिका सिद्धि बुद्धि को धाम॥
> जिनकी कृपा कटाक्ष तें 'रसमंजरी' को भांउ।
> बरणों साहिविलास में गहि के बुद्धि बनाउ॥[2]

इसकी अंतिम पंक्ति से यही धारणा होती है कि कवि 'रसमंजरी' का शब्दानुवाद करना नहीं चाहते थे। इस ग्रंथ के 'शाहविलास' नामकरण में

---

१. शाहविलास पृ० १।
२. वही—पृ० १।

भी यही भावना अभिप्रेत दिखाई देती है नहीं तो वे इस ग्रंथ का नाम 'रसमंजरी' का भाषा रूपांतर अथवा तत्सम कुछ रखते। यह ग्रंथ कुल मिलकर नौ अध्यायों में विभाजित है। कवि ने प्रत्येक अध्याय के लिये 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग किया है। प्रत्येक प्रभाव की समाप्ति पर पुष्पिका भी दी गई है जिसमें कवि की छाप तथा विवेचित विषय का उल्लेख है। समस्त ग्रंथ का विभाजन विवेचन की दृष्टि से सुव्यवस्थित है। उदाहरण भी सुस्पष्ट एवं उत्कृष्ट हैं। इसके अंतर्गत रसविलास के अनुसार ही मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, धीरा, परकीया, सामान्या, प्रेमगर्विता, सौंदर्यगर्विता, अन्यसंभोग-दुःखिता, प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठा, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि नायिकाओं के विभिन्न भेदों का विस्तार सहित विवेचन है। इसके अतिरिक्त नायकों के भेदों का विवेचन तथा शृंगार वर्णन भी है।

ग्रंथ पढ़ने पर ज्ञात होता है कि संकर सुकवि का संस्कृत तथा हिंदी दोनों भाषाओं पर अच्छा प्रभुत्व था। तभी तो उन्होंने अनुवाद के साथ संस्कृत के मूल छंदों को तुलनार्थ रखा। इससे कवि के आत्मविश्वास का भी परिचय होता है। इनकी हिंदी भाषा प्रौढ एवम् मँजी हुई है। शाहविलास के अंतर्गत दोहा, सोरठा, झुल्लना, कुंडलिया, लीलावती, घनाक्षरी, कवित्त, सवैया आदि प्रसिद्ध छंदों का प्रयोग किया गया है। संकर सुकवि का भाषा-प्रभुत्व एवं इनके द्वारा रचित उदाहरणों में प्राप्त उत्कृष्ट कवित्व शक्ति को देखकर अनुमान होता है कि इन्होंने अवश्य ही अन्य स्वतंत्र रचनाएँ की होंगी जो दुर्भाग्य से अप्राप्त एवं अज्ञात हैं।

ग्रंथ का महत्व :

'शाहविलास' की प्राप्ति से एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ जाता है कि सुदूर दक्षिण में अहिंदीभाषी प्रदेश में जनसाधारण की सुविधा के लिये संस्कृत भाषा के उत्कृष्ट ग्रंथ का रसास्वादन लेने के लिये हिंदी भाषा में रूपांतर करना आवश्यक समझा जाता था। 'भाषा' में रस-मंजरी करने के लिये महाराजा शहाजी ने संकर सुकवि को जो आज्ञा दी थी उसका उद्देश्य अत्यंत स्पष्ट है—

> साहभूप आयसु दयो संकर कवि को आजु।
> रसमंजरी भाषा करो चले जगत को काजु॥[1]

---

१. शाहविलास—पृ० १।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी में भी यह धारणा निश्चित रूप से अहिंदी भाषियों में भी मान्य थी कि भारत जैसे व्यापक देश में अंतरप्रांतीय व्यवहार के लिये जनसुलभ भाषा हिंदी है। उस समय सुदूर दक्षिण तक हिंदी भाषा को गौरव की दृष्टि से देखा जाता था। हिंदी भाषा की ऐतिहासिक परंपरा की दृष्टि से भी संकर कविकृत 'शाहविलास' अत्यंत महत्त्व का है। यदि उनकी अन्य रचनाएँ प्रकाश में आ जायँ तो अधिक तथ्य मिल सकेंगे।

भूषण :

पूर्ववृत्त—रीतिकाल में रहकर भी रीतिकालीन परंपरा के पथ को छोड़ वीररस युक्त श्रेष्ठ काव्यरचना करनेवाले महाकवि भूषण के जीवनवृत्त को पूर्ण रूप से जानने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। ऐतिहासिक तथा अन्य प्रामाणिक सामग्रियों के प्रचुर मात्रा में न मिलने से ही उनके जन्मकाल, आश्रयदाता, मूल नाम, ग्रंथ, मृत्युकाल आदि के संबंध में विद्वानों में मत-भिन्नता पाई जाती है। 'शिवराजभूषण' में भूषण ने अपना अतिसंक्षिप्त परिचय देते हुए लिखा है—

देसन देसन तें गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमें आयो एक कवि भूषन कहियतु जाहि॥
दुज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।
वसत तिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥
वीर बीरबर से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीस्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥[1]

इससे ज्ञात होता है कि महाराज शिवाजी के यहाँ विभिन्न देशों से जो अनेक गुणीजन आते रहते थे उनमें एक भूषण नामक कवि भी थे। वे जाति से काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रत्नाकर था। यमुना के किनारे स्थित त्रिविक्रमपुर के वे वासी थे जहाँ बीरबल जैसे वीर राजा और कवि उत्पन्न हुए तथा श्रीविश्वेश्वर महादेव के समान बिहारीश्वर का मंदिर विद्यमान था। इसी त्रिविक्रमपुर का अपभ्रंश रूप टिकमापुर या टिकवाँपुर है जो आज भी कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील में यमुना

---

[1] भूषण ग्रंथावली—मिश्रबंधु, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१४), पृ० ८, छंद क्रम २५, २६, २७।

के बायें किनारे पर स्थित है। इसके पास अकबरपुर बीरबल नाम का एक छोटा सा गाँव है जो बीरबल का जन्मस्थान माना जाता है। गाँव से कुछ दूर सड़क के किनारे देव बिहारीश्वर का मंदिर भी है। 'शिवराजभूषण' की लगभग सभी प्रतियों में उपर्युक्त छंद प्राप्त होते हैं। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र को प्राप्त संवत् १८१८ वाली 'शिवराजभूषण' की प्राचीन प्रति में एक छंद पाठांतर के साथ मिलता है। जिसमें भूषण के पिता के नाम पर रत्नाकर के स्थान पर रतिनाथ लिखा है—

द्विज कनोज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा जमुना कंठ सुठार॥[1]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी के द्वारा मतिराम के वंशज शिवसहाय तिवारी आदि की जो वंशावली प्राप्त हुई है उसमें भी भूषण के भाई मतिराम के पिता का नाम रतिनाथ ही दिया हुआ है। इसकी विस्तृत चर्चा इसी अध्याय में चिंतामणि के परिचय के प्रसंग में की गई है और निष्कर्ष रूप में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की धारणा का[2] ही समर्थन किया गया है कि रतिनाथ और रत्नाकर इन दो नामों में एक मूल नाम रहा होगा और दूसरा उपनाम।

परंपरागत किंवदंतियों के अनुसार यह माना जाता है कि चिंतामणि, मतिराम, भूषण और नीलकंठ उर्फ जटाशंकर ये परस्पर सहोदर भाई थे। इस कथन के समर्थन में प्रबल एवं प्रामाणिक प्रमाणों के न मिलने से विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। रसचंद्रिका, तजकरए सर्व आजाद, वंश-भास्कर, शिवसिंह सरोज, वृत्त कौमुदी आदि के आधार पर विद्वानों ने अनेक अनुमान प्रस्तुत किए हैं जिनमें कुछ परंपरागत कथन के अनुसार इन चारों को परस्पर भाई के रूप में स्वीकार करते हैं तो कुछ इन्हें परस्पर भाई तक नहीं मानते। इनके ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व के संबंध में भी ऐकमत्य नहीं हो पाया है। इनके भ्रातृत्व के संबंध में उठनेवाले समस्त प्रमुख मतों की विस्तार से चर्चा इसी अध्याय में चिंतामणि के प्रसंग में की गई है और अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि जबतक इन चारों के सहोदर भाई न होने के विषय में पर्याप्त प्रबल एवं प्रामाणिक प्रमाण प्राप्त नहीं होते तबतक उन्हें सहोदर न मानना

---

१. भूषण ग्रंथावली—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० ८२।
२. वही—पृ० ६०।

युक्तिसंगत नहीं होगा। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर चिंतामणि, मतिराम तथा भूषण इन तीनों का निवासस्थान, गोत्र, उपनाम आदि एक ही मिलता है। पं० विश्वनाथप्रसाद ने शिवराजभूषण की काशीराज की प्रति में प्राप्त जो छंद प्रस्तुत किया है उसमें भूषण के पिता का नाम 'रतिनाथ' मिलता है। मतिराम की वंशावली में मतिराम के पिता का भी नाम यही पाया जाता है।[1] इससे भूषण और मतिराम के सहोदर भ्रातृत्व की पुष्टि ही होती है। इस प्रकार अनुसंधान में प्राप्त सामग्रियों से परंपरागत कथन का ही समर्थन होता है। चिंतामणि के परिचय प्रसंग में उनके ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व की भी पर्याप्त चर्चा की गई है और प्रमाणों के आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि चारों भाइयों में चिंतामणि ज्येष्ठ थे। मतिराम, भूषण के अग्रज थे और नीलकंठ अनुज थे। अतः ज्येष्ठत्व के क्रम से भूषण अपने पिता के तृतीय पुत्र थे।

जन्मकाल :

भूषण की प्राप्त रचनाओं में उनके जन्म के विषय में कहीं भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। अतः भूषण के जन्मकाल के संबंध में भी विद्वानों में एकमत नहीं हो पाया है। 'शिवराजभूषण' के अंत में जो ग्रंथसमाप्ति सूचक छंद है[2] उसी के आधार पर विभिन्न तर्क एवं अनुमान उपस्थित किए गए हैं। मिश्रबंधुओं ने भूषण का जन्मकाल संवत् १६९२ (सन् १५३५ ई०) के आसपास माना है।[3] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका जन्म संवत् १६७० मान लिया है[4] जिसका समर्थन रामनरेश त्रिपाठी, ब्रजरत्नदास आदि ने किया। देवदत्त शास्त्री, राजेंद्रसिंह गौड़ आदि विद्वानों ने मिश्र बंधुओं के अनुसार ही सं० १६९२ के आसपास भूषण का जन्मकाल माना है जो अनेक दृष्टियों से तर्कसंगत एवम् उचित ज्ञात होता है। देवचंद्र विशारद ने इनका जन्मकाल संवत् १६९० और १७०० के बीच माना है।[5] पं० भगीरथप्रसाद

---

१ भूषण ग्रंथावली—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ८२-८३।

२. भूषण ग्रंथावली मिश्रबंधु (सं० २०१५) पृ० १०७, छंद ३८०।
भूषण—विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं० २०१७), पृ० १६४, छंद ३४६।
संपूर्ण भूषण—भारत इतिहास संशोधन मंडल, पूना (सन् १९३०) आदि।

३. हिंदी नवरत्न—मिश्रबंधु (सं० १९९८), पृ० ३९३।

४. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल (सं. २०१८), पृ० २४५।

५. भूषण ग्रंथावली—प्रकाशक हिंदीभवन, इलाहाबाद (सन् १९५० ई०)। पृ० ४।

दीक्षित ने अधिकांश विद्वानों के विपरीत अनुमान किया है कि भूषण का जन्म शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् सं० १७३८ में हुआ जो सर्वथा अमान्य है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित प्राचीन प्रति 'शिवराजभूषण' के एक छंद एवम् शिवसिंह सरोज का आधार लिया है। शिवराजभूषण का उक्त छंद इस प्रकार है—

सम सत्रह सैंतीस पर शुचि वदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सुनो सुज्ञान॥

उनकी कल्पना के अनुसार इस छंद में श्लेष से भूषण का जन्मकाल तथा शिवराजभूषण का निर्माणकाल दोनों का उल्लेख किया गया है। भूषण के उक्त छंद का अर्थ देते हुए वे लिखते हैं—संवत् १७३७ वि० के पश्चात् अर्थात् सं० १७३८ वि० में आषाढ़ बदी १३ रविवार के दिन देवाधिदेव शिवजी ने भूषण को जन्म दिया। गणित से भी यह तिथि ठीक प्रमाणित होती है। अतः सरोजकार के कथन में कोई संदेह नहीं रह जाता। इसी आधार पर 'शिवराजभूषण' का निर्माणकाल सं० १७७३ वि० ठहरता है[१]।' इस निर्माणकाल को निकालने के लिये उन्होंने जो प्रयास किया है वह भी बड़ा रोचक है। इस छंद के शब्दों के अर्थ अपनी सुविधानुसार देते हुए उन्होंने लिखा है—सम = समान। निर्माणकाल और जन्मकाल दोनों में ही श्लेष द्वारा एकसी भावना। सत्रह = सत्रह सै। पर = उलटा। सैंतीस का उलटा = ७३ तिहत्तर। इस प्रकार उक्त दोहे से शिवराज-भूषण का निर्माण उन्होंने सं० १७७३ वि० में ठहराते हुए लिखा है कि आसाढ़ बदी तेरस रविवार सं० १७७३ वि० को महाकवि भूषण ने शिवराजभूषण की रचना की।[२]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि दीक्षितजी की 'श्लेष' की कल्पना कोरी कल्पना मात्र है जिसका कोई आधार नहीं है। शिवराजभूषण की विभिन्न प्रतियों में यही छंद पाठभेद के साथ पाया जाता है अतः उनके द्वारा उद्धृत छंद को पूर्ण रूप से प्रामाणिक मानना तर्कसंगत न होगा। अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य सामग्रियों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि भूषण शिवाजी के आश्रित एवं समकालीन थे जिसकी चर्चा आगे की

---

१. महाकवि भूषण—भगीरथप्रसाद दीक्षित (सन् १६५३ ई०), पृ० ६-१०।
२. भूषणविमर्श—भगीरथप्रसाद दीक्षित (द्वितीयावृत्ति), पृ० ४६।

जायगी। दीक्षितजी के अनुसार भूषण का जन्म संवत् १७३८ मान लेने पर वे शिवाजी के समकालीन सिद्ध नहीं होते हैं। श्लेष को सिद्ध करने के लिये दीक्षितजी ने जो परिश्रमपूर्वक प्रयास किया है वह भी उतना समाधानकारक नहीं है। उसे देखकर ज्ञात होता है कि अपनी बात को सिद्ध करने का वह व्यर्थ प्रयास मात्र है।

चिंतामणि के संबंध में भी उनके विचार इसी प्रकार निराधार एवम् पूर्वाग्रह दूषित दिखाई देते हैं जिसकी विस्तारपूर्वक चर्चा चिंतामणि के जीवन वृत्त के समय लेखक ने की है। चिंतामणि तथा भूषण के कुछ फुटकल छंदों में 'साहू' की छाप देखकर वे यह धारणा कर बैठे हैं कि वे दोनों कवि साहू के आश्रित एवम् दरबारी कवि थे। इस धारणा को निश्चित करने के पूर्व 'साहू' के नाम पर प्राप्त छंदों की प्रामाणिकता की यदि छानबीन की होती तो उन्हें ज्ञात होता कि वे छंद प्रक्षिप्त एवम् अप्रामाणिक हैं। चिंतामणि के जीवनवृत्त में लेखक ने यह दिखा दिया है कि 'साहू' के नाम पर चिंतामणि के जो छंद उद्धृत किए जाते हैं वे वास्तव में चिंतामणि कृत 'भाषा-पिंगल' ग्रंथ के ही छंद हैं जिनमें 'साहू' के स्थान पर स्पष्ट रूप से 'साहि' की छाप है। भूषण के जो छंद 'साहू' के नाम पर मिलते हैं उनके संबंध में निश्चित रूप से इसलिये कुछ कहा नहीं जाता कि भूषण के अन्य ग्रंथ अबतक भी अप्राप्य हैं। चिंतामणि कृत 'भाषापिंगल' को सूक्ष्मता से पढ़ने पर ज्ञात होगा कि चिंतामणि शिवाजी के पिता साहि मकरंद अर्थात् शहाजी के आश्रित थे।[1] और अनेक समकालीन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि चिंतामणि का कविताकाल सन् १६५० ई० के आसपास या उसके पूर्व भी था। ऐसी स्थिति में भी दीक्षितजी भाषापिंगल के निर्माणकाल सूचक दोहे का अर्थ अपनी सुविधानुसार सं० १७७९ लेते हैं और समर्थन में लिखते हैं कि जिस प्रकार भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा में शिवराजभूषण उनके मरने के पीछे सं० १७७३ वि० (सन् १७१६ ई०) मे रचा था, उसी प्रकार चिंतामणि ने इस पिंगल ग्रंथ की रचना शिवाजी के पितामह मकरंदशाह के लिये सं० १७७९ वि० (सन् १७२२ ई०) में की थी।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षितजी द्वारा दिया हुआ भूषण का जन्मसंवत् भी ठीक नहीं है।

---

१. चिंतामणि के जीवनवृत्त में इसी अध्याय में इसके संबंध में विस्तृत चर्चा की गई है।

२. भूषणविमर्श—भगीरथप्रसाद दीक्षित (द्वि० आ०), पृ० ३०।

अपने कथन के समर्थन में वे शिवसिंह सरोज का भी आधार लेते हैं और लिखते हैं कि शिवसिंह सरोज के पृष्ठ ४६७ पर वर्णित भूषण का जन्मकाल संवत् १७३८ वि० बिल्कुल शुद्ध है।[1] शिवसिंह सरोज के विशेष अध्येता डॉ० किशोरीलाल गुप्त का कथन है कि शिवसिंह सरोज में दिए हुए संवत् उपस्थितिकाल सूचक हैं न कि उत्पत्तिकाल सूचक। सबसे पहले डॉ० ग्रियर्सन ने सरोज के संवतों को भ्रमवश उत्पत्तिकाल सूचक स्वीकार किया और तभी से यही मानने की परंपरा सी चल पड़ी। आजकल सरोज के जो संस्करण सुलभ हैं उनमें संवतों के आगे 'में उ०' लगा हुआ है। लोगों ने इस उ० का अर्थ 'उत्पन्न' लगाया है और मान लिया है कि यह 'में उ०' शिवसिंह का लगाया हुआ है। वास्तविकता यह नहीं है। 'सरोज' के प्रथम संस्करण (१८७८ ई०) एवं द्वितीय संस्करण (१८८३ ई०) में कवियों का विवरण इन पाँच स्तंभों में विभाजित करके दिया गया था—(१) संख्या, (२) कवि का नाम, (३) संवत्, (४) जीवन चरित्र, (५) पत्र जिसमें उसकी कविता है। संवत्वाले खाने में केवल संवत् का अंक दिया गया है, और कोई लेख नहीं है। सन् १८८८ ई० में डा० ग्रियर्सन ने अपना 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' लिखा। इसमें सरोज के कालांक जन्म-संवत् मान लिए गए। इस ग्रंथ के पश्चात् १८९३ ई० में सरोज का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में कविपरिचय स्तंभ के रूप में नहीं दिया गया। प्रथम तीन स्तंभ एक में मिला दिए गए चतुर्थ और पंचम एक में। डा० ग्रियर्सन के उलटे प्रभाव में आकर अकबर के संवत् के साथ 'में उत्पन्न हुए' जोड़ दिया गया और शेष कवियों के कालांक के साथ इसी का संक्षिप्त रूप 'में उ०'। स्पष्ट है कि यह 'में उ०' सरोजकार की देन नहीं है, ग्रियर्सन की है। ऐसी स्थिति में जब मूल ही नहीं है, फिर शाखा कहाँ ? सरोज के आधार पर कहना कि भूषण का जन्म सं० १७३८ में हुआ, यह सरोजकार के साथ अन्याय करना है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'शिवसिंह सरोज के सन् संवत्' शीर्षक के अंतर्गत अनेक उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि 'शिवसिंह सरोज' के सन् संवत काव्यकाल या उपस्थितिकाल के ही हैं, जन्मकाल के नहीं।[2] मिश्र बंधुओं को भी अन्य प्रमाणों से जब ज्ञात हुआ कि जन्मकाल मान लेने

---

१. हरिऔध पत्रिका, अप्रैल सन् १९४८, अंक—३, पृ० ७।

२. भूषण—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (संस्करण-द्वितीय) पृ० ६४-६५।

में अड़चन आ जाती है तब उन्होंने भी स्पष्ट लिख दिया है कि 'सरोज' में प्राय: कविताकाल को उत्पत्तिकाल लिखा गया है ।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शिवसिंह सरोज में वर्णित भूषण का संवत् १७३८ उपस्थितकाल है न कि जन्मकाल । अतः भगीरथप्रसाद दीक्षित ने जिन आधारों पर भूषण का जन्म संवत् १७३८ में स्थिर किया उनमें मुख्यतः उनकी कोरी कल्पना तथा भ्रममूलक धारणा मात्र है । शिवसिंह सरोज में दिया हुआ संवत् १७३८ वि० भूषण का उपस्थितिकाल सिद्ध होने से यह निश्चित हो जाता है कि भूषण का जन्म संवत् १७३८ के पूर्व हुआ और वे शिवाजी के समय जीवित थे । भूषण की रचनाओं में वर्णित घटनाओं तथा ऐतिहासिक संकेतों के तारतम्य से उनका जन्म संवत् १६६२ वि० अर्थात् सन् १६३५ ई० मानना ही समीचीन होगा ।

भूषण का वास्तविक नाम :

महाकवि भूषण के जन्म संवत् की भाँति उनके वास्तविक नाम के संबंध में भी पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है । भूषण ने 'शिवराजभूषण' में लिखा है कि —

कुल सुलंक चितकूटपति साहस सील समुद्र ।
कविभूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र ॥[2]

इसी दोहे के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि चित्रकूटाधिपति 'हृदयरामसुत रुद्र' के द्वारा 'कविभूषण' यह पदवी भूषण ने पाई थी तब निश्चित ही उनका वास्तविक नाम दूसरा ही होगा । कवि की भूषण यह गौरवसूचक उपाधिमात्र है नाम कुछ और ही होना चाहिए इसी धारणा को लेकर अनेक विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाओं के आधार पर अनुमान प्रस्तुत किए हैं जिनमें से प्रमुख अनुमानों पर यहाँ विचार किया जायगा । अबतक भूषण के वास्तविक नाम पतिराम, कनौज, मनिराम, जटाशंकर, घनश्याम, मुरलीधर तथा भूषण बताए गए हैं ।

श्रीकुँवरपाल सिंह[3] का कथन है कि तिकवाँपुर के एक भाट से उन्हें पता लगा कि भूषण का असली नाम 'पतिराम' था जो मतिराम के वजनपर

१. मिश्रबंधु विनोद—प्रथम भाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७ ।
२. भूषण ग्रंथावली—सं० मिश्रबंधु (संवत् २०११), पृ० ८, छंद २८ ।
३. विशाल भारत, अगस्त सन् १९३० ई० ।

होने से ठीक हो सकता है। भाट का मौखिक कथन प्रमाण के रूप में लेना उचित नहीं है। हो सकता है उसने सुनी सुनाई किसी निराधार बात को कह दिया हो अथवा 'मतिराम' के 'म' के स्थान पर 'प' पढ़ने समझने से उसे यह भ्रम हुआ हो। इस बात की पुष्टि न तो किसी समकालीन प्रमाणों में मिलती है न स्वयम् भूषण की रचनाओं में भी। अतः यह मत केवल अनुमानित एवम् कल्पनाजन्य होने से ग्रहण नहीं किया जा सकता।

श्रीनारायणप्रसाद 'बेताब'[1] का मत है कि शायद उनका जन्म नाम कनौज' था। यह भी उनका अनुमान मात्र है जिसका कोई प्रबल आधार नहीं है। साधारणतः व्यक्ति के नाम के रूप में 'कनौज' का प्रचलन भी नहीं है। पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित का मत है कि भूषण का असली नाम 'मनिराम' था। अपने मत के समर्थन में वे पं० बद्रीदत्त पांडे कृत कुमाऊँ के इतिहास में वर्णित घटना का उल्लेख करते हैं। इस इतिहास में उदोतचंद्र के वर्णन में लिखा है—'कहते हैं सितारागढ़ नरेश साहू महाराज के राजकवि 'मनिराम' राजा के पास अल्मोड़ा आए थे। उन्होंने राजा की प्रशंसा में यह कवित्त बनाकर सुनाया था। राजा ने दस हजार रुपए और एक हाथी इनाम में दे दिया।' वह छंद इस प्रकार है—

पूरण पुरुष के परम दृग दोउ अहैं,
····· कहत बेद बानी यों पढ़ गई।
ये दिवसपति वे निसापति जोतकर है,
काहू की बड़ाई बढ़ाए ते न बढ़ गई।
सूरज के घर में करन महादानी भयो,
यहैं सोच समुझि चित्त चिंता मढ़ि गई।
अब तोहि राज बैठत उदोतचंद चंद के,
कर्ण की किरक करेजे सो कढि गई।[2]

उक्त कवित्त की द्वितीय पंक्ति के प्रारंभ में तीन अक्षरों की न्यूनता है। दीक्षितजी का कहना है कि रिक्त स्थान में भूषण का नाम था जो छूट गया है। चूँकि साहू महाराज के दरबारी कवि केवल 'भूषण' ही थे अन्य कोई

---

१. मिश्रबंधु प्रलाप (प्रथम संस्करण), पृ० ६८।
२. कुमायूँ का इतिहास—पं० बद्रीदत्त पांडेय (प्रथम संस्करण), पृ० ३०३।

नहीं, अतः 'मनिराम' ही भूषण का वास्तविक नाम था।[1] दीक्षितजी के मत का आधार कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके पूर्व उन्होंने भूषण का असली नाम 'जटाशंकर' भी मान लिया था।[2] इसके अतिरिक्त प्रबल प्रमाणों से यह भी सिद्ध नहीं होता कि शाहू महाराज के दरबारी कवि 'केवल' भूषण ही थे। हो सकता है कि शाहू के और भी कोई दरबारी कवि हों। इतिहासों में तथा अन्य समकालीन ग्रंथों में भूषण के प्रमुख रूप में शिवाजी के दरबारी कवि होने की बात तो कही जाती है परंतु शाहू के दरबारी कवि होने का वैसा उल्लेख नहीं मिलता जैसा भूषण का। कुमायूँ के इतिहास में प्राप्त मनिराम के छंद को वे विकृत एवम् अशुद्ध मानते हैं और शिवसिंह सरोज में मतिराम के नाम पर प्राप्त इसी छंद को अधिक शुद्ध मानते हैं। फिर भी इस छंद का 'मतिराम' नाम उन्हें अशुद्ध ज्ञात होता है।[3] संपूर्ण छंद को शुद्ध मानकर अपनी सुविधा के लिये केवल 'मतिराम' इस शब्द को अशुद्ध मानना और उसके स्थान पर 'भूषण' शब्द होने की कल्पना करना यह बात असंगत तथा अतर्क्य लगती है। शिवसिंह सरोज में यही छंद इस प्रकार मिलता है —

पूरन पुरुष के परम दृग दोउ जानि,
कहत पुरान बेद बानि जोरि रढ़ि गई।
कवि मतिराम दिनपति जो निशापति जो,
दुहुन को कीरति दिसन माँझि मढ़ि गई।
रवि के करन भए एक महादानि यह,
जानि जिय आनि चिंता चित्त माँझ चढ़ि गई।
तोहि राज बैठत कमाऊँ श्रीउदोतचंद,
चंद्रमा की करक करेजहू तें कढ़ि गई।[4]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह छंद मूलतः मतिराम का ही है। लिपिकार के प्रमाद से यह संभव है कि 'मतिराम' को 'मनिराम' पढ़कर लिखा हो। भूषण की शैली भी इस छंद से मेल नहीं खाती। अतः यह स्पष्ट हो जाता

१. महाकवि भूषण—भगीरथप्रसाद दीक्षित (सन् १९५३), पृ० १५।
२. भूषणविमर्श—भगीरथप्रसाद दीक्षित (द्वितीयावृत्ति , पृ० ५ तथा हिंदुस्तानी पत्रिका, जुलाई १९३२।
३. भूषणविमर्श—वही पृ० ६, ८।
४. शिवसिंह सरोज (सप्तम संस्करण), पृ० २५३।

है कि 'भूषण' का वास्तविक नाम 'मनिराम' नहीं हो सकता क्योंकि दीक्षितजी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण अपने आप में निर्बल एवम् तथ्यहीन है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का अनुमान है कि भूषण का वास्तविक नाम 'घनश्याम' था।[1] अपने अनुमान की पुष्टि में उन्होंने शिवाजी के पिता शहाजी महाराज के दरबारी कवि जयराय पिंड्ये के एक छंद को उद्धृत किया है। शहाजी की दानशीलता, साहित्यिक अभिरुचि एवम् गुणग्राहकता को सुनकर विविध भाषाओं के कवि दूरस्थ प्रांतों से उनके दरबार में पहुँचा करते और योग्यतानुसार यथोचित सम्मान पाकर अपने प्रदेशों में लौटते रहते थे। जयराम ने अपने 'राधामाधव विलास चंपू' में शहाजी के दरबार में आनेवाले पंडितों एवम् कवियों का जो संक्षिप्त विवरण दिया है उसमें निम्नलिखित छंद हैं --

(१) गायो उत्तर देश को द्वैगुनि अति अभिराम।
नाम एक को 'लालमनि' दुसरो है 'घनश्याम' ॥
बात अचंभो एक यह जंत्र सजे को ठाट।
चित्रचना के दारि मह चित्रना के दारि मह ॥
चित्रचना केदारि वारन साट लखि ल्यायो।
जंत्र सज्यो जह ठाट राग मारुत बुरि गायो ॥

(२) घंघग्निदि 'घनश्याम' बंवग्निदि बात,
कही छंछग्निदि छंद पुनिए एक गायो।
मंमग्निदि मत्तगज हंहग्निदि हेमहय,
तंतग्निदि ताहि घरि दान पायो॥
जंजग्निदि जंत्र अरु चिंचिग्निदि चित्र,
पुनि नंनग्निदि नृप साहे करि सिखायो।
कंकग्निदि कवि माहे जंजग्निदि जयराम,
चंयग्निदि यह भाँत पठि दिखायो ॥[2]

प्रथम छंद से ज्ञात होता है कि उत्तर देश से दो गुणीजन शहाजी के

१ भूषण—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति), पृ० ८८।
२. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू—संपा० वि० का० राजवाडे (शक १८४४, पृ० २७५-२७६।

दरबार में आए और उन्होंने अपनी कविता को गाकर सुनाया था। उनके नाम लालमनि और घनश्याम थे। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इन्हीं छंदों के आधार पर लिखते हैं[1] कि हिंदी में चिंतामणि त्रिपाठी दो नामों (भणिता, छाप) से रचना करते थे—मनिलाल और लालमनि से। इसलिये 'लालमनि' अत्यंत परिचित नाम है। उनके साथ जानेवाले, रहनेवाले ये उत्तर देश के गुणी घनश्याम कौन हैं ? 'घनश्याम' का स्मरण जयराम ने 'घंघंग्रिदि घनश्याम' में पुनः किया है ; उनके एक छंद गाने पढ़ने का भी उल्लेख है। यही नहीं आगे तुरंत ही अमृतध्वनि छंद में जयराम की वैसी ही रचना भी मिलती है जैसी भूषण ने शिवभूषण में अनुप्रास के उदाहरण में रखी है। उसके पश्चात् जयराम कवि द्वारा रचित अमृतध्वनि छंद के[2] साथ भूषणकृत अमृतध्वनि छंद की[3] तुलनाकर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने यह अनुमान किया है कि ये 'घनश्याम' 'कविभूषण' की पदवी पानेवाले सज्जन होंगे। पुष्टि के लिये भूषण का निम्न छंद भी दिया है जिसमें 'घनश्याम' शब्द का प्रयोग हुआ है—

देखत ही जीवन बिडारौ तौ तिहारौ जान्यौं
जीवन-द नाम कहिवे ही को कहानी मैं।
कैधों 'घनश्याम' जो कहावैं सो सतावैं मोहि
निहचैं के आजु यह बात उर आनी मैं।

---

१. भूषण—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति), पृ० ८८।

२. नृपबल निकरत हय गज पतितर सैन सजे तुरंग।
नृपवर तरकस बाँधिके करि तहाँ करकस जंग।
जंजंजंग करन तुरंग चढ़ि रनरंग लहि अरिभंग।
कियरत बंब विलपि कलिंग दुरत तिलंग मज्जिम गंग।
जलनि मतंग प्रविरत तरंग तटवर लंघे निकरत॥
—राधामाधव विलास चंपू—पृ० २७६-७७।

३. लिय जिति दुदिल्ल को मुलक सिव सरजा जुरि जंग।
मनि भूषन भूपति भजे भग्गगरब तिलंग।
भंग्गगरब तिलंगग्गयउ कलिंगग्गलि अति।
दुंददबि डुटु दंददलिनि बिलंदहसलि।
लच्छतच्छिन करि म्लेच्छच्छय किय स्वच्छच्छविच्छिति।
हालल्लगि नरपाल्लरि परनाल्लिय जिति॥
—भूषण—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १११।

भूषन सुकवि कीजै कौन पर रोसु निज
भागु ही को दोषु आगि उठति ज्यों पानी मैं।
रावरेहू आए हाय हाय मेघराय सब
धरती जुड़ानी पै न बरती जुड़ानी मैं ॥'

उक्त छंद में प्रयुक्त 'घनस्याम' यह शब्द भूषण के मूल नाम का ही सूचक होगा यह निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योंकि इसी छंद में 'भूषण' नाम का भी प्रयोग किया गया है। एक ही छंद में दो विभिन्न स्थानों पर एक कवि अपने दो नामों का प्रयोग क्योंकर करेगा! इसके अतिरिक्त यह छंद 'श्रृंगार' के अंतर्गत रखा जाने से उसका अर्थ श्रीकृष्ण अथवा कृष्ण मेघ लेना ही अधिक समीचीन ज्ञात होता है। श्रद्धेय मिश्रजी ने पादटिप्पणी में ये दोनों अर्थ भी दिए हैं। उत्तर देश से आनेवाले गुणीजन चिंतामणि के साथ आनेवाले ये 'घनस्याम' भूषण के अतिरिक्त और भी कोई चिंतामणि के समकालीन सुहृद मित्र कवि हो सकते हैं। यदि ये भूषण होते तो इनकी रचनाओं में अपने आश्रयदाता शहाजी का वैसा उल्लेख मिलना चाहिए जैसा अन्य आश्रयदाताओं का मिलता है। भूषण की उपलब्ध रचनाओं में शहाजी के दरबार में सुदूर दक्षिण में बंगलोर शहर में जाने का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः प्रबल प्रमाणों के अभाव में मैं यह निश्चित रूप से नहीं सिद्ध होता कि भूषण का वास्तविक नाम 'घनस्याम' ही था।

डा० विश्वनाथप्रसाद के संपादन में मुरलीधर कविभूषण कृत 'छंदोहृदय प्रकाश' ग्रंथ का प्रकाशन सन् १९५९ ई० में आगरा विश्वविद्यालय के द्वारा हुआ। अगस्त १९६२ ई० में मुरलीधर कविभूषण कृत दूसरा ग्रंथ 'अलंकार प्रकाश' भी कैप्टन शूरवीरसिंह के संपादन में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने के पूर्व कैप्टन शूरवीरसिंह ने इसका परिचय विभिन्न शीर्षकों से लिखित तीन पत्रिकाओं में[2] प्रकाशित एक लेख से करा दिया था। अब संपूर्ण ग्रंथ ही प्रकाशित किया है जिसमें बीस पृष्ठों की प्रस्तावना देकर पूर्वप्रकाशित लेखों की प्रतिक्रियाओं का परामर्श लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि 'छंदोहृदयप्रकाश' तथा 'अलंकारप्रकाश' के रचयिता मुरलीधर कविभूषण तथा शिवराजभूषण के रचयिता प्रसिद्ध महाकवि भूषण दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। इसी के आधार पर उन्होंने

१. भूषण—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। द्वितीया वृत्ति), पृ० ८६।
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६० अंक २, संवत् २०२१ तथा साहित्यसंदेश, मार्च १९५६ और विशाल भारत, ७ जनवरी १९५६।

महाकवि भूषण का वास्तविक नाम 'मुरलीधर' मान लिया है। कैप्टेन शूरवीरसिंह का यह मत तभी स्वीकार किया जा सकता है जब मुरलीधर कविभूषण और प्रसिद्ध महाकवि भूषण ये दोनों एक ही व्यक्ति सिद्ध होंगे।

मुरलीधर कविभूषण और महाकवि भूषण :

छंदोहृदयप्रकाश और अलंकारप्रकाश इन दोनों ग्रंथों को पढ़ने पर ज्ञात हो जाता है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं। छंदोहृदयप्रकाश के संपादक डा० विश्वनाथप्रसाद[1] तथा डा० किशोरीलाल[2] गुप्त का भी यही मत है। मुरलीधर कविभूषण ने संवत् १७०५ में रचित 'अलंकारप्रकाश' में अपना संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया है :—

राम कृष्ण कस्यप कुलहि, रामेश्वर सुव तासु।
ता सुत मुरलीधर कियो, अलंकार परकासु ॥४३२॥
पाँच सुन्य सत्रह, वरिष, कातिक सुनि छटि जानु।
अलंकार परकास को कवि कीनो निरमानु ॥४३३॥

संवत् १७०५। इतिश्री गहरवार बुंदेलवंश वारिज विकासन मार्तंड राज्य लक्ष्मीरक्षण विचक्षण दोर्दण्ड महवीराधिवीर राजाधिराज श्री राजा देवीशाहि देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वरात्मज कविभूषण मुरलीधर विरचिते अलंकारप्रकाशे अभिधा निरूपणो नाम दशमो उल्लासः। समाप्तम्।[3]

'छंदोहृदयप्रकाश' के अंत में भी मुरलीधर कविभूषण ने अपना परिचय तथा ग्रंथरचना काल इस प्रकार दिया है—

गहवर गुन मंडत कवि पंडित रामकृष्ण कस्यप कुल भूषन।
रामेश्वर ता तनय सुकविजा कवि तन नहिन निरखेउ नेक दूषन।
मुरलीधर ता सुअन सुपंचम देवीसिंह किअउ कवि भूषन।
छंदोहृदय प्रकास रच्यो तिन्ह जगमगात जिमि मिहर मयूषन ॥८॥
संवत् सत्रह सय वरष तेइस कातक मासु।
पूनव को पूरन भयो छंदोहृदय प्रकासु ॥९॥

इति श्री पौलस्त्यवंश वारिज विकाशन मार्तंड गढा दुर्गाधिराज्य लक्ष्मीरक्षण विचक्षण दोर्दंड चतुःषष्टिकला विलासिनी भुजंग महावीराधिवीर राजाधिराज

---

१. छंदोहृदयप्रकाश—सं० डा० विश्वनाथप्रसाद (सन् १६५६ ई०), पृ० ६।
२. हरिऔध पत्रिका—अक्तूबर १६५६, पृ० २७।
३. अलंकारप्रकाश—संपादक डॉ० शूरवीरसिंह (सन् १६६२ ई०), पृ० ८६।

श्री महाराजा हृदयनारायण देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वरात्मज मुरलीधर कवि भूषन विरचिते छंदोहृदयप्रकासे गद्यविवरणं नाम त्रयोदसो उल्लासः ॥१३॥ इति श्री पिंगल भूषन कृत भाषा समाप्तम् ॥[1]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से ज्ञात हो जाता है कि उक्त दोनों ग्रंथों का रचयिता निःसंदेह मुरलीधर कवि ही है। उनके पितामह का नाम रामकृष्ण और पिता का नाम रामेश्वर था। वे काश्यपगोत्रीय त्रिपाठी थे। वे अपने पिता के पाँचवें पुत्र थे और देवीसिंह ने इन्हें 'कविभूषन' किया। इन्होंने देवीसिंह अथवा देवीसाह के लिये 'अलंकार प्रकाश' की रचना संवत् १७०५ में की और गढा के राजा हृदयनारायण देव के लिये 'छंदोहृदय प्रकाश' की रचना संवत् १७२३ में।

'शिवभूषण' के रचयिता 'भूषण' कवि ने जो परिचय दिया है उसके अनुसार वे काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रतिनाथ उपनाम रत्नाकर था और वे यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे जहाँ राजा बीरबल जैसे प्रसिद्ध कवि उत्पन्न हुए। यहाँ बिहारीश्वर का मंदिर विद्यमान था। इन्हें चित्रकूटाधिपति हृदयरामसुत रुद्र ने 'कविभूषण' की पदवी दी थी।[2] उन्होंने छत्रपति शिवाजी भोंसले के लिये 'शिवराज भूषण' की रचना संवत् १७३० में की थी।[3]

दोनों कवियों के परिचय में समानता केवल एक बात की है कि वे दोनों काश्यपगोत्रीय त्रिपाठी थे और दोनों को 'कविभूषण' उपाधि प्राप्त थी। शेष बातों में कहीं भी समानता प्राप्त नहीं होती। यद्यपि मुरलीधर कविभूषण और 'भूषण' दोनों काश्यपगोत्रीय त्रिपाठी हैं फिर भी दोनों के पिता भिन्न हैं। मुरलीधर कवि के पिता का नाम रामेश्वर है तो प्रसिद्ध भूषण कवि के पिता का नाम रतिनाथ उपनाम रत्नाकर है। प्रसिद्ध भूषण कवि जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे परंतु मुरलीधर कवि ने छंदोहृदयप्रकाश तथा 'अलंकारप्रकाश' दोनों ग्रंथों में कहीं

---

१. छंदोहृदयप्रकाश – संपादक डॉ० विश्वनाथप्रसाद (सन् १९५९ ई०), पृ० ९४–९५।
२. भूषण ग्रंथावली—मिश्रबंधु, संवत् २०१५, पृ० ८, छंद २५, २६, २७, २८। भूषण—सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं० २०१७), पृ० १३३, छंद २५, २६, २७, २८।
३. संपूर्ण भूषण—भारत का इतिहास संशोधन मंडल, पूना, (सन् १९३०), पृ० १३४, छंद ३८०।

भी अपनी जाति तथा निवासस्थान का उल्लेख नहीं किया है जिससे उनकी जाति तथा निवासस्थान के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। मुरलीधर कवि ने अपने पितामह का नाम रामकृष्ण दिया है परंतु प्रसिद्ध 'भूषण' ने इसका उल्लेख तक नहीं किया।

मुरलीधर कवि को 'कविभूषण' की उपाधि देवीसिंह से प्राप्त हुई थी और प्रसिद्ध 'भूषण' को 'कविभूषण' की पदवी हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्र से प्राप्त हुई थी। देवीसिंह गहरवार बुंदेलवंशीय तथा चंदेरी नरेश थे और हृदयराम के पुत्र रुद्र सोलंकीवंशीय तथा चित्रकूट नरेश थे। मुरलीधर को 'कविभूषण' यह उपाधि संवत् १७०५ के आसपास या पूर्व मिली थी[1] तो प्रसिद्ध भूषण कवि को कविभूषण की उपाधि संवत् १७२३ के लगभग प्राप्त हुई थी।[2] मुरलीधर कवि अपने पिता के पंचम पुत्र थे तो भूषण अपने पिता के तृतीय पुत्र थे और चिंतामणि, मतिराम, भूषण और नीलकंठ उर्फ जटाशंकर चार भाई होने की बात ही प्रसिद्ध है, पाँच नहीं। 'मुरलीधर ता सुअन सुपंचम देवीसिंह किअउ कविभूषन'[3] इस पंक्ति के आधार पर कैप्टन शूरवीरसिंह का कथन है कि यह 'सुपंचम' वास्तव में देवीसिंह का विशेषण है। बुंदेल वंश के इतिहास से ज्ञात होता है कि उस वंश का प्रवर्तक 'पंचम' नाम से विख्यात था।[4] शूरवीरसिंह का कहना मान लेने पर भी अनुमान में कोई अंतर नहीं हो जाता। इस प्रकार दोनों कवियों में समानता की अपेक्षा असमानता ही अधिक दिखाई देती है।

मुरलीधर कविकृत 'अलंकारप्रकाश' तथा 'छंदोहृदयप्रकाश' के प्रत्येक उल्लास की समाप्ति पर एक ही सी परिचयात्मक पुष्पिका है परंतु 'शिवराज भूषण' में इस शैली या पद्धति के दर्शन तक नहीं होते। यदि 'शिवराज-भूषण' के रचयिता मुरलीधर कविभूषण होते तो इसमें भी उसी प्रकार परिचयात्मक पुष्पिकाएँ होतीं जैसी अलंकारप्रकाश और छंदोहृदय प्रकाश

---

१. हरिऔध पत्रिका, अक्तूबर, सन् १९५१, (डा० किशोरीलाल गुप्त का लेख) पृ० २६।

२ भूषणभारती, हरदयालुसिंह, (सन् १९४८), पृ० ६ तथा हिंदी नवरत्न मिश्रबंधु सं० १९९८), पृ० ३९४।

३ छंदोहृदयप्रकाश—संपा० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, पृ० ९४।

४ अलंकारप्रकाश मुरलीधर कविभूषण कृत—संपा० कैप्टन शूरवीरसिंह, (सन् १९६२ ई०), पृ० ११, १२।

में पाई जाती हैं। यदि दोनों कवियों की रचनाओं का अंतरंग सूक्ष्मता से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ मुरलीधर कविभूषण की रचनाओं में सर्वत्र 'कविभूषण' की छाप मिलती है वहाँ प्रसिद्ध भूषण की समस्त रचनाओं में केवल 'भूषन' अथवा 'भूषन भनत' की छाप ही सामान्यतः दिखाई देती है। छंदोहृदयप्रकाश तथा अलंकारप्रकाश के रचयिता 'कविभूषण' को अपने मूल नाम 'मुरलीधर' का बहुत खयाल दिखाई देता है क्योंकि ग्रंथ के प्रत्येक उल्लास के अंत में वे अपने वास्तविक नाम 'मुरलीधर' का उल्लेख किए बिना नहीं रहते और प्रसिद्ध भूषण कवि की समस्त रचनाओं में इसके विपरीत बात दिखाई देती है। उन्होने केवल 'कविवंश परिचय' के अंतर्गत ही 'कविभूषण' उपाधि का उल्लेख किया है। अन्यत्र वे केवल 'भूषण' शब्द का ही प्रयोग करते हैं और कहीं भी अपने वास्तविक नाम (यदि मुरलीधर है तो) का उल्लेख नहीं करते हैं।

दोनों कवियों के काव्यादर्श में भी पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। महाकवि भूषण ने 'शिवराजभूषण' में अलंकारों के उदाहरण के रूप में एक भी ऐसा छंद प्रस्तुत नहीं किया जिसमें शिवाजी की प्रशस्ति न हो। उनका काव्यादर्श इस प्रकार है—

ब्रह्म के आननतें निकसे तें अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के संग सुहानी॥
विक्रम भोजहु के सुन गाय कै भूषन पावनता जग जानी।
पुन्य पवित्र सिवा सरजै बरम्हाय पवित्र भई वर वानी॥[1]

मुरलीधर कविभूषण का काव्यादर्श दूसरा था। 'छंदोहृदयप्रकाश' के 'श्री महाराज वंशानुक्रम वर्नन' नामक प्रथम प्रकरण में उन्होने अपने आश्रयदाता हृदयसाहि की प्रशस्ति में कुछ छंद लिखे हैं और ग्रंथ के अंत में आशीर्वादात्मक एक छंद लिखा है। इनके अतिरिक्त समस्त ग्रंथ में उनके आश्रयदाता की प्रशस्ति के छंद नाममात्र पाए जाते हैं। उदाहरणों में सर्वत्र कृष्णकाव्य ही की अधिकता परिलक्षित होती है। 'अलंकारप्रकाश' में भी थोड़ी भिन्नता के साथ इस शैली का प्रयोग मिलता है। इसमें ग्रंथारंभ में राजवंश वर्णन है और अंत में आश्रयदाता देवी सिंह के लिये आशीर्वादात्मक

---

१. भूषण—संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वितीयावृत्ति), पृ० १७६, छंद २५३।

छंद है। शेष ग्रंथ में उदाहरण के रूप में देवी शाह तथा कृष्ण आदि का वर्णन मिलता है। इनकी यह शैली महाकवि भूषण की शैली से सर्वथा भिन्न है। मुरलीधर कविभूषण का काव्यादर्श इस प्रकार है—

(१) हरि गुन गूंथी कविता रुचिहै सविकोजऊ मोठी।
ता विन ही जो बानी जानत साधू जन सीठी॥
(२) कहिए वहे कविता सब गुन सून जऊ है जू।
जसुमति बालक लीला वरनित जिहि साधु सुषित सुनिकै जू॥
(३) धन सुधरी धनि वह छिन धनि धनि दिन धन्य जनमु जिउ ताको।
कविता सुधनि कहिए वरनत जह पूत महरि जसुदा को॥[1]

'छंदोहृदयप्रकाश' के साथ साथ कृष्ण संबंधी ग्रंथ भी हैं। इसकी प्रति डेरा गाजी खाँ में वल्लभाचार्य के शिष्य लालदास के मंदिर में सुरक्षित थी। पाकिस्तान हिदुतान का बँटवारा होनेपर भगदड़ में यह हिंदुस्तान पहुँची है। डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त को धारणा है कि उक्त मुरलीधर कविभूषण उस संप्रदाय के अनुयायी अवश्य थे।[2] डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त की धारणा महत्वपूर्ण है।

'अलंकारप्रकाश' में छंद, अर्थदोष, रसनिरूपण, शब्दशक्ति आदि काव्यांगों के साथ ही अलंकारों का निरूपण भी किया गया है। 'शिवराज भूषण' में भी अलंकारों का निरूपण किया गया है और उदाहरणरूप में शिवाजी के वीर चरित्र के प्रसंगों का वर्णन किया है। यदि दोनों के कवि अभिन्न होते तो जहाँतक सैद्धांतिक लक्षणों की रचना है वहाँ उनकी मान्यता एवम् शब्दावली एक सी होनी चाहिए थी परंतु वैसी स्थिति दिखाई नहीं देती। एक ही अलंकार के लक्षण लिखते समय दोनों ग्रंथों में प्रयुक्त छंदों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की रचना, भाषा तथा रीति या पद्धति में अंतर है। कहीं कहीं सैद्धांतिक मान्यताओं में भी अंतर दिखाई देता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद तुलनीय हैं—

---

१ छंदोहृदयप्रकाश—सं॰ डा॰ विश्वनाथ, (सन् १६५६), पृ॰ ६१, छंद २१,२३,२४।
२ हरिऔध पत्रिका, अक्टूबर १६५६, पृ॰ ३०।

श्लेष लक्षण :

(१) एक भाँति के पदन जहाँ उपजत अर्थ दुतीन।
ताहि कहत श्लेष है कविभूषण बुत बीनि ॥[१]

—मुरलीधर कविभूषण

(२) एक वचन से होत जहँ बहु अर्थन को ज्ञान।
स्लेस कहत ताहि को भूषन सुकवि सुजान ॥[२]

—महाकवि भूषण

व्यतिरेक अलंकार लक्षण :

(१) अधिकाई उपमान ते उपमित में जो ठानि।
कवि भूषण कह कवित में तहँ वितरेकहि भानि ॥[३]

—मुरलीधर कविभूषण

(२) सम छबिवान दुहून मैं, जहँ बरणत बढि एक।
भूषण कवि कोविद सबै, ताहि कहत व्यतिरेक ॥[४]

—महाकवि भूषण

सहोक्ति अलंकार लक्षण :

(१) कारज कारण सहित जहँ करिए जुक्ति समेत।
यहै सहोक्ती कही कवि भूषण कर हेत ॥[५]

—मुरलीधर कविभूषण

(२) वस्तुन जो भासत जहाँ, जन रंजन सह भाव।
ताहि सहोक्ति बखानहीं, जे भूषन कविराव ॥[६]

—महाकवि भूषण

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कवियों की कथनपद्धति तथा भाषाशैली में पर्याप्त अंतर है। महाकवि भूषणकृत लक्षणों में जो

१ अलंकारप्रकाश, संपा० शूरवीर सिंह, पृ० २२, छंद १३१।
२ भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, (सं० २०१५), पृ० ४६, छंद १६१।
३. अलंकारप्रकाश, संपा० शूरवीर सिंह, पृ० २०, छंद १२४।
४ भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, पृ० ४४, छंद १४६।
५. अलंकारप्रकाश, संपा० शूरवीर सिंह, पृ० २१, छंद १२७।
६. भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, पृ० ४१, छंद १४१।

स्पष्टता तथा विनम्रता का भाव है वह मुरलीधर कविभूषणकृत लक्षणों में नहीं है। यही स्थिति समस्त छंदों में देखी जा सकती है। 'छंदोहृदयप्रकाश' और 'अलंकारप्रकाश' के छंदों में जिस प्रकार समानता दृष्टिगोचर होती है उस प्रकार 'शिवराजभूषण' तथा भूषण की अन्य रचनाओं में दिखाई नहीं देती। कहा गया है कि शैली लेखक के व्यक्तित्व से अभिन्न होती है। यदि दोनों कवि अभिन्न होते तो उनकी शैली में इतना अंतर न हो जाता। इसके अतिरिक्त विषय एक होने पर भी 'अलंकारप्रकाश' तथा 'शिवराजभूषण' के अलंकारों का क्रम, वर्गीकरण, नामकरण आदि में भी अंतर दिखाई देता है।

महाकवि भूषण की भाषा में व्रजभाषा के साथ साथ अरबी, फारसी तथा तुर्की भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं तो मुरलीधर कविभूषण की भाषा में ऐसे विदेशी शब्दों की संख्या न्यूनतम है। महाकवि भूषण की कविता का उत्कर्ष वीर रस में दिखाई देता है तो मुरलीधर कवि का श्रृंगार और शांत रस में। भूषण की रचनाओं में ओज गुण की प्रधानता है तो मुरलीधर कवि की रचना में माधुर्य गुण की। भूषण की रचनाओं में बाल कृष्णवर्णन तथा भक्तिवर्णन विषयक छंद नहीं के बराबर हैं परंतु मुरलीधर कवि की रचना में ऐसे छंद पाए जाते हैं। 'छंदोहृदयप्रकाश' के उल्लास ४, ५, ६, ७, ११, १२ में छंदों के लक्षण देने पर उदाहरण रूप में जो छंद पाए जाते हैं उनमें प्रायः बाल कृष्ण का ही वर्णन मिलता है, श्रृंगारी कृष्ण का नहीं। इस ग्रंथ में अन्यत्र कहीं कहीं भक्ति के छंद प्राप्त हो जाते हैं। 'अलंकारप्रकाश' में देवभक्ति, गुरुभक्ति, मुनिभक्ति, राजभक्ति के संबंध में वर्णन मिलते हैं।[१] मुरलीधर कविभूषण की रचनाओं में महाकवि भूषण का इतिहास प्रेम नहीं दिखाई देता। भूषण ने अपनी रचनाओं में शिवाजी की प्रशस्ति में जैसे ऐतिहासिक उल्लेख तथा वर्णन किए हैं वैसे मुरलीधर कवि ने अपने आश्रयदाताओं—देवी सिंह और हृदयनारायण देव (हृदयसाहि) के संबंध में नहीं किए हैं। मुरलीधर कवि में महाकवि भूषण की भाँति ऐतिहासिक सूचनाओं की सूक्ष्मता नहीं है।

इस प्रकार पिता का नाम, जाति, निवासस्थान, कविभूषण की उपाधि देनेवाले राजा, विषय, रचना में प्राप्त कवि की छाप, भावव्यंजकता, निरूपण-शैली, सैद्धांतिक मान्यता, भाषा, कथनपद्धति, रुचिभेद, आदि अनेक बातों

---

१. अलंकारप्रकाश, संपा० शूरवीर सिंह, पृ० ५४, ५५, ५६।

में महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण में जो भिन्नता दिखाई देती है उससे यह निश्चित हो जाता है कि महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण ये दो भिन्न व्यक्ति हैं। अतः केवल दोनों के काश्यपगोत्रीय त्रिपाठी होने मात्र से ही उन्हें अभिन्न मानना युक्तिसंगत न होगा। ये दोनों कवि भिन्न सिद्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि भूषण का वास्तविक नाम मुरलीधर नहीं हो सकता।

भूषण की समस्त रचनाओं को पढ़कर यह धारणा हो जाती है कि भूषण का वास्तविक नाम 'भूषण' ही था। चित्रकूटाधिपति हृदयराम-सुत रुद्र ने उन्हें 'कविभूषण' की पदवी दी थी न कि 'भूषण' की। यह संभव है कि कवि का मूल नाम 'भूषण' सुनकर तथा उनके काव्य से प्रभावित होकर चित्रकूटाधिपति रुद्र ने उन्हीं के नाम में 'कवि' जोड़कर उन्हें 'कविभूषण' अर्थात् कवियों में भूषण की उपाधि से विभूषित किया होगा। उन्होंने कहा होगा कि आप 'भूषण' तो हैं परंतु कवियों में भूषण अर्थात् 'कविभूषण' हैं। समस्त रचना में भूखन, भूषण, भूषण सुकवि, भूषण भनत, आदि की ही छाप मिलती है। यदि उन्हें अपनी उपाधि या पदवी के नाम से ही प्रसिद्ध होना था तो मुरलीधर कवि ने जिस प्रकार सर्वत्र 'कवि-भूषण' का प्रयोग किया है वैसा इनके द्वारा भी किया जाता। इसके अतिरिक्त कवि ने 'शिवराजभूषण' में अपने परिचय में स्पष्ट कहा है—

(१) देसनि देसनि तें गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमें आयौ एक कवि 'भूषन' कहियतु जाहि॥

(२) कुल सुलंक चितकूटपति साहस सील समुद्र।
'कविभूषन' पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥[1]

प्रथम छंद में कवि ने स्पष्ट कहा कि उसका नाम 'भूषण' है। उसके पश्चात् दो छंदों में अपने वंश, गोत्र, पिता, निवासस्थान आदि का परिचय है। परिचय के अनंतर द्वितीय छंद लिखा है जिसमें चित्रकूटपति हृदयरामसुत रुद्र द्वारा 'भूषन' को 'कविभूषण' की पदवी प्राप्त होने की घटना का उल्लेख है। कवि को पदवी का गर्व है परंतु वे उसका प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। संभवतः इसी लिये समस्त छंदों में उन्होंने अपना मूल नाम 'भूषण' ही रखा है। यदि उनका मूल नाम दूसरा ही कुछ होता तो उसका कहीं भी उल्लेख किए बिना रहना असंभव लगता है। मुरलीधर 'कविभूषण' ने अपनी समस्त

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, पृ० ८, छंद २५ और २८।

रचनाओं में 'कविभूषण' पदवी के नाम का प्रयोग अवश्य किया परंतु रचनाओं के प्रत्येक उल्लास के अंत में पदवी नाम 'कविभूषण' के साथ अपना वास्तविक नाम मुरलीधर लिखने से वे नहीं चूके हैं। दो या दो से अधिक उपनामों का प्रयोग करनेवाले समकालीन कवियों की रचनाएँ देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उन कवियों ने उपनामों के अतिरिक्त अपने वास्तविक नामों का भी कहीं न कहीं अवश्य ही प्रयोग किया है। 'भूषन कहियतु जाहि' से स्पष्ट होता है कि कवि भूषण का वास्तविक नाम 'भूषण' ही था अन्य नहीं। अतः भूषण के वास्तविक नाम की खोज करना व्यर्थ सा है।

काव्य का आरंभ :

प्रसिद्ध कवियों के संबंध में सामान्यतः एक सी ही किंवदंतियाँ बताई जाती हैं कि उनकी सुप्त कवित्वशक्ति किसी के ताने, व्यंग या उलाहने के कठोर प्रहार से जाग्रत हुई थी। कालिदास, बाल्मीकि, तुलसीदास, बिहारी आदि के लिये यह काम उनकी पत्नियों ने किया परंतु भूषण की सुप्त कवित्व-शक्ति उनकी ज्येष्ठ भ्रातृजाया की कटु उक्ति के प्रहार की चोट से जाग्रत हुई। इसके संबंध में कई किंवदंतियाँ मिलती हैं उनमें से दो का प्रचलन अधिक मात्रा में पाया जाता है। एक किंवदंती का आशय यह है कि एक बार दाल में नमक कम था और इन्होंने अपनी भाभी से नमक माँगा। निकम्मे भूषण को ताना मारकर उसने कहा—'हाँ, बहुत सा नमक कमाकर तुमने रखा है न, जो उठा लाऊँ।' यह व्यंगोक्ति भूषण के स्वाभिमान पर हथौड़े का काम कर गई। उनका भावुक हृदय विकल हो उठा और वे कह उठे—'यहाँ भोजन तभी करूँगा जब नमक कमाकर लाऊँ।' और भोजन छोड़कर भूषण घर से निकल पड़े और तभी से इनकी सुप्त कवित्वशक्ति प्रकट हुई, जिसे अध्ययन के प्रयत्न से उन्होंने प्रबल एवम् प्रौढ बनाया।

दूसरी किंवदंती यह बताई जाती है कि भूषण की स्त्री गणेश चतुर्थी के दिन गणेश की पूजा में घाट पर नहीं गई इसपर उसकी जेठानी ने ताना मारा कि अपने पति से कहो कि दरवाजे पर जीवित गणेश (हाथी) लाकर बाँध दे। तब यहीं पूजा किया करो। इस ताने से भूषण के स्वाभिमान को चोट लगी और फलस्वरूप हाथी प्राप्त करने के लिये वे घर से निकल पड़े। पहली दंतकथा के अनुसार कहा जाता है कि भूषण ने एक लाख का नमक भेजा और दूसरी के अनुसार कई हाथी भेजे थे।[1]

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वितीयावृत्ति), पृ० ६१।

हृदयरामसुत रुद्र :

दोनों किंवदंतियों से तथ्यरूप में यही अर्थ लिया जा सकता है कि भूषण युवावस्थातक घर ही में रहते थे और अपढ़, निकम्मे थे। मिश्रबंधुओं के अनुसार[1] वे लगभग २० वर्ष तक घर में थे। घर से बाहर निकलने पर उन्होंने पढ़ने लिखने में विशेष परिश्रम किया और आठ दस वर्षों में ही वे अच्छे विद्वान् और कवि हो गए। जान पड़ता है कि संवत् १७२३ के लगभग वे चित्रकूटाधिपति हृदयरामसुत रुद्रराम (या रुद्रशाह) सोलंकी के यहाँ थे। उन्हीं के यहाँ इन्होंने 'कविभूषण' की उपाधि पाई। इन सोलंकियों का राज्य संवत् १७२८ के लगभग महाराजा छत्रसाल ने छीन लिया था। डॉ० भगीरथ मिश्र का मत[2] है कि इन्हीं रुद्रशाह सोलंकी के पास भूषण के ज्येष्ठ भ्राता चिंतामणि आए और इन्हीं के आश्रय में 'कविकुलकल्पतरु' की रचना चिंतामणि ने की थी। शिवाजी के पिता शहाजी तथा अकब्बरसाहि के आश्रय में काव्यरचना समाप्तकर दक्षिण यात्रा से लौटते समय सन् १६६८ अर्थात् संवत् १७२५ के बाद और सन् १६७१ के पूर्व चिंतामणि चित्रकूटाधिपति रुद्रशाह सोलंकी के आश्रय में गए थे। इसके पूर्व इन्हीं महाराज के द्वारा भूषण का गौरव हुआ था अतः यह संभव है कि भूषण के ज्येष्ठ भ्राता के नाते उनका अधिक सम्मान किया गया हो और फलरूप में 'कविकुलकल्पतरु' की रचना हुई हो। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि के यहाँ आने के पूर्व ही भूषण चित्रकूट से चले गए थे। संभवतः भूषण चित्रकूट नरेश के पास संवत् १७२३ से संवत् १७२५ के लगभग १–२ वर्ष रहे थे।

कुछ आलोचक फारसी पद्धति के अनुसार 'हृदयराम सुत रुद्र' का अर्थ रुद्रशाह के पुत्र हृदयराम लेते हैं और उसके अनुसार कई कल्पनाएँ की जाती हैं। सरमोर तहसील में फतेहरा या पटेहरा स्थान में हृदयराम सुरकी के वर्तमान वंशजों से प्राप्त अपूर्ण वंशावली, रीवाँ गजेटियर के आधार पर यह निष्कर्ष भी निकाला जाता है कि सुरकी राजा रुद्रराव के पुत्र हृदयराम किसी समय गहोरापति थे। भूषण के छंद में 'कविभूषण' की पदवी देनेवाले 'हृदयराम सुत रुद्र सुलंकी' के 'रुद्र' को रुद्रराव, 'सुलंकी' को सुरकी मानकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि भूषण के आश्रयदाता और पदवीदाता 'हृदयराम सुत रुद्र' गहोरा प्रांत के नरेश रुद्रराव के

---

१. हिंदी नवरत्न, संपा० मिश्रबंधु, (सं० १९९८), पृ० ३६३।
२. शृंगारमंजरी, भूमिका, संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६), पृ० १८।

पुत्र हृदयराम सुरकी थे जिनका शासनकाल संवत् १६७५ और सं० १७२५ के बीच माना गया है।[1] हृदयराम के शासनकाल तथा भूषण के आश्रयदाता के होने की बात अनुमान और कल्पना पर आधारित है, अतः उसपर विशेष विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। भगीरथप्रसाद दीक्षितजी ने इस हृदयराम सुरकी का समय वि० सं० १७५०–५१ तक (ई० सन् १६९३–१७१२) दिया है।[2] भूषण को शिवाजी के पास पहुँचने के पूर्व इन्हीं से कविभूषण की उपाधि प्राप्त हुई थी। शिवाजी का स्वर्गवास सन् १६८० ई० में हुआ था और दीक्षितजी के अनुसार भूषण के पदवीदाता हृदयराम सुरकी का समय सन् १६९३ ई० मानने पर उनकी मृत्यु के पश्चात् पदवी का मिलना सिद्ध होगा जो असंभव है।

भूषण के छंद में लिखित 'हृदयराम सुत रुद्र' का अर्थ हृदयराम के पुत्र रुद्र न लेते हुए रुद्र के पुत्र हृदयराम लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। भूषण की रचनाओं में जहाँ पिता पुत्र के संबंध दर्शाए हैं वहाँ सरल अर्थों के अनुसार ही शब्दप्रयोग किए हैं न कि फारसी पद्धति से। इसी दृष्टि से निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) रत्नाकर सुत धीर—अर्थात् रत्नाकर के पुत्र (भूषण)
(२) साहि तनै सिवराज—अर्थात् शहाजी के पुत्र शिवाजी।
(३) मालमकरंद जू के नंद–अर्थात् मालोजी के पुत्र शहाजी।
(४) दशरथ जू के राम—अर्थात् दशरथ के पुत्र राम।
(५) वसुदेव के गोपाल—अर्थात् वसुदेव के पुत्र कृष्ण।

अतः 'हृदयराम सुत रुद्र' का अर्थ हृदयराम के पुत्र रुद्र लेना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। मिश्रबंधु[3], डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[4], डा० भगीरथ मिश्र[5] डॉ० किशोरीलाल गुप्त[6], डा० टीकमसिंह तोमर[7], डा० लक्ष्मीसागर

---

१. मनोरमा पत्रिका, अप्रैल १९२७, पृ० ६९-७५ तथा साहित्य समालोचक, पत्रिका, भाग ४, संख्या १, सं० १९६६, पृ० २७–३१।
२. महाकवि भूषण, भगीरथप्रसाद दीक्षित, पृ० ४२, (सुधा, वर्ष ३, खंड १, सं० ५, पृ० ५३२ से उद्धृत)।
३. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, पृ० ३९९।
४. हिंदी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (सन् १९५५), पृ० ३१२।
५. शृंगारमंजरी, पृ० १८।
६. हरिऔध पत्रिका, अक्तूबर १९५९, पृ० २७।
७. हिंदी वीरकाव्य, डॉ० टीकमसिंह तोमर, (सन १९५४), पृ० २४।

वार्ष्णेय[1], आचार्य रामचंद्र शुक्ल[2], राजेंद्रसिंह गौड[3], हरदयालुसिंह[4] आदि अधिकांश विद्वान् इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। मिश्रबंधुओं ने हृदयराम के पुत्र रुद्र को महोबा निवासी सुरकी माना है। भूषण की रचना में सुलंकी के पयान का एक छंद मिलता है। इस छंद में भरती के उतने शब्द नहीं है और न तो तोड़मरोड़ ही उतने हैं जितने कि उनकी अन्य रचनाओं में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त इसमें साहित्यिक सूझ एवम् उत्तम कल्पना भी है—

> वाजि बंब चढ्यो साजि वाजि जब कढ़ौ भूप,
> गाजी महाराज राजी भूषन बखानतैं।
> चंडी की सहाय मही मंडी तेषताई ऐंड,
> छंडी राय राजा जिन दंडी औनि आन तैं॥
> मंदीभूत रविरज बंदीभूत हठधर,
> नंदी भूतपति मो अनंदी अनुमान तैं।
> रंकीभूत दुवन करंकीभूत दिगदंती,
> पंकीभूत समुद सुलंकी के पयान तैं॥[5]

संभव है कि रुद्रशाह सोलंकी के लिये बनाए हुए छंदों में से यह एक बनाया हो जिसे सुनकर चित्रकूट नरेश हृदयराम सुत रुद्र ने प्रसन्न होकर उन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। संभवतः ये भूषण के प्रथम ही आश्रयदाता थे। प्रारंभिक अवस्था में रुद्रशाह सोलंकी नरेश के लिये किसी ग्रंथ की रचना होना संभवनीय नहीं जान पड़ता। अतः भूषण ने इनकी प्रशस्ति में कुछ स्फुट छंद ही बनाए होंगे जिनमें उपर्युक्त छंद है।

भूषण और औरंगजेब :

रुद्रशाह सोलंकी नरेश के आश्रय में भूषण कबतक रहे और वहाँ से वे शिवाजी के पास कैसे और कब पहुँचे, यह भी अनुमान का ही विषय है। इसके संबंध में विभिन्न मत प्रदर्शित किए जाते हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ० वार्ष्णेय, (सन् १९६१), पृ० १६४।
२. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'सं० २०१८, पृ० २४२।
३. हरिऔध पत्रिका, अप्रैल १९५८।
४. भूषणभारती, हरदयालुसिंह, (सन् १९५८), पृ० ६।
५. भूषणग्रंथावली, मिश्रबंधु, पृ० १३४।

है कि भूषण रुद्रशाह सोलंकी के यहाँ से दिल्लीश्वर औरंगजेब के दरबार में पहुँचे थे। उनके अनुमान का आधार 'चिटणीस बखर' में प्राप्त भूषण-विषयक उल्लेख तथा भूषण का औरंगजेब विषयक निम्नलिखित छंद है—

किबले के ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
वाको कैद कियो मानो मक्के अगि लाई है।
बडो भाई दारा वाको पकरिकै मारिडार्‍यो,
मेहरहू नाहिं माको जायो सगेभाई है।
खाइ कै कसम त्यों मुरादको मनाइ लिये,
फेरि ताहू साथ अति किन्ही तैं ठगाई है।
भूषन सुकवि कहै सुनो नवरंगजेब ऐसे ही,
अनीति करि पातसाही पाई है ॥१॥
हाथ तबसीह लिये प्रात करै बँदगीसो,
मन के कपट सबै संभारत जपके।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हो,
छत्रहू छिनाय लिन्हो मारि बूढे बापकै।
सूजा विचलाय कैद करिकै मुराद मारे,
ऐसही अनेक हते गोत्र निज चिपके।
भूषन भनत अब साह भए साँचे जैसे,
सौसौ चूहे खाइकै विलाई बैठी तपके[1] ॥२॥

इन छंदों में औरंगजेब के दुष्कृत्यों का अत्यंत स्पष्ट एवं प्रामाणिक वर्णन अवश्य है परंतु इनसे यह ज्ञात नहीं होता कि भूषण औरंगजेब के दरबारी कवि थे। भूषण ने अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख तक नहीं किया है। रामनरेश त्रिपाठीजी ने लिखा है कि पहले वे (भूषण) औरंगजेब के दरबार में रहे थे। औरंगजेब के दरबार में उनके बड़े भाई चिंतामणि के सिवा और भी हिंदी के कई कवि थे जो पेट से विवश होकर हिंदुओं के ऊपर उसके अत्याचारों को अपनी आँखों से देखते थे और देखकर चुप भी नहीं रह सकते थे, बल्कि उसकी प्रशंसा में कवित्त कहते थे। उन कवियों का कैसा अपमानपूर्ण जीवन था। एक भूषण ही ऐसे मनस्वी थे जिन्होंने बादशाह की दी हुई

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (सं० २०१७), पृ० २३८।

जीविका को लात मार दी थी ।[१] भूषण के औरंगजेब के दरबार में जाने और उपर्युक्त छंद सुनाने के संबंध में एक दंतकथा बताई जाती है ।

दिल्ली पहुँचने पर अपने भाई चिंतामणि के साथ भूषण भी औरंगजेब के दरबार में जाने लगे । एक दिन औरंगजेब ने भूषण की कविता सुनने की इच्छा प्रकट की । तब भूषण ने कहा—मेरी कविता सुनने के लिये आपको हाथ धोने पड़ेंगे क्योंकि मेरे भाई चिंतामणि की शृंगार रस की कविता सुनकर आपका हाथ ठौर कुठौर पड़ने के कारण गंदा हो गया है । मेरा वीरकाव्य सुनकर आपका हाथ मूछों पर पड़ेगा । उनकी बात सुनकर बादशाह ने कहा कि यदि ऐसा न हुआ तो तुम्हें मृत्युदंड दिया जायगा । आत्मविश्वास के साथ भूषण ने बादशाह की चुनौती को स्वीकार किया । बादशाह भी हाथ धोकर भूषण का वीरकाव्य सुनने बैठ गया । भूषण ने फड़कते स्वर में वीररस युक्त छंद सुनाना प्रारंभ किया । वीरकाव्य के जोश के कारण औरंगजेब का हाथ स्वभावतः मूछों पर गया । बादशाह यह देखकर प्रसन्न हुआ उसने भूषण को पारितोषिक आदि देकर संमानित किया । तब से भूषण का औरंगजेब के दरबार में अच्छा मान होने लगा ।

एक दिन बादशाह ने कवियों से कहा कि तुम लोग सदैव मेरी प्रशंसा ही किया करते हो, क्या मुझमें कोई दोष नहीं है ? इतना कहने पर भी किसी की हिम्मत नहीं हुई कि वह बादशाह के अत्याचारों का वर्णन करे । सभी चापलूसी करने लगे परंतु स्वधर्माभिमानी भूषण कवि से न रहा गया और उन्होंने उपर्युक्त दो छंद सुनाए ही । उनको सुनकर औरंगजेब बहुत क्रुद्ध हुआ और वह भूषण को मृत्युदंड देने को उद्यत हुआ परंतु दरबारियों ने अभयवचन का स्मरण दिलाकर भूषण की जान बचाई । अब भूषण ने वहाँ रहना उचित न समझा और अपनी द्रुतगामिनी कबूतरी घोड़ी पर चढ़कर उन्होंने दक्षिण की राह ली । भूषण जब दिल्ली छोड़कर अपनी घोड़ी पर चढ़े जा रहे थे तो रास्ते में हाथी पर चढ़कर नमाज पढ़ने के लिये आता हुआ बादशाह मिला परंतु भूषण ने उसकी ओर देखा तक नहीं । तब बादशाह ने एक दरबारी द्वारा भूषण से पुछवाया कि वे कहाँ जा रहे हैं । भूषण ने उत्तर दिया कि अब वे शिवाजी महाराज के दरबार में रहेंगे और वहीं जा रहे हैं । अपने शत्रु शिवाजी के दरबार में जाने की बात सुनते ही बादशाह ने

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० रामनरेश त्रिपाठी, (सं० १९८७), पृ० ४ ।

उन्हें पकड़ने की आज्ञा दी परंतु उन्होंने जो एँड़ी लगाई तो पीछा करनेवाले देखते ही रह गए और वे हवा हो गए।

यह कथा अनेक कारणों से विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती। चिटणीसकृत शिवछत्रपति महाराज के सप्तप्रकरणात्मक चरित्र (बखर) में इस कथा के पूर्वार्ध का उल्लेख थोड़े अंतर के साथ है जिसमें भूषण के औरंगजेब के दरबार में जाने एवं सम्मान पाने की बात है। परंतु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि चिटणीस ने भूषण के औरंगजेब के दरबार में जाने की बात[1] शिवाजी के आश्रय में उनके आने के बाद की लिखी है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी के यहाँ आने के पूर्व भूषण औरंगजेब के दरबार में नहीं थे। दूसरी बात यह है कि चिंतामणि के औरंगजेब के दरबार में रहने का कोई प्रामाणिक प्रमाण भी नहीं मिलता। इतिहास से ज्ञात होता है कि अपने पिता शाहजहाँ के जीवनकाल ही में औरंगजेब ने उन्हें कैद कर दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया था और अपने सगे भाइयों तथा अन्य विरोधियों को मरवा डाला था। उसने दिल्ली का सिंहासन सन् १६५८ ई० में हथिया लिया और उसका राज्यारोहण समारोह २६ मई, १६५६ के दिन हुआ और उसने अपने को दिल्ली का बादशाह घोषित किया। इस अवसर पर उसने 'आलमगीर' नाम धारण किया।[2] सन् १६६४ ई० तक का समय विरोधियों के साथ झगड़ने तथा अपने भाइयों को अपने रास्ते से सदा के लिये दूर करने की व्यवस्था में बीता। ऐसी संघर्षजन्य परिस्थिति में सन् १६५८ से १६६५ ई० तक उसके दरबार में कवियों का होना संभवनीय प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाण मिलता है कि औरंगजेब के राज्यारोहण के पश्चात् ग्यारह वर्ष तक (अर्थात् सन् १६६६ ई० तक) कुछ कलावंत और कवि किसी प्रकार उसके दरबार में बने रहे, परंतु अंततोगत्वा उन्हें बिल्कुल निकाल दिया गया।[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि यदि चिंतामणि औरंगजेब के दरबार में होंगे तो सन् १६५६ से १६६६ के बीच में होंगे परंतु यह संभवनीय नहीं है

---

१. मल्हाररामराव चिटणीस विरचित शककर्ते श्री शिव छत्रपति महाराजांचे सप्तप्रकरणात्मक चरित्र, सन् १६२४ ई० , पृ० १८६।

२. मुसलमानी रियासत, गो० स० सरदेसाई, (सन् १६२८), पृ० २६१।

४. हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, संपा० डा० नगेंद्र, .सं० २०१४), पृ० ७।

क्योंकि सन् १५५७ से सन् १६६८ तक चिंतामणि दक्षिण में ही शहाजी भोंसले तथा अकबरसाहि के दरबार में थे जिसकी विस्तृत चर्चा सप्रमाण इसी अध्याय में चिंतामणि के जीवनवृत्त के साथ लेखक ने की है। उसके अनंतर उस समय औरंगजेब के दरबार में पहुँचना असंभव है जब उसने रहेसहे कवियों तथा कलाकारों को निकाल दिया था। अतः जहाँ चिंतामणि के ही औरंगजेब के दरबार में जाने की बात प्रामाणिक नहीं है वहाँ उनके साथ दरबार में जाने-वाले भूषण की बात निराधार ही जान पड़ती है। भूषण के स्वभाव को देखते हुए इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि हिंदुओं पर अत्याचार करनेवाले दुष्ट एवं निर्दय औरंगजेब के दरबार में केवल पेट भरने के लिये अपमानपूर्वक जीवन जीना उन्होंने स्वीकार किया हो। भूषण जैसे स्वधर्माभि-मानी व्यक्ति के लिये एक पल भी वहाँ रहना असंभव है। कथा के अनुसार भूषण जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा भरे दरबार में ठौरकुठौर पर हाथ पड़ने तथा उसे धोने की बात कहना, चिंतामणि का निरादर करना, प्रत्यक्ष दरबार में औरंगजेब के दुष्कृत्यों को इतनी तिखाई से बताना और बाद में दरबारियों द्वारा अभयवचन की याद कराकर भूषण की जान बचाना, उसी तरह औरंगजेब के सैनिकों द्वारा पीछा होने पर भी कबूतरी घोड़ी से तेजी के साथ भूषण का निकलना और न पकड़ा जाना ये सभी बातें असंभव सी तथा कल्पनाजन्य प्रतीत होती हैं।

जिस औरंगजेब ने अपनी कार्यसिद्धि के लिये भाइयों तथा अन्य व्यक्तियों को दिए हुए अभयदानों को तोड़ा, आगरे में बुलाए गए शिवाजी को दिए हुए वचनों को तोड़ा वह औरंगजेब भरे दरबार में अपने ही सामने अपने कुकर्मों का उल्लेखकर घोर अपमान करनेवाले व्यक्ति को केवल अभयदान का स्मरण करा देने पर मृत्युदंड देने का विचार बदल देगा और उल्टे संमान करेगा यह कैसे संभव है ? अतः यह निश्चित हो जाता है कि शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पूर्व भूषण औरंगजेब के दरबार में नहीं गए थे। यह संभव है कि उत्तर में ही रहने के कारण हिंदुओं पर अत्याचार करनेवाले औरंगजेब का इतिहास उन्हें अच्छी तरह से मालूम हो और हिंदुओं की रक्षा करनेवाले शिवाजी अथवा छत्रसाल के सामने इन्होंने औरंगजेब के अत्याचारों का वर्णन करते समय उपर्युक्त छंद सुनाए हों। ये दोनों छंद अधिकांश संपादकों ने 'शिवाबावनी' के अंतर्गत भी रखे हैं जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

छत्रपति शिवाजी के आश्रय में आगमन :

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप में यही अनुमान होता है कि हृदयराम सुत रुद्रशाह सोलंकी के दरबार से भूषण दिल्ली में औरंगजेब के दरबार में नहीं गए बल्कि शिवाजी के दरबार में पहुँचे थे। यह बात युक्तिसंगत भी लगती है क्योंकि संवत् १७२३ अर्थात् १३ सितंबर १६६६ में शिवाजी महाराज आगरे के बंदीगृह से मुक्त होकर रायगढ़ पहुँचे थे।[1] उस समय भूषण चित्रकूट नरेश रुद्रशाह सोलंकी के यहाँ थे। उन्होंने शिवाजी की कीर्ति तथा अभूतपूर्व पराक्रम की बातें वहाँ अवश्य सुनी होंगी क्योंकि औरंगजेब के बंदीगृह से छूटने के बाद भारतभर में शिवाजी के अभूतपूर्व साहस की चर्चा सर्वत्र हुई थी। अपनी प्रकृति के अनुकूल नायक पाकर भूषण प्रसन्न हुए होंगे और शिवाजी के दरबार में १३ सितंबर १६६६ (संवत् १७२३ वि०) के पश्चात् शीघ्र ही सन् १६६७ ई० में अर्थात् संवत् १७२४ में शिवाजी के पास पहुँचे होंगे। इतिहास में भी लिखा है कि आग्रा से शिवाजी के निकलने की वार्ता सुनकर शीघ्र ही शिवाजी जैसे लोकोत्तर महापुरुष के दर्शन लेने की इच्छा से भूषण रायगढ़ आए थे।[2] मिश्रबंधुओं ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है कि भूषण प्रायः ३२ वर्ष की अवस्था में संवत् १७२४ के अंत में शिवाजी के यहाँ पहुँचे।[3]

शिवाजी महाराज के साथ भूषण की जो प्रथम भेंट हुई उसके संबंध में भी एक कथा बताई जाती है। ये जब रायगढ़ पहुँचे तो किसी मंदिर में ठहरे वहाँ छद्मवेषधारी शिवाजी यह पता लगाने के लिये आए कि यात्री किस अभिप्राय से यहाँ आया है। उन्होंने बताया कि मैं शिवाजी को अपनी कविता सुनाना चाहता हूँ। छद्मवेषधारी शिवाजी ने कहा कि मुझे भी कुछ सुनाइए। इसपर इन्होंने उनका परिचय पूछा। उन्होंने अपने को शिवाजी का सिपाही बताया। तब भूषण ने उन्हें शिवाजी का निकटस्थ समझकर कविता सुनाना प्रारंभ किया। भूषण ने निम्नलिखित छंद ५२ वार पढ़ा। कुछ लोगों का कहना है कि भूषण ने केवल १८ बार यह कवित्त पढ़ा—

---

१. शिवाजी, यदुनाथ सरकार, पृ० ८२।
२. शककर्ता शिवाजी, गो० स० सरदेसाई, (सन् १९२५), पृ० २२२।
३. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, (सं० १९८६), पृ० ३७५।

इंद्र जिम जंभ पर बाडव ज्यों अंभपर रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर ज्यों सहस्रबाहुपर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर भूषन बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिम कंसपर यौं मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

कुछ लोग कहते हैं कि भूषण ने ५२ बार ५२ छंद पढ़े थे। जब भूषण ने आगे पढ़ने से इनकार किया तब उक्त सिपाही उनसे यह कहकर चला गया कि कल शिवाजी के दरबार में आइएगा, वहीं भेंट होगी। भूषण जब दूसरे दिन दरबार में पहुँचे तो उसी व्यक्ति को सिंहासनपर विराजित पाया। भूषण को उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और समझ लिया कि वस्तुतः शिवाजी से कल ही भेंट हुई थी। शिवाजी महाराज ने भूषण का बड़ा सत्कार किया और उन्हें ५२ लाख रुपये, ५२ हाथी और ५२ गाँव पुरस्कार में दिए।[१] भूषण के समकालीन संवत् १७६० वाले लोकनाथ कवि ने[२] केवल ५२ हाथियों के मिलने की बात लिखी है। तात्पर्य रूप में यही कहा जायगा कि उन्हें ५२ हाथी और प्रचुर धन मिला था। भूषण शिवाजी के पास कितने वर्ष थे इसके संबंध में भी मतभेद है। भूषण ने प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराजभूषण' संवत् १७३० अर्थात् सन् १६७३ में पूर्ण किया था। तबतक तो उनका शिवाजी के पास होना निश्चित हो जाता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि सन् १६७४ ई० (सं० १७३१) तक वे शिवाजी के पास थे और राज्याभिषेक के पश्चात् अपने प्रांत में लौट आए और फिर सन् १७०८ और १७१५ ई० में शाहू महाराज की भेंट लेने आए थे।[३] चिटणीस ने शिवाजी के पास भूषण का दो बार आना लिखा है।[४]

मिश्रबंधु भी शिवाजी के पास भूषण के दो बार आने की बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—सन् १६७४ या ७५ ईसवी के आसपास भूषणजी कुछ दिनों के लिये अपने घर लौटे और रास्ते में छत्रसाल बुंदेला के यहाँ पहुँचे।....थोड़े दिनों के बाद ये महाराज शिवाजी के यहाँ फिर आ गए और समय समय पर उनके कवित्त बनाते रहे जिनमें 'शिवाबावनी' के

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (सं० २०१७), पृ० ६२।
२. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, (सं० १९९८), पृ० ३६९।
३. शककर्ता शिवाजी, गो० सं० सरदेसाई, (सन् १९२५), पृ० २२२।
४. शककर्ता श्री शिवछत्रपति महाराज ह्यांचे सप्तप्रकरणात्मक चरित्र, (सन् १७२४), पृ० १८९-९०।

छंद भी हैं। संभव है कि इन दिनों उन्होंने शिवाजी पर दो एक और ग्रंथ भी बना डाले हों जिनका अब पता नहीं चलता। सन् १६८० ईसवीं में शिवाजी के स्वर्गवासी होने पर कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए ये फिर घर लौट आए और उक्त छत्रसाल के यहाँ आते जाते रहे। सन् १७०७ में जब शाहूजी ने दिल्लीश्वर की कैद से छूट कर अपना राज्य पाया, तब भूषणजी अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे और सदा की भाँति सम्मानित हुए होंगे। साल डेढ़ साल वहाँ रहकर भूषणजी संभवतः फिर घर लौट आए और आनंद से रहे होंगे[1]।

कुछ विद्वानों का मत है कि भूषण के शिवाजी के यहाँ से संवत् १७३१ में लौट आने की बात कल्पना मात्र है। भूषण ने अपने फुटकर छंदों में संवत् १७३४ तक की घटनाओं का उल्लेख किया है। संवत् १७३४ में शिवाजी ने कर्नाटक पर चढ़ाई की और अपने भाई व्यंकोजी को परास्त करने के लिये प्रयाण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शिवाजी के स्वर्गवास होने (सं० १७३७) तक भूषण उन्हीं के साथ रहे।[2] सन् १८८९ में मोडकजी द्वारा संपादित 'शिवराजभूषण' की प्रस्तावना में भी सन् १६८० ई० तक भूषण के शिवाजी के पास रहने की बात लिखी है।[3]

अधिकांश मत इस बात का समर्थन तो करते हैं कि भूषण शिवाजी के पास सन् १६६७ से १६८० ई० तक अवश्य थे। लगभग १३ वर्ष के निवास में यदि वे एकाध वर्ष घर जाकर आएँ भी हों तो वह अस्वाभाविक अथवा असंभव नहीं है और उससे भूषण संबंधी निष्कर्ष में कुछ बाधा भी नहीं पहुँचती। राज्याभिषेक समारोह के विषय में उनका एकाध ही छंद पाकर कुछ लोग यह भी अनुमान करते हैं कि भूषण उस समय वहाँ नहीं होंगे, परंतु यह भी तो अनुमान मात्र है। राज्याभिषेक के समय 'शिवराजभूषण' लगभग समाप्त हो चुका था। अतः संभव है कि उन्होंने राज्याभिषेक के संबंध में अलग छंद भी बनाए हों जो भूषण के अन्य अप्राप्य छंदों की भाँति अज्ञात हैं। सभी परिस्थितियों का भलीभाँति विचार करने पर यही निष्कर्ष अधिक तर्कसंगत लगता है कि भूषण राज्याभिषेक के पश्चात् एकाध वर्ष अपने घर जाकर फिर शिवाजी के पास आए थे और शिवाजी की मृत्यु तक वहाँ रहकर

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, पृ० ११ और १२।
२. हरिऔध पत्रिका, अप्रैल १६२८, पृ० १७-१८।
३. शिवराजभूषण काव्य, संपा० ज० बा० मोडक, (सन् १८८९), पृ० १।

फिर उत्तर भारत में चले आए। संभाजी की प्रकृति शृंगार रस की ओर अधिक आकर्षित थी। 'नखशिख', 'नायिकाभेद' जैसे काव्य न भूषण के आदर्श थे न वे वैसी रचनाएँ करना भी पसंद करते थे। अतः उन्होंने स्वयम् ही वहाँ से अपनी प्रकृति तथा प्रवृत्ति के प्रतिकूल वातावरण को देखकर चलना उचित समझा हो। शंभुराज के काव्यगुरु तथा प्रधान कविकलश का आदर्श भूषण से सर्वथा भिन्न था। यह बहुत संभव है कि छत्रपति शाहू के राज्यारोहण के बाद मराठों का उत्कर्ष एवम् वैभव संपन्नता देखकर भूषण शाहू के पास सन् १७१५ ई० के आसपास अवश्य आए हों। सन् १७०८ ई० में शाहू के सिंहासनारूढ़ होते ही उनका आना इसलिये संभवनीय नहीं लगता कि प्रारंभकाल में अंतर्गत संघर्ष मिटाने तथा राज्य में सुस्थिरता निर्माण करने में उनका समय व्यतीत हुआ। सन् १७१३ ई० में बालाजी बाजीराव को पेशवा बनाने पर इनके शासन में सुस्थिरता आने लगी और मराठों की धाक पुनः भारतभर में जमने लगी थी। इसलिये सन् १७१३ ई० के पश्चात् ही भूषण का शाहू के पास पहुँचना समीचीन जान पड़ता है। सर देसाई ने[३] सन् १७१५ ई० में भूषण का शाहू के पास पुनः आना स्वीकार किया है। अतः यदि सन् १७१५ ई० के लगभग भूषण का शाहू के पास आना मान लिया जाय तो वह अधिक उचित होगा।

शिवाजी और भूषण का समकालीनत्व आक्षेप और समाधान :

शाहू के नाम पर मिलनेवाले भूषण के कुछ छंदों के आधार पर एक ऐसा भी मत प्रदर्शित किया जाता हैं कि भूषण वास्तव में शिवाजी के आश्रित कवि थे ही नहीं बल्कि शाहू महाराज के दरबारी कवि थे। इस मत को सर्वप्रथम प्रदर्शित किया पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने। उन्होंने विभिन्न हिंदी पत्र पत्रिकाओं में अनेक लेखों द्वारा अपना यह मत सिद्ध करने का प्रयास किया। 'भूषणविमर्श' तथा 'महाकवि भूषण' ग्रंथों के माध्यम से यही मत प्रसारित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रारंभ में कुछ लोग इनकी नई खोज से प्रभावित अवश्य हुए परंतु अपने सिद्धांतों के समर्थन में दीक्षित-जी के दिए हुए प्रमाण अत्यंत दुर्बल सिद्ध होने से वह प्रभाव अधिक समय तक न रह सका। फिर भी अपवादरूप कुछ विद्वान् इनके मत को स्वीकार भी करते हैं। दीक्षितजी ने नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित शिवराजभूषण

---

३ शककर्ता शिवाजी, गो० स० सरदेसाई, (सन् १९२५), पृ० २२२।

में प्राप्त रचनाकाल दर्शक छंद के[1] आधार पर भूषण का जन्म संवत् १७३८ और शिवराजभूषण का निर्माणकाल संवत् १७७३ सिद्ध करने का प्रयास किया है जो तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। इसकी विस्तृत चर्चा भूषण के जन्मकाल के विवेचन में की गई है। उनका कथन है कि वास्तव में भूषण शिवाजी के समकालीन नहीं थे बल्कि छत्रपति शाहू के समकालीन थे और उन्हीं के आश्रय में उन्होंने 'शिवराजभूषण' की रचना की थी।[2] अपने मत की पुष्टि मेंदीक्षितजी ने और भी कुछ बातें कही हैं परंतु भ्रममूलक धारणा और कोरी कल्पना पर आधारित होने से उनका विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जिनमें से कुछ की चर्चा इसके पूर्व लेखक ने की है।

भूषण शाहू के समकालीन थे यह बात ठीक है परंतु वे शिवाजी के समकालीन ही नहीं थे और उन्होंने 'शिवराजभूषण' की रचना शाहू के आश्रय में की थी, यह कथन सर्वथा निराधार और अनुमान पर आधारित है। अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य दोनों सामग्रियों से प्राप्त प्रमाणों से यह निश्चित हो जाता है कि भूषण प्रथम शिवाजी के आश्रित कवि थे और उन्हीं के आश्रय में 'शिवराजभूषण' की रचना की गई थी। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् भूषण पुनः शाहू के आश्रय में कुछ दिन रहे थे। भूषण के समकालीन संवत् १७६० के लोकनाथ कवि के निम्न छंद से शिवाजी और भूषण के समकालीनत्व पर प्रकाश पड़ता है—

भूषन नेवाज्यो जैसे शिवा महाराज जू ने
बारन दै बावन धरा पै जस छाव है,
बुद्धजू दिवान लोकनाथ कविराज कह
दियो इकलौरा पुनि धौलपुर गाँव है॥[3]

इस छंद में लोकनाथ ने शिवाजी महाराज के द्वारा भूषण को ५२ हाथी देकर सम्मानित करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। साथ ही राव बुद्ध दीवान (सं० १७६४-१८०५) के द्वारा लोकनाथ को एक ग्राम की प्राप्ति की बात भी लिखी है। इसी प्रकार संवत् १७३४ (सन् १६७७ ई०) के दूसरे समकालीन कवि दास ने भी अपने एक छंद में भूषण की प्रशंसा की है—

---

१. सम सत्रह सैंतीस पर, शुचि वदि तेरसिभान।
भूषण शिव भूषण कियो पढ़ियो सुनो सुज्ञान।
—महाकवि भूषण, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, पृष्ठ ६।

२. भूषणविमर्श—भगीरथप्रसाद दीक्षित, (सन् १६५०), पृ० ७७।

३. सुधा पत्रिका, दिसंबर, १६३२, मिश्रबंधुओं का लेख, पृ० ३८६।

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।
एकन को बहु संपति केशव भूषन ज्यों बलबीर बड़ाई ॥
एकन को जस ही सो प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं ।
दास कवित्तन की चरचा गुनवंतन को सुखदै सब ठाईं ॥[1]

इससे स्पष्ट है कि भूषण ने सं० १७३४ के लगभग विपुल संपत्ति एवम् संमान प्राप्त किया था। शिवाजी तथा भूषण के समकालीन कवि लोकनाथ और दास की कविताओं में प्राप्त भूषण विषयक उल्लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि भूषण शिवाजी के समकालीन थे और उनके द्वारा वे संमानित भी हुए थे। मराठा इतिहास के मर्मज्ञ इतिहासाचार्य राजवाडे भूषण को शिवाजी के आश्रित कवि मानते हैं और भूषण द्वारा वर्णित ऐतिहासिक उल्लेख को ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] सरदेसाई[3], दिवेकर,[4] यदुनाथ सरकार,[5] बेन्द्रे[6] जैसे ख्यातनाम इतिहासकारों ने भी इसी बात को स्वीकार किया है। प्राचीन बखरों में भी भूषण के शिवाजी के आश्रय में रहने एवम् संमान पाने की बात लिखी है। शिवाजी के समकालीन संत तुकाराम ने भी अपनी गाथा में 'भूषण' का उल्लेख किया है।[7] इस प्रकार बहिःसाक्ष्य से प्राप्त सामग्री से भूषण तथा शिवाजी के समकालीनत्व का ही समर्थन होता है।

अंतःसाक्ष्य सामग्री से तो स्पष्ट ही हो जाता है कि भूषण शिवाजी के समकालीन एवम् आश्रित कवि थे। 'शिवराजभूषण' के अंतर्गत शिवाजी के विषय में भूषण के निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

(१) देसन देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि।
तिन मैं आयौ एक कवि भूषन कहियतु जाहि ॥
(२) शिवचरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त,
भाँति भाँति भूषननि सों भूषित करौं कवित्त ॥

---

१ भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, (सं० २०१५); पृ १ ।
२. ऐतिहासिक प्रस्तावना, भा० १, (ई० सन् १६२८), पृ० ४४८ और २६८ ।
३ शककर्ता शिवाजी, सरदेसाई, (सन् १६२५ ई०) पृ० २२२ ।
४. शिवचरित्र प्रदीप, भा० इ० सं० मंडल, पूना, (शके १८४७ : पृ ३१५ ।
५. शिवाजी, यदुनाथ सरकार, (सन् १६४३ ई०), पृ० २ ।
६. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे, (सन् १६६० ई०); पृ० ११२ ।
७. तुकारामजी गाथा, भा० १-२, पृ० ६८५ ।

(३) राजन को गन, राजन ! को गनै ?
साहिन मैं न इति छत्रि छजै।
आजु गरीब नेवाज मही पर
तो सो तो ही सिवराज बिराजै ॥

(४) और नृपति भूषन कहैं करैं न सुगमौ काज।
साहि तनै सिव सुजस तो करैं कठिनऊ आज ॥

(५) सूरदानी मिरताज महाराज सिवराज,
रावरे सुजस सम आजु काहि गुनियै

(६) तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आजु,
तुमही जगत काज पोषत भरत हौ।
तुम्हें छोडि याते काहि बिनती सुनाऊँ मैं,
तुम्हरे गुन गाऊँ तुम ढीले क्यों परत हौ ॥
भूषन भनत वहिकुल मैं नयो गुनाह,
नाहक समुझि यह चित्त में धरत हौ ॥
और बाँभनन देखि करत सुदामा सुधि मोहिं,
देखि काहे सुधि भृगु की करत हौ ॥'

उपर्युक्त छंदों में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाएँ, मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग, गाऊँ, सुनाऊँ आदि भविष्यकालीन क्रियाओं को रूप, 'आजु' शब्द, राजन, सिवराज जैसे संबोधन आदि बातों से यह स्पष्ट होता है कि भूषण ने शिवाजी के आश्रय ही में 'शिवराजभूषण' की रचना की थी। अर्थ की दृष्टि से भी वे ठीक वर्तमानकालीन जँचती हैं। इस प्रकार के कई छंद समस्त शिवराजभूषण में पाए जाते हैं। ग्रंथ में आशीर्वादात्मक छंद भी प्राप्त होते हैं—

(१) शिवराज अटल रहै तौ लौं जौ लौं,
त्रिदस भुवन सब, गंग और नरमदा।
साहि तनै साहसिक भौंसिला सुरजबंस,
दासरथि राज तौ लौं सरजा थिर सदा ॥

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० मिश्रबंधु, (सं० २०१२), पृ० ८,६,१३,३६,१६,२३।

(२) पुहुमि पानि रवि ससि पवन जब लौं रहे अकास।
सिव सरजा तब लौं जियौ भूषन सुजस प्रकास ॥[1]

आशीर्वाद जीवित व्यक्ति को दिया जाता है न कि मृत व्यक्ति को। भूषण के उपर्युक्त छंदों में आशीर्वाद तथा शुभेच्छा का भाव और 'जबलौं तबलौं' का प्रयोग इसी लिये प्राप्त होता है कि उन्होंने शिवाजी की जीवितावस्था में 'शिवराजभूषण' की रचना की थी। भूषण के कई छंदों को देखकर प्रतीत होता है कि उन्होंने संभवतः उन छंदों को प्रत्यक्ष शिवाजी महाराज को सुनाया था। वे छंद 'शिवराजभूषण' की लगभग सभी प्रतियों में मिलते हैं। अतः मृत शिवाजी को आदर्शरूप मानकर उनके लिये शाहू के आश्रय में 'शिवराजभूषण' की रचना मानना केवल कल्पना मात्र प्रतीत होती है। 'शिवराजभूषण' में शिवाजी के राज्याभिषेक तक की ही प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है जिनसे स्पष्ट होता है कि उक्त ग्रंथ की रचना संवत् १७३० में शिवाजी के राज्याभिषेक के कुछ ही दिन पूर्व समाप्त हुई थी। यदि शाहू के समय और शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् हुई होती तो उसमें शिवाजी के स्वर्गवास (सन् १६८० ई०) तक की घटनाओं का उल्लेख अवश्य होता, परंतु वैसा नहीं है। शाहूजी के दरबार में रहकर उनके लिये कुछ ही फुटकल छंदों का निर्माण करना और शिवाजी के लिये अधिकांश ग्रंथरचना करना तर्कसंगत ज्ञात नहीं होता।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शिवराजभूषण' के अंत में कालसूचक जो छंद है वह ग्रंथ की समाप्ति का सूचक ही है न कि कवि के जन्मकाल का। इसके अतिरिक्त उसका अर्थ भी भूषण की प्रकृति के अनुसार सरल ही है। उसमें श्लेष निकालना भी युक्तिसंगत नहीं है जब कि समस्त प्रमाण भूषण को शिवाजी का समकालीन सिद्ध करते हैं। यह समाप्तिकाल दर्शक छंद विभिन्न प्रतियों में कुछ छंदों के साथ मिलता है, देखिए—

(१) सम सत्रहसै तीस पर सुचि बदि तेरस भान।
भूषन सिवभूषन कियो पढियो सुनो सुजान ॥[2]

---

१. भूषण ग्रंथावली, पृ० १०७, छंद ३८१, ३८२।

२. शिवराजभूषण काव्य, संपा० ज० बा० मोडक, पूना।
संपूर्ण भूषण, संपा० रा० गो० काटे, पूना, काशीराज के पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति, छंद नं० ३८०।
भूषण ग्रंथावली, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता, शिवराजभूषण, निर्णयसागर प्रेस, बंबई।

(२) सुभ सत्रह सै तीस पर बुध सुद्धि तेरसि मान।
भूषण सिवभूषन कियो पढ़ियो सुनो सुजान ॥[१]

(३) समत सत्रह सैं तीस पर सुचि बदि तेरसि भानु।
भूखन सिवभूखन कियो पढौ सकल सुज्ञान ॥[२]

(४) संवत सत्रह तीस पर सुचिबदि तेरसि भानु।
भूषन सिवभूषन कियो पढ़ो सकल सुज्ञान ॥[३]

(५) सुभ सत्रह सै तीस पर सुचि बदि तेरस भान।
भूषन शिवभूषन कियो पढ़ियो सकल सुजान ॥[४]

(६) सम सत्रह सें तीस पर, सुचि बदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढियो सुनो सुजान ॥[५]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश प्रतियों में प्रथम छंद ही मिलता है। छंद क्रमांक ३, ४, ५ में विशेष अंतर नहीं है और जो है उससे परिणाम में अंतर नहीं आता। छंदक्रमांक ६ में वास्तव में 'से' अलग है परंतु दीक्षितजी उसका अन्वय अर्थ 'सैंतीस' लगाते हैं जो उचित नहीं है। केवल छंदक्रमांक २ में अंतर है जिसके संबंध में मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि उनकी प्रार्थनापर महामहोपाध्याय श्री पंडित सुधाकरजी ने सं० १७३० का पूर्ण पंचाग बनाकर उनके पास भेज दिया था। इससे विदित होता है कि श्रावण और कार्तिक मास में शुक्ला त्रयोदशी बुधवार को उक्त संवत् में पड़ी थी। कार्तिक में १४ दंड और ५५ पल वह तिथि बुधवार के दिन थी और श्रावण में ३६ दंड और ४० पल। इसी से उन्होंने अनुमान किया कि 'शिवराजभूषण' कार्तिक मास में समाप्त हुआ था।[६] शिवराजभूषण की अधिकांश प्रतियों में प्राप्त छंदों को छोड़कर इस छंद को स्वीकार करना इसलिये उचित न होगा कि उसमें मास का उल्लेख तक नहीं मिलता और इसी से अनुमान पर आश्रित रहना पड़ता है। विभिन्न प्रतियों में प्राप्त छंदों पर विचार करने से यही छंद समुचित जान पड़ता है—

---

१. भूषण ग्रंथावली, मिश्रबंधु।
२. शिवराजभूषण, लक्ष्मीशंकर व्यास।
३. शिवराजशतक, गोविंद गिल्लाभाई, भावनगर।
४ भूषणग्रंथावली ब्रजरत्नदास, प्रयाग।
५. शिवराजभूषण, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
६. भूषणग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ३६।

समत सत्रह सै तीस पर सुचि बदि तेरस भान।
भूषन सिवभूषन कियो पढ़ियो सकल सुज्ञान ॥

अधिकांश प्रतियों में प्राप्त छंद इस प्रकार है—

सम सत्रह सै तीस पर सुचि बदि तेरस भान।
भूषन शिवभूषन कियो पढ़ियो कियो सुजान ॥

तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों छंदों के प्रथम पद में ही केवल अंतर है। लिपिकार के द्वारा 'समत' का 'सम' होना सहज संभव है। अर्थ तथा शुद्धता की दृष्टि से 'समत' शब्द ही उचित ज्ञात होता है। इस छंद में संवत्, मास, तिथि तथा वार सभी का उल्लेख किया गया है। अतः यही छंद शु ज्ञात होता है। इसमें 'सुचि' शब्द मास का सूचक है और 'भान' रविवार (भानुवार) का। सुचि (शुचि) शब्द का प्रयोग ग्रीष्म ऋतु में आनेवाले ज्येष्ठ और आषाढ़ दोनों महीनों के लिये होता है।[1] अतः 'सुचि' का अर्थ यहाँ या तो ज्येष्ठ है या आषाढ़। उत्तर और दक्षिण के पंचांगों और व्यवहारों में महीनों के शुक्ल पक्ष में तो कोई भेद नहीं होता पर कृष्ण पक्ष में अंतर पड़ता है। यहाँ 'बदी' कृष्ण पक्ष के लिये है। उत्तर में पूर्णिमांत मास होते हैं और दक्षिण में अमांत। इससे यह अंतर पड़ता है कि जिसे उत्तरवाले आषाढ़ कृष्ण कहेंगे उसे दक्षिणवाले ज्येष्ठ कृष्ण। जान पड़ता है कि यह भूषण ने 'शुचि' शब्द का व्यवहार इसी चातुर्य से किया है। यहाँ 'शुचि' कों दोनों अर्थ हैं आषाढ़ और ज्येष्ठ भी। दक्षिण के अनुसार ज्येष्ठ कृष्ण था और उत्तर के अनुसार आषाढ़ कृष्ण।[2]

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्रीमान् दिवेकरजी ने भी ज्येष्ठ को पूर्णिमांत आषाढ़ माना है। संवत् १७३० के ज्येष्ठ महीने की (पूर्णिमांत आषाढ़) कृष्ण त्रयोदशी के दिन रविवार (भानुवार) भी आ जाता है।[3] इससे ज्ञात होता है कि भूषण ने सुजान अथवा सुज्ञान शब्द का प्रयोग इसी चातुर्य को लक्ष्य कर किया होगा। अतः यह निश्चित हो जाता है कि

---

१. शुचिर्ग्रीष्माग्नि शृंगारेष्वाषाढे शुद्ध मंत्रिणि।
ज्येष्ठेच पुंसि धवले शुद्धेनुपहते त्रिषु॥
—मेदिनी कोष (संवत् १९९७), पृ० २८।

२. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वितीयावृत्ति), पृ० ७०।

३. शिवचरित्र प्रदीप, भारत इतिहास संशोधकमंडल, पूना (शाके १८४७), पृ० ३०६।

'शिवराजभूषण' का निर्माणकाल संवत् १७३० ही है न कि संवत् १७७३।
शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक शके १५९६, आनंद नाम संवत्सरे, ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी, शुक्रवार के दिन हुआ था।[1] विक्रम संवत् का प्रारंभ कार्तिक मास से होता है और शालिवाहन शक का प्रारंभ चैत्रमास से। विक्रम संवत् से शालिवाहन शक निकालने की पद्धति इस प्रकार है—चैत्र से कार्तिक मास तक के विक्रम संवतों से १३४ और कार्तिक से चैत्र मास तक के विक्रम संवतों से १३५ घटाने पर इष्ट शालिवाहन शक मिल जाता है। 'शिवराज-भूषण' का रचनाकाल ज्येष्ठ कृष्ण १३, रविवार संवत् १७३० है। परिगणना के हिसाब से इसमें से १३४ घटाने पर शालिवाहन शक १४९६ आ जाता है। 'खरे जंत्री' (पंचांग) से मिलान करने पर निश्चित हो जाता है कि शालि-वाहन शक १५९६ के ज्येष्ठ मास की कृष्ण त्रयोदशी को रविवार ही था।[2] अतः शालिवाहन शक के अनुसार शिवराजभूषण की रचनासमाप्ति ज्येष्ठ, कृष्ण १३ रविवार, शके १५९६ अर्थात् संवत् १७३० वि० को हुई थी। इससे स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ की समाप्ति छत्रपति शिवाजी महाराज के राज्याभिषेक के १५ दिन पश्चात् हुई थी।

इस प्रकार महाकवि भूषण विषयक प्राप्त बहिरंग तथा अंतरंग प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भूषण छत्रपति शिवाजी महाराज के समकालीन थे और उन्हीं के आश्रय में उन्होंने 'शिवराजभूषण' की रचना की थी। अतः 'भूषण छत्रपति शिवाजी के दरबार में कदापि नहीं थे, उनका जन्म ही शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष के पीछे हुआ था।' दीक्षितजी का यह कथन पूर्णतः निराधार एवम् केवल काल्पनिक ही प्रतीत होता है।

भूषण और छत्रसाल :

महाकवि भूषण के दूसरे प्रमुख आश्रयदाता चंपतराय के पुत्र पन्ना-नरेश छत्रसाल बुंदेला थे। हिंदू धर्माभिमानी तथा मुगलों के व्यवहार से असंतुष्ट छत्रसाल ने संवत् १७२८ में शिवाजी महाराज के द्वारा प्रेरित होकर मुगलों से टक्कर लेने तथा हिंदू राज्य की स्वतंत्र स्थापना कर हिंदू धर्म की रक्षा करने का संकल्प किया। अपने ध्येय की सिद्धि के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर बड़े परिश्रम से उन्होंने बुंदेलखंड में स्वतंत्र हिंदु राज्य की स्थापना की

---

१. जेधे शकावली, पृ० ११।
२ शिवचारत्र प्रदीप, भारत इ० सं० मंडल पूना (शके १८४७), पृ० २०६।

और संवत् १७३५ वि० में[1] पन्ना नामक शहर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी की। अपने राज्य को सुस्थिर बनाने के लिये उन्हें मुगलों तथा विद्रोहियों के साथ कई बार लड़ना पड़ा। शिवाजी का आदर्श उनके सामने था। अतः अपने पराक्रम एवम् कौशल से उन्होंने विरोधियों को तंग कर दिया था। कई बार विजय प्राप्त कर संवत् १७४७ (सन् १६९० ई०) में छत्रसाल ने विधिपूर्वक राज्याभिषेक कराया था। संवत् १७९० (सन् १७३३ ई०) में वे वीरकेसरी यह संसार छोड़कर चले गए।[2] वे अपने समय के दूसरे शिवाजी थे। वे स्वयम् अच्छे कवि थे और अपने दरबार में गुणीजन कवियों का यथोचित सम्मान करते थे। 'छत्रप्रकाश' के रचयिता गोरेलाल उन्हीं के आश्रित थे। अहमद बंगश जैसे प्रबल शत्रु से लोहा लेने में असमर्थ ८० वर्ष के वृद्ध छत्रसाल ने अपनी सहायता के लिये बाजीराव पेशवा (प्रथम) को सांकेतिक एवम् काव्यमयी भाषा में इस प्रकार प्रार्थना पत्र भेजा था—

जो गति ग्राह गजेंद्र को सो गति जानहु आज।
बाजी जात बुंदेल की राखो बाजी लाज॥[3]

हिंदू धर्म के अभिमानी तथा शिवाजी को नायक के रूप में स्वीकार करनेवाले ओजगुणसंपन्न वीरकाव्य के रचयिता भूषण कवि संभवतः शिवाजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् सन् १६८१ (संवत् १७३८) के आसपास दक्षिण से लौटते समय इनके आश्रय में आए होंगे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शिवाजी के यहाँ से सं० १७३१ (ई० सन् १६७४) के लगभग भूषण अपने घर लौटते हुए रास्ते में छत्रसाल बुंदेला के यहाँ भी हो लिए। महाराज छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँतक कि इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषण अत्यंत प्रसन्न होकर पालकी से कूद पड़े और उन्होंने चार पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा में तत्काल बनाए या पढ़े।[4] संवत् १७३१ में भूषण का छत्रसाल के दरबार में आना तथा संमानित होना असंभव प्रतीत होता है क्योंकि संवत् १७२८ तक छत्रसाल एक साधारण सिपाही के रूप में थे। संवत् १७२८ में शिवाजी से प्रत्यक्ष मिलने पर उनके आदेशानुसार स्वतंत्र राज्य की स्थापना का कार्य उन्होंने प्रारंभ

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वि० आवृत्ति), पृ० ९८।
२. भूषण ग्रंथावली, भूमिका: लेखक देवचंद्र विशारद (सन् १९५०), पृ० ४४।
३. संपूर्ण भूषण, रा० गो० काटे (सन् १९३०), पृ० १२।
४. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु (सं० १९९८), पृ० ३९८-९९।

किया था। तदनंतर वे अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहे और संवत् १७३५ में उन्होंने पन्ना शहर को बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। अतः उनका वैभवकाल सं० १७३५ के पश्चात् ही प्रारंभ होता है। सं० १७३५ तक तो छत्रसाल स्वतंत्र राज्य की स्थापना के लिये विरोधियों से लड़ने झगड़ने में व्यस्त थे। ऐसी अवस्था में भूषण का वहाँ जाना और राजसम्मानित होना संभव नहीं है। छत्रसाल के विषय में भूषणकृत जो १०-१२ छंद प्राप्त होते हैं उनमें भी अधिकांश रूप में उन्हीं घटनाओं का वर्णन है जो संवत् १७३७ (ई० सन् १६८०) के बाद की हैं।[1] अतः यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि भूषण बुंदेला नरेश छत्रसाल के पास सं० १७३८ के लगभग पहुँचे होंगे जब छत्रसाल 'नरेश' हो चुके थे।

छत्रसाल के यहाँ भूषण कितने दिन रहे, इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता अतः यह बात भी अनुमान पर आश्रित है। छत्रसाल-दशक में संगृहीत छंदों के अतिरिक्त कुछ और भी छत्रसाल विषयक भूषण के छंद प्राप्त होते हैं। इससे अनुमान होता है कि छत्रसाल के लिये भूषण ने और भी छंद रचे होंगे जो अबतक अज्ञात रूप में पड़े हैं। शिवाजी जैसे महान् छत्रपति के द्वारा सम्मानित एवम् विपुल धनराशि प्राप्त होने के कारण यह संभव नहीं लगता कि भूषण जैसा स्वाभिमानी तथा निर्लोभी व्यक्ति किसी अन्य राजा के यहाँ कुछ महीनों से अधिक रहा हो। अतः ज्ञात होता है कि भूषण शिवाजी के यहाँसे उनके स्वर्गवास के पश्चात् अपने घर लौटते समय संवत् १७३८ (ई० सन् १६८१ के लगभग कुछ दिन रास्ते में छत्रसाल के पास पन्ना में रहे हों, जहाँ प्रसंगानुकूल कुछ फुटकल छंद उन्होंने बनाए हों। पुनः शाहू के पास दक्षिण में जाते समय तथा दक्षिण से अपने घर लौटते समय अथवा अन्य यात्रा के समय वे छत्रसाल से समय समय पर मिलते भी रहे होंगे परंतु शिवाजी के आश्रय में जिस प्रकार वे कुछ वर्ष रहे उसी प्रकार बहुत दिन छत्रसाल के आश्रय में भूषण का रहना संभवनीय प्रतीत नहीं होता।

'छत्रसालदशक' एवम् 'भूषण ग्रंथावली' के फुटकल छंदों में छत्रसाल की बिरुदावली के जो छंद भूषण के नाम पर रखे हैं वे सभी भूषण के नहीं हैं। जिन छंदों में 'भूषण' की भणिता नहीं है वे छंद संदेहात्मक हैं। उनमें से कुछ छंद लाल कवि, पंचम कवि, मुकुंदसिंह आदि के नाम पर शिवसिंह

---

१. भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१९), पृष्ठ ९२।

सरोज में प्राप्त होते हैं।[1] अतः जिन छंदों में भूषण की भणिता मिलती है वे ही १३ छंद भूषण कृत माने जा सकते हैं। कुछ छंद बूँदी नरेश हाड़ा छत्रसाल (संवत् १६६४-१६९८) की प्रशस्ति में मिलते हैं जिनमें भूषण की छाप नहीं है अतः ऐसे छंदों को भूषणकृत मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

भूषण की यात्राएँ तथा अन्य आश्रयदाता :

चित्रकूटाधिपति सोलंकी नरेश रुद्रसाह, छत्रपति शिवाजी भोंसले, पन्ना नरेश छत्रसाल बुंदेला के अतिरिक्त और भी भूषण के आश्रयदाता माने जाते हैं। शिवराजभूषण तथा शिवाबावनी और छत्रसालदशक के अंतर्गत रखे जानेवाले छंदों को छोड़कर विभिन्न स्थानों से प्राप्त भूषणकृत स्फुट छंदों की संख्या १२० के लगभग है जिनमें १११ छंद शिवाजी की प्रशस्ति के हैं और ४० छंद श्रृंगाररस के हैं। शेष १६ छंद छत्रपति शाहू महाराज, बाजीराव पेशवा, सुलंकी नरेश, अवधूतसिंह, जयसिंह, रामसिंह, अनिरुद्ध, रावबुद्ध, कुमाऊँ नरेश के कुंवर, गढ़वाल नरेश, औरंगजेब, दाराशाह और भगवंतराय खीची के विषय में हैं।[2] संभव है कि इन राव राजाओं की प्रशस्ति के और भी छंद हों जो अबतक प्रकाश में नहीं आ सके हैं। प्राप्त छंद फुटकल और संख्या में अत्यंत कम होने से भूषण का उन सबके यहाँ आश्रय में जाना, सम्मान पाना अथवा प्रसंगवश मिलना, आदि के विषय में कुछ निश्चित रूप सेनहीं कहा जा सकता। उनके और भूषण के मिलन का समय भी निश्चित नहीं किया जा सकता।

इन छंदों में वर्णित अधिकांश राव राजाओं का समय शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् का है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण उनके पास शिवाजी के स्वर्गवास के पश्चात् गए थे जो शिवाजी के समकालीन थे। भूषण का उनके आश्रय में शिवाजी के होते हुए जाना संभव नहीं प्रतीत होता। उनकी प्रशस्ति के छंद उस समय बनाए होंगे जब कभी किसी प्रसंगवश भूषण की उनमें भेंट हुई हो। दारा तथा औरंगजेब से भूषण का प्रत्यक्ष मिलना तथा उनके आश्रय में जाना संभव नहीं लगता। भूषण के सभी आश्रयदाता तथा प्रशंसित व्यक्ति हिंदू राव राजा हैं। भूषण की कविता को देखकर यह विश्वास नहीं होता कि उन जैसे स्वाभिमानी प्रकृति के व्यक्ति मुसलमानों के आश्रय में

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति), पृष्ठ ७७-७९।

२ वही, पृष्ठ २०६-२४६।

रहे हों। दारा तथा औरंगजेब विषयक छंद संभवतः उन्होंने शिवाजी अथवा छत्रसाल को सुनाने के लिये बनाए हों। दारा मुसलमान होते हुए भी हिंदू धर्म के विरोधी न थे। इसी लिये उनकी प्रशंसा की गई है और उनके भाई औरंगजेब के हिंदू धर्म के कट्टर विरोधी एवम् अत्याचारी होने से उसकी निंदा की गई है। बाजीराव पेशवा के संबंध में भूषण के नाम पर दो छंद रखे जाते हैं परंतु उनमें भूषण की भणिता नहीं है। अतः उन्हें भूषणकृत मानना उचित न होगा।

फुटकल छंदों में एक छंद[1] ऐसा है जो पाठभेद के कारण 'सिवराज' और 'चिंतामणि' दोनों के नाम पर मिलता है। कुछ समीक्षक 'चिंतामणि' पाठ को ठीक मान कर उन्हें भी भूषण के आश्रयदाताओं में गिनते हैं। इनका इतिहास में कहीं परिचय नहीं मिलता। मिश्रबंधुओं ने इस 'चिंतामणि' को बाजीराव प्रथम के दूसरे भाई चिमाजी अथवा चिमणाजी अप्पा (सं० १७६०) माना है।[2] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने शिवाजी के प्रधान सेनापति चिमणाजी बापू का उल्लेख किया है।[3] दोनों चिमाजी अथवा चिमणाजी हैं न कि चिंतामणि। छंद में वर्णित विषय को देखकर ज्ञात होता है कि 'सिवराज' पाठ ही शुद्ध है। यह छंद 'इंद्र जिमि जंभ पर' की शैली पर शिवाजी के लिये ही रचा हुआ प्रतीत होता है।

भूषण छत्रसाल बुंदेला से भेंट करते हुए अपने गाँव आए। संवत् १७३७ से सं० १७६४ तक उनका समय उत्तरी भारत में ही बीता। इस समय दक्षिण का राजनैतिक वातावरण अत्यंत अशांत था। घरेलू झगड़ों और मुसलमानों के आक्रमण के कारण मराठा शक्ति का ह्रास हो रहा था। इसलिये वे वहाँ नहीं ठहरे। गाँव में भी उनका मन नहीं लगा। शिवराज-भूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक के अतिरिक्त उनकी जो फुटकर रचनाएँ मिलती हैं उनके आधार पर यह कहा जाता है कि वह धन अथवा यशप्राप्ति की लालसा से नहीं गए। शिवाजी के यहाँ से पर्याप्त धन और यश

---

1 सक्र जिमि सैलपर अर्क तम फैलपर बिघन की रैल पर लंबोदर लेखिए।
राम दसकंध पर भीम जरासंधपर भूषन ज्यों सिंधु पर कुंभज बिसेखिए।
हर ज्यों अनंग पर गरुड भुजंग पर कौरव के अंग पर पारथ ज्यों पेखिए।
बाज ज्यों बिहंग पर सिंह ज्यों मतंग पर म्लेच्छ चतरंग पर 'शिवराज' देखिए॥
—भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २०६।

२ हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु (सं० १९९८), पृ० ३९९।

३ भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति), पृ० ९४।

पाने के पश्चात् छोटे मोटे राजाओं की दरबारदारी करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। संभव है. इस खोज में ही वह निकले हों कि शिवाजी अथवा छत्रसाल जैसा कोई माई का लाल उन्हें मिल जाय और वे उसका आश्रय ग्रहण करें।[१] संभव है कि इसी यात्रा में महाकवि भूषण रीवाँ नरेश अवधूत सिंह (सं० १७५७-१८१२), कुमाऊँ नरेश ज्ञानचंद्र (सं० १७५७-१७६५), गढ़वाल नरेश फतेशाह (सं० १७४१-१७७३), जयपुर नरेश सवाई जयसिंह (सं० १७६५-१८००), बूँदी नरेश राव राजा बुद्धसिंह (सं० १७६४-१८०५),[२] मैंडू नरेश अनिरुद्ध सिंह (सं० १७७० के लगभग)[३] आदि के यहाँ गए होंगे और उनके द्वारा संमानित होने पर उन्होंने शिष्टाचार के नाते स्वभावतः उनपर कुछ छंद बनाए हों।

ई० सन् १७०८ (सं० १७६५) में छत्रपति संभाजी महाराज के पुत्र शाहू महाराज सिंहासनारूढ़ हुए। प्रारंभिक कुछ वर्ष अपने स्थान को सुस्थिर बनाने के लिये आंतरिक तथा बाह्य संघर्षों का उन्हें सामना करना पड़ा था। सन् १७१३ ई० में उन्होंने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा के स्थान पर नियुक्त किया। उनके बाद उत्तरोत्तर मराठा राज्य की शक्ति बढ़ने लगी। शाहू की नीति स्पष्ट हो चुकी थी। अतः शिवाजी के आदर्श तथा उद्देश्य की पूर्ति शाहू महाराज के द्वारा होने की संभावना देखकर सन् १७१५ ई० के लगभग भूषण पुनः दक्षिण में छत्रपति शाहू के दरबार में सितारा पहुँचे हों। शाहू के नाम पर भूषण के चार ही छंद प्राप्त होते हैं। उन्हें देखकर ज्ञात होता है कि भूषण शाहू के पास अधिक दिन न रहे होंगे। इस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष के लगभग होने से उन्होंने घर जाना ही उचित समझा हो। शाहू के द्वारा सम्मानित होकर बड़ी प्रसन्नता से अपने घर लौटते समय सन् १७१६ ई० के लगभग (सं० १७७३) असोथर नरेश भगवंतराय खीची (सं० १७७०-९७) से मिलते हुए गए होंगे। सं० १७७० वि० के पश्चात् ही भगवंतराय ने अपना राज्यविस्तार करना प्रारंभ कर दिया था। सं० १७९७ वि० में भगवंतराय खीची नवाब सहादत खाँ से युद्ध करते हुए मारे गए।[४] अपने नायक शिवाजी के आदर्शानुसार हिंदुओं के रक्षक तथा

---

१. हरिऔध पत्रिका, अप्रैल १९४८ (राजेंद्र सिंह गौड़ का लेख), पृ० ९८।
२ हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु (सं० १९९८), पृ० २९९।
३. अलीगढ़ गजेटियर का इतिहास तथा माधुरी पत्रिका, चैत्र १९९० वि०।
४. महाकवि भूषण, भगीरथप्रसाद दीक्षित (सन् १९५६), पृ० ३७।

दानवीर राना की मृत्यु की वार्ता सुनकर भूषण ने एक छंद की[1] रचना द्वारा उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की है।

भूषण का मृत्युकाल :

भूषण के प्रशंसित व्यक्तियों में सबसे पीछे का छंद भगवंतराय खीची का ही मिलता है। अतः यदि यह छंद प्रामाणिक है तो संवत् १७९७ तक भूषण का जीवित होना निश्चित हो जाता है। मिश्रबंधु इस छंद को संदिग्ध मानते हैं।[2] कुछ विद्वानों के विचारानुसार इस छंद में 'भूषण' के स्थान पर 'भूधर' होना चाहिए, क्योंकि भूधर नाम के एक कवि भगवंतराय खीची के यहाँ थे। अतः इस छंद के भूषणकृत होने में संदेह है।[3] डा० ग्रियर्सन ने भी भूधर कवि को भगवंतराय खीची का दरबारी कवि माना है।[4] इस छंद में कहीं कहीं भगवंत के स्थान पर जसवंत भी लिखा हुआ है।[5] अतः इस छंद की प्रामाणिकता में ही संदेह रह जाता है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी भूषण ग्रंथावली में भगवंतराय खीची के नाम पर भूषणकृत और एक छंद[6] दिया है परंतु इस छंद के संबंध में दी हुई पाद टिप्पणी से ज्ञात होता है कि यह छंद भगवंतराय खीची के दरबारी कवि सारंग के नाम पर भ मिलता है।[7] इस छंद के 'भूषन भनत तहाँ भूत भगवंतराय' के स्थान परी 'सारंग सुकवि भनै भूपति भवानीसिंह' का पाठ मिलता है।[8] अतः यह छंद भी भूषणकृत सिद्ध नहीं होता। अतः केवल इन दो अशुद्ध एवं अप्रमाणित छंदों के आधार पर भूषण की मृत्यु सं० १७९७ के आसपास मानकर उनकी आयु १०५ वर्ष की मानना उचित तथा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

---

१ भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१७), पृ० १३७, छंद ८।
२. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, पृ० ३९९।
३ भूषण ग्रंथावली, राजनारायण शर्मा (सन् १९५०), पृ० ११६।
४. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, डॉ· ग्रियर्सन (हिंदी अनुवाद डॉ· किशोरीलाल गुप्त , कवि सं. ३३६।
५. भूषण ग्रंथावली, मिश्रबंधु पृष्ठ १३७।
६ भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति', छंद ४४४, पृ० २३९।
७. दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान, डॉ०ग्रियर्सन हिंदी अनुवाद डॉ० गुप्त, कवि सं० ३४३।
८. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं० २०१७), पृ० २३।

भूषण जैसे प्रतिभावान कवि का शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् लगभग ६० वर्ष जीवित रहना और इतने बड़े समय में कुछ ही नाममात्र फुटकर छंदों की रचना करना अत्यंत असंभव प्रतीत होता है। शाहू महाराज के पास वे सन् १७१५ ई० में जब आए थे तब उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थी। उसी समय उन्हें वार्धक्य के कारण कुछ थकावट मालूम हुई होगी तभी तो शाहू जैसे राजा के पास अधिक दिन न रहते हुए वे अपने घर की ओर चल पड़े। शाहू के दरबार में भूषण अधिक दिन तक न रहे होंगे, यह मानने के दो कारण हैं। एक कारण यह है कि शाहू के नाम पर केवल चार ही छंद मिलते हैं जिनमें दो छंदों में 'साहू' के स्थान पर 'सिवा' का पाठ मिलता है। शाहू के दरबार में कुछ वर्ष रहनेवाले कवि के द्वारा शाहू के संबंध में दो-चार छंदों का ही लिखा जाना कैसे संभव है? अतः स्पष्ट होता है कि भूषण शाहू के पास कुछ ही दिन रहे और फिर अपने घर लौटे। 'पेशवे दफ्तर' नामक पूना के कार्यालय में शाहू से लेकर मराठाशासन के अंत तक के सभी कागजपत्र उपलब्ध हैं जिनमें छोटी मोटी सभी बातों के विवरण लिखे हैं। उनमें भूषण का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि भूषण बहुत दिन वहाँ रहते, उन्हें राज्य से कुछ मानधन नियत होता तो उसका उल्लेख पेशवे दफ्तर में प्राप्त सामग्री में अवश्य होता। इससे स्पष्ट होता कि भूषण प्रसंगवश दो चार दिन ही यहाँ रहे होंगे और संभवतः इसी प्रसंग पर उन्होंने दो चार छंद भी बनाए हों। इन सब बातों को देखकर अनुमान होता है कि छत्रपति शाहू के यहाँ से अपने घर लौटने पर भूषण अधिक दिन जीवित न रहे होंगे। अनुमानत. भूषण की मृत्यु सन् १७२० ई० अर्थात् संवत् १७८७ में हुई होगी।

महाकवि भूषण जैसे प्रतिभासंपन्न तथा शिवाजी जैसे युगपुरुष को नायक के रूप में स्वीकार करनेवाले कवि के संबंध में इससे अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती। यदि उनके नामपर बताए जानेवाले ग्रंथों में से कोई ग्रंथ मिल जाय तो संभव है कि अधिक परिचय प्राप्त हो जाय।

काव्यकृतियाँ :

महाकवि भूषण की काव्यकृतियों में शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास तथा भूषण हजारा इन छह ग्रंथों की परिगणना की जाती है। शिवसिंह सरोज में शिवाबावनी और छत्रसाल-दशक का उल्लेख नहीं है। इन ग्रंथों में से भूषण उल्लास, दूषण उल्लास तथा भूषण हजारा ये ग्रंथ अप्राप्य हैं। जबतक ये ग्रंथ प्राप्त नहीं होते तबतक

इनके संबंध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि 'भूषण हजारा' यदि 'कालिदास हजारा' की ही भाँति हो तो वह संग्रहग्रंथ होगा। अन्यथा वह कवि के एक सहस्र मुक्तकों का संग्रह मात्र होगा। 'भूषण उल्लास' और दूषण उल्लास नामों को एक साथ देखने से यही जान पड़ता है कि ये किसी संपूर्ण काव्यरीति पर लिखे गए ग्रंथ के दो अध्याय हैं। पहला अलंकारप्रकरण और दूसरा दोष प्रकरण[1]। हाल ही में कैप्टन शूरवीर सिंह के संपादन में एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है जिसका नाम 'अलंकारप्रकाश' है। यह ग्रंथ दस उल्लासों में विभाजित है। कैप्टन शूरवीर सिंह का अनुमान है कि इसी का नाम 'भूषण उल्लास' भी प्रसिद्ध हो गया हो।[2] यह ग्रंथ देवीसिंह के आश्रय में संवत् १७०५ में रचा गया है और इसके रचयिता मुरलीधर कवि हैं जिन्हें देवीसिंह ने 'कविभूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। संयोगवश दोनों की उपाधि 'कविभूषण' होने से यह भ्रम होना संभव है कि प्रसिद्ध महाकवि भूषण और मुरलीधर कवि-भूषण एक ही व्यक्ति हों। लेखक ने इसके पूर्व ही विस्तृत चर्चा से स्पष्ट किया है कि ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे। अतः यदि यही भूषण उल्लास हो तो वह महाकवि भूषण की रचना नहीं है। जो ग्रंथ प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं होते उनके संबंध में अनुमान ही किए जा सकते हैं। प्रत्यक्ष ग्रंथ प्राप्त होने पर ही निश्चित रूप में कुछ कहा जा सकता है।

शिवराजभूषण :

भूषण की प्राप्त रचनाओं में केवल 'शिवराजभूषण' ही ग्रंथ रूप में प्राप्त है जिसे भूषण की प्रतिनिधि काव्यकृति मानी जा सकती है। इसकी रचना छत्रपति शिवाजी के लिये हुई थी। स्वयं कवि ने ही अपने ग्रंथ के स्वरूप के संबंध में कहा है—

> सिवचरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त।
> भाँति भाँति भूषननि सो भूषित करो कवित्त॥
> सुकविन हूँ कि कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।
> भूषन भूषनमय करत 'शिवभूषन' सुभ ग्रंथ॥[3]

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ६० ।
२. अलंकारप्रकाश, शूरवीर सिंह (सन् १९६२), पृष्ठ १ ।
३ भूषण ग्रंथावली, मिश्रबंधु (सं. २०११), पृष्ठ ९ छंद २९-३० ।

कवि ने इस ग्रंथ का नामकरण 'शिवराजभूषण' बड़ी ही चातुरी से किया है जिससे नायक, कवि तथा विषय इन तीनों का एक साथ ही परिचय करा दिया है। शिवराजभूषण का विषय यद्यपि अलंकारनिरूपण कहा गया है फिर भी कवि का प्रधान उद्देश्य अलंकार वर्णन नहीं है प्रत्युत् परंपरा के अनुसार शिवराज के उज्ज्वल चरित्र का संकीर्तन करना है। अतः उत्तम अलंकार ग्रंथों का अध्ययन कर उन्होंने अपने मत[1] के अनुसार इस ग्रंथ में अलंकारों के लक्षण दोहों में देकर उनके उदाहरण कवित्त, सवैया, छप्पय आदि विविध छंदों में दिए हैं। इन उदाहरणों में संवत् १७१३ से संवत् १७३० तक की शिवाजी के जीवन की प्रमुख राजनैतिक घटनाओं तथा विजयों उनके प्रभुत्व, आतंक, यश तथा दान आदि का वर्णन है। कवि ने इन उदाहरणों में शिवाजी का उदात्त तथा भव्य व्यक्तित्व खड़ा किया है। भूषण के कवित्व की प्रतिभा इन उदाहरणों में देखी जा सकती है। इन उदाहरणों में काव्य और इतिहास के सत्य का सुंदर समन्वय हो चुका है। भूषण द्वारा वर्णित लगभग सभी घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण सत्य उतरती हैं। कभी कभी एक अलंकार के लिये उदाहरण रूप में एक से अधिक छंद कहे गए हैं।

'शिवराजभूषण' के अंत में अलंकारों की सूची दी है। उसमें १०० अर्थालंकार, ४ शब्दालंकार और १ उभयालंकार है। इस प्रकार कुछ १०५ अलंकारों की परिगणना की गई है जिनमें कहीं कहीं अलंकारों के भेद भी सम्मिलित हैं, परंतु कई अलंकार भेदों को अंतिम सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है जैसे—लुप्तोपमा, गम्योत्प्रेक्षा, न्यूनरूपक आदि। भूषण ने सामान्य विशेष तथा भाविक छवि इन दो नवीन अलंकारों का उल्लेख किया है किन्तु विचार कर देखने से जान पड़ता है कि ये केवल पुराने अलंकारों के ही नए नाम हैं। भूषण के अलंकारलक्षण देखकर अनुमान होता है कि उनपर जयदेव के 'चंद्रालोक' का प्रभाव पड़ा है।[2] मतिराम कृत ललितललाम और शिवराजभूषण की तुलना करते हुए कृष्णबिहारी मिश्र ने लिखा है—'ललितललाम और शिवराजभूषण दोनों ही अलंकार-ग्रंथ हैं। दोनों ही में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए हुए हैं। दोनों कवियों के लक्षणों का ध्यानपूर्वक मिलान करने से उभय कवियों के लक्षणों

---

१. लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत सुकवि मानहु साँच।
—भूषण ग्रंथावली, ना० प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ १०७ छंद ३७१।

२. संपूर्ण भूषण, भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना (सन् १९३०), पृ. ४।

में अद्भुत सादृश्य दिखलाई पड़ता है। यह सादृश्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि लक्षण दोहा अंतिम तक भी मिलते हैं। किसी किसी में तो कवि के नाम भर का भेद रह जाता है।[1] 'ललितललाम' पहले बना है, अतः निस्संकोच उन्हीं के लक्षणों को ले लेने के कारण दोनों का सगे भाई होना प्रमाणित हो जाता है।'[2]

भूषण जैसे स्वतंत्र वृत्ति के वीररस के प्रमुख कवि ने रीतिकालीन प्रभाव के कारण ही 'शिवराजभूषण' की पद्धति का अवलंब किया होगा। डा० मिश्र का कथन है कि आचार्यत्व की दृष्टि से कोई विशेषता प्रदान न करते हुए भी 'शिवराजभूषण' ग्रंथ है लक्षण ग्रंथ ही।[3] इस ग्रंथ की समाप्ति ज्येष्ठ, कृष्ण त्रयोदशी, रविवार संवत् १७३० में हुई थी।

शिवाबावनी :

'शिवाबावनी' नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिवाजी के लिये रचित बावन छंद हैं। भूषण की काव्यकृतियों में इस ग्रंथ का भी उल्लेख किया जाता है। ग्रंथ देखने से ज्ञात होता है कि यह भूषण कवि द्वारा रचित संपूर्ण ग्रंथ न होकर भूषण के ५२ छंदों का संग्रह मात्र है जो किसी ने भूषण के बहुत पीछे तैयार किया होगा। 'शिवाबावनी' के मूलतः ग्रंथरूप में न होने की पुष्टि अनेक बातों से हो जाती है। ग्रंथ की रूपरचना की भाँति 'शिवाबावनी' में न तो ग्रंथारंभ में मंगलाचरण या ईशस्तवन है न अंत में ग्रंथसमाप्ति सूचक छंद आदि, जैसे 'शिवराजभूषण' में पाया जाता है। 'शिवाबावनी' नाम से जो संग्रह मिलते हैं, उनमें पदों का क्रम भी एक सा नहीं है। कहीं कहीं कुछ पद भी भिन्न पाए जाते हैं। इसमें केवल शिवाजी से संबंधित ही पद नहीं पाए जाते अपितु औरंगजेब, साहू आदि से संबंधित पद भी हैं। कालिदास हजारा, शिवसिंह सरोज, दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान आदि प्राचीन ग्रंथों में भूषण के शिवाबावनी तथा छत्रसालदशक का उल्लेख तक नहीं है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है[4] कि सबसे पहले सन् १८६० में शिवाबावनी का संग्रह कच्छभुज के पुस्तक विक्रेता भाटिया गोवर्धनदास लक्ष्मीदास ने प्रकाशित किया था।

---

१ मतिराम ग्रंथावली, सं० कृष्णबिहारी मिश्र (सं० १९९१), पृ० २२३।

२ हिंदी अनुशीलन, अप्रैल-जून १९६१ (डा० भगीरथ मिश्र का लेख), पृ० ३।

३ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र (सं० २०१४), पृ० ८६।

४. भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति), पृ० ७१।

'शिवाबावनी' के विषय में यह किंवदंती प्रचलित है कि जब भूषण और शिवाजी की प्रथम भेंट हुई तब भूषण ने छद्मवेशी शिवाजी को जो ५२ भिन्न भिन्न छंद सुनाए थे वे ही 'शिवाबावनी' में संग्रहीत हैं। यह किंवदंती असत्य प्रतीत होती है क्योंकि इसमें संवत् १७३६ तक की घटनाओं के उल्लेख हैं। शिवाजी के अतिरिक्त अन्य नरेशों की प्रशस्ति के छंद भी इसमें प्राप्त होते हैं। इसमें अधिकांश छंद शिवाजी की सेना का अभियान के लिये प्रयाण, शत्रुओं पर प्रभाव, शिवाजी के आतंक से शत्रुओं की दुर्दशा, शिवाजी का असामान्य पराक्रम, शिवाजी पर विजय प्राप्त करने में औरंगजेब की असफलता, शिवाजी के अभाव में हिंदुओं की दुर्दशा की कल्पना अथवा शिवाजी के प्रादुर्भाव से हिंदुओं का कल्याण आदि अनेक विषयों पर हैं। 'शिवराज भूषण' की भाँति इसमें अलंकारों की सीमा का बंधन न होने से 'शिवाबावनी' के छंद अधिक ओजपूर्ण, प्रबल एवम् गौरवयुक्त दिखाई देते हैं। वीर, रौद्र तथा भयानक रस के अद्वितीय उदाहरण भी इसमें पाए जाते हैं।

छत्रसालदशक :

भूषण की काव्यकृतियों में 'शिवबावनी' की भाँति 'छत्रसालदशक' भी गिनाया जाता है जो मूलतः ग्रंथरूप न होकर वीरकेसरी पन्नानरेश छत्रसाल बुंदेला विषयक दस छंदों का संग्रह मात्र है। दक्षिण से अपने घर लौटते समय भूषण छत्रसाल बुंदेला के यहाँ कुछ दिन ठहरे थे। उस अवसर पर अथवा अन्य किसी प्रसंग पर पन्ना नरेश छत्रसाल विषयक छंदों की जो रचना भूषण ने की होगी उनमें से प्राप्त दस छंदों का किसी ने भूषण के बहुत पीछे शिवाबावनी की तरह संग्रह किया होगा। पं० मिश्रजी का कथन है कि 'बावनी' और 'दशक' का प्राचीन काल में कोई अस्तित्व न था, इसका पक्का प्रमाण यह भी है कि इन दोनों पुस्तकों की न तो कोई हस्तलिखित प्रति आज तक मिली और न सन् १८६० ई० के पूर्व इनका किसी पुस्तक में नामोल्लेख ही हुआ।[1] छत्रसालदशक में संगृहीत छंदों में बूँदीनरेश हाड़ा छत्रसाल विषयक छंद भी कुछ संपादकों ने सम्मिलित किए हैं जिनमें भूषण की भणिता नहीं है। जिन छंदों में भूषण की भणिता नहीं मिलती उन्हें भूषणकृत कहना उचित नहीं होगा। 'छत्रसालदशक' की कुछ प्रतियों में ऐसे भी छंद रखे गए

---

१. भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं० २०१७), पृष्ठ ७८।

हैं जिनमें भूषण का नाम नहीं है और वे ही छंद मुकुंदसिंह, लाल, पंचम आदि कवियों के नामपर अन्यत्र मिलते हैं। रामनरेश त्रिपाठी, श्री काटे, पं० राजनारायण शर्मा आदि ने अपने संग्रहों में बड़ी सावधानी से अप्रामाणिक छंदों को छोड़कर भूषणकृत प्रामाणिक छंदों को ही स्वीकार किया है। अब तक छत्रसाल बुंदेला के विषय में भूषणकृत १२ छंद प्रकाश में आए हैं। हो सकता है कि और भी इसी प्रकार के छंद छत्रसाल के लिये भूषण ने रचे हों जो अभी तक अज्ञात हैं।

स्फुट रचनाएँ :

शिवाबावनी और छत्रसालदशक में संगृहीत छंदों के अतिरिक्त विभिन्न स्रोतों से प्राप्त भूषणकृत फुटकर छंदों की संख्या १२० के लगभग है। उनमें से लगभग ६१ छंद शिवाजी विषयक हैं। १६ छंद साहू, बाजीराव, सुलंकी नरेश, अवधूतसिंह, जयसिंह, रामसिंह, अनिरुद्ध, रावबुद्ध, कुमाऊँ नरेश, गढ़वाल नरेश, औरंगजेब, दाराशाह तथा भगवंतराय खीची के विषय में हैं, जिनमें से कुछ संदिग्ध भी हैं। उसके अनंतर लगभग ४० छंद शृंगार के और दो छंद शांत रस के हैं। शृंगार रस के जो ४० छंद[१] भूषण के नामपर रखे गए हैं उनमें से १४ छंदों में ही केवल 'भूषन' की भणिता का प्रयोग उसी प्रकार मिलता है जैसा भूषण के अन्य छंदों में पाया जाता है, परंतु शेष २६ छंदों में 'कवि भूषन' की छाप मिलती है जो प्रायः भूषण के अन्य छंदों में प्राप्त नहीं होती। अतः अनुमान होता है कि जिन छंदों में 'कवि भूषण' की भणिता मिलती है वे छंद उस मुरलीधर कवि के किसी अज्ञात ग्रंथ के अंश होंगे जिन्होंने 'अलंकारप्रकाश' और 'छंदोहृदयप्रकाश' की रचना की है और जिनकी भणिता या छाप 'कविभूषण' है। मुरलीधर कविभूषण की प्राप्त रचना इसी से मिलती जुलती शृंगाररस प्रधान रचना है। अतः भूषण के नामपर मिलनेवाली ऐसी स्फुट रचनाओं की छानबीन करना आवश्यक है।

क्या भूषण जातीय थे ?

अपने काव्य में वीर भावों की सृष्टि करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। शिवाजी जैसे लोकोत्तर युगपुरुष को नायक के रूप में स्वीकार करने में भूषण ने दूरदर्शिता एवं अपनी रुचि व्यक्त की है। कुछ लोग इनका हिंदूधर्माभिमान देखकर उन्हें जातीय एवं संकुचित वृत्ति के कवि कहते हैं। केवल हिंदूधर्म या वैदिक धर्म का समर्थन करने मात्र से किसी को जातीय या संकु-

१. भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं. २०१७), पृष्ठ २३१-२३६ ।

चिंत वृत्ति का कहना उचित न होगा। वास्तव में भूषण की भावना राष्ट्रीय और सामाजिक है, जातीय नहीं है। हिंदुओं पर अत्याचार करनेवाले यवनों के प्रति उनके उद्गार प्रक्षुब्ध, तीव्र एवं कटूक्तिपूर्ण हैं। दारा जैसे उदारशील एवं सभी धर्मों को सम्यक् रूप में देखनेवाले यवनों के प्रति उन्होंने प्रशंसा के ही उद्गार निकाले हैं। हिंदू धर्म के संरक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज की भी यही नीति थी। शिवाजी तथा रामदास ने भी उन्हीं यवनों का प्रतिकार एवं विरोध किया जो धर्मांध तथा सत्तांध होकर हिंदुओं पर घोर अत्याचार करते थे। अतः ऐसे उदार एवं उदात्त युगपुरुष के उपासक भूषण में जातीयता की संकुचित भावना कैसे संभव है ?

महाकवि भूषण का हिंदी में स्थान :

भूषण की रचना अत्यंत ओजपूर्ण है। उसमें एक विलक्षण प्रवाह और प्रभावोत्पादकता की विशेषता है। हमारे भीतर उत्साह का संचार करने की उसमें शक्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि शब्दों और भाषा पर भूषण का अधिकार था। भूषण की कल्पना भी बड़ी ऊँची और सजीव चित्र उपस्थित करने की विशेषता रखती है। अलंकार के प्रयोग से इनके भाव और भी प्रखर रूप में प्रकट हुए हैं, वे भारस्वरूप नहीं; लालित्यवर्धक हैं।[1] घोर शृंगार के युग में वीररस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। भूषण के काव्य का उद्देश्य वाणी को कलियुगीन स्त्रैण वातावरण से निकालकर वीरत्व की दीप्त सरिता में पवित्र[2] करना था। प्रतिकूल परिस्थितियों में लिखकर भी भूषण ने जो सुरभि प्रदान की वह प्रत्येक हृदय को स्वाभिमान से भरनेवाली है। भूषण आचार्य के रूप में सफल नहीं हैं, उनको तो वीर कवि के रूप में ही देखना चाहिए।[3]

छत्रपति शिवाजी महाराज के नाम का स्मरण आते ही भूषण का स्मरण अनिवार्य सा हो जाता है। हिंदू राष्ट्र के निर्माण के लिये महाराज शिवाजी

---

१ हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, रामबहोरी शुक्ल और डॉ० भगीरथ मिश्र (सन् १६२६), पृ. ६५-६६।

२. भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥
—भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ८२।

३. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, सं० डा० नगेंद्र (सं. २०१६), षष्ठ भाग, पृ० ४२१ और ४२३।

का नाम भारतीय इतिहास में जिस प्रकार अमर रहेगा, उसी प्रकार उनके चरित्रगायक महाकवि भूषण का नाम भी साहित्य के अंतर्गत सदैव स्मरणीय रहेगा।

लोकमणि :

हिंदी के इस अज्ञात कवि की सर्वप्रथम सूचना लेखक को नागपुर के वयोवृद्ध विद्वान् पंडित प्रयागदत्त शुक्ल द्वारा प्राप्त हुई। उनको ई० सन् १९३५ में नागपुर के स्वर्गीय हीरालाल पंडित के यहाँ जो बारह पोथियाँ प्राप्त हुई थीं उनमें लोकमणि मिश्र के 'नवरसरंग' नामक ग्रंथ की एक प्रति भी थी। यह ग्रंथ उन्होंने प्रयाग के 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के ग्रंथालय को प्रदान किया है। सम्मेलन की कृपा से लेखक को यह ग्रंथ देखने के लिये सुलभ हुआ और अध्ययन की सुविधा के लिये उस ग्रंथ की छायाप्रति (फोटोस्टेट कापी) भी प्राप्त हो सकी।

जीवनवृत्त :

हिंदी साहित्य के इतिहासों, खोज विवरणों तथा समकालीन ग्रंथों में 'नवरसरंग' के रचयिता लोकमणि मिश्र का कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं होता। खोज विवरणों में लोकमणि नामक जिन कवियों का अति संक्षिप्त विवरण है, वे इनसे सभी बातों में सर्वथा भिन्न हैं। अतः केवल लोकमणि की रचना में प्राप्त अंतःसाक्ष्य सामग्री के आधार पर ही उनका जीवनपरिचय प्राप्त किया जा सकता है। इनके द्वारा रचित केवल 'नवरसरंग' नामक ग्रंथ ही खोज में मिला है। दुर्भाग्य से उसके अंतर्गत भी कवि के जीवनवृत्त का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। उसमें प्राप्त छंदों के आधार पर कवि का नाम, उपनाम निवासस्थान, रचनाकाल आदि का ही अति संक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है। 'नवरसरंग' के प्रारंभ में अपने इष्ट देवता तथा गुरु को प्रणाम कर कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

नमत इष्ट के देव को गुरुपद को नाई।
रचहु सु नवरसरंग को सुमति करहु सहाई॥
सिद्धिपीठ अलकावती देश विदर्भ प्रसिद्ध।
बासी लोकन मिश्र परकासी नवरस निद्ध[1]॥

---

१. लोकमणि मिश्र कृत नवरसरंग, १।४ तथा ६, हस्तलिखित प्रति, साहित्य संमेलन प्रयाग।

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि लोकमणि मिश्र विदर्भ देश के अंतर्गत अलकावती नामक प्रसिद्ध नगरी के निवासी थे। इष्ट देवता तथा गुरु के प्रति इनके मन में पूर्णतः आदर था और 'नवरसरंग' ग्रंथ की उन्होंने रचना की थी। यह प्रश्न सहज ही उठता है कि विदर्भ देश के अंतर्गत वर्णित यह 'अलकावती' नगरी कौन सी है? अलकावती के लिये प्रयुक्त विशेषण 'सिद्धिपीठ' से कल्पना हो जाती है कि यह कोई 'सिद्धपीठ' रहा होगा परंतु 'वायुपुराण' में सिद्धपीठों की जो सूची है उसमें 'अलकावती' का नाम नहीं है। ज्ञानकोश, विदर्भ का गजेटियर, तत्कालीन ग्रंथ एपिग्राफिका इंडिया आदि में भी कवि के समय स्थित विदर्भांतर्गत 'अलकावती' के संबंध में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती। इसके संबंध में महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, नागपुर के डॉ० करमरकर, डॉ० ढोलके, डा० मिराशी, डा० कोलते आदि अनेक विद्वानों से लेखक ने प्रत्यक्ष चर्चा की परंतु प्रमाणाभाव के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष न निकल सका। अतः जबतक तत्संबंधी कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती तबतक निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है। लोकमणि के समय रघोजी भोंसला द्वितीय, कुबेर के समान प्रबल शासक गिने जाते थे जिनका शासनकाल सन् १७७२ से १८१६ ई० तक रहा। पंडित प्रयागदत्त शुक्ल का मत है कि विदर्भ में अलकावती के समान पन्नगपुर अर्थात् नागपुर ही रहा होगा।[1] लेखक ने नागपुर जाकर पंडित प्रयागदत्त शुक्ल से इसके संबंध में जब चर्चा की तब उन्होंने बताया कि उनके पास नागपुर के भोंसला राजाओं से संबंधित जो सामग्री है उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। उस सामग्री को प्रयत्न देखने की इच्छा लेखक ने दर्शाई परंतु अस्तव्यस्त हो जाने से वह सामग्री प्राप्त न हो सकी। अस्तु, यह बहुत संभवनीय प्रतीत होता है कि कुबेर सदृश रघोजी राजा की वैभवसंपन्न राजधानी नागपुर के लिये कवि ने लक्षणात्मक रूप में 'अलकावती' कहा होगा। इस प्रकार के लक्षणात्मक प्रयोग हिंदी कवियों ने किए भी हैं।[2]

'नवरसरंग' के अंत में जो पुष्पिका है उसमें एक पंक्ति इस प्रकार है—
'इति श्रीमन्मिश्र केशवराम चरणांभोरुह चंचरीक लोकमनि विरचितायां 'नवरसरंग' वर्णनो नाम द्वादशमो अंग समाप्त शुभमस्तु।'

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल (प्रथम सं०), पृष्ठ ६१।
२. वही, पृष्ठ ६२।

इसके अंतर्गत 'केशवराम' का जो आदर सहित उल्लेख किया है उससे अनुमान होता है कि ये 'केशवराम' या तो कवि के पिता थे या गुरु। कवि ने इसके संबंध में यद्यपि स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि इसमें केशवराम का उपनाम जो मिश्र लिखा है उससे इसी अनुमान को अधिक बल मिलता है कि ये केशवराम मिश्र लोकमणि मिश्र के संभवतः पिता ही थे जो लोकमणि के लिये गुरुसदृश पूज्य थे। लोकमणि का हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत भाषा पर भी विशेष प्रभुत्व था। 'नवरसरंग' के अंतर्गत कवि ने लिखा है—

रसमंजरि प्राचीन मथि रसतरंगिनी ग्रंथ।
रसिकन को सउदाहरन रच्यौ सरल रस ग्रंथ॥[1]

इस छंद में प्रयुक्त 'मथि' शब्द इस बात का द्योतक है कि कवि ने संस्कृत के रसमंजरी तथा रसतरंगिनी ग्रंथों का अत्यंत सूक्ष्म एवम् विवेकपूर्ण अध्ययन किया था। कवि की प्रतिभा, भाषा की प्रौढ़ता, विनयशीलता, आत्मविश्वास एवम् 'नवरसरंग' के लिपिकार सीताराम की उनके प्रति आदरभावना देखकर अनुमान होता है कि लोकमणि कवि अपने समय में अवश्य ही प्रसिद्ध एवम् श्रेष्ठ व्यक्ति थे। काव्य में इनकी छाप अथवा भणिता 'लोकन' मिलती है। इनकी जाति, गोत्र, माता, बंधु, जन्म, मृत्यु आदि के संबंध में कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं होता।

इनके नवरसरंग का रचनाकाल संवत् १८४६ अर्थात् सन् १७८६ ई० है।[2] लोकमणि ने प्रथम संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ रसमंजरी तथा रसतरंगिणी का मंथन किया था और उसके पश्चात् ही 'नवरसरंग' जैसे प्रौढ़ ग्रंथ की उन्होंने रचना की थी। इस तथ्य का विचार करनेपर प्रतीत होता है कि 'नवरसरंग' की रचना के समय लोकमणि की अवस्था लगभग ४५ के आसपास रही होगी। यदि इस अनुमान को सत्य माना जाय तो इनका जन्मकाल संवत् १८०१ अर्थात् सन् १७४४ ई० के आसपास ठहर जाता है। इनकी मृत्यु के संबंध में भी कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती। 'नवरसरंग' की प्रतिलिपि संवत् १८९१ वि० में अर्थात् इसकी रचना के ठीक ४५ वर्ष पश्चात् सीताराम ने बनाई थी। संभवतः लोकमणि उस समय जीवित नहीं थे। यदि जीवित होते तो लिपिकार द्वारा उनका कुछ संकेत अवश्य किया जाता। इससे प्रतीत होता है कि इनकी मृत्यु संभवतः लिपिकाल के पूर्व ही

---

१. नवरसरंग, १२।४१।
२. वही, १।६।

हुई थी। अनुमानतः इनका मृत्युकाल संवत् १८८० के लगभग हो सकता है। प्रमाणों के अभाव में इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

आश्रयदाता :

पं० प्रयागदत्त शुक्ल ने लोकमणि को नागपुर के रघोजी भोंसला द्वितीय का दरबारी कवि माना है।[१] इसके संबंध में स्वयं लेखक ने उनसे जब पूछा तब उन्होंने कहा कि नागपुर के भोंसला राजाओं से संबंधित जो सामग्री उनके पास उपलब्ध है उसमें लोकमणि के रघोजी भोंसला द्वितीय के आश्रित कवि होने के उल्लेख उन्हें मिले हैं। परंतु मकान का परिवर्तन करते समय उनकी सामग्री अस्तव्यस्त हो जाने से लेखक उसे प्राप्त न कर सका। 'नवरसरंग' को पढ़ने पर कहीं संकेत तक प्राप्त नहीं होता कि उन्होंने नागपुर के रघोजी भोंसला द्वितीय के आश्रय में इसकी रचना की थी। ग्रंथ पढ़ने पर यह धारणा होती है कि 'नवरसरंग' की रचना 'स्वान्तःसुखाय' की गई हो। इस दृष्टि से ग्रंथ की निम्नलिखित पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

(१) रसमंजरि प्राचीन मथि रसतरंगिनी ग्रंथ।
रसिकन को सउदाहरन रचौ सरल रस ग्रंथ ॥

(२) बरनो नवरस ग्रंथ यह लोकनि मति अनुसार।
भलौ होहु कहुँ कछुक लीन्हेहु सुकवि सुधार ॥[२]

इन पंक्तियों से इसी धारणा को पुष्टि मिलती है कि 'नवरसरंग' की रचना कवि ने किसी के आश्रय में नहीं की थी। यदि रघोजी द्वितीय के लिये की होती तो अपने आश्रयदाता का उन्होंने कहीं न कहीं अवश्य ही उल्लेख किया होता, परंतु ग्रंथ में वैसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः यह निश्चित हो जाता है कि लोकमणि ने 'नवरसरंग' की रचना नागपुर के रघोजी भोंसले द्वितीय के आश्रय में नहीं की थी। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वे रघोजी भोंसला द्वितीय के आश्रित न थे अथवा इनके दरबार में ही नहीं गए थे। 'नवरसरंग' की प्रतिलिपि रघोजी भोंसला,

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पं० प्रयागदत्त शुक्ल (प्रथम सं०), पृष्ठ ४४।

२. नवरसरंग, १२।४१—४२।

द्वितीय के पुत्र परसोजी के आश्रित कवि सीताराम महापात्र ने की थी इसलिये यह बहुत ही संभव प्रतीत होता है कि 'नवरसरंग' जैसे उत्कृष्ट एवं प्रौढ़ ग्रंथ की रचना को देखकर उसके रचयिता लोकमणि मिश्र का साहित्यप्रेमी रघोजी ने अपने दरबार में सम्मान किया होगा और संभवतः उसी के बाद कुछ वर्ष वे रघोजी के यहाँ रहे भी होंगे। जबतक इनके अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते अथवा बहिःसाक्ष्य सामग्री से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती तबतक इनके संबंध में अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। पंडित प्रयागदत्त शुक्लजी के पास उपलब्ध सामग्री में प्राप्त उल्लेख तथा उनके कथन को स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति प्रतीत नहीं होती। अतः यद्यपि 'नवरसरंग' की रचना नागपुर के रघोजी भोंसला द्वितीय के आश्रय में नहीं हुई थी तथापि यह तो निश्चित हो जाता है कि लोकमणि को उनका आश्रय प्राप्त था। अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति रघोजी भोंसला द्वितीय के अतिरिक्त इनके और भी आश्रयदाता हो सकते हैं परंतु प्रमाणों एवम् सूचनाओं के अभाव में उसके संबंध में कुछ कहना कठिन ही है।

ग्रंथपरिचय :

लोकमणि मिश्र का केवल 'नवरसरंग' नामक एक ही ग्रंथ उपलब्ध होता है। इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के ग्रंथालय में सुरक्षित है। इस ग्रंथ का आकार ११½ × ७ इंच है और इसके प्रतिलिपिकार नागपुर के राजा परसोजी भोंसला के आश्रित कवि सीताराम महापात्र हैं। ग्रंथ के अंत में प्राप्त पुष्पिका इस प्रकार है—

'इति श्री मन्मिश्र केशवराम चरणांभोरुह चंचरीक लोकमनि विरचितायां नवरसरंग वर्णनोनाम द्वादशमोऽंग समाप्तं शुभमस्तु सके १७५६ संवत् १८९१ सन् १२४४ फसली माह जमा दुसानी तारीक ७ रोज गुरुवार उर्फ भाद्रपद शुद्ध ० इदं पुस्तकं सीताराम महापात्र मोतीरामात्मज तेन स्वहस्ते लिखितं आत्मार्थं परोपकारार्थं ॥ पन्नगपुर (नागपुर) नग्र तन्मधे परसोजी भोंशले राज्यारूढ तस्याश्रयेन किंचित् सुखाश्रांतश्र कर्मानुयोगेन मया लिखितं ॥'

इससे स्पष्ट होता है कि लोकमणि मिश्र द्वारा रचित 'नवरसरंग' की प्रतिलिपि सीताराम ने संवत् १८९१ अर्थात् सन् १८३४ ई० की भाद्रपद शुक्ल दशमी के गुरुवार के दिन समाप्त की थी। 'नवरसरंग' के प्रारंभ में लोकमणि ने इस ग्रंथ का रचनाकाल सूचक छंद इस प्रकार दिया है—

१ ८ ४ ६

संमत ससि वसु वेद रस मास आषाढ़ अलंभ।
मंगलदायक पौनिमा भो रसरंग अरंभ ॥[1]

इससे स्पष्ट होता है कि नवरसरंग ग्रंथ का प्रारंभ संवत् १८४६ (ससि=१, वसु=८, वेद=४, रस=६=१८४६) के आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन हुआ था। ग्रंथ के अंत में कवि ने समाप्तिकाल नहीं दिया है। अतः यह ग्रंथ निश्चित रूप में कब समाप्त हुआ था, यह कहना कठिन है। संभवतः लोकमणि जैसे प्रतिभावान् कवि ने इसकी रचना १-२ वर्षों में ही पूर्ण की थी।

वर्ण्य विषय :

यह ग्रंथ बारह अध्यायों में विभाजित है। अध्याय के लिये कवि ने 'अंग' शब्द का प्रयोग किया है। प्रत्येक 'अंग' की समाप्ति पर जो पुष्पिका दी गई है उसमें विवेचित विषय के नाम का उल्लेख है। ग्रंथ के नामकरण से ही ज्ञात होता है कि इसमें रसविषयक विवेचन होगा परंतु ग्रंथ में केवल रसों का ही विवेचन नहीं है अपितु रस के अतिरिक्त नायकनायिका भेद का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। यद्यपि प्रारंभ में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शांत—इन नौ रसों का उदाहरणसहित विवेचन है फिर भी यह ग्रंथ अन्य रीतिकालीन ग्रंथ की भाँति शृंगार-प्रधान ही है। नायिकाभेद के अंतर्गत हावों तथा भावों के वर्णन में प्रेम क्रीड़ा की सुंदर कल्पनाएँ मिलती हैं। लोकमणि ने स्वयम् इस बात को स्वीकार किया है कि इनका यह ग्रंथ भानुदत्त मिश्र के रसमंजरी तथा रस-तरंगिणी—इन प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों पर आधारित है। रीतिकालीन हिंदी कवियों को 'रसमंजरी' ग्रंथ अत्यंत प्रिय था। उस समय अनेक कवि 'रसमंजरी' के सिद्धांतों को स्वीकार कर उदाहरण के रूप में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते थे। रीतिकालीन कविताओं का सौंदर्य इन्हीं उदाहरणों में बिखर पड़ा है। शहाजी महाराज के आश्रित रीतिकालीन कवि जयराम ने इस तथ्य को बड़ी सुंदरता से व्यक्त किया है—

रसमंजरी ज्यों भानुकर लागत भई विकास।
भाखा कवि सब वाहि को बदलो करत प्रकास ॥

---

1 नवरसरंग, १।६।

अर्थ नायका एक यह भाखा बख अनेक ।
त्यौं हम कलपित अर्थ पर हम ही करत विशेख ॥[1]

'नवरसरंग' को पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि इनके रसविषयक विवेचन का पृष्ठाधार 'रसतरंगिणी' है और नायकनायिका भेद के विवेचन का 'रसमंजरी'। जहाँतक सिद्धांतों एवम् लक्षणों का प्रश्न है कवि ने भानुदत्त मिश्र के सिद्धांतों का ही हिंदी में अनुवाद मात्र किया है। अतः मौलिकता की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। इसी प्रबंध के पंचम अध्याय में लोकमणि के आचार्यत्व पर विवेचन करते हुए रसमंजरी एवम् रसतरंगिणी से नवरसरंग की तुलना की गई है। अतः उसका यहाँ विवेचन करना वांछनीय नहीं है। इस ग्रंथ में दोहों की संख्या २२७ तथा कवित्तों की संख्या २९७ है जिसका उल्लेख स्वयम् कवि ने ग्रंथांत में किया है।[2] 'नवरसरंग' के अंतर्गत जो उदाहरण दिए गए हैं वे कवि के अपने हैं। अपवादस्वरूप कुछ उदाहरणों में आद्धृत ग्रंथों के उदाहरणों के भाव अवश्य लिए हैं परंतु ऐसे उदाहरण अत्यंत कम मात्रा में मिलते हैं। विवेचन की सुगम शैली एवम् उसको स्पष्ट करने के लिये दिए गए उत्कृष्ट उदाहरणों की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। 'नवरसरंग' का प्रारंभिक छंद इस प्रकार है—

(१) श्री मुष सुंदर बानि धुरंधर ज्ञान समुंदर की चरणारति ।
लोकनजू शिव शैल सुता सुत चंद्र कला जुत मो हर नासति ॥
शक्ति शिरोमनि जक्तिन को धनि भक्तिन के अनुभो करुना अति ।
बुद्धि प्रदायक सिद्धि सहायक विघ्न विनायक हौं सरना रति ॥

(२) बीना पुस्तक कमलकर अमल सुभ्र सर्वांग
भवभय हृत विधिनंदनी कृत प्रणिप्रत अष्टांग ॥
कृत प्रणिप्रत अष्टांग अपांग अलंबित अक्षन ।
मुक्त हार मंदार जुक्त मुख उक्ति विचक्षन ॥
मुक्त हार मंदार अलंकृत अंबर झीना ।
लोकन कवि कुल वरद विसद रस बदत नवीना ॥[3]

---

१ जयगमकृत राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २१।
२ नवरस द्वैदश अंग की संख्या सरचब वीस ।
जुग नवसत कवित्त कुल दोहा दुइसत बीस ॥—नवरसरंग, १२।१।
३. नवरसरंग, १। १, २।

रसविवेचन के प्रसंग में कवि ने रस का सामान्य लक्षण एवम् उसकी व्याख्या कितने सरल एवम् सुस्पष्ट शब्दों में दी है, देखिए—

भावनुभाव विभाव जुत स्थायी भाव प्रबुद्ध ।
जो पदार्थ उपजत सरस मन विश्राम विशुद्ध ॥[1]

रसलक्षण की व्याख्या का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

पुलकै स्वरोम जो खुलकै न गोइ सकै,
नैन बस होइ न सजोइ सकै पन को ।
लाइ गर्भ गुन को न धुनि को अलापि सकै,
हर्ष सकै आप न हिलाइ सकै तन को ॥

लोकन भनत लाख अभिलाख करै राखि सकै,
हियरै न भाखि सकै जुन को ।
ओज को सिंगार कै मनोज को न गारि सकै,
मारि सकै मौज न संभारि सकै मन को ॥[2]

'नवरसरंग' के बारह अंगों में प्रथम अंग ग्रंथ की भूमिका के स्वरूप प्रतीत होता है जिसमें कवि ने ग्रंथ के स्वरूप का विवरण देकर विवेच्य विषयों का स्थूल परिचय दिया है। इसी में नवरसों का सामान्य विवेचन भी है। द्वितीय से लेकर सप्तम अंगों तक नायकनायिका भेद का विस्तृत एवम् उदाहरण सहित विवेचन है। इनमें क्रमशः स्वकीया, परकीया, सामान्या, अष्टनायिका, दूत्यत्व व्यापार, नायकदर्शन इन शीर्षकों के अंतर्गत नायकनायिकाओं के समस्त भेदों तथा उपभेदों का विवेचन उत्कृष्ट एवम् सरल उदाहरणों के साथ किया गया है। शेष पाँच अंगों में क्रमशः स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, सात्विक भाव, संयोग शृंगार तथा विप्रलंभ शृंगार के अंगोपांगों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समस्त ग्रंथ में विवेचन की पद्धति सुगम एवम् आकर्षक है। कवि की भाषा, कल्पना-विलास, प्रतिभा एवम् शैली आदि का परिचय प्राप्त करने के लिये उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

---

१. नवरसरंग, १।८।
२ वही, १।६।

(१) कोमल कमल कोश अंग कहा हाट को,
रंग अंग राग कहा दुति दामिनीन की।
लोकन भनत सतपत्रदल लोचन की,
समता का खंजरीट मीन की मृगीन की ॥
जानै ना बखानै रति रंभा अतिरूप अली,
का कहौ अचंभा मति पति ही प्रवीन की।
श्री मुख अनंद कला सुखमा प्रसन्न देव,
उपमा अनंत कला हीन की ससीन को ॥

(२) चंद की निकाई रुचि रुचिर बनाई विधि,
तडित सिताई है गोराई सोनजुही सी।
भाग श्री सुहाग अनुराग की त्रिबेनी शिर,
बेनी मृगनैनी तेरी निपुनि गुन गुही सी ॥
लोकन भनत ऐसी उठत उमंग जैसी,
छूटत बिहार मै खिलार काम कुही सी।
रैन सैन तुही सी सुबैन नैनन तुही सी,
न देखी मै न तुहीसीरी तुही है री तुही सी ॥

(३) दंपति एक ही आसन देखि सखी परिहासत हासन काजै।
लोकनजू कल भाषत है अभिलाषत है सुखसाज समाजै ॥
प्यारी के नैनन को कजरा पिय प्यारे के ओठन ओप विराजै।
सो सुनि कै मुसक्याय लला नवला सतराइ रिसाइ कै भाजै ॥[1]

उपर्युक्त छंद क्रमशः अनुकूल नायक, रूपगर्विता एवम् परिहास के उदाहरण हैं। समस्त ग्रंथ में इसी प्रकार के छंद प्राप्त होते हैं। ग्रंथ का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि लोकमणि की भाषा प्रौढ एवम् परिमार्जित है इनकी प्रतिभा एवम् कल्पनाशक्ति उर्वरा है। इनका शब्दभांडार भी पर्याप्त व्यापक दृष्टिगत होता है। इनकी शैली सुगम एवम् सुस्पष्ट है। माधुर्य गुण के प्रति कवि का विशेष अनुराग दिखाई देता है। लोकमणि के काव्य की यह विशेषता देखकर अनुमान होता है कि इस प्रतिभासंपन्न कवि ने 'नवरसरंग' के अतिरिक्त अवश्य ही अन्य ग्रंथ भी लिखे होंगे जो दुर्भाग्य से अप्राप्य हैं।

---

१. नवरसरंग, ४।१२, ७।२, ६।११।

हिंदी साहित्य में लोकमणि का स्थान :

हिंदी साहित्य के रीतिकाल में आचार्य चिंतामणि की परंपरा में जो रीति-ग्रंथ निर्माण हुए उनमें लोकमणि मिश्र के 'नवरसरंग' का भी अपना स्थान है। परंतु अबतक इनकी रचना अज्ञात रह जाने से हिंदी साहित्य के इतिहासों में लोकमणि जैसे उत्कृष्ट कवि का उल्लेख तक न हो पाया। लोकमणि ने 'नवरसरंग' जैसे महत्वपूर्ण रीति ग्रंथ का प्रणयन संवत् १८४६ वि० में अर्थात् रीतिकाल के लगभग अंतिम चरण में किया और वह भी महाराष्ट्र के उस प्रदेश में जहाँ हिंदी और मराठीभाषी प्रदेशों की सीमाओं का मिलन होता है। अतः हिंदी साहित्य के रीतिकवि चिंतामणि, देव, बिहारी आदि के अंतर्गत 'लोकमणि' की परिगणना करनी चाहिए।

सीताराम :

लोकमणि मिश्र की भाँति सीताराम भी हिंदी साहित्य के लिये अज्ञात कवि थे। इनके द्वारा रचित 'उक्तिविलास' नामक काव्यग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति प्रयाग के हिंदी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय में उपलब्ध है।[1] यह हस्तलिखित प्रति अत्यंत जीर्ण एवं खंडित रूप में है और इसका आकार ११॥ इंच × ७ इंच है।

जीवनपरिचय :

सीताराम का जीवनवृत्त हिंदी साहित्य के इतिहासों, खोज विवरणों आदि में अथवा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अतः 'उक्तिविलास' के अंतर्गत प्राप्त छंदों के आधार पर ही इनका जीवन परिचय दिया जा सकता है। इस ग्रंथ में कविपरिचय विषयक निम्नलिखित छंद प्राप्त होते हैं।

(१) नगर नागपुर मैं बसै कविसुत सीताराम।
प्रेम नेम प्रभु चरण सों साधु ढिग विश्राम॥

(२) सुहृद संग निसिदिन रहै कीन्ह्यौ वचन विनोद।
'उक्तिविलास' बनाइयै जासों उपजै मोद॥

(३) तासो सोच विचार कै किन्ह्यो बुधि अनुमान।
लघुमति गुण अगणित प्रभु जथा शक्ति बिख्यान॥

---

१. सूचनार्थ निवेदन है कि डा० कृष्ण दिवाकर ने उक्ति विलास को संपादित कर पूना विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किया है।

(४) उक्ति पूर्व सब बँधि रही जूठन लई सु बीन।
गुरजन लीजै शोधिकै कवि जन सुघर प्रवीन ॥[1]

इन छंदों के अतिरिक्त ग्रंथ के अंत में दी हुई पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री मोतीरामात्मज सीताराम महापात्रे विरचिते उक्ति-विलासे श्रृंगार प्रसंगे तृतीयो प्रकाश संपूर्ण ॥

उपर्युक्त छंदों एवम् पुष्पिका से ज्ञात होता है कि सीताराम महापात्र नागपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम मोतीराम था। छंद में प्रयुक्त 'कविसुत' शब्द से प्रतीत होता है कि इनके पिता मोतीराम भी कवि थे परंतु उनका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। छंदों से ज्ञात होता है कि सीताराम धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और साधुसंतों के सहवास में रहते थे। चौथे छंद में प्रयुक्त 'जूठन लई सु बीन' से कवि की विनयशील वृत्ति का परिचय होता है। काव्य में ये सीताराम के अतिरिक्त 'सीतलदास' तथा 'सीतल' की छाप भी लगाते थे। इस दृष्टि से इनके निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

(१) राम सनेही जगत में प्राण सनेही देहि।
पंचतत्व की सोज में 'सीतल' हरि भजि लेहि ॥

(२) उक्ति मुक्ति को मूल है वरण्यो 'सीतलदास'।
ज्ञानी रसिक विनोद हित कीन्ह्यो 'उक्तिविलास' ॥[2]

सीताराम के जन्मकाल के संबंध में भी कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। नागपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा साहित्यिक पंडित प्रयागदत्त शुक्लजी ने लिखा है कि सीताराम का मकान नागपुर के अंतर्गत 'पुरानी शुक्रवारी' विभाग में था और इनका स्वर्गवास ई० सन् १८६५ में हुआ।[3] उन्होंने यह सूचना सीताराम के नागपुर निवासी वंशजों से प्राप्त की है। सीताराम ने लोकमणि मिश्र के 'नवरसरंग' की जो प्रतिलिपि बनाई थी, उसके अंत में इस प्रकार लिखा है—

'इति श्रीमन्मिश्र केशवराम चरणांभोरुह चंचरीक लोकमणि विरचितायां नवरसरंग वर्णनो नाम द्वादशो अंग समाप्तं ॥ शके

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, हस्तलिखित प्रति० १, २, ३, ४ तथा ५।
२. उक्तिविलास, १।४४ तथा ३।१०३।
३ हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल (प्रथम सं०), पृष्ठ १०१।

१७५६ संवत् १८९१ सन् १२४४ फसली माह जमा दुआनी तारीख ७ रोज गुरुवार उर्फ भाद्रपद शुक्ल १० इदं पुस्तकं सीताराम महापात्र मोतीरामात्मज तेन स्वहस्तेन लिखितम् आत्माअर्थम् परोपकारार्थम् ॥ पन्नगपुर नग्र तन्मध्ये परसोजी भोंशले राज्यारूढ़ तस्याश्रयेन किंचित् सुखाश्रांतश्च कर्मानुयोगेन मया स्थितम् ॥'

इससे स्पष्ट होता है कि सीताराम महापात्र ने 'नवरसरंग' की प्रतिलिपि संवत् १८९१ अर्थात् सन् १८३४ ई० में बनाई थी और उन्हें परसोजी भोंसला का आश्रय था। इतिहास से ज्ञात होता है कि परसोजी का स्वर्गवास एक फरवरी १८१७ में हुआ।[1] अतः यह निश्चित हो जाता है कि सीताराम परसोजी के यहाँ उनकी मृत्यु के पूर्व गए थे। परसोजी की मृत्यु के सत्रह वर्ष पश्चात् बनाई गई नवरसरंग की प्रतिलिपि में सीताराम ने अपने आश्रयदाता परसोजी भोंसले का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि सीताराम को संभवतः परसोजी महाराज के द्वारा कोई भूमि अथवा स्थायी वृत्ति प्राप्त हुई थी जिससे उनकी मृत्यु के पश्चात् भी सीताराम अपनी जीविका सुखसहित चलाते थे और संभवतः इसी कारण से सीताराम स्वयम् को प्रमुखतः परसोजी के ही आश्रित मानते थे। परसोजी के द्वारा इस प्रकार संमान पानेवाले सीताराम उस समय अवश्य ही ३५ के लगभग रहे होंगे। यदि यह स्वीकार किया जाय तो इस हिसाब से कवि का जन्मकाल सन् १७८२ ई० के आसपास मान्य हो जाता है। इस प्रकार उक्तिविलास की रचना के समय सीताराम की अवस्था ५४ वर्ष की ठहर जाती है। 'उक्तिविलास' में सीताराम ने जो भक्तिपरक छंद लिखे हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान होता है कि इसकी रचना अवश्य ही कवि की प्रौढ़ावस्था में हुई थी। सन् १७८२ अर्थात् संवत् १८३९ वि० के आसपास इनका जन्मकाल मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आयु की ८३ वर्ष की अवस्था में सन् १८६५ ई० में सीताराम का स्वर्गवास हुआ था।

आश्रयदाता :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीताराम को नागपुर के परसोजी भोंसले

---

१. नागपुर भोसल्यांची बखर, का० रा० गुप्ते (सन् १९३६ ई०), पृष्ठ २३३।

का राजाश्रय था।' 'उक्तिविलास' के प्रारंभ में सीताराम ने अपने दूसरे आश्रयदाता के संबंध में इस प्रकार उल्लेख किया है—

(१) छितिपति नाना के सुवन बली साह महाराज।
कीरति वसुधा में प्रगट सब भूपन सिरताज॥

(२) तिन हित सीताराम.................कियो।
मोह सो ...अदुह सै समै निधि औ राग...॥[1]

इन छंदों से ज्ञात होता है कि सीताराम ने 'उक्तिविलास' की रचना जिनके लिये की थी वे महाराज राजाओं में श्रेष्ठ, बलवान तथा कीर्तिवान थे और वे 'नाना' के सुपुत्र थे। इन छंदों में कवि ने स्पष्ट रूप से आश्रयदाता का नाम नहीं लिखा और यदि लिखा भी हो तो खंडित अंश में रहा होगा जिसको पढ़ा नहीं जा सकता। इसलिये अन्य साधनों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। पं० प्रयागदत्त शुक्ल ने इनको नागपुर के रघोजी भोंसला, तृतीय माना है और साथ में यह भी कहा है कि ये नाना अहेरराव के पुत्र थे।[2] उक्तिविलास की रचना नागपुर के रघोजी तृतीय के लिये हुई थी यह कथन तर्कसंगत ही प्रतीत होता है। परंतु रघोजी तृतीय, नाना अहेरराव के पुत्र थे यह कथन इतिहास से मेल नहीं खाता।

रघोजी भोंसले तृतीय का शासनकाल सन् १८१८ से १८५३ ई० तक माना जाता है। इतिहास ग्रंथों से ज्ञात होता है कि मुधोजी उर्फ अप्पासाहब के पश्चात् परसोजी भोंसले की पत्नी रानी दुर्गाबाई ने रघोजी द्वितीय की कन्या बनूबाई गुजर के पुत्र बाजीबा (बाजीराव) को गोद लेकर उनका नाम रघोजी सेना साहब सुभा रखा जिन्हें बापू साहब भी कहा जाता था।[3] यही बापू साहब या बाजीबा रघोजी तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुए। इतिहासों में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि नाना अहेरराव के पुत्र यशवंतराव को तृतीय रघोजी की पत्नी की गोद में दिया गया और उनका नाम 'जानोजी' रखा था।[4] इससे यह निश्चित हो जाता है कि रघोजी तृतीय नाना अहेरराव के

१ उक्तिविलास, १।७ और ८।
२. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पृष्ठ १०१।
३ नागपूरचा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १० तथा नागपूरकर भोसल्यांची बखर, पृष्ठ २४०
४. वही—पृष्ठ १६ तथा पृष्ठ २४६।

पुत्र न थे। अतः पं० प्रयागदत्त शुक्ल के उपर्युक्त कथन को इतिहास की पुष्टि न मिलने से वह केवल अनुमान मात्र प्रतीत होता है।

अब प्रश्न उठता है कि 'उक्तिविलास' की रचना किसके लिये हुई थी? रघोजी तृतीय के लिये अथवा जानोजी भोंसले के लिये। जानोजी भोंसले का समय सन् १८५५ से सन् १८८१ तक था। 'उक्तिविलास' के अंत में दी हुई पुष्पिका के अनुसार ग्रंथ का रचनाकाल सन् १८३६ ई० अर्थात् संवत् १८९३ वि० है। इस समय नाना अहेरराव के पुत्र जानोजी भोंसले का शासन-काल नहीं था। उनका शासनकाल तो सन् १८५४ से प्रारंभ होता है। अतः जानोजी के लिये "उक्तिविलास" की रचना होना असंभव ही है। इतिहास से ज्ञात होता है कि सन् १८३६ ई० के समय रघोजी तृतीय का वैभवसंपन्न काल था। इन्होंने अपने शासनकाल में प्रजा की सुविधा के लिये बहुत से सुधार किए थे, अनेक मंदिरों का निर्माण किया था।[1] इससे इनकी धार्मिक प्रवृत्ति का भी परिचय हो जाता है। ग्रंथ के प्रारंभ में जो धार्मिक प्रवृत्ति विषयक वर्णन है उससे यह स्पष्ट होता है कि उक्तिविलास की रचना संभवतः रघोजी तृतीय के लिये हुई थी। इसके अतिरिक्त 'उक्तिविलास' के प्रारंभिक छंदों में आश्रयदाता का जो वर्णन कवि ने किया है वह भी रघोजी तृतीय के अनुकूल ही है। अब रही बात रघोजी के पिता के नाम संबंधी। इतिहासों में उनकी माता का नाम बनूबाई गुजर मिलता है परंतु इनके पिता के नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः यह संभव है कि रघोजी के पिता का नाम 'नाना' हो अथवा वे 'नाना' नाम से जनता में प्रसिद्ध हों। क्योंकि मूल नामों के अतिरिक्त कभी कभी उपनाम की ही प्रसिद्धि होती है। परसोजी के पश्चात् रघोजी तृतीय के ही आश्रय में सीताराम के आने तथा ग्रंथरचना करने का और भी एक कारण था।

परसोजी की मृत्यु संशयास्पद रीति से हुई थी। उनके पश्चात् परसोजी के चचेरे भाई मुधोजी उर्फ अप्पासाहब ने राज्यपद प्राप्त कर लिया परंतु उनका शासनकाल एक वर्ष के भीतर ही समाप्त हुआ क्योंकि अंग्रेजों ने उन्हें ३०-१२-१८८७ के दिन नागपुर की लड़ाई में जीत लिया और पदच्युत किया। इनके पश्चात् रघोजी तृतीय का शासनकाल प्रारंभ होता है। रघोजी तृतीय को परसोजी की रानी ने जब गोद लिया था तब उनकी आयु केवल दस वर्ष की थी। परिणामस्वरूप सन् १८३० ई० तक अंग्रेज अधिकारी जेंकिंस ने उनके नामपर राज का कारोबार चलाया था। युवक होने पर ई० सन्

---

१. नागपूरचा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १०-११।

१८३० में रघोजी तृतीय को राजकारोबार दिया गया।[१] अतः उनका वास्तविक शासनकाल ई० सन् १८३० से ही आरंभ हुआ। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परसोजी की मृत्यु के पश्चात् नागपुर के दरबार में सन् १८३० ई० तक कवि सीताराम का जाना अथवा रहना संभव न था। सन् १८३० ई० में जब रघोजी तृतीय का वैभवसंपन्न शासनकाल आरंभ हुआ तब फिर से अपने प्रथम आश्रयदाता के वंशज के दरबार में सीताराम आए होंगे।

ग्रंथ परिचय :

सीताराम का 'उक्तिविलास' नामक एकमात्र ग्रंथ उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ की जीर्ण पांडुलिपि के खंडित होने से अनेक स्थलोंपर अर्थग्रहण में बाधा उत्पन्न होती है। फिर भी जो अंश सुरक्षित है वह सुपाठ्य एवम् अधिक शुद्ध है। ग्रंथ के अंत में प्राप्त पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री मोतिरामात्मज सीताराम महापात्रे विरचिते उक्तिविलासे श्रृंगार प्रसंगे तृतीयो प्रकाश संपूर्ण ॥ संवत् १८९३ शके १७५८ दुर्मुखनाम संवत्सरे पौष शुक्ल पंचम्यां सौम्य वासर तद्दिने इदं ग्रंथं समाप्तं ॥

इससे ज्ञात होता है कि 'उक्तिविलास' की समाप्ति संवत् १८९३, शके १७५८ के पौष मास की शुक्ला पंचमी के सोमवार को हुई थी। उक्तिविलास के तीन प्रकाश हैं जिनके क्रमशः 'भक्ति प्रसंग', 'प्रस्ताव प्रसंग' तथा 'श्रृंगार प्रसंग' ये नाम हैं। प्रथम प्रकाश में ११५ दोहे तथा सोरठे हैं जिनमें भक्तिविषयक विचारधारा व्यक्त है। प्रारंभ में श्रृंगार, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत आदि रसों में भक्ति के कुछ उदाहरण देकर बाद में भक्ति के विभिन्न अंगों का विवरण दिया गया है। विवरण में अधिकांश उदाहरण कृष्ण के मिलते हैं। कवि ने भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये प्रह्लाद आदि भक्तों के उद्धार का स्मरण कराया है। भक्ति के अंतर्गत ईश्वर की महत्ता आदि के विवेचन में 'गीता' का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। कवि का कृष्णप्रेम कितना दृढ़ तथा तीव्र है इसकी कल्पना निम्नलिखित छंदों से सहज हो सकती है—

(१) ब्रह्मलोक, शिवलोक अरु इंद्रलोक पुनि सोय।
नागलोक अलकावती ब्रजसमान नहिं कोय॥

---

१. नागपूर सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ ९-१०।

(२) इन्द्रपद जद्यपि मिलै तिहू लोक कौ राज।
...... समान सीतल लषै वृज में रहे विराज ॥[१]

द्वितीय प्रकाश में जिसका नाम 'प्रस्ताव प्रसंग' है १२६ छंद हैं। इसमें वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, युक्तायुक्तालंकार आदि पर सुंदर छंद हैं। द्वितीय प्रकाश के अधिकांश छंदों में नीति तथा व्यवहार विषयक सूक्तियाँ हैं। विभिन्न उदाहरणों के साथ इन मधुर सूक्तियों की योजना है जिससे काव्य में अधिक माधुर्य आ जाता है। कुछ सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

(१) नहिं सुगंध जा फूल मैं नहिं पराग मकरंद।
अली कली चित क्यौं रचै तजि सौरभ अरविंद ॥

(२) बनी बनाई ना मिटै, कौन मिटावन हार।
गर्व किए रावण गयो हतो सिंधु के पार ॥

(३) जगत पियारी लक्ष्मी, भक्त पियारो राम।
बाँझ पियारो पुत्र है वाम पियारो काम ॥

(४) लोहा लोहा एक सम तामें हैं द्वै भाँत।
एक लोहा समशेर है एक लोहा मैं धात ॥[२]

इस प्रकार समस्त छंदों में सामाजिक पक्ष भी महत्व का हो गया है। समाज के विभिन्न व्यक्तियों—स्त्री पुरुष, सज्जन दुर्जन, आदि की प्रवृत्तियों का विवरण विभिन्न अलंकारों के साथ देने का सफल प्रयत्न किया गया है। समाज में स्थित विविध गुणदोष तथा प्रवृत्तियों के विवेचन में नीतिविषयक सत्पक्ष की उक्तियाँ भी पर्याप्त हैं। ग्रंथ का 'उक्तिविलास' यह नामकरण सार्थ एवम् सारगर्भित है।

तृतीय प्रकाश का नाम है शृंगार प्रसंग। इस प्रकाश का नाम ही वर्ण्य-विषय का परिचय करा देता है। इस प्रकाश में कुल १०३ छंद हैं। इसमें परंपरानुसार नायिकाभेद तथा नखशिख वर्णन है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि नायिकाभेद तथा नखशिख जैसे वर्णन के लिये भी सीताराम ने प्रथम दो प्रकाशों की भाँति दोहा तथा सोरठा जैसे छोटे छंदों का ही प्रयोग किया है। स्वकीया का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. उक्तिविलास, प्रथम प्रकाश ४६ तथा ५१ छंद।
२. उक्तिविलास, द्वितीय प्रकाश छंद ३, २ , ३२, १०६।

सजल नैन मृदुबैन लषि लसत मंद मुसकान।
कंजवदन मन भवन मन प्रेम परम सुखदान॥

नखशिख वर्णन के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तिल प्रसून तुनीर शुक छवि नासा की ओर।
सरवर निरखि न करि सकै कीन्हें जतन करोर॥

(२) पुष्प प्राणप्यारी निरखि सौतिन के उरसाल।
मानो उपजें संग ही प्रफुलित कंज सनाल॥

(३) केलि समै प्रीतम पिया लाज लजाइनि भाजि।
भृकुटी मैं लपटी रहति तन संकेत विराजि॥[1]

उपसंहार :

इस प्रकार उदाहरणों की सुंदरता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। भाषा पर कवि का प्रभुत्व होने से समस्त ग्रंथ में विभिन्न विषयों तथा वर्णनों के लिये उन्होंने दोहा तथा सोरठा छंदों के ही प्रयोग किए हैं। कवि का रचनाकाल सन् १८३६ ई० अर्थात् संवत् १८९३ है। यह रीतिकाल का अंतिम चरण है अतः पूर्ववर्ती रीतिकालीन कवियों की रचना का प्रभाव इनपर रहना स्वाभाविक है। इनकी रचना को पढ़ते समय 'सतसैया के दोहरों' का स्मरण अवश्य हो जाता है और ज्ञात होता है कि 'उक्तिविलास' के रचयिता पर विशेषतः बिहारी की परंपरा का प्रभाव अधिक रहा है। कवि ने अपने ग्रंथ का जो नामकरण किया है, वह उनकी सुज्ञता का द्योतक है। इसमें सचमुच ही कवि की उक्तियों का वास्तविक विलास दृष्टिगोचर होता है। इसमें भक्ति, नीति, व्यवहार, नखशिख, नायिकाभेद, अलंकार, रस तथा ऋतुवर्णन सभी बातें एक साथ ही विद्यमान हैं। कवि की प्रतिभा, भाषा प्रभुत्व, काव्य-कौशल तथा अभिव्यक्ति की शैली से अनुमान होता है कि इन्होंने और भी ग्रंथों का प्रणयन किया होगा जो अबतक अज्ञात ही हैं। रीतिकाल के उल्लेखनीय कवियों में सीताराम महापात्र की गणना होनी चाहिए।

कवींद्राचार्य सरस्वती (संदिग्ध) :

कवींद्र सरस्वती और परमानंद :

नागरीप्रचारिणी पत्रिका[2] में श्री तामसकरजी का 'कवींद्राचार्य सर-

---

१. उक्तिविलास, तृतीय प्रकाश, छंद २३, ५२, ६२, ३३।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी. श्रावण-आश्विन सं० २००५, वर्ष ५३, अंक २।

स्वती' नामक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुगल सम्राट् शाहजहाँ के आश्रित कवींद्राचार्य सरस्वती और छत्रपति शिवाजी महाराज के संस्कृत चरित्र शिवभारत के रचयिता कवींद्र परमानंद दोनों अभिन्न व्यक्ति थे। यदि इनकी धारणा को स्वीकार किया जाय तो कवींद्राचार्य की गणना भोंसला राजाश्रित कवियों में हो जाती है। अतः उन दोनों के चरित्रों एवम् ग्रंथों का अध्ययन कर श्रीतामसकर के उपर्युक्त कथन की परीक्षा करना आवश्यक होता है। उक्त दोनों कवियों के संबंध में उपलब्ध समस्त अंतर्बाह्य सामग्रियों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं अपितु भिन्न व्यक्ति हैं।

कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद इन दोनों का अभिन्नत्व सिद्ध करते समय अपने मत की पुष्टि में श्रीतामसकर ने जो बातें लिखीं उनमें से लगभग सभी कल्पना एवम् अनुमान पर समाश्रित हैं। कवींद्र सरस्वती बड़े विद्वान् थे, बनारस के रहनेवाले थे। परमानंद भी 'कवींद्र' थे, बनारस के रहनेवाले थे, बहुत बड़े विद्वान् थे। दोनों के संबंध में प्राप्त इतनी सी सामान्य बातों में समता पाकर श्रीतामसकर ने उन दोनों को अभिन्न व्यक्ति ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रारंभ में ही उन दोनों के अभिन्न होने की बात स्वीकार की है और उसी दृष्टिकोण से हर बात पर बिना विशेष छानबीन किए अनुमान के आधार पर ही चर्चा की है और निष्कर्ष भी निकाले हैं।

जन्मभूमि :

कवींद्राचार्य सरस्वतीकृत 'कवींद्रकल्पद्रुम' नामक संस्कृत ग्रंथ में कवींद्राचार्य के जन्मस्थान विषयक स्थूल परिचय प्राप्त हो जाता है—

> गोदातीरे प्रमोदाबलि बिलिततमे जन्मभाक् पुण्यभूमा।
> ऋग्वेदी वेदवेदी जगति विजयते श्री कवींद्रो द्विजेंद्रः ॥[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य का जन्म महाराष्ट्रांतर्गत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी पुण्यक्षेत्र पुण्यभूमि में हुआ था। यह पुण्यक्षेत्र का स्थान या तो नासिक हो सकता है या प्रतिष्ठान (पैठण)। परंतु तामसकरजी ने यह स्थान निधिवास (नेवासे) मान लिया है क्योंकि शिवभारत के रचयिता का निवासस्थान निधिवास था। निधिवास को

---

१. इंडिया आफिस कैटलॉग, भा. ७, नं. ३३४७।

गोदातीर के पुण्यक्षेत्र के रूप में स्वीकार करते समय उन्होंने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सूचनाओं की उपेक्षा सी की है। वास्तव में निघिवास प्रवरा नदी के तीर पर है न कि गोदावरी नदी के[1] और उस समय निघिवास की प्रसिद्धि भी पुण्यक्षेत्र के रूप में वैसी न थी जैसी नासिक अथवा प्रतिष्ठान की थी। अतः निघिवास को गोदावरी तीरस्थ पुण्यभूमि मानकर उसे कवींद्राचार्य की जन्मभूमि ठहराना कोरी कल्पना मात्र है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का जन्मस्थान गोदावरी तीरस्थ पुण्यक्षेत्र नासिक अथवा प्रतिष्ठान (पैठण) था और कवींद्र परमानंद का जन्मस्थान प्रवरा नदी तीरस्थ निघिवास नामक ग्राम था। अतः यह निश्चित हो जाता है कि दोनों के जन्मस्थान भिन्न थे।

कवींद्र की उपाधि और काशीवास :

यह सत्य है कि दोनों विद्वान् थे, दोनों को कवींद्र उपाधि प्राप्त थी, परंतु केवल इतनी सी बात के आधार पर दोनों व्यक्तियों को एक ठहराना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। किसी भी विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि को 'कवींद्र' की उपाधि देने की परंपरा बहुत प्राचीन है। परमानंद के नाती गोविंद कवि को भी 'कवींद्र' की उपाधि प्राप्त थी।[2] इसी प्रकार कालिदास त्रिवेदी के पुत्र उदयनाथ भी 'कवींद्र' नाम से प्रसिद्ध थे।[3] इस भाँति देखा जाय तो कवींद्र उपाधिधारी कई संस्कृत तथा हिंदी कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि कवींद्र उपाधि इन्हें इसी लिये मिली होगी कि ये सभी अच्छे विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि थे। अतः केवल कवींद्र की उपाधि तथा विद्वत्ता में साम्य होने से कवींद्र सरस्वती और कवींद्र परमानंद को अभिन्न ठहराना समीचीन न होगा। रही बात दोनों के बनारस में निवास की। यह भी कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है क्योंकि उस समय विद्या का केंद्र होने से उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिये भारतवर्ष के समस्त सुदूर प्रांतों से विद्वज्जन काशी में आते ही रहते थे। इसलिये यद्यपि उन दोनों के काशी निवास का उल्लेख मिलता है तो भी उससे उनमें अभिन्नत्व सिद्ध होने में कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१ महाराष्ट्रीय ज्ञान कोश, डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर (१७२५ ई.), भा १७, पृष्ट ३६३।

२. मराठी रियासत, भा० ४ गो० स० सरदेसाई, पृष्ठ १६४।

३. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान—डॉ० ग्रियर्सन, कवि-स० ३३४।

संन्यास ग्रहण तथा मूल नाम :

कवींद्र चंद्रोदय में प्राप्त एक छंद के द्वारा कवींद्राचार्य सरस्वती के संन्यासपूर्व नाम की कल्पना की जाती है—

भट्टो नारायणः साक्षात् पुरासीच्छंकरः शिवः।
तथैवाद्य स्वयं कृष्णः कवींद्र स्वामिदण्डधृक् ॥[1]

श्रीतामसकर ने इसका अर्थ देते हुए लिखा है—'नारायण भट्ट ही कवींद्र थे जो संन्यासी हुए। वे शंकर समान उपकारी थे और सब का उपकार करते थे। अब वे कृष्ण के समान सब को वेदांत सिखाते हैं। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ऐसा ही हो सकता है, दूसरा नहीं। ऐसा न होनेपर किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे पहले 'शंकर शिव' थे, बाद में वे कृष्ण हुए। एक ही जीवन में एक आश्रम के न तो दो नाम हो सकते हैं और न अवतारों की कल्पना की जा सकती है। शिव अर्थात् उपकारी शंकर और कृष्ण अर्थात् वेदांत की शिक्षा देनेवाले कृष्ण ही अभिप्रेत हो सकते हैं।[2] अन्वय की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि श्रीतामसकर द्वारा किया हुआ यह अर्थ योग्य नहीं है। वास्तव में इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार ही हो सकता है कि प्राचीन समय में नारायण भट्ट[3] जैसे साक्षात् शंकर अर्थात् शिव के समान कल्याणकारी माने जाते थे, वैसे ही अब ये कवींद्राचार्य साक्षात् कृष्ण हैं। अर्थात् संन्यासी होकर भी तपश्चर्यार्थ कहीं एकांत में न जाकर इन्होंने अपना जीवन कृष्ण के समान सामाजिक कार्य के लिये व्यतीत किया था। इस छंद के पूर्व के छंदों में भी कवींद्राचार्य सरस्वती की तुलना

---

१. कवींद्र चंद्रोदय, संपा० शर्मा और पाटकर, छंद सं० १२३।
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, श्रावण-आश्विन सं० २००५, वर्ष ५३, अंक २, पृष्ठ १२२।
३. नारायण भट्ट नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण का समय सन् १५१३ ई० से १५८० ई० तक था। इन्होंने काशी में विश्वेश्वर मंदिर बनवाया था। संपूर्ण भारतवर्ष के विद्वान इन्हें आदर सम्मान देते थे। विद्वत्ता एवं दयालुता के कारण इन्हें 'जगद्गुरु' नामक उपाधि प्राप्त हुई थी। ये अत्यंत उपकारी व्यक्ति थे। इनके शिष्यों में ब्रह्मेंद्र सरस्वती और नारायण सरस्वती प्रसिद्ध हैं। (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, सन् १९३७ ई०, पृष्ठ ४८६-४९०) नारायण भट्ट और कवींद्र सरस्वती में साम्य द्रष्टव्य है।

अनेक महान् व्यक्तियों से की गई है। डॉ० राघवन् ने[1] इसी उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि कवींद्राचार्य का वास्तविक मूल नाम या तो कृष्ण होगा या संन्यासाश्रम का कोई ऐसा नाम होगा जिसका मुख्य अंश 'कृष्ण' होगा। डॉ० राघवन् के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि तामसकरजी द्वारा लिखित अर्थ ठीक नहीं है। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारायण भट्ट कवींद्राचार्य का मूल नाम न था।

तामसकरजी ने अपने लेख में निष्कर्ष रूप में यह लिखा है कि हमारा ऐसा मत है कि कवींद्राचार्य का मूल नाम नारायण था, पिता का नाम गोविंद था, संन्यासाश्रम का नाम परमानंद था और इन्होंने ही 'शिव-भारत' नामक शिवाजी का चरित संस्कृत भाषा में लिखा।[2] यह तो स्पष्ट हो चुका है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का मूल नाम नारायण भट्ट न था। अब रहा प्रश्न पिता के तथा संन्यासाश्रम के नामों का। उन्होंने अपने निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त मत की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। कवींद्राचार्य के किसी ग्रंथ में अथवा उनके लिये तत्कालीन पंडितों तथा कवियों द्वारा रचित अभिनंदन ग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख तक नहीं मिलता कि कवींद्र सरस्वती के पिता का नाम गोविंद था और संन्यासाश्रम का नाम परमानंद था।

कवींद्राचार्य सरस्वती कृत कवींद्रकल्पलता नामक हिंदी ग्रंथ में कवि ने स्वयं अपना परिचय देते हुए लिखा है--

पहले गोदातीर निवासी पाछे आइ बसे हैं कासी।
सब विषयनि ते भये उदास बालदसा मैं लयो संन्यास ॥[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती को जीवन की प्रारंभावस्था ही में विरक्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। यदि तामसकरजी की बात मान ली जाय तो जीवन की प्रारंभावस्था ही में संन्यासाश्रम के 'परमानंद' नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई होती। संन्यासी व्यक्ति संन्यासग्रहण के पश्चात् केवल उसी नाम का प्रयोग करते हैं जो नाम

---

१ 'कवींद्राचार्य सरस्वती' आचार्य पुष्पांजलि (भांडारकर अभिनंदन ग्रंथ—अंग्रेजी), पृष्ठ १६०।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी, श्रावण आश्विन सं० २००९, वर्ष ५३, अंक २, पृ० १२६।

३ कवींद्रकल्पलता, हस्तलिखित प्रति, भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना।

संन्यासाश्रम में स्वीकार किया जाता है। यदि 'परमानंद' कवींद्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम था तो उस नाम के स्थान पर उन्होंने परंपरा के विरुद्ध कवींद्राचार्य सरस्वती नाम को ही क्यों ग्रहण किया होगा? कवींद्राचार्य के समस्त ग्रंथों में कहीं भी तो 'परमानंद' नाम का उल्लेख होना चाहिए था परंतु वह भी नहीं मिलता।

काशी, प्रयाग जैसे हिंदू तीर्थक्षेत्रों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करानेवाले कवींद्राचार्य सरस्वती के कार्य से प्रभावित होकर आंशिक रूप में ऋणमुक्त होने के लिये समकालीन दिग्गज पंडितों एवम् कवियों ने संस्कृत, मराठी, हिंदी में जो अभिनंदन ग्रंथ[1] लिखे हैं उनमें कवींद्राचार्य सरस्वती के मूल नाम से लेकर सभी उपाधियों का परिचय दिया है परंतु उसमें 'परमानंद' नाम का कहीं भी उल्लेख तक नहीं है। अतः कवींद्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम परमानंद मानना काल्पनिक एवं निराधार ही है। नृसिंह सरस्वती, नारायण सरस्वती, माधव सरस्वती, दामोदर सरस्वती आदि श्रेष्ठ तथा वेदशास्त्रसंपन्न संन्यासियों के नाम देखकर अनुमान होता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती यह नाम उन्होंने संन्यास दीक्षा के समय लिया था और परंपरा के अनुसार इसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए थे। कवींद्राचार्य सरस्वती स्वयं वेदशास्त्र संपन्न संन्यासी थे और उन्होंने शाहजहाँ के दरबार में ऋग्वेद की व्याख्या सुनाई थी।[2]

इसके अतिरिक्त कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद के अभिन्न न होने के कई प्रमाण दिए जा सकते हैं। कवींद्र सरस्वती का संस्कृत तथा हिंदी पर समान अधिकार था। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों के साथ कवींद्रकल्पलता, योगवाशिष्ठसार आदि हिंदी ग्रंथों का भी प्रणयन किया है। कवींद्र परमानंद के शिवभारत तथा परमानंद काव्य (अंशावतरण) नामक दो संस्कृत ग्रंथ ही मिलते हैं। उनके द्वारा रचित कोई हिंदी ग्रंथ अबतक न प्रकाश में आया है न इस बात का कहीं उल्लेख भी पाया जाता है। दोनों

---

१. 'कवींद्रचंद्रोदय' में संस्कृत और मराठी में प्रशस्तिकाव्य है जो शर्मा तथा पाटकर के संपादन में ओरिएंटल बुक एजंसी पूना से सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है। 'कवींद्रचंद्रिका' हिंदी प्रशस्तिकाव्य है जो अप्रकाशित है और उसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में प्राप्त है।

२. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, संपा० डा० नगेंद्र (प्रथम सं०), पृ० २।

के ग्रंथों में प्राप्त पुष्पिकाएँ भी भिन्न हैं। कल्पलता में कवींद्राचार्य सरस्वती ने लिखा है—

इति श्री सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती विरचितायां कवींद्रकल्पलतायाम् साहिजहाँ विषयक भाषा कवित्वामि ॥[1]

जहाँगीर की प्रशंसा में लिखित इनके 'जगद्विजय छंदः' नाम संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार पुष्पिका मिलती है—

श्री सर्व विद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वतीनां लघुजगद्विजय छंदः पुस्तकम्। शुभमस्तु ॥[2]

कवींद्र परमानंद के 'शिवभारत' में प्राप्त पुष्पिका इससे सर्वथा भिन्न है—

इत्यनुपुराणे सूर्यवंशे कवींद्रपरमानंद प्रकाशितायां शतसाहस्र्यां संहितायां कुमार प्रभवो नाम प्रथमोध्यायः ॥[3]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की शैलियों, उपाधियों तथा नामों में सर्वथा भिन्नता है। दोनों को पढ़कर निश्चय हो जाता है कि दोनों व्यक्ति भिन्न थे।

परमानंद ने शिवभारत के प्रत्येक अध्याय के अंत में निधिवासकर का हेतुपुरस्सर प्रयोग किया है परंतु कवींद्र सरस्वती के किसी भी ग्रंथ में निधिवास अथवा नेवासे का उल्लेख तक नहीं आया। परमानंद ने अपने पिता का नाम गोविंद लिखा है परंतु कवींद्राचार्य ने अपने पिता के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा।

कवींद्राचार्य और परमानंद का भिन्नत्व :

कवींद्राचार्य सरस्वती का अधिकांश काल जहाँगीर तथा शाहजहाँ के दिल्ली दरबार में व्यतीत हुआ था। संभवतः सन् १६२२ ई० से सन् १६५८ ई० तक अर्थात् शाहजहाँ की पदच्युति तक वे मुगल दरबार में ही थे जिसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। 'शिवभारत' में परमानंद ने शिवाजी के जीवन की घटनाओं को इतना विस्तृत दिया है कि पढ़कर स्पष्ट होता है कि परमानंद अवश्य ही शिवाजी के संपर्क में बहुत काल तक रहे थे और सूक्ष्म निरीक्षण से ही उन्होंने शिवचरित्र वर्णन किया था। बाल्यावस्था से लेकर

---

१. कवींद्र कल्पलता, हस्तलिखित प्रति, भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना।
२. जगद्विजय छंदस्, संपा० डॉ० सी० कुन्हन राजा, १९४९ ई० का संस्करण।
३ शिवभारतम्. संपा० स० म० दिवेकर (शके १८४९), पृ० १२।

शिवाजी के चरित्र का वर्णन उसमें किया गया है। उन्होंने कई स्थानों पर युद्ध में संमिलित योद्धाओं की नामावली भी गिनाई है। स्थल, काल तथा घटनाओं का इतना सूक्ष्मवर्णन उस व्यक्ति के लिये कैसे संभव है जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश काल मुगल दरबार में बिताया। इसके अतिरिक्त दोनों की वर्णन शैली में महत् अंतर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ शिवभारत के रचयिता परमानंद के काव्य में स्थान स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं का सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है वहाँ कवींद्राचार्य के ग्रंथों में इस प्रवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। जहाँ परमानंद की शैली आत्मनिष्ठ (विषयीगत) है वहाँ कवींद्राचार्य सरस्वती की शैली वस्तुनिष्ठ (विषयगत) है। कवींद्राचार्य का ध्रुपद के प्रति विशेष आकर्षण था, परमानंद के संबंध में यह बात पाई नहीं जाती। दोनों के काव्यविषयों तथा नामकरण की पद्धति में भी भिन्नता है। जहाँ परमानंद के विषय ऐतिहासिक हैं वहाँ कवींद्राचार्य सरस्वती के विषय ऐतिहासिक, पौराणिक, दार्शनिक पाए जाते हैं। परमानंद ने अपने ग्रंथों के नाम शिवभारत, अशावतरण रखे हैं तो कवींद्राचार्य सरस्वती ने अपने ग्रंथों के नाम कवींद्रकल्पलता, कवींद्र कल्पद्रुम, जगद्विजय छंदः, योगवाशिष्ठसार आदि रखे हैं। कवींद्राचार्य सरस्वती का कविताकाल सन् १६२२ से १६६० ई० तक निश्चित होता है और शिवभारत के रचयिता परमानंद का कविताकाल सन् १६६४ के पश्चात् आता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद इन दोनों में 'कवींद्र' उपाधि के अतिरिक्त ऐसा कोई साम्य नहीं मिलता जिससे दोनों की अभिन्नता सिद्ध हो सके। इससे यह निश्चित हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती ही कवींद्र परमानंद नहीं थे अपितु दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। अतः कवींद्राचार्य सरस्वती की गणना महाराष्ट्र के राजाश्रयी कवियों में न होने से उनका विस्तृत जीवनपरिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।[1]

नृप कवि :

महाराष्ट्र के मराठा राजाओं में साहित्य के प्रति विशेष प्रेम होने से सरस्वती के उपासकों का उनके दरबार में सदैव संमान ही रहा है। इनका दृष्टिकोण भी पर्याप्त व्यापक एवम् उदार होने से उन्होंने मराठी के अतिरिक्त

---

१. विस्तृत परिचय के लिये देखिए डॉ० कृष्ण दिवाकर द्वारा संपादित 'कवींद्र-चंद्रिका' का 'परिशोधन'।

संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओं के कवियों को भी पुरस्कार देकर प्रोत्साहित किया। भोंसला वंश के अधिकांश राजा सुविद्य एवं साहित्य में रुचि रखनेवाले थे। इन राजाओं में कुछ तो अवकाश के समय स्वयं रचना भी किया करते थे। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें से शिवराज, नृपशंभु तथा शाहराज 'सुकवि' ने हिंदी में भी काव्यरचना की है। शाहराज नें तो 'पंच भाषाविलास' के अंतर्गत मराठी हिंदी, संस्कृत, तमिल तथा तेलुगु भाषाओं में काव्यरचना की है। अतः इनके आश्रय में हिंदी काव्यरचना करनेवाले कवियों के साथ इन नृप कवियों का परिचय देना वांछनीय होगा।

शिवराज :

महाकवि भूषण के आश्रयदाता एवं भारत के युगपुरुष छत्रपति शिवाजी के चरित्र का एक अंग उनका 'कविरूप' भी है। शिवराज को अपने पिता शहाजी का साहित्यप्रेम परंपरागत रूप में प्राप्त हुआ था। शहाजी ने शिवाजी के विद्याध्ययन का प्रारंभ सातवें वर्ष की अवस्था में ही कराया था। प्रारंभिक अवस्था ही में उनकी तीक्ष्ण एवं अलौकिक बुद्धि का संकेत उनके अध्यापकों को प्राप्त हुआ था।[1] दादाजी कोंडदेव तथा शिवाजी की माता जिजाबाई के मार्गदर्शन से उनमें राजनीति के साथ साथ साहित्य के प्रति भी रुचि का निर्माण हुआ था। स्वराज्य प्राप्त करने के लिये उन्हें जिन विषम एवं कठिनतम परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा उनका विवरण इतिहास-प्रसिद्ध ही है। उनके समस्त जीवन में अंतर्बाह्य संघर्ष होते हुए भी उनका यह साहित्यप्रेम दब न सका।

साहित्यप्रेम :

शिवराज को साहित्य एवं कला के प्रति विशेष अनुराग था। उन्होंने अपने दरबार में विभिन्न भाषाओं के अनेक गुणिजनों, पंडितों तथा कवियों को योग्यतानुसार स्थान दिया था; विभिन्न अवसरों पर अनेक पुरस्कार भी वितरित किए जाते थे जिनसे साहित्यकारों को प्रोत्साहन मिलता रहता था। इनके यहाँ परमानंद, जयराम, शाहीर तुलसीदास, अज्ञानदास, इन संस्कृत मराठी कवियों के अतिरिक्त महाकवि भूषण, मतिराम, गंगेश, गोविंद, कविराज, कविकलश, गणेश, गौतम आदि हिंदी कवियों को

---

१. परमानंदकृत शिवभारत, संपा० स० म० दिवेकर (शके १८४९), पृष्ठ ८२।

भी आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त हुआ था। शिवराज की सर्वगुणसंपन्नता, कीर्ति, दरबार आदि के संबंध में जयराम कवि ने जो निम्नलिखित वर्णन किया है, वह द्रष्टव्य है—

श्री शाहराजात्मजतिलकस्य कलियुगसकलप्रबलयवनबलवनविदलनकरकलितकरवालोदित प्रतापदिनकरस्य स्फुरद्गुणगणभृतपंडितमंडलीमंडित कविवरविरचितं प्रबंधसिंधुसमुद्भूत शाश्वतनिष्कलंक कीर्तिशीतकरस्य प्रचंडक्ष्मापतिमंडलविजयसमासादितवसुवसुंधरादिकप्रदानप्रमुदित याचकजनस्तुतिवचनानंदिताष्टदिग्जननिवहस्य श्रीशिवराजस्य ॥[1]

हिंदी काव्यरचना :

स्वर्गीय भालेरावजी ने 'हिंदी साहित्य के अप्रकाशित परिच्छेद' नामक लेख में शिवराज का एक हिंदी छंद दे दिया है। वह छंद इस प्रकार है—

जय हो महाराज गरीब निवाज।
बंदा कमीना कहलाता हूँ साहिब तेरी लाज।
मैं सेवक वह सेवा माँगू इतना है सब काज।
छत्रपति तुम सेकदार शिव इतना हमारा अर्ज ॥[2]

समर्थ संप्रदाय में प्रत्येक शिष्य को प्रतिदिन ईश्वर का गुणगान पाँच पदों के द्वारा करना पड़ता है जिसे सांप्रदायिक भाषा में 'पंचपदी' कहा जाता है। भालेराव ने लिखा है कि शिवाजी महाराज ने स्वरचित 'पंचपदी' बनाई थी जिसमें उपर्युक्त पद भी है।[3] मराठी संतों की हिंदी वाणी के विशेष अनुसंधानकर्ता डा० विनयमोहन शर्मा ने भी इस पद को शिवाजी का ही माना है।[4] यह प्रसिद्ध ही है कि शिवाजी समर्थ रामदास के शिष्य थे। अतः यह बहुत संभव है कि जब कभी शिवाजी रामदास के मठ में गए हों और वहाँ संप्रदाय की परंपरा के अनुसार 'पंचपदी' भी बनाई हो। इस पंचपदी के शेष चार पद अप्राप्य हैं। यदि वे प्राप्त होते तो अधिक अच्छा होता।

---

१. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाडे, पृष्ठ १२।
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३, भा० १०, पृ० १०१।
३. वहीं, पृ० १०१।
४. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, पृ० ४३।

छंद में भाषा के जो दोष हैं वे स्वयं रचयिता के हैं अथवा लिपिकार के यह कहना अत्यंत कठिन है। यदि शिवाजी के अन्य छंद उपलब्ध होते तो इसका निर्णय करना सरल हो जाता।

कहा जाता है कि शिवाजी ने जयसिंह को फारसी कविता के रूप में पत्र भेजा था। यह पत्र हिंदी अनुवाद के साथ स्व० लाला लाजपतराय ने अपने 'छत्रपति शिवाजी' नामक पुस्तक में दिया है।[1] इस पत्र की प्रामाणिकता के संबंध में इतिहासकारों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश के मत में यह काव्यमय पत्र अप्रामाणिक है। संभव है कि मुख्य पत्र का आशय लेकर किसी परवर्ती कवि ने उसे काव्यबद्ध किया हो। परंतु प्रमाणों के अभाव से यह निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। विस्तार भय से कुछ अनुमान करना भी वांछनीय प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त छंद में प्रयुक्त बंदा, कमोना आदि फारसी शब्दों को देखकर यह यह तो स्पष्ट होता है कि शिवाजी फारसी भाषा से संभवतः परिचित थे। शिवाजी के जीवन के व्यस्तता, संघर्षमयता, दौड़धूप एवं कार्य की व्यापकता देखकर अनुमान होता है कि उन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा होगा। अवकाश के समय उन्होंने कुछ स्फुट छंद अवश्य बनाए होंगे जो या तो कालकवलित हो गए हैं अथवा स्फुट होने से अबतक अज्ञात रूप में कहीं बिखरे पड़े हैं। शिवाजी जैसे युगपुरुष द्वारा अत्यंत व्यस्त जीवन में भी साहित्य की सेवा करना और विशेषतः हिंदी में पदरचना करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है।

नृपशंभु :

हिंदी साहित्य में वर्णित 'नृपशंभु' :

हिंदी के रीतिकालीन कवियों में 'नृपशंभु' का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। हिंदी साहित्य के कुछ इतिहासों में इनका संक्षिप्त परिचय अवश्य मिलता है परंतु ज्ञात होता है कि यह परिचय किसी प्रामाणिक सामग्री के आधार पर नहीं दिया गया है। 'नृपशंभु' का सर्वप्रथम उल्लेख शिवसिंह सरोज में पाया जाता है और परवर्ती इतिहासकारों ने 'सरोज' के आधार पर पर ही नृपशंभु का परिचय दे दिया है। शिवसिंह सेंगर ने[2] इनका

---

१. देखिए—छत्रपति शिवाजी—लाला लाजपतराय (प्रथम संस्करण); प्रकाशक आर्य पुस्तक भंडार, देहली।

२. शिवसिंह सरोज. कविसंख्या ८३७।

उपस्थिति काल अर्थात् कविताकाल संवत् १७३८ (सन् १६८१ ई०) मानते हुए लिखा है कि ये महाराज कविकोविदों के कल्पवृक्ष महान् कवि हो गए हैं। शृंगार में इनकी काव्य (कविता) निराली है। नायिकाभेद का इनका ग्रंथ सर्वोपरि है। ये महाराज मतिराम त्रिपाठी के बड़े मित्र थे। डॉ० ग्रियर्सन[1] तथा एफ् ई० के ने[2] इनका उपस्थिति काल सन् १६०५ ई० के पास माना है। डॉ० विजयेंद्र स्नातक[3] ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास में नृपशंभु का जन्म संवत् १७३८ (सन् १६८१ ई०) माना है। इन सभी इतिहास लेखकों ने 'नृपशंभु' को सितारागढ़वाले राजा शंभुनाथ सिंह सुलंकी कहा है जो 'शिवसिंह सरोज' का अनुगमन मात्र है।

'नृपशंभु' वास्तव में कौन थे ?

साहित्य के इतिहास में लिखित नृपशंभु विषयक उपर्युक्त जानकारी कल्पना तथा अनुमान पर ही आधारित दिखाई देती है। अपने कथन की पुष्टि में किसी ने भी कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। शिवसिंह सेंगरजी ने भूषण के आश्रयदाता शिवाजी को भी 'शिवराज सुलंकी' कहा है। वास्तव में वे सुलंकी न होकर भोंसले थे। ठीक यही भ्रांति 'नृपशंभु' के संबंध में भी हुई है। अनुसंधान में प्राप्त सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि ये 'नृपशंभु' महाराष्ट्र के मराठा राजा संभाजी ही थे जो शिवाजी महान् के पुत्र थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीमान् मुंशी देवीप्रसाद ने भी 'नृपशंभु' को शिवाजी के पुत्र संभाजी भोंसले ही माना है।[4] 'नृपशंभु' की प्राप्त रचनाओं में कहीं भी 'सितारागढ़वाले राजा शंभुनाथसिंह सुलंकी' का उल्लेख तक नहीं है प्रत्युत नृपशंभु, शंभुराज, शंभुकवि, शंभुजू, संभकवि, संभजू आदि नामों की छाप मिलती है जो शंभुराज अथवा संभाजी के ही नाम हैं। इन रचनाओं में कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख आए हैं जो संभाजी के जीवन की कुछ घटनाओं की ओर संकेत करते हैं। मराठों के इतिहास में भी इस बात

---

१. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास (डॉ० ग्रियर्सन के. दि. मा. व. लि. आ. हिंदुस्तान का हिंदी अनुवाद), पृष्ठ १९८।
२. हिंदी लिटरेचर एफ्० ई. के (सन् १९२० ई०), पृ० ४२।
३. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास (षष्ठ भाग), पृष्ठ ४३३।
४. मुंशी देवीप्रसाद का पत्र (मतिराम ग्रंथावली में उद्धृत), पृष्ठ २४१।

का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि संभाजी ने 'नायिकाभेद' और 'नखशिख' नामक हिंदी काव्यों की रचना की है।[1]

नृपशंभु का समय :

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी के पुत्र संभाजी का ही साहित्यिक नाम 'नृपशंभु' था। इतिहास में प्रसिद्ध है कि इनका जीवनकाल सन् १६५७ ई० से सन् १६८६ ई० तक था। अतः डा० ग्रियर्सन तथा एफ्० ई० के के अनुसार इनका उपस्थिति काल सन् १६५० ई० के आसपास होना संभव नहीं है। उस समय इनका जन्म तक न हुआ था। डा० विजयेंद्र स्नातक के अनुसार इनका जन्मकाल सन् १६८१ ई० (संवत् १७३८) भी असंभव है। शिवसिंह सेंगर ने इनका उपस्थिति काल (कविताकाल) संवत् १७३८ अर्थात् सन् १६८१ ई० माना है जो अनेक दृष्टियों से तर्कसंगत है क्योंकि संभाजी का राज्याभिषेक सन् १६८१ ई० में हुआ और उसके पश्चात् शंभुराज 'नृपशंभु' हुए थे।

जीवन परिचय :

शंभुराज का जन्म शके १५७६ हेमलंबी संवत्सर, ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी, गुरुवार अर्थात् १४ मई, १६५७ के दिन पुरंदर नामक किले पर हुआ। इनकी माता का नाम सईबाई तथा पिता का नाम शिवाजी था। जन्म के दो वर्ष पश्चात् ही शके १५८१ अर्थात् ५ सितंबर १६५६ को माता का स्वर्गवास हो जाने से शंभुराज को मातृसुख न मिल सका। शिवाजी की माता जिजाबाई ने शंभुराज के साथ अत्यधिक स्नेह तथा वात्सल्य का व्यवहार किया जिससे मातृविहीन छोटे बालक को माता की अनुपस्थिति की तीव्रता उतनी प्रतीत न हो पाती थी। शके १५६६ आनंद संवत्सरे ज्येष्ठ नवमी बुधवार अर्थात् १७ जून, १६७४ को जिजाबाई की मृत्यु हो जाने से उनका यह एकमात्र आधार भी नष्ट हुआ।[2]

शिक्षादीक्षा :

शंभुराज की शिक्षादीक्षा की व्यवस्था शिवाजी तथा जिजाबाई ने संभवतः तत्कालीन पद्धति के अनुसार अच्छी तरह से की थी। महामहोपाध्याय

---

१. हिस्ट्री ऑफ मराठा पीपुल, भाग २, किंकेड पारसनीस (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २८।

२. जेधे शकावली, पृ० ३-१० (शिवचरित्र प्रदीप, सं० आपटे और दिवेकर, में प्रकाशित)।

डॉ० दत्तो वामन पोतदार द्वारा प्रस्तुत संभाजी का संस्कृत दानपत्र, जयपुर के ग्रंथरक्षागारों में प्राप्त संभाजी तथा कवि कलस के आमेर के राजा रामसिंह के नाम भेजे गए संस्कृत पत्र[1], संभाजी द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथ 'बुधभूषण' आदि को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि संभाजी को बाल्यावस्था से ही उत्तम शिक्षा दी गई थी। 'बुधभूषण' में अपना परिचय देते हुए स्वयं शंभुराज ने लिखा है कि उन्होंने काव्यालंकार, शास्त्र, पुराण, संगीत और धनुर्विद्या में निपुणता पाई थी और प्राचीन लेखकों के ग्रंथों का गहरा अध्ययन कर 'बुधभूषण' ग्रंथ का सम्यक् संकलन किया है।[2] इस ग्रंथ के केवल तीन ही प्रकरण उपलब्ध हुए हैं जिनमें भवान्याः स्तुतिः आशिषः, अन्योक्तयः राजनीतिः तथा प्रकीर्ण नीतिः समाविष्ट हैं। इसमें इससे अधिक और भी प्रकरण होने की संभावना लगती है। इस ग्रंथ के निर्माण में शंभुराज को संभवतः केशव पंडित की सहायता प्राप्त हुई थी। शृंगारपुर के निवासी केशव भट्ट प्रथम सन् १६७० ई० पूर्व शिवाजी के पास रघुनाथ पंडितराव के आश्रय में 'उपाध्याय' के रूप में रहे थे। संभाजी ने छत्रपति पद धारण करने पर उन्हें 'पंडितराव दानाध्यक्ष' का स्थान दे दिया।[3] उन्होंने संभाजी को वाल्मीकि रामायण भी सुनाई थी।[4]

येसूबाई का सहयोग :

संभाजी का विवाह सन् १६६१ के पश्चात् और सन् १६६५ ई० के पूर्व पिलाजी राजे शिर्के की कन्या येसूबाई के साथ हुआ था।[5] येसूबाई की गृहशिक्षा तथा व्यवहारशिक्षा शिवाजी की कर्तृत्वसंपन्न माता जिजाबाई की देखभाल में हुई थी। अपने पति के सुखदुःख में वह सदैव हिस्सा लिया करती थी। संभाजी भी अपनी पत्नी की योग्यता अच्छी तरह जानते थे।[6] अपने

---

१. मराठों का नवीन इतिहास, गो० स० सरदेसाई, (सन् १९५९), पृ० ३७६।
२. तस्यात्मजः शंभुरिति प्रसिद्धः समस्तसामंतशिरोवलंतः (वतंसः)।
यः काव्यसाहित्यपुराण गीत कोदंड विद्यार्णवपारगामी ॥१४॥
विविच्य शास्त्राणि पुरातनानामादाय तेभ्यः खलु सोयमर्थम्।
करोति सद्ग्रंथममुं नृपालः स शंभुवर्मा बुधभूषणाख्यम् ॥१६॥
विविच्य संतः कृतिमस्मदीयां गृहांतु सच्चासदसच्च जन्तु (त्यजंतु)।
क्षीरावियुक्तम् परिहृत्य नारीं (नीरं) क्षीरं भजन्ते खलु राजहंसाः ॥१७॥
३. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे (सन् १९६०), पृ० २७।
४. दि हिस्ट्री ऑफ़ मराठा पिपुल, खंड २, (प्रथम सं०), पृ० ५८।
५. छत्रपति संभाजी महाराज—वा० सी० बेंद्रे, (सन् १९६०), पृ० ६४७–६९८।
६. उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् १९२५), पृ० १०५।

पति के समान वह भी राजनीति में प्रवीण थी। शाहू के शासनकाल में एक समय गोद लिए पुत्र के अधिकार और सगे पुत्र के अधिकार के विषय में उसने स्वयम् निर्णय दिया था। चिंचवडकर देव को लिखित व्यक्तिगत पत्र से येसूबाई की सुविद्यता और संस्कृति का परिचय हो जाता है। तत्कालीन अनेक पत्रों से ज्ञात होता है कि येसूबाई एक कर्तृत्वसंपन्न स्त्री थी और उसने शिवाजी द्वारा निर्देशित पद्धति का यथायोग्य पालन करने का प्रयत्न किया था। संभाजी राजा के अंतर्गत राज्य कारोबार में येसूबाई सदैव सहायक रहा करती थी।

असमान्य व्यक्तित्व का गठन :

तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं ? इस सिद्धांत के अनुसार तेजस्वी शंभुराज के असामान्य व्यक्तित्व की झलक बचपन से ही प्राप्त होती है। आठ वर्ष की अवस्था में इन्हें औरंगजेब के द्वारा 'पंच हजारी' का पद प्राप्त हुआ था। औरंगजेब की प्रार्थना और राजा जयसिंह के आश्वासन पर विश्वास कर पंचहजारी शंभुराज तथा कुछ चुने हुए लोगों के साथ शिवाजी ने १५ मई १६६६ को आगरा में औरंगजेब बादशाह से मुलाकात ली। दुर्भाग्य से पिता पुत्र को औरंगजेब की कपट नीति के कारण कैद होना पड़ा। वहाँसे भी बड़ी कुशलता से इन्होंने अपनी मुक्तता करा ली। मुक्त होने पर भी मुगलों से बचने तथा सुरक्षितता के साथ स्वदेश लौटने के लिये धैर्य, चातुर्य, सतर्कता एवम् सहनशीलता की आवश्यकता थी। शिवाजी महाराज ने इन सभी बातों का दूरदर्शिता से विचार किया था। आगरा से निकलकर वे दोनों मथुरा आए। वहाँ दाढ़ी मूछें निकाल शरीर पर रक्षा लगाई और वे दोनों बनारस की ओर अग्रसर हुए। संभाजी की अवस्था केवल ६ वर्षों की होने से प्रवास की कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता उनमें न थी। अतः शिवाजी ने वहाँ के कुलोपाध्याय कवि कलस के पास उन्हें रखा। संभाजी को इलाहाबाद में कवि कलस के पास रखने में व्यावहारिक कठिनाई के साथ राजनीतिक दाँव भी था जिससे शिवाजी सुरक्षा के साथ अपने प्रदेश में पहुँच सके।[1] बादशाह औरंगजेब को गाफिल रखने के हेतु शिवाजी ने संभाजी की मृत्यु की झूठी वार्ता फैलाई ताकि बादशाह गाफिल रहे और संभाजी को इलाहाबाद से महाराष्ट्र में आना सरल हो जाय। कुछ विद्वानों के मतानुसार संभाजी को इलाहाबाद में कवि कलस के पास नहीं रखा था बल्कि

---

१. शिवचरित्र वृत्त संग्रह, खं० ३, पृ० ८१-८२।

मथुरा में ही कृष्णाजी विश्वास राऊ नामक ब्राह्मण के पास रखा था और अकेले शिवाजी महाराज वाराणसी की ओर अग्रसर हुए थे।[१]

इस प्रकार जीवन के प्रभात काल से ही शंभुराज को संघर्षजन्य परिस्थिति का सामना करना पड़ा। बाल्यावस्था ही में उन्होंने सांसारिक तथा राजनीतिक अनुभव प्राप्त किया था। राजा जयसिंह के डेरे में सांस्कृतिक वातावरण तथा युद्धविषयक दाँव पेच को उन्होंने प्रथम देख लिया। इसके पश्चात् मनसबदारी राजशाही के सुख दुःख के अनुभव आगरा के प्रवास में प्राप्त किया था। मुगल दरबार का वैभव तथा वहाँ के अविश्वासपूर्ण तथा भयावह वातावरण का भी अनुभव कर लिया। आगरा के बंदीगृह से मुक्त होने पर अपरिचित व्यक्तियों तथा प्रदेशों में बड़ी सतर्कता से रहकर अनेक कठिन प्रसंगों का उन्हें सामना करना पड़ा था। बालपन ही में अन्य नैमित्तिक तथा राजनीतिक शिक्षा के साथ प्रत्यक्ष अनुभव भी उन्हें प्राप्त हुए। शिवाजी महाराज के प्रभावी व्यक्तित्व तथा उनके राजनीतिक दाँवपेंच के संस्कार उनके मनपर सदैव होते रहते थे। शिवाजी के व्यक्तित्व को निर्माण करनेवाली राजमाता जिजाबाई के सान्निध्य तथा शिक्षा का प्रभाव भी संभाजी पर अवश्य रहा होगा। बाल्यावस्था से ही युवराज संभाजी के असामान्य व्यक्तित्व का विकास होने लगा था।

संभाजी और शाहजादा मुअज्जम :

आगरा से लौटने पर सन् १६६८ ई० में शिवाजी तथा बादशाह औरंगजेब में एक संधि हुई जिससे संभाजी को सप्तहजारी की मनसब प्राप्त हुई और वे लगभग दो वर्ष तक बरहाणपुर के निकटवर्ती मोंगल छावनी में रहे। औरंगजेब का पुत्र मुअज्जम उस समय बरहाणपुर का सूबेदार था जो बड़े विलास में रहा करता था।[२] संभाजी और शाहजादा मुअज्जम दोनों के समवयस्क होने तथा उनकी अभिरुचियों में भी पर्याप्त साम्य होने से उनमें अच्छी मित्रता हो गई। दोनों राजनीति विषयक चर्चाएँ बड़े विश्वास से करते थे। दोनों में इतनी घनिष्ठ मित्रता हुई कि उनमें कोई भी गुप्त बात न रहती थी।[३] यहाँ

---

१. छत्रपति शिवाजी महाराज, दि. वि. काले (सन् १६६० ई०), पृ. १४४-१४१।
२. उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् ११३१ ई०), पृ० २०।
३. फॉरेन बायोग्राफीज आव् शिवाजी भा० २, सुरेंद्रनाथ सेन (प्रथम सं०), पृ० २४१।

रहकर युवराज संभाजी अपने पिता के कार्य के लिये सहायक वातावरण निर्माण कर सके थे।

पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण तथा नया दृष्टिकोण :

प्रामाणिक प्रमाणों के अभाव में प्रचलित तथा कल्पित एवम् निराधार किंवदंतियों के आधार पर अनेक इतिहासकारों ने संभाजी को विलासी, अत्याचारी, दुराचारी, दुर्व्यसनी के रूप में प्रस्तुत किया था परंतु संभाजी के समकालीन पत्रव्यवहार, उपलब्ध ग्रंथ तथा अद्यावत् अनुसंधान में प्राप्त सामग्री का उपयोग कर पूना के सुप्रसिद्ध विद्वान् अनुसंधानकर्ता श्रीमान् वा० सी० बेंद्रे ने ६२६ पृष्ठों का 'छत्रपति संभाजी महाराज' नामक बृहत् ग्रंथ लिखा है जिसमें संभाजी के वास्तविक महान् चरित्र को सोदाहरण तथा साधार प्रस्तुत किया है। बेंद्रेजी द्वारा प्रस्तुत संभाजी के चरित्र के कारण संभाजी विषयक जो शंका विद्वानों के मन में थी वह भी दूर हो गई है। यदि संभाजी अत्याचारी, दुराचारी, दुर्व्यसनी, दुष्ट होते तो मृत्यु के समय उनके उदात्त एवम् महान् चरित्र की जो झलक मिलती है वह कैसे संभव है ? क्या यह संभव है कि जिस व्यक्ति ने जीवन भर केवल विलास, अत्याचार, दुराचार किया वह औरंगजेब जैसे बादशाह द्वारा केवल मुस्लिम धर्म के स्वीकार करने पर मृत्युदंड से मिलनेवाली मुक्ति का अवसर त्यागकर स्वधर्म के लिये मृत्यु स्वीकार करना अधिक पसंद करे ? किसी भी व्यक्ति में इतने उदात्त तथा महान् चारित्र्य का उदय अकस्मात् नहीं हो सकता बल्कि उसके लिये वैसे ही पूर्व संस्कार तथा उदात्त आचरण की भी आवश्यकता होती है। यह अतर्क्य तथा असंगत दिखाई देता है कि जो व्यक्ति जीवितावस्था में शरीर के टुकड़े टुकड़े करने पर भी, आँखें निकालने तथा शरीर को छीलने जैसी असह्य यातनाओं को बरदाश्त कर धर्मनिष्ठा से देहातीत रह जाता है और अपनी धर्मनिष्ठा की अंतिम कसौटी पर खरा उतर जाता है वह जीवन भर देहधर्म का दास रहा होगा।[1] नवीन अनुसंधान में संभाजी का जो उदात्त एवम् महान् चरित्र मिलता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि संभाजी में बाल्यावस्था से ही इस महान् व्यक्तित्व के बीज बोए गए थे।

परंपरा एवम् पद्धति के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र को स्वभावतः राजसिंहासन का अधिकार प्राप्त हो जाता है। शंभुराज शिवाजी के

---

१. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे (पुरस्कार-तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी), पृ० १।

ज्येष्ठ पुत्र थे अतः शिवाजी के पश्चात् वास्तव में छत्रपति के सिंहासन पर उन्हीं का अधिकार था। यद्यपि शिवाजी ने अपनी मृत्यु के पूर्व राज्य के उत्तराधिकारी के संबंध में निश्चित निर्णय नहीं किया था फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि उन्होंने संभाजी का यह अधिकार नष्ट भी नहीं किया था, उलटे दक्षिण प्रदेश का कारोबार देखने का कार्य उनको सौंपा था। संभाजी का स्वभाव विश्वासघातक तथा दुष्ट नहीं था। वे शूर, उदार, दिलदार थे परंतु तामसी वृत्ति के होने से शिवाजी ने जनार्दन पंत हणमंते को संभाजी की ओर विशेष ध्यान देने के लिये कहा था और संभाजी की व्यवस्था उन्होंने पन्हाला किले पर की थी। छत्रपति शिवाजी महाराज की मृत्यु के पश्चात् संभाजी की सापत्न माता तथा राजाराम की सगी माता सोयराबाई और अण्णाजीपंत ने राजाराम को राजसिंहासन पर बिठाने का षडयंत्र किया। शिवाजी की मृत्यु की वार्ता तक स्पष्टतः और शीघ्रता से संभाजी को नहीं भेजी गई। ज्येष्ठ पुत्र के होने पर भी शिवाजी की उत्तर-क्रिया राजाराम के द्वारा कराई गई। प्रह्लाद निराजी, रामचंद्र निलकंठ, मोरोपंत पिंगले, अनाजी दत्तो, बालाजी आवजी के परामर्श से सोयराबाई ने दि० २१-४-१६८० को राजाराम को सिंहासनस्थ किया।

शंभुराज को जब ये सभी बातें ज्ञात हुईं तब पिता की मृत्यु का एक ओर दुःख हुआ और दूसरी ओर स्वार्थी तथा सत्तालोलुप मंत्रियों के षडयंत्र पर क्रोध भी आया। उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का पूर्ण आकलन किया था और बड़ी कुशलता एवम् चतुराई के साथ षडयंत्र करनेवालों का दमन कर अपने खोए हुए उत्तराधिकार को प्राप्त किया। दि० १६-१-१६८१ के दिन उन्होंने यथाविधि रायगढ़ पर अपना राज्याभिषेक भी करा लिया।[1] शंभुराज के विरुद्ध जो गुप्त षडयंत्र किए गए उनमें उनकी हत्या के भी प्रयत्न किए गए थे। तत्कालीन अंग्रेज तथा फ्रांसीसी व्यापारियों द्वारा प्रेषित पत्रों में इसके संबंध में काफी विवरण मिलता है। ३० अगस्त १६८१ के पत्र में लिखा है 'संभाजी पर भारी प्राण संकट हो चुका है। इस बात की संभावना थी कि मछली में विष देकर उसको मार डाला जाता परंतु एक सेवक के बालक ने जो इस रहस्य को जानता था, उसे उस मछली को खाने से रोक दिया। उसे उसके एक नौकर और कुत्ते को दे दिया गया। दोनों कुछ ही घंटों में मर गए। उसके विरुद्ध अनाजी पंडित, केशव पंडित, प्रह्लाद पंडित आदि ने षडयंत्र किया था, अब उन सबके बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं।'

१. उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (१६२१ ई०), पृष्ठ २२।

८ सितंबर १६८१ के पत्र में लिखा है—'संभाजी के विरुद्ध षडयंत्रकारी अनाजी पंडित रामराजा की माता और हीरोजी फर्जंद चाहते थे कि सुलतान अकबर उनमें संमिलित हो जाय परंतु वह तैयार न हुआ। उसने एक संदेश-वाहक के द्वारा तुरंत संभाजी को इसकी सूचना दे दी'।[१]

ऐसी विचित्र परिस्थिति में भी संभाजी ने धैर्य तथा राजनीतिज्ञता से काम लिया। अंतर्गत राजनीतिक संघर्ष में अण्णाजी दत्तो के यह दूसरे षड्यंत्र में संपूर्णतः राष्ट्रद्रोह और राज्यहत्या का प्रयत्न था। राष्ट्रद्रोहियों एवं अभिषिक्त राजा की हत्या का प्रयत्न करनेवालों के षडयंत्र में सम्मिलित होनेवालों को भेदभाव न रखते हुए मृत्यु का दंड दिया गया। भेदिया का काम कर शत्रु की मदद करनेवाले स्वराज्य द्रोहियों को भी उनके कृत्यों के अनुसार दंड दिए गए। स्वराज्यरक्षा, राजा की मर्यादा एवं धाक जमाने के हेतु संभाजी राजा को शासकीय कठोर कर्तव्य को निभाना पड़ा। कई शरणार्थियों को क्षमा भी दी थी। योग्य कारण के सिवा किसी को भी अन्याय से दंड देने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। मंत्रियों के बारे में भी शिवाजी महाराज के ही आदेश का पालन किया गया था परंतु जिन मंत्रियों के पुत्र कार्यक्षम न थे उनके स्थान पर अन्य कार्यक्षम एवं कर्तृत्वसंपन्न व्यक्तियों की नियुक्तियाँ कीं। कुछ वयोवृद्ध सर कारकूनों को लगता था कि संभाजी उन्हीं की आज्ञा में रहें परंतु बालराजा शंभु के उनसे भी अधिक सुविद्य, ज्ञानी तथा अनुभवी होने से उनकी यह इच्छा पूर्ण होना संभव न था। एक दो स्वार्थी मंत्रियों ने इससे अपना अपमान समझकर संभाजी से द्रोह किया परंतु शेष मंत्री निष्ठावान् रहे। शंभुराजा और राज्ञि येसूबाई दोनों के कर्तृत्वसंपन्न एवम् कार्यक्षम होने से राज्य का शासन सुव्यस्थित होता रहा। सभी के साथ दोनों का प्रेमपूर्ण व्यवहार होने से सभी लोग भक्तिभाव एवम् राज्यनिष्ठा से स्वराज्य की रक्षा में रत रहकर प्राण समर्पण को सदैव तैयार रहते थे।[२]

संभाजी शासक के रूप में :

राजनीतिक दृष्टि से भी संभाजी का शासनकाल कम महत्वपूर्ण न रहा। अपने शासनकाल में संभाजी को अंतर्बाह्य संघर्ष का सामना करना पड़ा। संभाजी ने प्रथम अंतर्गत स्वकीय संघर्ष को समाप्त कर औरंगजेब तथा पोर्तुगीज के साथ घमासान युद्ध किया। शंभुराज के अद्वितीय एवम् प्रशंस-

१. मराठों का नवीन इतिहास, भाग १, गो० स० सरदेसाई, पृ० ३७५-३७६।
२ छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे, पृ० ६७५-६७६।

नीय पराक्रम के संबंध में इतिहास की कई घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। संभाजी के पराक्रम तथा व्यक्तित्व का जो वर्णन समकालीन कवि ठाकुरसी ने किया है, वह द्रष्टव्य है—

(१) संकित थी सारी हिंद याकी इस वीरता पै।
वीरता सिवा की याने जब्बर संभारी है॥
हाय क्रूर काल करवाल भयो दक्खन को।
स्वर्गगामी सभा कियो करी के सवारी है॥

(२) बीर धीर दानी, प्रबल, सबल शत्रु को साल।
संभा सुत छाँड्यो यहाँ राजाराम नृपाल॥[1]

शिवाजी महाराज की मृत्यु के पश्चात् मराठा राज्य को हथिया लेना सरल और सहज कार्य है—इस कल्पना से बड़ी सेना के साथ बादशाह औरंगजेब दक्षिण में आया। औरंगजेब के पुत्र शाहजादा अकबर को संभाजी ने आश्रय दिया था जो तत्कालीन युद्धारंभ का निमित्त या कारण भी हो चुका था। संभाजी को परास्त कर उसकी सत्ता को नामशेष करने के लिये औरंगजेब ने अनेक राजनीतिक दाँव पेंचों के प्रयोग किए। प्रथमतः पोर्तुगीजों तथा जंजिरा के सिद्दियों को उसने संभाजी के विरुद्ध उकसाया। ऐसी संकट-कालीन स्थिति में संभाजी ने बड़ी ही चतुराई, कुशलता एवम् धीरज से काम लिया और स्वराज्य पर आए हुए परचक्र को रोकने का महत्वपूर्ण कार्य किया। प्रथम संभाजी ने सिद्दियों का सामना किया उसके पश्चात् पोर्तुगीजों का सामना कर अपने अतुल पराक्रम से उन्हें परास्त किया।[2] इसी अवसर से लाभ उठाने के हेतु मुगलों ने संभाजी पर आक्रमण किया परंतु लगातार तीन वर्ष तक सारी शक्ति को एकत्र कर जूझने पर भी अंत में औरंगजेब को संभाजी के असामान्य कर्तृत्व एवम् पराक्रम के सामने हार खानी पड़ी।

संभाजी पर विजय पाना कठिन है—यह जानकर औरंगजेब ने विजापूर तथा गोवलकोंडा राज्य की ओर रुख किया। मोंगल सेना में संभाजी को 'सवाई शिवाजी' के रूप में पहचाना जाने लगा। केशव पंडित ने संभाजी को 'ज्वलज्ज्वलनतेजस' कहा है। पूर्वप्रस्थापित एवम् सामर्थ्यशाली आदिलशाही एवम् कुतुबशाही राज्यों को अल्पावधि में समाप्त करनेवाली अमर्याद एवम्

---

१. 'विश्वासराऊ' प्रशस्ति (सन् १८४२ ई०), कृ० गं० कवचाले, पृ० १६-१७।
२. हिंदुस्तानचा अभिनव इतिहास, वि० सी० चितले, पृ० ३२०।

विशाल मुगल सत्ता से संतत ६ वर्षों तक जूझते रहकर तथा उसकी शक्ति को पर्याप्त क्षति पहुँचाकर उसको हिंदवी स्वराज्य से दूर रखनेवाले पहाड़ी एवम् जंगली प्रदेशों के युवक राजा संभाजी के युद्धकौशल और कर्तृत्व के संबंध में तत्कालीन हिंदू, मुसलमान, फ्रेंच, पोर्तुगीज, अरब और अंग्रेज इन सभी को जरा भी संदेह न रहा।[१] इस प्रकार शंभुराज ने अपने अद्वितीय पराक्रम तथा योग्य नेतृत्व से परचक्र को रोककर मराठों के स्वराज्य की रक्षा करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। संभाजी के प्रभावी तथा तेजस्वी व्यक्तित्व का भय औरंगजेब को भी रहा करता था। अचानक एवम् अकल्पित रीति से कैद कर शंभुराज को जब बादशाह औरंगजेब के सामने प्रस्तुत किया गया तब अपने जीवन में सबसे अधिक लज्जित एवम् परास्त करनेवाले शत्रु के कैद होने से भविष्यत् के संकटों का निवारण मानों ईश्वर ने ही किया—इस कल्पना से बादशाह औरंगजेब को तसल्ली हुई और तत्काल उसने सिंहासन से नीचे उतरकर अल्लाताला की प्रार्थना शुरू किया। औरंगजेब की ये सभी क्रियाएँ कविकलस ने अच्छी तरह से देख ली थीं और शंभुराज को उसकी स्थिति समझाते हुए उन्होंने हिंदी कविता की कुछ पंक्तियों को सुनाया जिनमें से केवल एक ही पंक्ति मूलतः उपलब्ध होती है जो नृप शंभु के तेजस्वी व्यक्तित्व की परिचायक है—

'तुम्र तप तेज निहार के तखत तज्यो अवरंग'[२]।

—कवि कलस

नृपशंभु का साहित्यिक व्यक्तित्व :

संभाजी न केवल पराक्रमी, शूर, राजनीतिज्ञ, कर्तृत्वसंपन्न शासक ही थे वरन् वे एक उत्कृष्ट कवि भी थे। जिस प्रकार शंभुराज का वास्तविक राजकीय व्यक्तित्व भी आजतक प्रामाणिक साधन सामग्रियों के अभाव में अज्ञात रहा और अतः उसे विकृत किया गया था उसी प्रकार संभाजी का साहित्यिक व्यक्तित्व भी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आया था। पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण से शंभुराज के चरित्र की ओर देखनेवालों ने संभवतः उनकी साहित्यिक कृतियों की ओर ध्यान नहीं दिया था और दिया भी होगा तो शंभुराज की त्रुटित एवम् स्फुट कविताओं के आधार पर उन्हें विलासी सिद्ध करने के लिये। संभाजी की अधिकांश रचनाएँ शृंगारप्रधान हैं। इसका मतलब यह तो नहीं

१. छत्रपति संभाजी महाराज, वा. सी. बेंद्रे, पृ० ६७०।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० २, संवत् १९७८, पृ० ६७-८०।

होता कि संभाजी केवल विलासी ही थे और देहधर्म के दास थे। कर्तृत्वसंपन्न एवम् पराक्रमी व्यक्ति के जीवन में फुरसत के समय यदि श्रृंगार तथा विलास आ भी जाता है तो वह दूषण नहीं भूषण सिद्ध होता है। संभाजी की साहित्यिक कृतियों से ज्ञात होता है कि संभाजी में श्रृंगार तथा विलास की वृत्ति अवश्य थी। बाल्यावस्था से ही राजनीति के साथ ही साथ काव्यालंकार, शास्त्र, पुराण, संगीत आदि के अध्ययन से साहित्य के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि बढ़ी होगी। जीवन के पूर्वार्ध में ही उत्तर भारत एवम् मुगलों की छावनी में रहने के कारण वहाँ के विलासी एवम् ऐश्वर्यमय वातावरण का प्रभाव संभाजी पर होना असंभव भी नहीं था। संभाजी का विलास कायरों तथा भीरुओं का दुर्बल विलास न था बल्कि एक पराक्रमी राजनीतिज्ञ एवम् कर्तृत्वसंपन्न व्यक्ति का सबल विलास था। विलासी एवम् श्रृंगारिक प्रवृत्ति होने पर भी राजनीतिक क्षेत्र में संभाजी ने जो स्पृहणीय कार्य किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि शंभुराज विलासी वृत्ति के दास कभी नहीं बने थे। उलटे जीवन की संध्या में उनकी प्रवृत्ति धर्म तथा अध्यात्म की ओर उन्मुख दिखाई देती है। संभवतः इसी वृत्ति ने उन्हें मृत्यु के समय भी स्थितप्रज्ञ बनाया था।

काव्यकृतियाँ :

संभाजी का साहित्यिक नाम 'नृपशंभु' था। अपनी रचनाओं में वे नृपशंभु के अतिरिक्त शंभुराज, संभुकवि, संभराज, संभा, संभजू आदि नामों का भी प्रयोग करते हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् एवं संस्कृत के प्राध्यापक हरी दामोदर वेलणकर ने पूना के भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर के द्वारा सन् १९२६ ई० में शंभुराज द्वारा लिखित 'बुधभूषण' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। उसकी अंग्रेजी प्रस्तावना में वेलणकरजी ने संभाजी द्वारा रचित नखशिख और नायिकाभेद—इन दो हिंदी काव्यों को देखने तथा पढ़ने का उल्लेख किया है। शिवसिंह सेंगरजी ने भी 'नृपशंभु' के नाम पर नखशिख और नायिकाभेद इन दो काव्यों का उल्लेख किया है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने किसी मित्र के द्वारा प्राप्त नृपशंभु के नखशिख की खंडित एवं अपूर्ण प्रति को 'साहित्य सुधानिधि' में प्रकाशित किया था जिसे बाबू देवकीनंदन खत्री ने सुविधा के लिये पुस्तकाकार में सन् १८९३ ई० में प्रस्तुत किया था। बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्हें पूर्ण ग्रंथ प्राप्त न हो सका था। अबतक लगभग सभी साहित्य के इतिहासकारों तथा विद्वानों ने 'नृपशंभु'

के 'नखशिख' एवं 'नायिका भेद' के स्फुट छंदों के लिखे जाने के ही उल्लेख किया है, संपूर्ण ग्रंथ की प्राप्ति का उल्लेख किसी ने नहीं किया।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि लेखक को काशी नागरीप्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में नृपशंभु के नखशिख एवं सातसतक नामक दो संपूर्ण ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं। दोनों प्रतियों को देखकर प्रतीत होता है कि दोनों के लिपिकार एक ही हैं और ये प्रतिलिपियाँ ६–७ महीनों के अंतर से बनी थीं। प्रतिलिपिकार ने अपना नाम नहीं लिखा परंतु प्रत्येक ग्रंथ के अंत में उसका लिपिकाल दिया है। 'नखशिख' का लिपिकाल है संवत् १८०० का चैत्रमास और 'सातसतक' का लिपिकाल है संवत् १८०० का भाद्रपद मास। 'नायिकाभेद' के फुटकल छंद ही मिले हैं। इसका संपूर्ण ग्रंथ अब तक प्राप्त न हो सका। इस प्रकार 'नृपशंभु' के कुल मिलकर चार ग्रंथों का पता लग गया जिनमें से एक संस्कृत तथा तीन हिंदी के हैं। नृपशंभु का सातसतक नामक ग्रंथ प्रथम ही प्रकाश में आ रहा है जिसका उल्लेख इसके पूर्व कहीं भी नहीं हुआ था।

बुधभूषण :

'बुधभूषण' संभाजी अर्थात् शंभुराज द्वारा रचित यह ग्रंथ संस्कृत का ग्रंथ है जिसके केवल तीन प्रकरण ही प्रकाश में आए हैं। ग्रंथ को पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि इसमें और भी प्रकरण रहे होंगे जो अबतक अज्ञात हैं। केशव पंडित के 'दंडनीति' नामक ग्रंथ के अंत में लिखा है—'इतिश्री शंभुछत्रपतिविरचिते ग्रंथे बुधभूषणे श्रीमंत्पुरोहित दामोदरभट्टात्मज केशव-पंडित विरचित धर्मकल्पलतांतर्गत नीतिमंजर्यां दंडनीति प्रकरणम्'।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव पंडित की भाँति 'दंडनीति' का भी एक प्रकरण बुधभूषण में था। प्रकाशित 'बुधभूषण' में जो तीन प्रकरण हैं उनमें प्रथम अध्याय में १६४ छंद हैं जिनमें अधिकांश प्रसिद्ध एवम् लोकप्रिय 'सुभाषित' हैं। ये संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों से उद्धृत किए गए हैं। इसके प्रथम सत्रह छंद प्रास्ताविक हैं। प्रथम छह छंदों में गणेश, शिव, गुरु और पार्वती की प्रशंसा है। इसके पश्चात् दस छंदों में शंभुराज के वंश का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जो विशेष महत्व का है। तदनंतर ग्यारह छंदों में कुलदेवी भवानी की स्तुति है। ये ही अट्ठाइस छंद 'बुधभूषण' के रचयिता

---

१. केशव पंडित कृत दंडनीति (प्रथम संस्करण) संपा०, वा० सी० बेंद्रे।

की निजी रचनाएँ हैं। इन अट्ठाइस छंदों के पश्चात् १५ छंदों में विभिन्न देवताओं की स्तुति है और तदनंतर के अठारह छंदों में आशीर्वचन हैं जो भिन्न भिन्न कवियों की रचनाओं के उद्धरण हैं। इसके बाद अन्योक्तियों के १३० छंद हैं और अंतिम तीन छंद अंतर्लापिका के हैं।

द्वितीय अध्याय का नाम 'राजनीतिः' है और यही ग्रंथ का मुख्य अंश है जिसमें ६३२ छंद समाविष्ट हैं। इसके अधिकांश छंद मत्स्यपुराण, विष्णु धर्मोत्तर पुराण और कामंदकीय नीतिसार से लिए गए हैं। इनमें से कोई कोई छंद रचयिता के निजी हैं और उन्हें उसने कौटिलीय अर्थशास्त्र के विवेचन के आधार पर रचा है।[1] राजा और उसके आवश्यक गुण, उसके सहायक, प्रधानमंत्री, राजपुत्र और उसकी शिक्षादीक्षा, राजा के सुहृद, राज्य के अंग—कोश, राष्ट्र, दुर्ग, बल आदि; राजा के कर्तव्य, राजा के दोष, आक्रमण, राजा के कर्तव्य आदि इस अध्याय के प्रमुख विषय हैं।

तृतीय अध्याय का नाम है 'मिश्रप्रकरण' जिसमें ५७ छंद पूर्ण और अंतिम छंद अपूर्ण है। इसमें राजा के लिये उपयोगी सामान्य शिक्षा दी है। इनमें से कोई छंद उद्धरण हैं और कई स्वयम् रचयिता के ज्ञात होते हैं। ग्रंथ अपूर्ण होने से इसके रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख उसमें नहीं मिलता। फिर भी इस ग्रंथ में शिवाजी के राज्याभिषेक का उल्लेख होने से यह निश्चित हो जाता है कि ग्रंथ की रचना शिवाजी के राज्याभिषेक के पूर्व (सन् १६७४ ई०) नहीं हुई थी। इस ग्रंथ के निम्नलिखित छंदों के आधार पर इसका रचनाकाल ठहराया जा सकता है—

(१) श्रौतं धर्ममवाप्य सद्भिरुदितं राज्याभिषेके परं।
छत्राद्यैर्नृपलक्षणैरनुदिनं सिंहासने राजते॥

(२) विविच्य शास्त्राणि पुरातनानामादाय तेभ्यः खलु सोयमर्थम्।
करोति सद्ग्रंथममुं नृपालः स शंभुवर्मा बुधभूषणाख्यम्॥[2]

प्रथम छंद की वर्तमानकालीन क्रिया इस बात की द्योतक है कि ग्रंथ की रचना का आरंभ शिवाजी की मृत्यु के पूर्व (सन् १६८० ई०) हुआ था और द्वितीय छंद के 'नृपाल' विशेषण से अनुमान होता है कि ग्रंथ की समाप्ति संभाजी के सिंहासनस्थ होने पर (सन् १६८१ ई०) हुई थी। श्रीमान्

---

1. माधुरी पत्रिका, जून, १९४१, संख्या ५, पृ० ५१४।
2. बुधभूषण, शंभुराज कृत, संपा० प्रो० ह० दा० वेलणकर, (सन् १९२६), पृ० २।

बेंद्रेजी का अनुमान है कि बुधभूषण की रचना का आरंभ सन् १६७७ अक्टूबर के पूर्व हुआ होगा।[1] इस ग्रंथ के निर्माण में संभाजी को केशव पंडित अथवा कवि कलश की सहायता मिली होगी। यदि संपूर्ण ग्रंथ प्राप्त हो जाय तो उसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकेगा।

नायिकाभेद :

शंभुराज द्वारा रचित 'नायिकाभेद' के फुटकल छंद ही प्राप्त होते हैं। छंदों को देखकर अनुमान होता है कि ये किसी संपूर्ण ग्रंथ के छंद होंगे। बहुत प्रयत्न करने पर भी नृपशंभु का 'नायिकाभेद' नामक संपूर्ण ग्रंथ प्राप्त न हो सका। यह ग्रंथ रीतिकालीन अन्य नायिकाभेद विषयक ग्रंथों के समान ही है जिसमें नायिकाओं के भेद तथा उदाहरण दिए जाते हैं। 'नायिकाभेद' के निम्नलिखित उदाहरणों से 'नृपशंभु' की कविता की उत्कृष्टता एवम् सुंदरता का परिचय हो जाता है—

सासु कह्यो दधि बेंचन को
सुदई सुखदाई कहाँ ते धौं हाँकरी।
मोहि मिले 'नृपशंभु' गुपाल
तमाल तरे वह गैल जो साँकरी॥
मो तन ताकि बडी अँखियान तें
काँकरी लै फिरि मो तन धाँकरी।
काँकरी ओडि गई कर तें पँ
करेजे कहाँ धौं गई गडि काँकरी॥[2]

नायिकाभेद रचना के संपूर्ण रूप से प्राप्त न होने से इसके रचनाकाल अथवा लिपिकाल के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। नायिकाभेद के पदों में 'नृपशंभु' की जो छाप मिलती है उससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना सन् १६८१ अर्थात् संभाजी के 'नृप' हो जाने के पश्चात् हुई होगी। नृपशंभु का शासनकाल सन् १६८१ से १६८९ ई० तक था। अतः नायिकाभेद की रचना इसी के बीच हुई होगी।

---

१. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे, पृ० ३७।
२. माधुरी पत्रिका, जून, १९४१ संख्या ५, पृ. ५२७।

नखशिख :

इनका दूसरा प्रसिद्ध हिंदी ग्रंथ है 'नखशिख' जिसकी संपूर्ण हस्त-लिखित प्रति काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में उप-लब्ध है। 'नखशिख' का बहुत सा अंश बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'साहित्य सुधानिधि' में प्रकाशित किया था परंतु उस समय उन्हें संपूर्ण ग्रंथ प्राप्त न हो सका था। 'नृपशंभु' के काव्य की ओर हिंदी साहित्य के इति-हासकारों तथा अन्य विद्वानों का ध्यान न जाने से इनकी कविता एक दृष्टि से उपेक्षित सी रह गई थी। संभवतः इसी कारण से काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा डॉ० नगेंद्र के संपादन में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' के षष्ठ भाग जैसे अद्यावत् इतिहास में भी 'नृपशंभु' विषयक वही परिचय दिया गया है जो परंपरागत 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर है एवं जो किसी प्रमाण पर आद्धृत नहीं है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा में प्राप्त 'नखशिख' की हस्तलिखित प्रति में कुछ मिलाकर १३९ छंद हैं। इसके अधिकांश छंद कवित्त और सवैया में ही मिलते हैं। कहीं कहीं दोहा तथा छप्पय छंद के भी प्रयोग मिलते हैं। संपूर्ण होने पर भी इस ग्रंथ में ग्रंथ का रचनाकाल नहीं दिया गया है। लिपिकार ने अपना नाम भी कहीं लिखा नहीं है। इस प्रतिलिपि के अखंडित एवं संपूर्ण होने से ग्रंथ का मूल्यांकन करने में बड़ी सुविधा हुई है। इसका प्रारंभ इस प्रकार है—

(१) श्री गणेश जू। लिखितें संभुकृत नषशिष वर्नन।
पद पदम् पत्र सम चरन जंघजिमि कनक करमकर॥
नाभी ललित गभीर उदर लंबित विसाल वर।
उर दीरघ अति मंजु चारि कर देत चारि फल॥
एक दंत अरु सुंड लषत हरि जात सकल मल।
अति नैन चारु ढीली फलक श्रवन सीस छवि सों मढत॥
ग्यान होत अग्यान के सो गुननायक के गुन पढत॥ १॥

(२) विधि प्यारी को ध्याइकै भव प्यारी सिर नाइ।
हरि प्यारी के अंग सों बरनों सकल बनाइ[1]॥ २॥

---

१. नृपशंभु कृत नषसिष, हस्तलिखित ग्रंथ, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, हस्तलेख संख्या २१२२, छंद १–२।

ग्रंथ के अंत में नखशिख का लिपिकाल इस प्रकार दिया है—

संवत् दस सै आठ सै रितु वसंत मधु मास।
रस मैं उपमा मैं लसत नष सिष कियो प्रकास॥
इति श्री राजा संभाजू कृत नष सिष वर्नन संपूर्ण॥

अंतिम छंद से ज्ञात होता है कि ग्रंथ का लिपिकाल सं० १८०० वि० है। यह छंद रचयिता का नहीं है बल्कि लिपिकार का है। इसकी विस्तृत चर्चा 'सात सतक' के प्रसंग में की जायगी। नृपशंभु की कविता में अलंकार-नियोजन की परिपाटी ठीक वैसी ही है जैसी देव, मतिराम, पद्माकर आदि रीतिकालीन प्रमुख कवियों की थी। अलंकारप्रियता इनके प्रत्येक पद से स्पष्ट परिलक्षित होती है। एक ही पद में अनेक अलंकारों की संसृष्टि या संकर उपस्थित करके इन्होंने रीतिकालीन कवियों की प्रसाधनरुचि का अच्छा परिचय दिया है। 'नृपशंभु' का कविताकाल रीतिबद्ध कवियों के उत्कर्ष का काल है। जिस कोटि की इनकी कविता मिलती है, उसमें अलंकार और रस के विशेष वर्णन की रुचि लक्षित होती है। उपलब्ध कवित्त, सवैयों से इनकी प्रौढ कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।[१]

इनकी कविताओं में हृदय के भावों के चित्र एवं मार्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा बाह्य वस्तु के वर्णन पर विशेष बल दिखाई देता है। सादृश्यविधान के लिये प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों में स्थूल एवं प्रत्यक्ष वस्तुओं का ही अधिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। कहीं कहीं प्राचीन परंपरा की पिटी हुई लकीर को छोड़कर नए उपमानों के सहारे नूतन एवं आकर्षक चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं। नायिका की नाभि का वर्णन इसी प्रकार का है जिसमें उरोजों को मदिरा की शीशी, रोमावली को मदिरा की धार और नाभि को मदिरापान का प्याला कहा है। इससे कवि की उद्भावना शक्ति का परिचय मिलता है—

रूप को कूप बखानत है कवि कोऊ तलाव सुधा ही के संग को।
कोऊ तुफंग मोहारि कहै दहला कल्पद्रुम भाषत अंग को।
बार ही बार विचार कियौ नृपशंभु नया मत मो मति ढंग को।
सीसो उरोजनि तें मदधार रूमावली नाभी न प्याला अनंग को॥[२]

---

१. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, संपा० डा० नगेंद्र, पृ० २३३, २३४।

२. नृपशंभुकृत नषसिष, छं० २७।

ग्रंथ में रचनाकाल न होने से इसके संबंध में भी अनुमान ही करना पड़ेगा। नायिकाभेद की भाँति इसमें भी संभु, शंभुराज, संभाजू, शंभुकवि आदि के साथ 'नृपशंभु' की भी छाप है, अतः इस ग्रंथ का रचनाकाल भी संभाजी के 'नृप' होने अर्थात् सन् १६८१ ई० के पश्चात् और उनकी मृत्यु के पूर्व अर्थात् सन् १६८९ ई० ही हो सकता है। भाषा की प्रौढता की दृष्टि से देखने पर 'नखशिख' 'नायिकाभेद' के बाद की रचना ठहर जाती है।

सातसतक :

नृपशंभु द्वारा रचित 'सातसतक' नामक ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में लेखक को प्राप्त हुआ। इसके पूर्व इस ग्रंथ के अज्ञात होने से किसी भी हिंदी साहित्यकार ने इसका उल्लेख नहीं किया था। यह ग्रंथ ऐसी हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध है जिसमें विभिन्न लेखकों के ४-५ ग्रंथ एकत्र लिखे गए हैं जिससे इस ग्रंथ की ओर सहजता से ध्यान नहीं जाता। इस ग्रंथ में भी 'बुधभूषण', 'नायिका भेद', 'नखशिख' आदि की भाँति नृपशंभु, संभराज, संभाजू, शंभुराज, आदि की छाप स्पष्ट रूप से मिलती है। पूर्ववर्ती ग्रंथों की अपेक्षा इस ग्रंथ का विषय सर्वथा भिन्न है। ग्रंथ में कुल मिलाकर १०० छंद हैं जिनमें प्रारंभिक ७ छंद प्रास्ताविक रूप में हैं और उनमें गणेश, कमला, सीता, राम की स्तुति प्रार्थना है। ग्रंथ के आरंभ में रचनाकार का उद्देश्य भी दिया है—

(१) सीता पग नष चंद की भजि कै संभ समाज।
सात सतक ग्रंथ हि रच्यो संतन के हित काज ॥

(२) मो मन मधुकर संत हित भन्यो ग्रंथ रसविंद।
चित्रकूट के सिलनि जे फूले पग अरविंद ॥

(३) सो रस पाइ छके महा सनकादिक सुक सेस।
संभराज षगराज मुनि गिरजा गिरा गणेश ॥[1]

इसके पश्चात् ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषयों का संकेत एक ही दोहे में करा दिया है—

उपालंभ कहि विनै कहि जगत सीष कहि ध्यान।
ब्रह्म निरूपन कछु कह्यो जाते बाढ़त ग्यान ॥[2]

---

१. नृपशंभुकृत सातसतक—छंद १, ३ तथा ४ (हस्तलेख सं० २१२६, ना० प्र० सभा)।

२. वही, छंदसंख्या ८।

समस्त ग्रंथ उपालंभ, विनय, जगतसीष, ध्यान तथा ब्रह्मनिरूपण अथवा ब्रह्मविचार इन पाँच उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है। इसके अंतर्गत भी लिपिकार ने अपना नाम नहीं दिया। ग्रंथ में रचनाकाल का उल्लेख भी नहीं है। ग्रंथ के अंत में जो लिपिकाल विषयक छंद है उसकी भाषा, शैली आदि से स्पष्ट होता है कि 'नखशिख' तथा 'सातसतक' दोनों का लिपिकार एक ही है और उसने नखशिख की प्रतिलिपि संवत् १८०० के चैत्र मास में पूर्ण कर पाँच ही महीनों में अर्थात् सं० १८०० के भाद्रपद मास में सातसतक की प्रतिलिपि पूर्ण की थी।

'सातसतक' का लिपिकाल इस प्रकार दिया गया है—

संवत दस सै आठ सै औ द्वै भाँदव मास।
चौदसि पुनि अनंत की कीन्हों ग्रंथ प्रकास ॥

इस छंद में प्रयुक्त 'कीन्हों ग्रंथ प्रकास' अंश से यह कल्पना हो सकती है कि यह छंद लिपिकार का न होकर रचयिता का होगा। ऐसा मानने पर सातसतक का रचनाकाल संवत् १८०० वि० ठहर जाता है। ठीक यही बात नखसिख के संबंध में भी हो जाती है। इससे दो धारणाएँ निर्माण हो सकती हैं। एक तो नखसिख तथा सातसतक के रचयिता नृपशंभु शिवाजी के पुत्र संभाजी से सर्वथा भिन्न थे जिनका समय संवत् १८०० वि० था अथवा ये नृपशंभु शिवाजी के पुत्र प्रसिद्ध संभाजी ही थे और उनके अज्ञात पड़े हुए इन दो ग्रंथों का संकलनकर लिपिकार ने उन्हें प्रकाश में लाने का कार्य किया था।

प्रथम धारणा अनेक कारणों से असंभव प्रतीत होती है। उसके अनुसार संवत् १८०० वि० अर्थात् ई० सन् १७४३ में उपस्थित दूसरे किसी नृपशंभु अथवा संभाजी की खोज करना आवश्यक हो जाता है। संयोगवश मराठों के इतिहास ही में और वह भी भोंसला वंश की ही कोल्हापुर की शाखा में संवत् १८०० वि० में उपस्थित संभाजी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इस समय उपस्थित अन्य संभाजी भी नहीं मिलते। इस संभाजी का जन्म २३ मई, १६९८ को हुआ था और मृत्यु २० दिसंबर १७६० में हुई थी।[1] इतिहासों में अथवा समकालीन पत्रों में इनके चरित्रविषयक उपलब्ध परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें साहित्यिक कर्तृत्व शून्य था। इतना ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र में

१. मराठों का नवीन इतिहास, भा० २, गो० स० सरदेसाई (सन् १९६१ ई०), पृ० १५४।

भी केवल छत्रपति शाहू महाराज की उदार नीति के कारण ये निभ सके। कोल्हापुर के संभाजी का चरित्र तथा उनकी क्षमता दोनों ही सीमित थी।[१] ये पारिवारिक छोटी मोटी बातों में सदैव उलझे रहते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री मा० वि० गुजर इसी संभाजी का चरित्रलेखन कर रहे हैं। अतः लेखक ने उनके पास की संभाजी के चरित्रविषयक उपलब्ध सभी सामग्री देखी और उनके साथ भी इस विषय की चर्चा की। उन्होंने यह निश्चयपूर्वक कहा कि नखसिख और सातसतक के रचयिता कोल्हापुर के राजा संभाजी कदापि नहीं हो सकते, वे शिवाजी के पुत्र संभाजी ही थे। कोल्हापुर के संभाजी का दरबार नीच तथा असभ्य व्यक्तियों का केंद्र बन गया था।[२] इनके द्वारा किसी ग्रंथ के लिखे जाने का कहीं भी उल्लेख तक नहीं मिलता। इनका हिंदी भाषा से वैसा जरा भी संपर्क नहीं था जैसा छत्रपति संभाजी का था। इसके अतिरिक्त 'नखसिख' जैसे शृंगारप्रधान काव्य की रचना करनेवाले व्यक्ति के लिये केवल पाँच ही महीने बाद भक्तिपरक आध्यात्मिक ग्रंथ की रचना करना संभव नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि नखसिख तथा सातसतक के रचयिता नृपशंभु १८०० वि० में उपस्थित कोल्हापुर के राजा संभाजी कदापि नहीं हो सकते।

'नृपशंभु' के प्रारंभिक विवेचन में विभिन्न इतिहासों एवम् ग्रंथों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि ये नृपशंभु छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी ही थे। अतः उसकी पुनरावृत्ति करना वांछनीय न होगा। इस प्रकार अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य सामग्री के आधार पर यह निश्चित होता है कि आलोच्य कवि नृपशंभु अन्य कोई नहीं थे बल्कि प्रसिद्ध मराठा राजा छत्रपति संभाजी ही थे। अतः यह भी निश्चित हो जाता है कि नखसिख एवम् सातसतक के अंत में लिखित छंदों में जो संवत् दिए हैं वे लिपिकाल-दर्शक हैं न कि रचनाकालदर्शक। संभवतः नृपशंभु के इन अज्ञात पड़े हुए ग्रंथों का संकलन कर उन्हें प्रकाश में लाने का कार्य लिपिकार ने किया था जिसपर उसे गर्व था और इसी लिये उसने लिपिकाल में 'कियो ग्रंथ प्रकास' तथा 'किन्हों ग्रंथ प्रकास' लिखा होगा। अतः यह निश्चित होता है कि

---

१. मराठों का नवीन इतिहास, भा० २, गो० स० सरदेसाई (सन् १९६१ ई०), पृ० १५३।

२. वही, पृ० १५०।

'सातसतक' की प्रतिलिपि संवत् १८०० वि० के भाद्रपद मास में पूर्ण हुई थी और ग्रंथ की रचना उसके पूर्व संभाजी के जीवनकाल में।

अबतक अज्ञात सात सतक ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस ग्रंथ में व्यक्त विचारों तथा उल्लेखों को देखकर संभाजी के उत्तर-चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। संभाजी के शासनकाल के अंतिम दो वर्षों में संभाजी के चरित्र में वह राजनीतिक तीव्रता क्यों नहीं दिखाई देती इस तथ्य का, और औरंगजेब द्वारा जीवितावस्था में अपने शरीर पर असह्य अमानुष अत्याचार होने पर भी 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' मानकर मृत्यु को हँसते हुए, स्वेच्छा से आलिंगन देनेवाले राजा संभाजी के जीवन का रहस्य खुल जाता है। 'सातसतक' में संभाजी के धार्मिक, आध्यात्मिक एवम् वैराग्यपरक विचार देखकर अनुमान होता है कि जीवन के प्रारंभ में माता की मृत्यु होने से मातृसुख का न मिलना, पिता के साथ ६ वर्ष की अवस्था में आगरा जाना, बंदीगृह में रहना, मुक्त होने पर भी पिता के चले जाने पर इलाहाबाद में अपरिचित परिवार में रहना और विद्याध्ययन करना, दूर दूर के प्रवासों के कष्ट तथा प्रवास में जीवन की अशाश्वति, प्रेम का एकमात्र सहारा जिजाबाई की मृत्यु, उसके पश्चात् ४ वर्षों बाद ही पिता की मृत्यु, राजसिंहासन छीनने तथा हत्या करने के अंतर्गत षड्यंत्र तथा संघर्ष, राज्याभिषेक होते ही प्रारंभ में लगभग ६ वर्ष सिद्दियों, पोर्तुगीजों तथा प्रबल सम्राट औरंगजेब के साथ सदैव युद्धकर महाराष्ट्र के स्वराज्य को परचक्र से बचाते रहना, आदि एक से बढ़कर एक आपत्तियों के कारण संभव है कि संभाजी का मन लौकिक ऐश्वर्य से ऊब गया हो और आध्यात्मिक क्षेत्र में शांति पाने के लिये आकर्षित हुआ हो। इतनी आपत्तियों के बावजूद भी संभाजी का रसिक मन फुरसत के समय साहित्य को पढ़ने तथा सृजन करने में व्यस्त रहता और थोड़े समय के लिये संघर्षमय जीवन से कुछ दूर रहकर आनंदित हो जाता होगा।

राजनीति तथा काव्य दोनों क्षेत्रों में संभाजी के गुरु कविकलश ही रहे दोनों की विचारधाराएँ एक दूसरे से मिलती जुलती भी थीं। कविकलस को छंदोगामात्य, कर्मकांडपरायण, धर्माभिमान, सत्यसंध, राजकार्य धुरंधर, विश्वासनिधि आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता था।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कविकलस एक राजनीतिज्ञ, साहित्यकार एवम् धर्मपरायण

---

1 उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् १९३१), पृ० ३२।

व्यक्ति थे। संभव है कि शंभुराज की लौकिक विलास एवम् ऐश्वर्य के प्रति उदासीनता देखकर उस समय उन्होंने मनःशांति के लिये राजनीति की अपेक्षा आध्यात्मिक उपदेश देना ही पसंद किया हो। इतिहास में लिखा है कि रायगढ़ से विशालगढ़ की ओर जानेवाले रास्ते पर संगमेश्वर नामक एक स्थान के पास कविकलस और संभाजी ने कुछ मकान तथा बगीचे वगैरह बनवाकर अपने निवास का स्थान बनाया था। कविकलस ने मंत्रसिद्धि के लिये खासकर यह शांत तथा एकांतिक स्थान चुना था। सन् १६८८ ई० में ग्रीष्म ऋतु में संभाजी इस स्थान पर रहे थे।[1] इतिहास की इस घटना को देखकर प्रतीत होता है कि संभवतः मृत्यु के १-१॥ वर्ष पूर्व ही संभाजी में यह परिवर्तन हुआ था।

'सातसतक' की रचना का प्रारंभ भी इसी समय हुआ होगा और उसकी समाप्ति मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व हुई होगी क्योंकि ग्रंथ में कवि ने अपनी मृत्यु के समय के कुछ संकेत दिए हैं। कहीं कहीं संभाजी ने इस ग्रंथ में पश्चात्ताप भी व्यक्त किया है और कहा है कि इसके पूर्व ही यह परिवर्तन होता तो कितना अच्छा होता। 'सातसतक' के निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

छत्र गज चमर तुरंग अगनित संग
एते पर मन ना गरूर गहियतु है॥
असन विहूने अंग वे वसन सूने राषो
लोक निंदा भाषो सुष मानि सहिअतु है॥
दूषन तुम्हें जे देत मुगुध अचेत प्रभु
करिहौ उहैं पै जाको जैसो चहिअतु है॥
संभ षोड महीपाल कहैं सुनिये गोपाल।
हम हरि हाल तुम सौ निहाल रहिअतु है॥[2]

छंद से ज्ञात होता है कि छत्रपति होने से 'नृपशंभु' के पास छत्र, गज, चमर, तुरंग आदि ऐश्वर्य की अनगिनत वस्तुएँ होने पर भी उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान या अहंकार नहीं है। संभाजी जैसे क्षत्रिय राजा में यह विरागी वृत्ति देखकर संभव है कि तत्कालीन कुछ लोगों ने उनकी

१. उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् १९३४), पृ० ३६।
२. सातसतक; छंद २८।

निंदा भी की हो परंतु दृढ़निश्चयी होने से संभाजी ने उसी में सुख मानकर भगवान ही पर निहाल होकर रहना पसंद किया था।

'सातसतक' में भगवान् के स्वरूप की चर्चा कई स्थान पर की गई है। समस्त ग्रंथ में पौराणिक संदर्भ भी बहुत आए हैं। गजेंद्र मोक्ष, प्रह्लाद, गनिका, ध्रुव, सुदामा, नामदेव, रैदास आदि भक्तों के उदाहरण देकर उन्हीं की भाँति स्वयम् का भी उद्धार करने के लिये पुनः पुनः प्रार्थना की गई है—

संभराज कहै मेरी पति तुम्र हाथ रहै।
मेरे मन इहै तुम बिन लगावै तीर ॥
× × ×
अति प्रबल घेरे रहै आठो जाम मोहि।
दीनबंधु अब क्यों न लागत पुकारि हो ॥
सब ही संकट निवाई एक कोर ताके।
तब जानि हों जू जब मो तन निहारिहो ॥
ज्यों भाँति हरिन कसिप को विदार्यौ उर।
तौन भाँति कब मेरे दुष को विदारिहो ॥
× × ×
संभ कहैं सुनि दीन दयाल सो
मेरी हँसी भए तेरी हँसी है ॥[1]

उपर्युक्त छंदों से अनुमान होता है कि ये छंद उस समय का संकेत देते हैं जब संभाजी कवि कलस के साथ संगमेश्वर में मुगलों के द्वारा घेरे गए थे और तदनंतर औरंगजेब की छावनी में लाए गए थे। वहाँ औरंगजेब के द्वारा वध के पूर्व जो कष्ट दिए गए और उनसे उन्हें जो यातनाएँ हुईं उनकी ओर ही संभवतः यह संकेत है। एक दो स्थानों पर बाल्यावस्था तथा युवावस्था में भक्ति न करने तथा खेलकूद एवम् भौतिक विलास में समय व्यतीत करने पर पछतावा भी व्यक्त हुआ है—

ख्याल में रंगि गए नृपसंभुजी बालकताई रही जब वे है ॥
जोवन में जुवतीन के साथ रँगे अनुराग लगी अति लै है ॥
आवत ही जरा फीके परे कहूँ रंग फरारीको वोरन दै है ॥
रंग अनेक रँगे मन मेरे कहूँ रँग साँवरे में रँगि जै है ॥[2]

---

१. सातसतक, छंद ३१, ३२, ३३।
२. वही, छंद ७०।

इस प्रकार समस्त ग्रंथ में तत्त्वनिरूपण, उपदेशात्मक विचार, प्राचीन उदाहरण आदि के साथ साथ संभाजी के जीवन की कुछ घटनाओं के संकेत प्राप्त होते हैं। संकेतों एवम् विषय की दृष्टि से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ बुधभूषण, नायिकाभेद तथा नखशिख के बाद लिखा गया था। संभवतः यह उनकी अंतिम रचना ही थी जो सन् १८८६ ई० के आसपास हुई थी। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ विशेष महत्व का नहीं है। क्योंकि संपूर्ण ग्रंथ का उद्देश्य 'उपदेश देना' ही होने से इसमें स्वभावतः सारल्य एवम् निरूपणात्मक शैली आ गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें संभाजी के चरित्रविषयक नई जानकारी इस ग्रंथ से प्राप्त होती है।

नृपशंभु की कविता पर कवि कलस का प्रभाव :

कुछ आलोचक तथा विद्वान् इस बात पर विश्वास ही नहीं करते कि संभाजी ने उपर्युक्त रचनाएँ रची होंगी; संभवतः उनके सामने संभाजी का वह दोषपूर्ण चरित्र होगा जो अज्ञान तथा अप्रामाणिक सामग्रियों पर अबतक लिखा गया था और इसी लिये संभाजी जैसे दुराचारी, विलासी व्यक्ति के हाथों से ग्रंथों का प्रणयन उन्हें असंभव सा लगता होगा। अबतक उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि संभाजी दुराचारी, दुष्ट तथा अयोग्य शासक नहीं थे वरन् एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ, पराक्रमी, स्वधर्मप्रेमी तथा 'काव्य साहित्य पुराण गीत कोदंड विद्यार्णवपारगामी' थे। पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण से संभाजी की ओर देखना उनपर अन्याय करना है। मुंशी देवी प्रसाद[1] तथा श्रीतामसकर[2] की धारणा है कि कवि कलस ने ही संभाजी अर्थात् नृपशंभु के नाम पर काव्यरचना की होगी। अपने मत का समर्थन करने के लिये कवि कलस का जो एक छंद प्राप्त हुआ है उसे देकर उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कवि कलस की कविता और 'नृपशंभु' की कविता में काफी साम्य होने से दोनों का रचयिता एक ही अर्थात् कवि कलस ही होगा। कवि कलस का वह छंद इस प्रकार है—

अंग अरसौंहैं छवि अधरन सौहैं चढ़ि
अलस की भौहैं धरे आभा रति रोज की ॥

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० २, संवत् १९७८, पृष्ठ ८० ।
२ माधुरी पत्रिका, जून १९४१, संख्या ५, पृष्ठ ५२७ ।

सुकवि कलस तैसे लोचन पगे हैं नेह,
जिनमें निकाइ अरुणोदय सरोज की
आछी छबि छाकि मंद मंद मुसकान लागी
विचल विलोकौ तन भूषण के फौज की।
राजै रद मंडली कपोल मंडली में, मानो
रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ॥[1]

कविकलस और नृपशंभु की भाषा में कुछ बातों में साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि कविकलस ने ही नृपशंभु के नाम पर हिंदी काव्यरचना की हो-तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। एक ही विषय पर लिखे हुए ब्रजभाषा के विभिन्न कवियों के छंदों में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। अतः केवल भाषासाम्य के कारण नृपशंभु को हिंदी काव्य का रचयिता न मानना उचित नहीं है। मराठीभाषी नृपशंभु के काव्य की हिंदी भाषा देखकर यह संदेह प्रकट करना स्वाभाविक ही है कि हिंदी भाषा पर उनका इतना प्रभुत्व कैसे रहा होगा ? इसके लिये अनेक कारण दिए जा सकते हैं। यह प्रसिद्ध है कि नृपशंभु के काव्यगुरु कविकलस थे और वे हिंदीभाषी तथा हिंदी के उत्कृष्ट कवि थे। उन्हीं ने संभाजी को हिंदी कविता सिखाई थी।[2] अतः शिष्य के काव्य पर गुरु का प्रभाव रहना अत्यंत स्वाभाविक है। दोनों की भाषा में जो थोड़ा सा साम्य दृष्टिगोचर होता है उसका प्रमुख कारण यही है। प्रो० वेलणकर[3] भी इन हिंदी कविताओं के वास्तविक रचयिता नृपशंभु को ही मानते हैं और साथ ही साथ उनके हिंदी काव्य पर कविकलस का प्रभाव भी स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त संभाजी का मुगलों के संपर्क में आना, औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम से उनकी घनिष्ठ मित्रता, उत्तर भारत की यात्रा, बचपन में हिंदी-भाषी प्रदेश में रहना तथा अध्ययन करना आदि अनेक कारणों से इनका हिंदी भाषा से सदैव संपर्क रहा। बचपन से ही उनमें साहित्य के प्रति प्रेम था। अतः संभव है कि उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के साथ साथ हिंदी के काव्य ग्रंथ भी पढ़े हों और अवकाश के समय संस्कृत के साथ हिंदी में भी कविता

---

१ मिश्रबंधु विनोद, भा० २ (सं० १९८५), पृ० ६९२।

२ वही, पृ० ६९२।

३. नृपशंभु कृत बुधभूषण, संपा० प्रो० वेलणकर, प्रस्तावना, पृ० १५।

की हो। यह भी संभव है कि नृपशंभु द्वारा रचित हिंदी कविता को भाषा की शुद्धता आदि की दृष्टि से उनके काव्यगुरु के नाते कविकलस ने संस्कारित एवम् परिष्कृत किया हो। संभवतः इसी कारण से नृपशंभु जैसे मराठी-भाषी की हिंदी भाषा परिष्कृत एवम् शुद्ध दिखाई देती है। अतः नृपशंभु के हिंदी काव्य पर कविकलस के प्रभाव का कारण स्पष्ट हो जाता है। नृपशंभु के उपलब्ध ग्रंथों को देखकर अनुमान होता है कि 'नृप' हो जाने के पूर्व भी उन्होंने कुछ रचनाएँ की होंगी जो अबतक अज्ञात हैं। हिंदी के रीतिकालीन श्रेष्ठ कवियों में 'नृपशंभु' की परिगणना कर उन्हें यथायोग्य स्थान देना आवश्यक है।

शाहराज 'सुकवि'

पूर्ववृत्त :

छत्रपति शिवाजी भोंसले के सापत्न बंधु एकोजी उर्फ व्यंकोजी के ज्येष्ठ पुत्र शहाजी (द्वितीय) का शासनकाल ई० सन् १६८४ से ई० सन् १७१२ था। राजदंड धारण करते समय शहाजी की अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। अल्पवय होने पर भी स्वयम् दूरदर्शी एवम् राजनीति में कुशल होने से उन्होंने शासनव्यवस्था में अत्यंत बुद्धिमानी एवम् चातुरी दिखाई। उनके पिता एकोजी राजा के अनुभवी एवम् कार्यकुशल व्यक्तियों की सहायता उन्हें मिलती रही। मद्रास में प्राप्त हस्तलेखों से ज्ञात होता है कि शहाजी ने अपने पिता के समय की शासनव्यवस्था ही को स्वीकार किया था। उनकी राजधानी का शहर तंजौर था। उसका महत्व बढ़ाने के लिये वहाँ के किले को सुधार कर बाँधना, नई धर्मशालाएँ खुलवाना, कई रुग्णालयों का निर्माण करना, उत्कृष्ट न्यायमंदिरों की स्थापना आदि बातें शहाजी ने की थीं।[1] अपने पितामह शहाजी भोंसले के समान वे भी कर्तृत्व, ज्ञातृत्व तथा दातृत्व के लिये प्रसिद्ध थे।

लोकप्रिय शासक :

तंजौर के इतिहास में शहाजी का एक अद्वितीय स्थान रहा है। शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम जब जिंजी में थे तब उन्हें प्राप्त करने के हेतु मुगलों ने जिंजी को घेर लिया था। ऐसी मुसीबत के समय शहाजी राजा बड़ी सेना के

---

१. तंजावरचे राजे, विनायक सदाशिव वाकसकर (प्रथमावृत्ति, सन् १९३३), पृ० ४५-४६।

साथ वहाँ पहुँचे और मुगल सेना को पीछे हटाकर राजाराम को उन्होंने सुयश प्राप्त करा दिया।[1] पराक्रम, दान धर्म तथा विद्याप्रेम के कारण शहाजी एक लोकप्रिय राजा बने थे। उन्हें 'तंजावर के राजा भोज' की जो उपाधि दी गई है वह योग्य ही है। इतिहास कहता है कि तंजावर में जितने भी राजा हुए वे सभी विद्या के बड़े पुरस्कर्ता थे। उनमें से कुछ तो प्रसिद्ध पंडित एवम् कवि थे। उन्हीं के समय गायन, वादन, आदि कलाओं का उत्कर्ष हुआ और वे पूर्णत्व को पहुँच चुकी थीं। उस समय तंजौर की प्रसिद्धि दक्षिण भारत के एक सुसंस्कृत, श्रेष्ठ एवम् उच्च शहर के रूप में थी।[2] तंजौर को यह वैभव एवम् गौरव स्थान प्राप्त करा देने में शहाजी का बड़ा ही हाथ रहा।

धार्मिक वृत्ति :

शहाजी बड़े धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उन्होंने अपने राज्य में स्थान स्थान पर मठ, अन्नसत्र, धर्मशालाएँ, अस्पताल, आदि खोलकर अपनी दानवीरता का परिचय दिया। तंजौर के समीपवर्ती तिरुवारूर नामक स्थान में शहाजी के उपास्य देवता श्रीत्यागराज का मंदिर था। कहा जाता है कि शहाजी अपना भोजन तब लेते थे जब उनके उपास्य देवता श्रीत्यागराज की मध्याह्न पूजा की समाप्तिदर्शक सूचना उन्हें मिल जाती। यह सूचना उन्हें तिरुवारूर और तंजौर के बीच में खासकर बाँधी हुई घंटियों से प्राप्त होती थी। वे रामेश्वर, धनुष्कोटी जैसे धार्मिक तीर्थक्षेत्र में जाकर स्नान, पूजा अर्चा आदि धार्मिक विधि किया करते थे।[3] संभवतः इन्हीं धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण अपनी जीवन के अंतिम दिनों में शहाजी राजा में विरक्ति के भाव दिखाई देते हैं। शहाजी के शासनकाल में लिखित 'भोंसला वंशावली' नामक संस्कृत ग्रंथ से ज्ञात होता है कि शहाजी की एक भगिनी बड़ी योगिनी थी। 'अद्वैतकीर्तन' नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि परब्रह्मानंद योगी और

---

१. दि जर्नल ऑफ दि तंजौर सरस्वती महल लायब्रेरी, तंजौर, भा० १४ नं० ७ (सन् १९६० ई०), पृ० ३१।

२. मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष, म० गो० रानडे (मराठी अनुवाद आपटे और इनामेदार), सन् १९२५, पृ० १८२।

३. शहेंद्रविलास, श्रीधर व्यंकटेश, अष्टमसर्ग, छंद ४३-४६।

उनके शिष्य पूर्णब्रह्मानंद योगी इन साधु पुरुषों के शहाजी राजा बड़े भक्त थे।[1]

कवियों तथा पंडितों का सम्मान :

शहाजी के शासनकाल में कलाकारों, कवियों, पंडितों तथा शास्त्रियों को राजाश्रय मिल जाने से साहित्य, संगीत, कला आदि को प्रोत्साहन मिला और उनकी अभिवृद्धि हुई। ई० सन् १६९३ में तिरुविशैनल्लूर नामक ग्राम का मूल नाम बदलकर उसका नाम शहाजी ने 'शहाजीराजपुरम्' रखा।[2] यह ग्राम उन्होंने अपने दरबार के ४५ विद्वानों को पुरस्कार के रूप में दे दिया जिन्हें किसी प्रकार का भी राज्य कर नहीं देना पड़ता था। जिसका जितने शास्त्रों पर अधिकार था उसी के हिसाब से उसे भूमिभाग दिया गया था। विविध स्थानों के निवासी विद्वान् यहाँ आकर बसे थे। यह स्थान विद्या तथा कला का केंद्र माना जाता था। इस प्रकार पंडितों एवम् साहित्यकारों का शहाजी राजा के दरबार में सदैव सम्मान होता रहता था।

शहाजी का साहित्यिक व्यक्तित्व :

शहाजी न केवल कवियों तथा पंडितों के आश्रयदाता ही थे वरन् वे स्वयम् भी एक उत्कृष्ट साहित्यकार थे। तंजौर के सरस्वती महल ग्रंथालय में उनकी अनेक कृतियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं। उनकी रचनाओं में नाटक, काव्य तथा दर्शनशास्त्र जैसे विषयों पर लिखित ग्रंथ पाए जाते हैं। इन सभी में उनका कविहृदय अधिक खिला हुआ दिखाई देता है। वे अनेक भाषा-कोविद थे। मराठी, संस्कृत, तेलुगु, तमिल तथा हिंदी भाषा पर उनका अधिकार था। इन सभी भाषाओं में उन्होंने अपनी भावनाओं एवम् कल्पनाओं की अभिव्यक्ति की है। वे अपनी साहित्यिक रचनाओं में शाहराज, शाहभूप, शाहनृप तथा सुकवि की छाप लिखते थे।

अनेक भाषा कोविदत्व :

शाहराज कृत 'पंचभाषा विलास' नामक नाटक उनके अनेक भाषा-कोविदत्व का साक्षी है। यह नाटक एक विशेष शैली में लिखा गया है। इसमें तमिल, मराठी, हिंदी, संस्कृत तथा तेलुगु इन पाँच भाषाओं का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है। इस रचना की विशेषता यह है कि विभिन्न

---

१. तंजावरचे राजे, वि० स० वाकसकर (प्रथमावृत्ति), पृ० ५३-५४।
२. शाहेंद्र विलास, संपा० डॉ० राघवन् की प्रस्तावना (सन् १९५२), पृ० ३७।

देशों के नरेशों की आगत कन्याओं के मुख से उन्हीं की मातृभाषा में बातें कहलवाई है। 'पंचभाषाविलास' में प्राप्त हिंदी छंदों में उदाहरण के रूप में निम्न छंद द्रष्टव्य है—

अइसे महाराष्ट्र देशाधीश कन्या बोले
ऐसे में उत्तर देशाधीश कन्या आप आय बोले देखो ॥सर० व॥
सुनो धर्मराज ने राजसूय क्रतु किया।
तद मैंने श्याम नयन ने देखे ॥
यासौ इस जमुना जी के तीर इस श्रृंगार बन बीच वे आये ॥
उनसूँ तू हमारे बिनति कर वुनकूँ हमारो भ्यावु करो ॥
चो० लिव० ॥
भला वैसाहि करता हूँ ॥ स० ॥[१]

इस छंद से स्पष्ट हो जाता है कि रचयिता पर दक्खिनी हिंदी का प्रभाव है और लिपिकार ने लिखते समय पर्याप्त अशुद्धियाँ भी की हैं। फिर भी अठारहवी शताब्दी के अंत में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में तंजौर जैसे सुदूर दक्षिण भारत के स्थान पर अहिंदीभाषी व्यक्ति के द्वारा लिखित हिंदी रचना एक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ के सरस्वती महल ग्रंथालय में तेलुगु तथा तमिल लिपि में लिखित अन्य भाषाओं की भी न जाने कितनी अज्ञात रचनाएँ पड़ी होंगी। लेखक ने वहाँ के तेलुगु पंडित विट्ठल देवुनि सुंदर शर्माजी की सहायता से कुछ ऐसे ग्रंथों का पता लगाने का प्रयत्न किया जो मूलतः हिंदी होने पर भी तेलुगु लिपि में लिखे हैं। इन ग्रंथों को पढ़ने के लिये ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो हिंदी और तेलुगु दोनों भाषाएँ जानता हो। फिर भी जहाँतक बन सका अंगेजी के माध्यम से कुछ परिचयात्मक बातों को तो प्राप्त किया गया। तेलुगु लिपि में लिखित तीन हिंदी के पूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों का पता लगा जिनमें से 'विश्वातीत विलास' और 'राधा वंसीधर विलास' ये दो यक्षगान शहाजी महाराज कृत हैं। तीसरे ग्रंथ का नाम है 'सुजाउद्दौला नाटक' जिसमें हिंदी के साथ साथ मराठी का मिश्रण भी पाया जाता है। ये हस्तलिखित ताड़पत्र हैं और कई स्थानों पर खंडित भी हुए हैं। 'सुजाउद्दौला' नाटक की पुष्पिका में तो उसके रचयिता

---

१. शाहराज कृत पंचभाषा विलास नाटक, हस्तलिखित प्रति, सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर, ग्रंथ क्रमांक १७२४।

का कहीं भी नाम नहीं लिखा है। अतः उसके पूर्ण अंतरंग को सूक्ष्मता से पढ़े बिना उसके रचयिता के संबंध में कुछ कहना कठिन है। पढ़ने से ज्ञात होता है कि नाटक की भाषा उर्दू मिश्रित हिंदी है। उस हस्तलिखित ताड़पत्र के अंत में लिखा है—'राजे शिवाजी महाराज अदामल्लाहू के शुजीउदौला और शरमन्नाग बीबी का किस्सा पूरा हुआ।'[1] इससे नाटक के विषय की कुछ सीमा में कल्पना आ जाती है परंतु नाटक का सूक्ष्म परिचय करा लेना उसी व्यक्ति के लिये संभव है जो हिंदी तथा तेलुगु दोनों जानता हो। ये तीनों ग्रंथ अबतक अज्ञात थे जिनकी चर्चा किसी भी हिंदी साहित्य के इतिहास में नहीं हुई थी। इनमें से 'राधाबंसीधर विलास' और 'विश्वातीत विलास' को तंजौर के सरस्वती महल ने अब प्रकाशित किया है।

साहित्यिक कृतियाँ :

'विश्वातीत विलास' और 'राधा बंसीधर विलास' हिंदी भाषा में लिखित दो यक्षगान हैं जो संभवतः तेलुगु के प्रभाव से लिखे गए हैं। ये दोनों ग्रंथ तंजौर के सरस्वती महल के ग्रंथसंग्रह के मराठी और तेलुगु विभागों में सुरक्षित हैं। इन ग्रंथों के संबंध में लेखक को सर्वप्रथम जानकारी वहाँके मराठी पंडित सु० गणपति राव के द्वारा प्राप्त हुई। इन यक्षगानों की चार पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं जिसमें तीन तेलुगु लिपि में और एक देवनागरी लिपि में लिखित है। तेलुगु की पांडुलिपियाँ ताडपत्र और देवनागरी की देशी कागज पर लिखी है। चारों पांडुलिपियों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि उनमें अधिक अंतर नहीं है। 'राधा बंसीधर विलास' की एक तेलुगु पांडुलिपि में गीतों के साथ राग, ताल, जाति आदि भी लिखा है परंतु 'विश्वातीत विलास' की किसी भी प्रति में राग, ताल आदि का उल्लेख नहीं मिलता। तेलुगु पांडुलिपियाँ संभवतः कागज की पांडुलिपियों से प्राचीन प्रतीत होती हैं।

शहाजी के समय तक यक्षगानों का प्रचलन सिर्फ तेलुगु साहित्य ही में था। यक्षगानों के प्रति लोगों की रुचि देखकर 'शाहराज' ने यक्षगानों की शैली पर अन्यान्य भाषाओं में रचनाएँ कीं। इस तरह के यक्षगानों की संख्या तंजावर के ग्रंथालय में प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। यक्षगानों में व्याख्यारूपी या परिचयात्मक भाग, जिसे सूत्रधार का पात्र कहना है, गद्यात्मक और

---

१. शुज़ाउद्दौला नाटक, हस्तलिखित ताडपत्र, संग्रह भांडागार नं० ३२, सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर।

नट नटी के सब व्यवहार गीतयुक्त अभिनय से होते हैं। इसी कारण यक्षगानों में अधिकतर दरु, चूर्णिका, कैवार आदि छंदों में गीत जातियों के साथ गाए जाते हैं। आमतौर पर यक्षगानों का प्रारंभ नांदी और सूत्रधार के साथ होता है। कृति, कर्ता और कथा के संक्षिप्त बयान सूत्रधार के द्वारा सूचित हो जाने के बाद नाटक और मंगलगीत से नाटक पूर्ति पाता है।[१] अठारहवीं शताब्दी के अंत में लिखित इन हिंदी यक्षगानों की रचना (डांस ड्रामा) ऐसे समय हुई है जब हिंदी के नाट्य साहित्य का उदय हो रहा था। इस दृष्टि से इनका बहुत महत्व है।

राधाबंसीधर विलास :

'राधा बंसीधर विलास' के मुख्य पात्र राधा और कृष्ण हैं। इस ग्रंथ के आरंभ में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं :—

देवकीगर्भसंभूतं मुनिचित्ताब्जषट्पदम्।
राधिकाप्राणदयितम् नौमि ब्रह्म सनातनम् ॥ १ ॥

सूत्रधार—'ऐसे इष्ट देवता प्रार्थना कर राधाबंसीधर विलास नाटक सो हम रंगभूमि बीच नृत्य कर चाहे। सो नाटक निर्विघ्नसिद्धि हो बेकू विघ्नेश्वर अस्तुति कीये। अपने भक्त पर दया कर। इस रंगभूमि बीच नृत्य करते आवत है देखो।'[२]

इस प्रकार बीच बीच में प्रयुक्त गद्य के द्वारा अठारहवीं शताब्दी के ब्रज-भाषा गद्य का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद गजानन की प्रशंसा है। नांदी के पश्चात् पार्श्वभूमि के रूप में प्रकृतिसौंदर्य का वर्णन किया गया है। कृष्ण से रूठकर प्रणयकोप से राधा यमुना तट के एक कुंज में सहेली के साथ चली जाती है। राधा के विरह से दुःखित कृष्ण उसकी खोज में अपने प्रिय सखा उद्धव को भेज देते हैं। कृष्ण के पास उद्धवजी लौटकर आते हैं और अपनी असफलता प्रकट करते हैं। उद्धव के बहुत मनाने पर भी राधा न आ सकी, यह सुनकर कृष्ण का दुःख और बढ़ गया। इतने में एक सिद्ध पुरुष श्याम के दर्शन के लिये आते हुए दिखाई देते हैं। उन्हीं के

१. विश्वातीत विलास नाटक ऐंड राधाबंसीधर विलास नाटक, सरस्वती महाल ग्रंथालय, तंजौर, (ई० सन् १९६१), प्रस्ताविक पृ० २।
२. राधाबंसीधर विलास, सरस्वती महाल ग्रंथालय, तंजौर (सन् १९६१), पृ० १७८

आदेशानुसार कृष्ण अपनी वंसी के मधुर स्वरों की हृदयग्राही मूर्छनाएँ देते हैं। उन स्वरों को सुनते ही राधा की हृदय वीणा की तंत्रियाँ बज उठती हैं। मानसिक अंतर्द्वंद्व के बीच अंत में प्रेम की ही विजय होती है और राधा मान का त्याग कर स्वयं कृष्ण के पास पहुँचती है। दोनों का प्रेम मिलन हो जाने से सर्वत्र आनंद पूरित हो जाता है। इस प्रकार विप्रलंभ शृंगार से प्रारंभ होनेवाली रचना का संयोग शृंगार में अंत हो जाता है। इस नाटक के प्रकृतिवर्णन का उदाहरण देखिये—

राग गौरी) दरू (ताल आदि

प्राची दिग बाला के माथे चंदन तिलका।
मानो ऐसे विराजत निसपति बिंब देख।
तिमिरा बरन संग मानो यु कुरा हासे।
कुपिता के सारि ऐसो चंदा प्राची सुहावे॥
उदयाचल सोहे केता की वृक्षा मानो।
मानो यह राहासे निपजा सूम सा चंदा विराजता।
गगना सारसो सतारा कुमुदा मानो।
वामे क्रीडा करने को हंस सा देखो, चंद आवे'[1]॥

लिपिकार के प्रमाद से यद्यपि इसमें कई त्रुटियाँ पाई जाती हैं फिर भी भाव तथा वर्णन की दृष्टि से देखने पर यह चंद्रोदयवर्णन निश्चित ही उत्तम प्रतीत होता है। इसकी देवनागरी प्रति के अंत में लिखा है—'श्री मन्महाराज शाहभूप कृत वंशीधर विलास नाम नाटक' इस नाटक की किसी भी प्रतिलिपि में इसके रचनाकाल के संबंध में निर्देश न होने से उसका निश्चित काल ठहराना कठिन है। शहाजी राजा का शासनकाल ई० सन् १६८४ से ई० सन् १७१२ तक था। इस ग्रंथ की पुष्पिका के 'शाहनृप', 'श्री मन्महाराज शाहभूप' आदि शब्द इस बात के द्योतक हैं कि ग्रंथ का रचयिता 'नृप' था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ की रचना शहाजी के 'नृप' होने पर अर्थात् ई० सन् १६८४ के पश्चात् और ई० सन् १७१२ के पूर्व हुई होगी।

विश्वातीत विलास :

'विश्वातीत विलास' नाटक में शिवजी की महत्ता का वर्णन करना

---

१. वही: राधा बंसीधर विलास, पृ० २०।

लेखक का प्रधान उद्देश्य ज्ञात होता है। नाटक पौराणिक कथावस्तु पर आधारित है और भक्तिरस प्रधान है। पतिविरह के कारण लक्ष्मीजी और ब्रह्माजी की पत्नी सरस्वती के विरहवर्णन के समय विप्रलंभ शृंगार का प्रयोग किया गया है। प्रारंभ में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है, यथा—

जय पार्वती रमण। जय पन्नगाभरण।
जय सुरनुत चरण। जय दीन तरण।
जय अखिलनुत चरण। जय अनंग हरण।
जय असुर संहरण। जय दुरित शमन॥ जय जय[1]।

इसके पश्चात् और चार छंदों में देवताओं की प्रशंसा ही की गई है। उसके पश्चात् नांदी और बाद में प्रत्यक्ष नाटक का आरंभ हो जाता है। भगवान् विष्णु के पास नारद मुनि आते हैं और विष्णु से कहते हैं कि ब्रह्मलोक में ब्रह्मदेव अपने को विष्णु से भी श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार बढ़ा चढ़ाकर बातें कर विष्णु और ब्रह्मा इन दोनों में बड़ाई के विषय में संघर्ष निर्माण करते हैं। दोनों अपना अपना समर्थन करते हैं। नारदजी उसे अधिक पुष्टि देते हैं जिससे संघर्ष और भी तीव्र होता है। अंत में कलह निवारण करने के लिये नारदजी उन दोनों को जगदंबा पार्वती के पास ले जाते हैं। वहाँ उन दोनों को भगवान् शंकरजी के सिर और चरण की पूजा करने के लिये कहा जाता है। फलस्वरूप विष्णु और ब्रह्मा दोनों शिवजी के सिर और चरण की खोज में चल पड़ते हैं। पतिविरह से पीड़ित लक्ष्मी और सरस्वती दोनों पार्वती के पास आती हैं और अपनी अपनी असह्य विरह-वेदना प्रकट कर देती हैं। इधर शिवजी के सिर और चरण की खोज में असफल होने से वे दोनों इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं कि वास्तव में शिवजी ही उन दोनों से श्रेष्ठ हैं। अंत में हारकर वे पार्वती के पास आ जाते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे भगवान् शंकर के दर्शन करा दें। उनके दर्शन कर उनसे उपदेश ग्रहण कर सब आनंदित हो जाते हैं। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है। अंत में शिवजी द्वारा जो उपदेश दिया गया है वह इस प्रकार है—

विष्णुविधि तुम काहिकूं येथ फिरें हो।
जित देखेंगे तेथ हम ही परिपूर्ण।

---

१. विश्वातीत विलास नाटक, सरस्वती महल ग्रंथालय, (सन् १९६१), पृ० १।

भ्रम छोड़ो तुम समझ लेवो।
निसदिन मन में जान तुम।
लड़ो मत तुम दोउ बड़ाई कर मत।
यामे कछु लाभ नहीं समझो।
दृढा मना शंक छोड़ो'[1] ॥

'विश्वातीत विलास' की देवनागरी प्रति के अंत में 'इतिश्री विश्वातीत विलास नाटक संपूर्ण ॥ श्री सांबशिवार्पणमस्तु ॥' इतनी ही पुष्पिका मिलती है। परंतु तेलुगु लिपि में लिखित ताडपत्रों की तीन हस्तलिखित प्रतियों में से क्रमांक ५६० और ५६१ इन दो प्रतियों पर लगभग एक ही प्रकार की निम्नानुसार पुष्पिकाएँ मिलती हैं। 'विश्वातीत विलास' की क्रमांक ५६० की तेलुगु प्रति में इस प्रकार लिखा है—

'श्रीमत् भोंसल शाहमहाराज विरचितं विश्वातीत विलास महानाटक सकल विद्वज्जन प्रीतये सकल श्रेयसे श्री त्यागेश सांब शिवार्पणमस्तु'।[2] विश्वातीत विलास की क्रमांक ५६१ की तेलुगु प्रति में इस प्रकार लिखा है— 'इति श्री भोंसल कुलांबुधि श्री शाहराज विरचितम् श्री विश्वातीत विलास नाटकं सकल रसिक विद्वज्जन प्रीतये सकल श्रेयसे श्री त्यागेश सांब सदाशिवार्पणमस्तु'।[3] 'विश्वातीत विलास' की किसी भी प्रति में उसके रचनाकाल के विषय में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सूचना नहीं है। अतः इसके रचनाकाल के संबंध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह नाटक भी शहाजी राजा के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ही लिखा गया होगा क्योंकि इसमें भी लेखक के 'नृप' होने के संकेत पाए जाते हैं। विषयों तथा विचारों की दृष्टि से देखने पर अनुमान होता है कि शांतरस प्रधान 'विश्वातीत विलास' नाटक शृंगाररस प्रधान 'राधाबंसीधर विलास' नाटक के पश्चात् की रचना होगी। शहाजी के चरित्र की ओर देखने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अपने जीवन के अंतिम काल में विरक्ति के भाव उनमें पैदा हुए थे। अतः यह स्पष्ट हो जाता

---

१. विश्वातीत विलास नाटक, सरस्वती महाल ग्रंथालय, (सन् १९६१ ई०), पृ० १६।

२. वही, तेलगु हस्तलिखित ताडपत्र प्रति, क्र० सं० ५६० (तंजौर)।

३. वही; तेलगु हस्तलिखित ताडपत्र प्रति, क्र० सं० ५६१ (तंजौर)।

है कि 'विश्वातीत विलास' की रचना शहाजी के शासनकाल (ई० सन् १६८४-१७१२) के अंत में अर्थात् ई० सन् १७०७ तथा सन् १७१२ के बीच हुई होगी।

रचयिता के संबंध में शंका समाधान :

विश्वातीत विलास नाटक की देवनागरी हस्तलिखित प्रति के प्रारंभ में देवताओं की स्तुति समाप्त होने पर नांदी के समय सूत्रधार के जो वाक्य रखे हैं वे इस प्रकार हैं :—

'॥ सूत्रधार वचनं ॥ अइसे नाट्यारंभकरे। विश्वातीत विलास नाटक सुकवि विरचित–सो नाटक–इस रंगभूमि बीच गोलरी भाषा भूषित–हम नृत्य करे चाहे ॥ याके सकल विघ्न हरन को कविं यिष्ठ देवता स्तुति करे देखो ॥ ॥ श्लोक ॥ यस्यपादाब्ज युगुलं प्रणम्याखिल देवता ॥ प्राप्यौ श्रियममौदन्त-सन्निवोस्तु शिवायन ॥ सू० ॥ अइसे सकल देवता प्रार्थना भये नहार ॥ सुकवि विरचित विश्वातीत विलास नाटक निर्विघ्न होवेकूं ॥ ""आदि' ॥'[1]

इस अवतरणिका से स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटक का रचयिता 'सुकवि' नामक कोई व्यक्ति है। अब प्रश्न उठता है कि यह 'सुकवि' कौन है ? यह शांहराज से भिन्न व्यक्ति तो नहीं है ? यदि भिन्न है तो ये रचनाएँ शहाजी कृत नहीं सिद्ध हो सकतीं, यद्यपि उसके अंत में शांहराजकृत होने की पुष्पिका मिलती है। अनेक शंकाएँ एक साथ उठती हैं जिनका समाधान करना अत्यावश्यक हो जाता है। तंजावर के शहाजी के दरबारी कवियों तथा पंडितों के नामों में 'सुकवि' का नाम कहीं नहीं मिलता। डॉ० ग्रियर्सन ने[2] एक 'सुकवि' नामक कवि की चर्चा की है परंतु उनका जन्मकाल ई० सन् १७६८ माना है। शिवसिंह सेंगरजी ने[3] इनका उपस्थितिकाल संवत् १८५५ मान लिया है। तंजावर के राजा शहाजी का स्वर्गवास ई० सन् १७१२ में हुआ था[4]। इस प्रकार देखने से उनका समकालीनत्व भी सिद्ध नहीं होता।

दोनों रचनाओं की भाषा में प्राप्त मराठी, तेलुगु आदि शब्दों को देखकर यह अनुमान होता है कि इन ग्रंथों का रचयिता अहिंदीभाषी तथा दक्षिण का वासी ही होगा। दोनों रचनाओं पर दक्खिनी हिंदी का प्रभाव परिलक्षित

१. विश्वातीत विलास नाटक, देवनागरी हस्तलि० प्रति, क्र०सं० २५८२ (तंजौर।
२. दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान, डा० ग्रियर्सन, कवि सं० ४६६; हिंदी अनुवाद डॉ० किशोरीलाल गुप्त।
३. शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, कविसंख्या ६२४।
४. तंजावरचे राजे, वि० स० वाकसकर, (सन् १६३३), पृ० ४१।

होता है। दोनों ग्रंथों की किसी भी प्रति की पुष्पिका में 'सुकवि' कृत ग्रंथ होने अथवा 'सुकवि' के शहाजी से भिन्न होने का भाव व्यक्त नहीं होता। लगभग सभी में शाहनृप, शाहराज, भोंसलशाह, शाह महाराज आदि की छाप प्राप्त होती है। शहाजी द्वारा रचित 'पंचभाषा विलास' नाटक में प्रयुक्त हिंदी की भाषाशैली और शब्दावली 'विश्वातीत विलास' एवम् 'राधावंसीधर विलास' की भाषाशैली तथा शब्दावली से इतनी मिलती है कि 'राधा बंसीधर विलास' का एकाध छंद ज्यों का त्यों पाया जाता है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि उन तीनों ग्रंथों का रचयिता एक ही है। 'पंचभाषा विलास' नाटक के रचयिता निःसंदेह शाहराज ही हैं, अतः 'राधावंसीधर विलास' एवम् 'विश्वातीत विलास' के रचयिता भी वे ही सिद्ध होते हैं। स्वानंदजी[१] का अनुमान है कि संभवतः शहाजी का ही साहित्यिक नाम सुकवि होगा। उनका अनुमान भी यदि मान लिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होती। सूत्रधार के वचन में 'सुकवि' का जो उल्लेख पाया जाता है उसे ठीक तरह से पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि यह 'सुकवि' किसी व्यक्ति के नाम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ वल्कि सामान्य अर्थ में सुकवि अर्थात् उत्तम कवि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परंपरा देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कवि अपने काव्य में कवि के सामान्य अर्थ में 'सुकवि' शब्द का प्रयोग करते हैं जैसे भूषण सुकवि, संकर सुकवि आदि। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राधावंसीधर विलास' तथा 'विश्वातीत विलास' इन दोनों के वास्तविक रचयिता 'शाहराज' ही हो सकते हैं, सुकवि नामक कोई अन्य व्यक्ति नहीं। अतः 'सुकवि' या तो शाहराज का साहित्यिक नाम है या कवि के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

हिंदी साहित्य में शाहराज की रचनाओं का महत्व :

भाषा तथा साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि ये दोनों कृतियाँ श्रेष्ठ हिंदी साहित्य में परिगणित नहीं हो सकतीं फिर भी हिंदी साहित्य के विकास में इन कृतियों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों कृतियों की भाषा हिंदी होने पर भी गीतों के राग और ताल कर्नाटक प्रथा के रखे गए हैं। हिंदुस्तानी संगीत में भारत के अन्यान्य प्रदेशों में गीतों की रचना हुई परंतु तेलुगु, कन्नड, तमिल आदि द्रविड भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में कर्नाटक संगीत की पद्धति पर रचना न हो पाई थी। इस त्रुटि की पूर्ति वहुत दिन पूर्व

---

१. दि जर्नल ऑफ दि तंजौर सरस्वती महाल लायब्रेरी. तंजौर।

शहाजी महाराज के हाथों सफलतापूर्वक हो चुकी थी।[१] यद्यपि लिपिकार के प्रमाद से और लेखक के अहिंदीभाषी होने से रचनाओं में कहीं कहीं मात्राओं का न्यूनाधिक्य, अहिंदी शब्दों के प्रयोग, शब्दों के अपरिचित विकृत रूप, व्याकरण के नियमों का उल्लंघन आदि त्रुटियाँ पाई जाती हैं फिर भी इन रचनाओं को हिंदी के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से देखना उचित तथा न्याय्य होगा। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में तंजौर जैसे सुदूर दक्षिण के स्थान पर वहाँ के अहिंदीभाषी शासक के द्वारा हिंदी भाषा में और वह भी नई शैली में दो यक्षगानों का प्रणयन करना एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। ऐसी रचनाओं का विवरण हिंदी साहित्य के इतिहासों में होना आवश्यक है।

इस प्रकार हिंदी काव्यरचना करनेवाले महाराष्ट्र के मराठा राजवंश के नृप कवि तथा प्रमुख आश्रित कवियों का उपलब्ध सामग्री के आधार पर जीवनवृत्त तथा साहित्यिक परिचय दिया गया है। राजाश्रयी कवियों में चिंतामणि तथा भूषण ये दो कवि ही हिंदी साहित्य के पाठकों को विशेष परिचित हैं। इनमें से चिंतामणि का परिचय अत्यल्प मात्रा में ही प्राप्त होता है। भूषण के संबंध में जो मतभेद हैं उनकी भी परीक्षा की गई है। चिंतामणि के दो अज्ञात ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। इनके विषय में जो मतभिन्नता है उसका भी परामर्श लिया गया है और कुछ निश्चित निष्कर्ष रखने का प्रयत्न भी किया गया है। शेष कवियों में संकर सुकवि, लोकमणि तथा सीताराम अबतक अज्ञात ही थे। जयराम का नाम से परिचय तो था परंतु विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं था। कवींद्राचार्य सरस्वती के विषय में जो भ्रांति थी उसका भी विस्तार से विचार किया गया है। अंत में शिवराज, नृपशंभु तथा शाहराज इन मराठीभाषी नृप कवियों का भी अनुसंधान में उपलब्ध सामग्री के आधार पर परिचय दिया गया है। इस प्रकार खोज में मिले प्रमुख राजाश्रयी कवियों तथा उनके ग्रंथों के परिचय के अतिरिक्त महाराष्ट्र के मराठा राजाओं द्वारा संमानित एवम् प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले हिंदी काव्य रचनाकार कवियों का परिचय तृतीय अध्याय में दिया जायगा।

---

१. विश्वातीत विलास—नाटक एंड राधा बंसीधर विलास नाटक, सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर (सन् १९६१ ई०), प्रास्ताविक, पृष्ठ ४-५।

३

संमानित एवं संपर्क में आनेवाले कवि

हिंदी काव्यरचना करनेवाले नृप कवियों तथा महाराष्ट्र के मराठा राजाओं द्वारा आश्रयप्राप्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त संमानित एवं प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले कवियों में भी कुछ ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने भावों को हिंदी के द्वारा अभिव्यक्त किया। संमानित कवियों में तुकाराम, श्रीसमर्थ रामदास, देवनाथ और कविकलश की परिगणना की जा सकती है। ये कवि मराठा राजाओं के लिये गुरुतुल्य एवं आदरणीय थे। समय समय पर ये कवि राजाओं को यथायोग्य उपदेश तथा उपयुक्त सूचनाएँ भी देते थे। इन गुरुतुल्य कवियों की सूचनाओं को मराठा राजा बड़े प्रेम से स्वीकार करते थे और श्रद्धाभाव से इनके संमुख नतमस्तक होकर इन्हें यथायोग्य संमान भी देते थे। तुकाराम, रामदास तथा देवनाथ उच्च कोटि के संतकवि थे और कविकलश तो छत्रपति संभाजी के काव्यगुरु एवं प्रधान मंत्री थे जो संस्कृत तथा हिंदी के उत्कृष्ट कवि भी थे। संभाजी ने इन्हें अत्यंत आदरणीय एवं संमानित स्थान दे दिया था।

संमानित कवियों के अतिरिक्त महाराष्ट्र के मराठा राजाओं की दानवीरता एवं साहित्यप्रेम की कीर्ति सुनकर दूर दूर के प्रदेशों से अनेक कविगण इनके दरबार में पहुँच जाते थे और वे अपनी रचनाओं को सुनाकर यथायोग्य पुरस्कार प्राप्तकर लौट आते थे।[1] कभी कभी किसी अन्य कारण से किसी विशेष प्रसंग पर कुछ कवि इन राजाओं के संपर्क में आते रहते थे और राजाओं की प्रशस्ति के कुछ छंद लिख देते थे। इस प्रकार प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले अनेक कवियों के उल्लेख संग्रह ग्रंथों, वार्ता-साहित्य, समकालीन कवियों की रचनाओं, ऐतिहासिक ग्रंथों में मिल जाते हैं। इस अध्याय में हिंदी काव्यरचना करनेवाले संमानित एवं प्रसंगवश दरबार में तथा संपर्क में आनेवाले संबंधित कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

---

१. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू : सं० राजवाडे (प्रथम संस्करण), पृ० ४-९।

तुकाराम

जन्मकाल—ज्ञानेश्वरादि के द्वारा प्रतिष्ठापित भागवतधर्म के मंदिर पर 'कलश' चढ़ाकर उसे पूर्णत्व देने का महत्त्वपूर्ण कार्य संतकवि तुकाराम ने किया। तुकाराम की 'अभंगवाणी' महाराष्ट्र जनता के गले का हार बन चुकी है। आज भी महाराष्ट्र में तुकाराम के अभंग बड़े प्रेम से गाए जाते हैं। तुकाराम का जन्म श्रीसमर्थ रामदास के कुछ ही वर्ष पूर्व पूना के निकटवर्ती देहू नामक ग्राम में हुआ।

विभिन्न मत—तुकाराम की रचनाओं में उनके जीवन की अनेक घटनाएँ विस्तारपूर्वक मिलती हैं, परंतु उनमें जन्मतिथि के संबंध में उल्लेख न होने से विद्वानों में उसके विषय में मतभेद पाया जाता है। इनमें से प्रमुख मत निम्नानुसार पाए जाते हैं—

१—कवि चरित्रकार स्व० जनार्दन रामचंद्रजी तथा 'सरंजामी जंत्री' के अनुसार तुकाराम की जन्मतिथि शके १५१० है।

२—इतिहासाचार्य राजवाड़े ने वाई में प्राप्त 'वंशावली' के आधार पर इनका जन्म शक १४९० अर्थात् ई० सन् १५६८ माना है और समर्थन में 'जरा कर्णमूलीं सांगो आली गोष्ठी। मृत्युच्यिये भेटी जवली आली।' इस अभंग पद के आधार पर उनकी आयु ८१ वर्ष की मानी है।[1]

३—संत चरित्रकार महिपति बोवा ने तुकाराम के प्रथम २१ वर्षों की आयु का जीवनक्रम दिया है और अंत में लिखा है कि 'पूर्वार्ध संपले येणे रीति' (इस प्रकार यहाँ पूर्वार्ध समाप्त हुआ)। इसके आधार स्व० ल० रा० पांगारकर ने तर्क दिया है कि उनका जन्म शक १५३० अर्थात् ई० सन् १६०८ में हुआ होगा। अपने समर्थन में वे लिखते हैं कि तुकाराम का स्वर्गवास शक १५७२ के आसपास हुआ, इससे ज्ञात होता है कि उनका जीवन काल ४२ वर्षों का होगा। अतः यह स्वाभाविक है कि उनका जन्म शक १५३० अर्थात् ई० सन् १६०७ में हुआ था।[2]

४—श्रीभारदे ने देहू तथा पंढरपुर में प्राप्त तुकाराम की वंशावली के

---

१. ग्रंथमाला पत्रिका, संख्या ११६।

२. तुकाराम चरित्र, ल० रा० पांगारकर (ई० सन् १९२०), पृ० ३५-३८।

आधार पर तुकाराम का जन्मकाल शक १५२० अर्थात् ई० सन् १५९८ माना है ।[1]

मतों की परीक्षा एवं निष्कर्ष :

१—उपर्युक्त मतों में प्रथम मत जो जनार्दन रामचंद्रजी तथा 'संरजामी लेखी' के आधार पर कहा जाता है, वह निराधार है । उन्होंने अपनी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है । अतः इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

२—राजवाड़े के मतानुसार उनकी जन्मतिथि शक १४९० में मानने पर मृत्यु के समय तुकाराम की अवस्था ८१ वर्ष की हो जाती है । यह बात प्रसिद्ध है कि मृत्यु के समय उनकी पत्नी जिजाबाई गर्भवती थी और उनके छोटे पुत्र नारायण का जन्म उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ । यह भी प्रसिद्ध है कि तुकाराम और जिजाबाई की आयु में विशेष अंतर न था । यदि उन दोनों में ६-७ वर्षों का अंतर भी मान लिया जाय तो भी जिजाबाई की उम्र तुकाराम की मृत्यु समय ७४-७५ वर्षों की ठहर जाती है । इतनी बड़ी उम्र में स्त्री पुत्रोत्पत्ति के योग्य नहीं रह जाती । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राजवाड़े का मत भी उचित नहीं है ।

३—श्रीपांगारकर का मत मान्य करने पर तुकाराम का जीवनकाल ४२ वर्षों का ठहरता है । डॉ० तुलपुले ने इसका खंडन[2] करते हुए लिखा है कि तुकाराम का जन्म शक १५३० में हुआ था—यह पांगारकरजी का केवल तर्कमात्र है । महीपति ने इसके संबंध में कहीं भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है । तुकाराम के जीवन में २१ वर्ष की अवस्था में 'विपरीत काल प्राप्त हुआ' तथा 'इस प्रकार पूर्वार्ध समाप्त हुआ ।'[3] इससे अधिक महीपति ने नहीं लिखा । तुकाराम की २१ वर्ष की अवस्था में यह 'विपरीत काल'—शक १५५१-५२ का इतिहासप्रसिद्ध अकाल—जो पांगारकर मानते हैं, उसके मानने का कोई कारण नहीं है । महाराष्ट्र में बीच बीच में अवर्षण होता ही रहता है । हो सकता है कि इनमें से कोई अकाल तुकाराम के लिये विपरीत सिद्ध हुआ हो । महिपति के लिखे हुए 'पूर्वार्ध' शब्द का अर्थ शब्दशः लेना और चूँकि पूर्वार्ध २१ वर्ष का था अतः उत्तरार्ध भी २१ वर्ष का होगा और इस तरह तुकाराम का जीवनकाल ४२ वर्ष का होगा यह कहना

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, डॉ० शं० गो० तुलपुले, चतुर्थावृत्ति, पृ० ४२६ ।

२. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, पृष्ठ ४२६ ।

३. 'एकविसाव्यात विपरीत काल पातला' और 'पूर्वार्ध संपले येणे रीति' ।

उचित नहीं लगता। अतः उसे शब्दशः न मानकर लाक्षणिक अर्थ से मानना उचित होगा। तुकाराम के जीवन में इस काल से परिवर्तन होने से संभवतः इस काल के पूर्व जीवन को पूर्वार्ध कहा गया होगा। अनेक बार जीवन की महत्वपूर्ण घटना के आधार पर सुविधा के लिये पूर्वार्ध उत्तरार्ध कहा जाता है।

तुकाराम का स्वर्गवास ४२ वर्ष की अवस्था में मानने पर तुकाराम की यह उक्ति 'जरा कर्ण मूलीं सांगो आली गोष्टी। मृत्यूचिये भेटी जवली आली'।[१] निरर्थक सिद्ध हो जाती है। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि कानों के पास के बालों का सफेद होना चिंता के कारण ४२ ही क्या उसके पूर्व भी संभव है। यद्यपि यह तर्क उचित भी है फिर भी 'मृत्यूचिये भेटी जवली आली' अर्थात् 'मृत्यु समीप आ चुकी है' यह कथन इस बात का द्योतक है कि तुकाराम की अवस्था ५० वर्ष के लगभग तो अवश्य रही होगी। अतः स्व० पांगारकरजी के अनुसार तुकाराम का जन्मकाल शक १५३० अर्थात् ई० सन् १६०८ में मानना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

४—देहू तथा पंढरपुर दोनों स्थानों में प्राप्त तुकाराम की वंशावलियों में तुकाराम का जन्म शक १५२० अर्थात् ई० सन् १५९८ दिया गया है। यद्यपि उनमें प्राप्त शक, तिथि तथा वार का समुचित मेल पंचांग के अनुसार नहीं बैठता फिर भी यही शक सर्वमान्य होने योग्य है। संभव है कि प्रतिलिपिकार अथवा वंशावलियों के लेखक के लिखने में तिथि अथवा वार के संबंध में गलती हुई हो। यदि तुकाराम का जन्मकाल शक १५२० अर्थात् ई० सन् १५९८ माना जाय तो मृत्यु के समय उसकी आयु ५२ के लगभग ठहर जाती है जो अनेक दृष्टियों से समीचीन सिद्ध हो सकती है। ४२ वर्ष की अपेक्षा ५२ वर्ष की अवस्था में यदि कोई व्यक्ति सफेद बालों को देखकर विषण्णता के कारण मृत्यु का संकेत मानेगा, तो वह असंभव भी नहीं है। तुकाराम के अभंग का 'जरा कर्णमूली' वाला कथन ५२ वर्ष की अवस्था में सार्थ होने की अधिक संभावना लगती है। महिपति के कथन के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि २१ वर्ष तक तुकाराम ने गृहस्थी का जीवन व्यतीत किया और २१ वर्ष की अवस्था के बाद अंतिम ३० वर्षों तक उनके जीवन की गति पारमार्थिक जीवन की ओर उन्मुख हो गई थी। उनके जीवन में इन

---

१. कान के पिछले बाल सफेद हुए हैं जो मृत्यु के निकट आने की सूचना देते हैं। (तुकाराम बावांच्या अभंगांची गाथा—संपा० पु० मं०, लाड, (सन् १९५५); अभंग सं० २६८६।

परस्परविरोधी जीवनप्रवाहों के कारण २१ वर्ष की अवस्था तक इनके जीवन का पूर्वार्ध और अंतिम ३० वर्षों तक की अवस्था को सुविधा के लिये उत्तरार्ध कहना तर्कसंगत ही होगा। पूर्वार्ध २१ वर्षों का था अतः उत्तरार्ध भी २१ वर्षों का मानना तर्कसंगत न होगा। पारमार्थिक जीवन के बीजारोपण के पश्चात् उसे पुष्पित तथा फलित होने में २१ वर्षों के काल से ३० वर्षों का काल अधिक योग्य ठहरता है। डॉ० तुलपुले[1], डॉ० वि० पां० दांडेकर[2], प्रा० शेणोलीकर[3] आदि विद्वान् तुकाराम का जन्मकाल शक १५२० अर्थात् ई० सन् १५९८ में ही मानने के पक्ष में हैं। विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है। अनेक दृष्टियों से तुकाराम का जन्मकाल शक १५२० मानना अधिक युक्तिसंगत है।

पारिवारिक जीवन :

तुकाराम शूद्र जाति में पैदा हुए थे परंतु वे वंशपरंपरागत व्यवसाय ही करते थे। उनके पिता का नाम बोल्होबा तथा माता का नाम कनकाई था। उनका उपनाम आंबिले था। तुकाराम के माता पिता धार्मिक तथा सात्विक वृत्ति के थे। इनके तीन पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम सावाजी, मध्य पुत्र का नाम तुकाराम तथा कनिष्ठ पुत्र का नाम कान्हा था। सावाजी बाल्यावस्था से ही विरक्त थे अतः उन्होंने गृहस्थी की देखरेख नहीं की। तुकाराम के खानदान में परंपरागत भक्ति का वरदान प्राप्त था। पंढरपुर के विट्ठल की भक्ति उनके वंश में पीढ़ियों से चली आई थी। देहू ग्राम का महाजन का वतन तुकाराम के वंश में परंपरा से चला आया था।[4] इनकी आर्थिक स्थिति उत्तम थी। इनकी प्रथम पत्नी रखुमा को अस्थमा का विकार होने से इनकी दूसरी शादी गुलवे नामक साहूकार की कन्या से हुई जिसका नाम जिजाबाई था। द्वितीय विवाह के समय तुकाराम की आयु केवल १३ वर्ष की थी।

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, डा० शं० गो० तुलपुले, (चतुर्थावृत्ति), पृष्ठ ६६०।

२. मराठी साहित्याची रूपरेखा, डा० वि० पां० दांडेकर, (सन् १९५२), पृष्ठ १०९।

३. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप, प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर, (सन् १९६२), पृष्ठ १५३।

४. तुकाराम के पोते द्वारा लिखित एक पत्र में तथा शिवाजी महाराज के एक आज्ञापत्र में इसका उल्लेख है।
—महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे, पृ० ३६४।

सारांश, बाल्यावस्था से ही तुकाराम का जीवन ऐशो आराम तथा सुख समाधान में व्यतीत हुआ। परंतु उनका यह सुख दैव से देखा न गया। आयु की सत्रहवें वर्ष की अवस्था ही में उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। थोड़े ही दिनों में ज्येष्ठ बंधु की पत्नी का देहावसान हुआ। पत्नी के दुःख से त्रस्त होकर सावाजी घर छोड़कर तीर्थयात्रा के लिये चल पड़े। इस प्रकार की आपत्तियों के बावजूद तुकाराम ने अपना जीवनयापन पूर्ववत् धैर्य से किया। वंशपरंपरागत महाजनी का कार्य, समाज में प्रतिष्ठा, व्यापार में तेजी होने से पर्याप्त धनलाभ, सेवा के लिये नौकर चाकर, पर्याप्त पशु धन, दो पत्नियाँ तथा सुलक्षणी पुत्र, इससे अधिक ऐहिक सुख क्या हो सकता है? तुकाराम के पास लौकिक ऐश्वर्य की किसी तरह की कमी न थी। परंतु यह ऐश्वर्य भी अधिक दिन न रह सका। इक्कीस वर्ष की अवस्था में 'विपरीत समय' प्राप्त होने से व्यापार में इनका दिवाला निकल गया। अकाल में प्रथम पत्नी रखुमाबाई तथा प्रिय पुत्र संतु 'अन्न, अन्न' पुकार कर मृत्युलोक छोड़कर चले गए। व्यापार में सदैव घाटा ही आता रहा। द्वितीय पत्नी जिजाई के कर्कशा होने से उससे तुकाराम को सुख मिलना असंभव रहा। समाज में भी तुकाराम की बड़ी दुर्दशा हुई। तुकाराम ने अपनी इस दुर्दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

दुष्काळे आटिलें, द्रव्ये नेला मान। स्त्री एकी अन्न अन्न करिता मेली॥
लज्जा वाटे जीवा, त्रासलो या दुःखे। वेवसाय देखे तुटी येतां॥[1]

इस प्रकार अंतर्बाह्य परिस्थितियों से उद्विग्न तथा त्रस्त तुकाराम का मन शांति का मार्ग ढूँढने लगा। देहू के समीपवर्ती भामनाथ, भंडारा अथवा गोरोडा इनमें से किसी एक पहाड़ पर जाकर वहाँ वे एकांत के सुख का अनुभव लेने लगे। ज्ञानेश्वरी तथा एकनाथी भागवत—इन दो ग्रंथों का उन्होंने चिंतन तथा मनन किया। देहू के विठ्ठल मंदिर का जीर्णोद्धार कर लज्जा तथा संकोच का विचार न करते हुए उन्होंने विठ्ठल का कीर्तन करना प्रारंभ किया। इस प्रकार तुकाराम के जीवन का आध्यात्मिक खंड प्रारंभ हुआ। इसी कालखंड में उन्होंने सहस्रावधि रसमय अभंगों की रचना की जो मराठी साहित्य में अमर हैं।

---

1 तुकारामाची गाथा, भा० १-२, (सावलाराम आणि मंडली प्रकाशन) सन् १९०३ ई० का संस्करण, पृ० ६८८।

सामाजिक कार्य :

तुकाराम ने सामाजिक कार्य विशेषतः अपने जीवन के द्वितीय कालखंड में ही असंख्य अभंग रचनाओं के माध्यम से किया। तुकाराम के जीवन चरित्र का तथा साहित्यिक कर्तृत्व का सामाजिक अधिष्ठान भी है। साधकावस्था की मोहवशता और लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों का विरोध इन दोनों के साथ संघर्ष कर उन्हें आत्मिक उन्नति करनी पड़ी थी। तुकाराम की रचनाओं में व्यक्तिगत सुखदुःख की भी अभिव्यक्ति हो चुकी है। तुकाराम के वैश्य तथा शूद्र वर्ण के प्रतिनिधि होने से उस वर्ण की प्रगति में बाधक जन्मसिद्ध उच्च-नीच भाव, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में ठेकेदारी, परंपरागत नीतिमूल्य आदि पर तुकाराम ने अपनी रचना में जो प्रतिकार व्यक्त किया है, वह स्वाभाविक लगता है।[1] उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा कर्मठों का ढोंग, शास्त्रियों तथा पंडितों की रटन, तथा महानुभाव, शाक्त नाथ आदि धर्मपंथियों का आडंबर जनता के सामने प्रकट किया। इस कार्य के साथ ही उन्होंने धर्माभिमान, स्वामिनिष्ठा, धर्मनीति का श्रेष्ठत्व, धर्मकर्म की अपेक्षा चित्तशुद्धि का महत्त्व आदि उच्चतर जीवनमूल्यों का परिचय सामान्य जनता को करा दिया।

तुकाराम के इस रचनात्मक कार्य के परिणामस्वरूप 'शिवकार्य' के लिये आवश्यक तथा उपयोगी सुसंघटित, ध्येयनिष्ठ तथा कार्यक्षम मराठा समाज तैयार हो सका। इसी समाज के बलपर स्वराज्यप्राप्ति के महान् कार्य में शिवाजी राजा को सफलता प्राप्त हो सकी। तुकाराम की अभंगवाणी का यह सामाजिक कार्य लोकोत्तर ही है।

रचनाएँ :

तुकाराम का अधिकांश साहित्य फुटकल अभंग रचनाओं में ही बिखरा पड़ा है। ये रचनाएँ आरती, अभंग, पद, ओवी, श्लोक के रूप में प्राप्त हैं। इनकी स्फुट रचनाओं में अभंग छंद में ही अधिक रचना पाई जाती है। अबतक तुकाराम की लगभग ५००० स्फुट रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। 'तुका-

---

१. तुकाराम आणि रामदास, प्रा० गं० बा० सरदार, नवभारत पत्रिका, नवंबर १९५० ।

२. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप, प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर सन् १९६२ ; पृ० १५६-१५७ ।

राम बावांच्या अभंगाँची गाथा[1] में ४६०७ अभंग दिए गए हैं और अतिरिक्त अभंग ३७ दिए हैं। इन अभंगों के अतिरिक्त तुकाराम कृत अन्य रचनाएँ भी प्रकाश में आ चुकी हैं। तुकारामकृत 'मंत्रगीता' जो भगवद्गीता का अभंगात्मक अनुवाद है श्री० वा० सी० बेंद्रेजी ने प्रकाशित की है। यह गीतानुवाद अन्य किसी तुकाराम का न होकर प्रसिद्ध तुकाराम का ही है यह बात बेंद्रेजी ने सप्रमाण सिद्ध की है।[2] स्वर्गीय लाडजी ने भी इस बात को स्वीकार किया है। इस 'मंत्रगीता' के अतिरिक्त श्री० रा० ब० आठवलेजी को प्राप्त 'भानुदास चरित्र' और स्व० दा० के० ओक द्वारा प्रकाश में लाया गया 'सुदाम चरित्र' इनका भी समावेश तुकाराम की गाथा में करना चाहिए।[3] संभव है कि इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य भी अज्ञात रचनाएँ हों, जिनके प्रकाश में आने पर तुकाराम की साहित्यसंपदा में वृद्धि होगी।

तुकाराम के अभंगों में आत्मनिष्ठ या विषयीगत काव्य के सभी गुण प्राप्त होते हैं। उनकी रचनाओं में तुकाराम का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है। उसमें आशा निराशा, उद्वेग उल्लास, वैकल्य साकल्य, प्रयत्नवाद दैववाद आदि परस्परविरोधी मनोवृत्तियों का उद्रेक दृष्टिगोचर होता है जिससे उनके हृदय की संवेदनक्षमता तथा आत्मिक जीवन के विकास की कल्पना आ जाती है। करुणापरक रचनाओं में उत्कंठा, आग्रह, कारुण्य, वात्सल्य इत्यादि विविध भावनाएँ अभिव्यंजित हो उठी हैं। उनके अभंगों में प्रसाद तथा माधुर्य गुण प्रचुर मात्रा में हैं। उनकी भाषा सरल तथा सहजगम्य है। तुकाराम की वाणी में यत्र तत्र सर्वत्र सूक्तियाँ बिखर पड़ी हैं। मराठी के श्रेष्ठ संत कवियों में तुकाराम की परिगणना होती है।

हिंदी पद रचना :

तुकाराम ने मराठी रचनाओं के साथ ही साथ अन्य संतकवियों की भाँति हिंदी भाषा में भी रचनाएँ की हैं। हिंदी की प्राप्त रचनाओं को विषय की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : १—गोपीप्रेम, २—पाखंड उद्घाटन और ३—नीति और भक्ति उपदेश। गोपीप्रेम के अंतर्गत उनकी वे रचनाएँ हैं जो मराठी काव्य में 'गौलण' नाम से प्रसिद्ध हैं। यथा—

---

१. देखिए—तुकाराम बावांच्या अभंगाँची गाथा, संपा० पु० मं० लाड, मुंबई सरकार प्र० (सन् १९५५)।

२ देखिए—संत श्रेष्ठ तुकाराम कृत मंत्रगीता, संपा० वा० सी० बेंद्रे, सन् १९५० ई०, प्रस्तावना।

३. महाराष्ट्र धर्माचे प्रणेते, आकाशवाणी प्रकाशन (सन् १९५८), दिल्ली, (डा० कोलते का लेख), पृ० ४६।

हरि बिन रहिया न जाए जिहिरा।
कबकी थाडी देखे राहा।
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई।
क्या मोहि पासिती बेर लगाई।
कोई सखी हरि जावे बुलवान।
बारहि डारुँ उस पर ये तन।
तुका प्रभु कब देख पाऊँ।
पासी आऊँ फेर न जाऊँ।[1]

× × ×

चुरा चुराकर माखन खाया।
गौलनी का नंदकुमार कन्हैया॥
काहे बराई दिषावत मोही।
जानतहुँ प्रभुपना ते राखो भाई॥
और मात सुन उखल सुं गला।
बाँध लिया तूँ आपना गोपाला॥
फिरत बन बन गाऊँ घरावत।
कहे तुकया बंधु लकरी ले हात।[2]

उपर्युक्त पदों में कृष्ण लीला का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त 'पाखंड उद्घाटन' के अंतर्गत वे पद हैं जिनमें तत्कालीन समाज के पाखंडों पर व्यंग किए गए हैं। समाज में धर्म के नाम पर अनेक 'दरवेश', मलंग आदि फकीर और भगवा वस्त्र पहननेवाले साधु भोली जनता को ठगते थे। उन्हें लक्ष्य कर कई पद लिखे गए हैं। जबतक मन में भगवान् की भक्ति नहीं है तबतक केवल भगवा वस्त्र पहनना किस काम का ! सच्चा दरवेश वही है जो नर को बूझे अर्थात् मानव को पहचान ले। यहाँ मानवतावाद की सहज झलक मिलती है। तुकाराम द्वारा सामाजिक कुप्रथाओं तथा आडंबरों पर

१, तुकाराम का छंद, हिंदी को मराठी संतों की देन, डा० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७), पृष्ठ १६४ से उद्धृत।

२ हिंदी को मराठी संतों की देन, वही, सन् १९५७), पृष्ठ २३३।

की गई मर्मभेदक व्यंग बाणावली तथा स्पष्टता और निर्भीकता देखकर प्रसिद्ध संतकवि कबीर का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार के छंद उनकी हिंदी तथा मराठी दोनों रचनाओं में प्राप्त हैं। पांगारकर ने यह सिद्ध किया है कि तुकाराम के अभंगों पर नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ तथा कबीर का प्रभाव हुआ है। अतः इनका मत भी इस बात की पुष्टि देता है कि 'पाखंड उद्घाटन' जैसे छंदों पर कबीर का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार के तुकाराम के हिंदी छंद द्रष्टव्य हैं—

तुका वस्तर विचारा क्या करे, ज्याको चीत भगवा (न) होये।
भीतर मैला कैउं मीटे जो परे उपर धोये ॥

× × ×

तुका कुटुम्ब छोरे लड़के जोरु सिर मुड़ाये।
जब थें इछा नहीं मुई, तु किया काये ॥

× × ×

चीतसुं चीत जब मीले तब तनथंडा होये।
तुका मीलता जीन्ह सु यैसा वीरला कोये ॥

× × ×

तुका संग तीन्हंसु करीये जीन थें सुप दुनाये।
दुर्जन तेरा मुप काला थीता प्रेम घटाय ॥[1]

इस प्रकार पाखंड उद्घाटन तथा नीति भक्ति आदि के हिंदी पद तुकाराम के दृष्टिकोण को समझने के लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं। तुकाराम की मराठी पदरचना में प्राप्त भाव तथा हृदय की पीर हिंदी पदों में भी विद्यमान है। तुकाराम की हिंदी रचनाओं में उपमा, अर्थांतरन्यास, रूपक आदि अलंकारों का सहज ही समावेश हो चुका है। उदाहरण के लिये अर्थांतरन्यास अलंकार का यह छंद द्रष्टव्य है—

चीत मीले तो सब मीले नहीं तो फोकट संग।
पाणी पत्थर एक ही ठोर कोरण भीजे अंग ॥[2]

हिंदी पदों में एक विशेष बात द्रष्टव्य है कि तुकोबा ने अपने छ[illegible]

---

1. श्रीतुकाराम चरित्र, प्र० ६, ल० रा० पांगारकर (ई० सन् [illegible]), पृ० २०३-२०४।
2. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, सन् [illegible], पृ० [illegible]।

देवता विट्ठल का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। उन्होंने गोपाल, रघुराज, गोविंद, रघुराज, हरि आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। डॉ० विनयमोहन शर्मा ने[1] इसका कारण यह बताया है कि हिंदी पद उन्होंने हिंदीभाषी जनता के लिये बनाए थे जो विट्ठल नाम से कम परिचित रही है। तुकाराम के हिंदी पद हिंदी साहित्य की निधि को समृद्ध कराने में सहायक अवश्य होंगे। इन पदों के माध्यम से तुकाराम की विचारधारा का परिचय महाराष्ट्रीयेतर जनता को हुआ।

गुरुपरंपरा :

तुकाराम की गुरुपरंपरा के संबंध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। बहिणाबाई और निलोबा ये दोनों तुकाराम के शिष्य थे। फिर भी दोनों के द्वारा दी गई गुरुपरंपरा में अंतर आ जाता है। बहिणाबाई के अनुसार उसकी गुरुपरंपरा इस प्रकार थी—आदिनाथ, मत्स्येंद्र नाथ, गोरखनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सच्चिदानंद बाबा, विश्वंभर, राघव चैतन्य, केशव चैतन्य, बाबा चैतन्य, तुकोबा, बहिणाबाई। निलोबा ने गुरुपरंपरा इस प्रकार दी है—महाविष्णु, ब्रह्मा, नारद, व्यास, राघव चैतन्य, केशव चैतन्य, तुकोबा, नीलोबा।[2]

श्रीमान् हर्षे के अनुसार केशव चैतन्य के पूर्वाश्रम का नाम विश्वनाथ बाबा राजर्षि था और सब उन्हें बाबाजी कहते थे।[3] 'राजर्षि' परिवार से उन्हें जो लेख सामग्री मिली उसके आधार पर उन्होंने यह मत निश्चित किया। कुछ विद्वान् अब भी विवाद उठाते हैं और राघव, केशव और बाबाजी तीनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति मानते हैं। यदि हर्षे की बात सत्य होगी तो यह मानना पड़ेगा कि राघव चैतन्य उर्फ बाबाजी तुकाराम के गुरु होंगे। अनुमान है कि तुकाराम ने यह उपदेशग्रहण माघ शुक्ल दशमी शके १५५४ को लिया होगा। जबतक इसके संबंध में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता तबतक इसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

तुकाराम और शिवाजी :

महाराष्ट्र का यह सौभाग्य था कि ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में तुकाराम, रामदास, शहाजी तथा शिवाजी इन चार महानुभावों का कार्य संयोग से एक

---

१ हिंदी को मराठी संतो की देन, डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० १६७।
२. तुकाराम महाराजांची गुरुपरंपरा : वा० सी० बेंद्रे (सन् १९६०), पृ० ६७।
३. तुकाराम, रामकृष्ण गणेश हर्षे (शाके १८५५), पृ० ३४-३६।

दूसरे का पूरक रहा और फलस्वरूप लगभग ३०० वर्ष परतंत्रता की शृंखला में बद्ध महाराष्ट्र स्वतंत्र हो चुका। यदि तुकाराम को अधिक आयु मिल जाती तो निश्चय ही उनके द्वारा सामाजिक तथा साहित्यिक दोनों कार्य अधिक मात्रा में हो पाते। शिवाजी महाराज इनका बड़ा आदर करते थे। वे संत समागम प्रेमी थे। उनकी माता जिजाबाई की बचपन से यह सीख थी कि स्वराज्य संस्थापन में सफलता पाने के लिये साधु संतों के आशीर्वाद आवश्यक होते हैं। शिवाजी का अपनी माता की प्रत्येक बात पर पूर्ण विश्वास था। शिवाजी का उदात्त चरित्र तथा असामान्य व्यक्तित्व की विधायिनी शक्ति उनकी माता की शिक्षा ही मानी जाती है। अतः वे साधु संतों को सदैव सम्मानित किया करते थे। कहा जाता है कि पूना के समीपवर्ती देहू ग्राम में अवसर पाते ही शिवराज तुकाराम के कीर्तन सुनने के लिये जाया करते थे। कीर्तन से वे इतने प्रभावी हुए कि मानो उन्हें तुकाराम के कीर्तन सुनने की एक आदत-सी लगी। तुकाराम की अभंगवाणी तथा उपदेशों को सुनकर शिवाजी के मन पर उसका प्रभाव हुआ और राजनैतिक, नैमित्तिक कार्य को छोड़कर आठ दिन वे देहू में तुकाराम के पास रहे। शिवाजी की प्रवृत्ति में यह परिवर्तन देखकर तथा जिजाबाई माता की प्रार्थना सुनकर तुकोबा ने अपने कीर्तन में वर्णाश्रम धर्म, क्षात्रधर्म तथा राजधर्म पर निरूपण कर शिवाजी को यह उपदेश दिया कि क्षात्रधर्म तथा राजधर्म के लिये उन्हें वैराग्य के विचार मन में न लाना चाहिए।

तुकाराम के अभंगों में कुछ अभंग ऐसे भी हैं जिनमें शिवाजी को समय समय पर उपदेश दिया गया है। शिवाजी के तुकाराम के कीर्तन में जाने की बात सभी जानते हैं। कहा जाता है कि एक समय शत्रु पक्ष के कुछ पठानों ने कीर्तन के समय अचानक हमला कर शिवाजी को पकड़ना चाहा परंतु तुकाराम के पुण्य प्रताप और शिवाजी की सावधानी के कारण इस कठिन प्रसंग से वे बच गए। एक समय प्रसन्न होकर शिवाजी महाराज ने तुकाराम के पास घोड़ा, अबदागीर, कारकून तथा कुछ जवाहरात भेज दिए थे परंतु निःस्वार्थ तथा विरक्त बुद्धि से तुकाराम ने उसे स्वीकार न करते हुए लौटा दिया और उत्तर में १४ अभंगों का उपदेशपरक पत्र भेजा जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का माना जाता है।[१]

---

१. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, खंड २, ल० रा० पांगारकर (सन् १९३५), पृष्ठ ६४८–६४९।

बुद्धिमत्ता, उद्योगशीलता, उच्च ध्येय, साहस, पराक्रम, लोककल्याण, आदि सच्चे वीरों के लक्षण होते हैं। संत, धर्मसंस्थापक, धर्मसंरक्षक, महान् तत्वज्ञानी, महाकवि, प्रथम श्रेणी के ग्रंथकार तथा शास्त्रज्ञ अपने अपने क्षेत्र के वीर पुरुष ही होते हैं। 'पाइक' अर्थात् सिपाही वीर को लक्ष्य कर लिखे गए अभंग संभवतः शिवाजी को लक्ष्य कर ही लिखे गए हैं जिनमें निवृत्त तथा प्रवृत्त दोनों प्रकार के व्यक्तियों को एक साथ ही उपदेश किया गया है। मराठी शब्द 'पाईकी' का अर्थ है सेवा, चाहे वह भगवान् की हो अथवा देश की, दोनों महान् हैं। दोनों के गुण तथा लक्षण 'पाईक के अभंगों'[1] में प्राप्त हैं।

अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य सामग्री के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि तुकाराम शिवाजी की भेंट हुई थी और समय समय पर तुकाराम ने शिवाजी को क्षात्रधर्म के पालन का उपदेश भी किया था। परंतु उनकी भेंट की निश्चित तिथियाँ प्राप्त नहीं होतीं। परंपरा के अनुसार इनकी प्रथम भेंट तुनवाडी नामक ग्राम में तुकाराम के कीर्तन के प्रसंग में हुई थी। शिवकालीन पत्रों से लगता है कि यह प्रथम भेंट संभवतः ई० सन् १६४५ और ई० सन् १६४९ के दरमियान हुई।[2] शिवाजी द्वारा भेजे गए पुरस्कार को लौटाते समय उत्तर में जो पत्र तुकाराम ने भेजा[3] उसमें पेशवे, मुजुमदार, डबीर, सुरनीस, चिटणीस आदि अष्टप्रधानों का उल्लेख होने से कुछ विद्वानों ने इसके संबंध में संदेह व्यक्त किया था, परंतु अनुसंधान में प्राप्त तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि अष्टप्रधानों की व्यवस्था शिवाजी ने राज्याभिषेक के पूर्व से ही की थी।[4] शिवाजी को 'छत्रपति' यह गौरवपद भी राज्याभिषेक के पूर्व ही जनता से प्राप्त हुआ था।[5] तत्कालीन कई पत्रों तथा काव्यों में इसकी पुष्टि मिलती है। इसके अतिरिक्त तुकाराम द्वारा शिवाजी के लिये प्रयुक्त विशेषण 'चातुर्यसागर', 'सर्वज्ञराजा', 'गुरुभक्त' आदि इस बात के द्योतक हैं कि इनकी भेंट संभवतः सन् १६४९ ई० में अर्थात् शक १५७१ के

---

१. तुकाराम बावांच्या अभंगाची गाथा, संपा० स्व० पु० मं० लाड, मुंबई, पृष्ठ १८८-१८९ (सन् १९५५)।

२. शिवकालीन पत्रव्यवहार, क्र० ५५१।

३. तुकाराम बावांच्या अभंगाची गाथा, संपा० पु० मं० लाड (सन् १९५५), पृष्ठ २३८-२३९।

४. शिवकालीन पत्रव्यवहार, क्र० ५८७, ७१७ तथा ७२२।

५ शककर्ता शिवाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् १९३५ ई०), पृष्ठ ७२।

ज्येष्ठ मास के पश्चात् शीघ्र ही हुई थी। डा० रा० ग० हर्षे के[1] इस मत का समर्थन डा० शं० गो० तुलपुले[2] भी करते हैं।

सन् १६४९ ई० में तुकाराम और शिवाजी की जब प्रथम भेंट हुई थी तब तुकाराम की अवस्था ५१ वर्ष की और शिवाजी की अवस्था १९ वर्ष की थी जो अनेक दृष्टियों से तर्कसंगत भी है। इन दोनों की भेंट तुकाराम के अभंगांतर्गत पंक्तियों से भी हो जाती है। तुकाराम की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

घेऊनिया भेटी कोण हा संतोष। आयुष्याचें दिस गेले गले।
रोडके हात पाय दिसे अवकला। काय तो सोहला दर्शनाचा।[3]

ये पंक्तियाँ तुकाराम ने शिवाजी राजा को उद्देश्य कर तब लिखी हैं जब वे प्रथमबार तुकाराम से मिलना चाहते थे। उपर्युक्त पंक्तियों में उन्होंने वार्धक्यावस्था अथवा जीवनसंध्या के समीप आने से शरीर की जो दुर्दशा हुई है उसका संकेत किया है। वे लिखते हैं कि मेरे जीवन के दिन समाप्त हो चुके हैं, हाथ, पाँव दुर्बल तथा कृश हो चुके हैं अतः मैं दर्शनीय नहीं हूँ। ऐसे गलितगात्र के दर्शन पाकर तुम्हें कौनसा संतोष मिलेगा? अतः यह निश्चित हो जाता है कि शिवाजी तुकाराम भेंट हुई थी और वह भी ई० सन् १६४९ के आसपास।

मृत्युकाल :

शिवाजी को क्षात्रधर्म तथा राजधर्म की ओर प्रवृत्त कर रामदास के निर्देशन में स्वराज्यस्थापन के महान् कार्य करने का महत्त्वपूर्ण उपदेश तुकाराम ने दिया था। एक दृष्टि से तुकाराम का यह कार्य अत्यंत महत्व का था। महाराष्ट्र के लोकप्रिय संतकवि तुकाराम का स्वर्गवास सन् १६४९ ई० अर्थात् शक १५७१ की फाल्गुन वदी द्वितीया को हुआ। कहा जाता है कि तुकाराम सदेह वैकुंठ को गए थे। आज भी महाराष्ट्र में 'तुकाराम बीज' के दिन विशेष उत्सव होता है।

श्रीसमर्थ रामदास :

पूर्ववृत्त :

श्रीसमर्थ रामदास का जन्म गोदावरी तीरस्थ जाँब नामक ग्राम में शक १५३० के चैत्र मास की शुक्ल नवमी को हुआ। उनके पिता का नाम

---

१. तुकाराम, डा० रा० ग० हर्षे (शके १८५५), पृष्ठ १०१।
२. पाँच संत कवि, डा० शं० गो० तुलपुले (सन् १९६२ ई०), पृष्ठ २१७।
३. तुकारामाची गाथा, सावलाराम आणि मंडली प्रकाशन (सन् १९०२ ई०), पृष्ठ ६८३-६८४।

सूर्याजी पंत तथा माता का नाम राणूबाई था। उनके पिता सूर्याजी पंत ठोसर अत्यंत धार्मिक वृत्ति के पुरुष थे। सूर्योपासक होने से वे प्रतिदिन सूर्य नमस्कार तथा गायत्री मंत्र का जप करते थे। सूर्यनारायण की कृपा से संतति होने के कारण रामदास का मूल नाम 'नारायण' रखा गया था। इनके एक ज्येष्ठ बंधु थे जिनका नाम गंगाधर उर्फ श्रेष्ठ[1] था। ये जमदग्नि गोत्र के[2] देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। उनके खानदान में कुलकर्णी (पटवारी) का काम किया जाता था। तंजावर के गोविंद बाल स्वामी के मठ में प्राप्त प्राचीन हस्तलिखित कागजपत्रों में लिखित उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसिद्ध संतकवि एकनाथ की पत्नी तथा रामदास की माता ये दोनों सगी बहनें थीं। इस दृष्टि से एकनाथ रामदास की मौसी के पति हो जाते हैं।

रामदास का जीवन जानने के लिये उनके स्वर्गवास के केवल चार दिन पश्चात् उनके निकटतम शिष्य दिवाकर गोसावी द्वारा लिखित 'वाकेनिशी टिपण', उसके कुछ वर्ष पश्चात् रचे गए गिरिधरकृत 'समर्थ प्रताप' और प्रसिद्ध बखरकार मल्हार रामदास चिटणीस तथा चाफल संस्थान के मठाधिकारी रंगो लक्ष्मण मेदे के द्वारा शक १७१५ में रचित तथा शक १७४० में परिवर्धित 'हनुमंत स्वामीची बखर' आदि मुख्य साधन हैं।[3] 'वाकेनिशी टिपण' प्राचीन तथा रामदास कालीन होने से ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसी के आधार पर रामदास के जीवन की प्रमुख घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

रामदास की बाल्यावस्था के बारह वर्ष उनके जन्मस्थान जाँब गाँव में ही व्यतीत हुए। इस काल में उनकी शिक्षा दीक्षा के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। परंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन पद्धति के अनुसार पटवारी का काम करने योग्य शिक्षा उन्हें मिली होगी। रामदास का उपनयन संस्कार शक १५३५ अर्थात् ई० सन् १६१३ में हुआ था। इसके दो वर्ष पश्चात् ही इन्होंने अपने ज्येष्ठ बंधु गंगाधर उर्फ श्रेष्ठ से अनुग्रह की दीक्षा देने की प्रार्थना की परंतु इनके भाई ने कुछ अधिक काल प्रतीक्षा करने के लिये कहा। रामदास को यह बात नहीं जँची और इन्होंने

---

१ मराठी साहित्याची रूपरेखा, डॉ० वि० पा० दांडेकर (ई० सन् १९४२), पृष्ठ १२०।

२ शिवाजी निबंधावली, भा० १, पृष्ठ १०१ (ज० स० करंदीकर का 'रामदासांची राज्य कारणांतील कामगिरी' नामक लेख)।

३ पाँच संतकवि, डॉ० शं० गो० तुलपुले (सन् १९६२), पृष्ठ २८७।

रूठकर हनुमान के मंदिर में उपासना आरंभ की।[1] कहा जाता है कि प्रभु रामचंद्र ने इन्हें अनुग्रह देकर इनका नाम 'रामदास' रखा। यह घटना शक १५३८ अर्थात् ई० सन् १६१६ में श्रावण शुक्ल नवमी के दिन जाँब गाँव में हुई थी।

रामदास जब आठ वर्ष के थे तभी उनके पिता का स्वर्गवास हुआ था। पिता की मृत्यु के पश्चात् इनके ज्येष्ठ बंधु गंगाधर पर परिवार के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व पड़ा। उस समय से रामदास की शिक्षा की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर भी ज्ञानलालसा के कारण रामदास प्रयत्नशील ही रहे। लिखना, पढ़ना, व्यावहारिक गणित और संस्कृत काव्य का कुछ परिचय आदि बातें बाल्यावस्था ही में इन्होंने सीख ली थीं। इसके अतिरिक्त खेलकूद, घूमना फिरना, तैरना आदि के कारण उनका शरीर सुदृढ़ बना था। अपनी आयु की ६७ वर्ष की अवस्था में हेलवाक (वर्तमान कोयना बाँध के पास) से चाफल तक का लंबा प्रवास इन्होंने घोड़े पर किया था जिससे ज्ञात होता है कि इन्हें अश्वारोहण का बाल्यावस्था से ही अनुभव था।

तपश्चर्या तथा देशाटन :

पिता की मृत्यु के पाँच वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १६२० में इनका विवाह निश्चित हो चुका था। विवाह समारोह के समय 'सावधान' यह शब्द सुनकर ये सचेत हुए और विवाह मंडप से भाग निकले। वहाँ से निकलकर ये गोदावरी नदी के किनारे नासिक पंचवटी में गए। उसके पार्श्ववर्ती टाकली नामक ग्राम में इन्होंने बारह वर्षों का समय (सन् १६२०-१६३२) व्यतीत किया। वहाँ प्रतिदिन गोदावरी तथा नंदिनी के संगम स्थल पर जल में खड़े रहकर गायत्री का पुरश्चरण तथा तेरह कोटि नाममंत्र का जप इन्होंने किया।[2] 'श्रीराम जयराम जयजयराम' रामनाम का यह त्रयोदशाक्षरी मंत्र ही इनके जप का नाममंत्र था। कहा जाता है कि इस तपश्चर्या के फलस्वरूप इन्हें श्रीरामचंद्र से साक्षात्कार हुआ था। इस काल में इन्होंने अध्ययन भी किया था। उसके पश्चात् सन् १६३२ के फाल्गुन महीने में इन्होंने अपनी तीर्थयात्रा प्रारंभ की। सन् १६३२ से १६४४ ई० तक के बारह वर्ष के काल में रामदास ने आसेतु हिमाचल यात्रा की और भारत के विभिन्न तीर्थ-क्षेत्र देखे।

---

१. श्रीसमर्थ रामदास स्वामीचे चरित्र, केरलकोकिल (सार्थ व सटीप दासबोध के अंतर्गत), (सन् १९०४ ई०), पृ० ७।

२. महाराष्ट्रांतील पाँच संप्रदाय, पं० रा० मोकाशी (सन् १९५४), पृष्ठ १४७।

इसी यात्रा में तत्कालीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक दुरवस्था को इन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया। भग्न मंदिर, भ्रष्ट तीर्थक्षेत्र, आचारहीन ब्राह्मण वर्ग, स्खलित हिंदू समाज, यवनों के दारुण अत्याचार आदि बातों को देखकर रामदास का चित्त विह्वल हुआ। तत्कालीन हिंदू समाज की अवनति तथा दुरवस्था का वर्णन रामदास ने 'तीर्थावली', 'अस्मानी सुलतानी', 'परचक्र निरूपण' आदि रचनाओं में किया है। इसी यात्रा में प्राप्त अनुभवों के आधार पर ही संभवतः इन्होंने अपने जीवन की ध्येयदृष्टि निश्चित की थी। यात्राकाल में ही इन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों पर मठस्थापना करना प्रारंभ किया था। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये इन्होंने 'समर्थ संप्रदाय' की स्थापना कर पर्याप्त लोकसंग्रह किया था। अपने शिष्यों तथा अन्य अनेक योजनाओं के द्वारा अपनी ध्येयसिद्धि के प्रयत्न इन्होंने किए। इस कार्य में इन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

महान् कार्य का आरंभ :

कुछ अनुभवों के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्मस्थापना के लिये स्वराज्य स्थापना की अत्यंत आवश्यकता है और इसलिये तीर्थयात्रा समाप्त करने पर जिस प्रांत में स्वराज्य स्थापना के लिये अनुकूल वातावरण था, उस कृष्णातीर पर वे सर्वप्रथम आए। यहाँ मठस्थापना के साथ ही साथ राम जयंती तथा हनुमान जयंती के उत्सव समारोह प्रारंभ कर जनता को कर्तव्यदक्ष किया और उपदेश के माध्यम से जनमानस को स्वराज्याभिमुख करने के प्रयत्न की दिशा में लगे[1]। यहाँ आने पर सन् १६४४ से १६५० ई० तक के काल में श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने शहापुर, मसूर, उंब्रज, शिराले, मनपाडले, पारगाँव, माजगाँव, बेहेगाँव, शिगणवाडी, चाफल (२) इन स्थानों पर 'ग्यारह मारुति' की स्थापना की। ये स्थान तत्कालीन महाराष्ट्र में राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते थे। इनके माध्यम से मानो उन्होंने महाराष्ट्र के प्रमुख ग्यारह राजनीतिक केंद्र ही खोल दिए थे। इन ग्यारह केंद्रों की योजना में राजनीतिक संकेत था और 'समर्थ संप्रदाय' में ग्यारह संख्या का रहस्य गुप्त रूप से होने की कल्पना[2] भी की जाती है। उपलब्ध प्रमाणों में अधिकांश से इस बात की पुष्टि मिल जाती है कि समर्थ रामदास ने स्वराज्यस्थापना के लिये लोकजागृति करने का महत्वपूर्ण कार्य

---

१. समर्थ चरित्र, स० खं० अलतेकर (प्रथम संस्करण), पृ० २४३।
२. श्रीसमर्थांचा गाथा, श्रीअनंतदास रामदासी (शके १८५०), पृ० ३६।

किया और महाराष्ट्र के सौभाग्य से छत्रपति शिवाजी महाराज और रामदास दोनों के कार्य एक दूसरे के पूरक होने से स्वातंत्र्यसूर्य का शीघ्र ही उदय हुआ।

रामदास और शिवाजी :

समर्थ रामदास और शिवाजी महाराज जैसे दो महान् व्यक्तियों का मिलन ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी। 'वाकेनिशी प्रकरण' में लिखा है कि इन दोनों की प्रथम भेंट सन् १६४६ ई० अर्थात् शक १५७१ की वैशाख शुक्ल नवमी गुरुवार के दिन चाफल के निकटवर्ती स्थान शिंगणवाडी में हुई थी और उसी समय रामदास ने शिवाजी को अनुग्रह दिया था।[१] इस भेंट की तिथि के संबंध में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। 'वाकेनिशी' के अनुसार समर्थ के भक्त श्रीदेव तथा के० राजवाड़े शिवाजी और रामदास की भेंट सन् १६४६ ई० में स्वीकार करते हैं। श्रीभाटे तथा श्रीचांदोरकर इसका विरोध कर शक १५९४ अर्थात् सन् १६७१ ई० में इनकी भेंट का होना स्वीकार करते हैं और अपने पक्ष समर्थन में दो पत्रों का उल्लेख करते हैं। एक पत्र केशव गोसावी का है जो दिवाकर के नाम लिखा है। उसमें लिखा है कि 'शिवाजी भोंसले रामदास से मिलने आ रहे हैं, राजा प्रथम बार वहाँ आ रहे हैं'। दिवाकर ही को लिखे हुए गोसावी के एक पत्र में 'शके १५८०' का स्पष्ट उल्लेख है और उसमें लिखा है कि 'मैं जब शिवाजी के पास गया तब उन्होंने मुझसे मेरे बारे में पूछा और यह भी पूछा कहाँ से आए हो ? जब मैंने कहा कि मैं रामदासी हूँ तब उन्होंने पुनः पूछा कि रामदास कहाँ रहते हैं ?'

प्रथम पत्र से ज्ञात होता है कि शिवाजी प्रथम बार रामदास के पास जा रहे हैं और दूसरे पत्र से पता चलता है कि शके १५८० अर्थात् ई० सन् १६५८ ई० तक शिवाजी को रामदास के संबंध में यह भी ज्ञात नहीं था कि वे कहाँ रहते हैं। इन्हीं आधारों पर भाटे और चांदोरकर का निष्कर्ष है कि शके १५७१ अर्थात् ई० सन् १६४६ में शिव समर्थ भेंट नहीं हो सकती। श्री-राजवाड़े तथा देव का कहना है कि ये दोनों पत्र मूल न होकर मूल की नक़ल हैं। उनमें जो तारीखें दी हैं उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता।[२] यदि

---

१. महाराष्ट्रातील पाँच संप्रदाय, पं० रा० मोकाशी (सन् १९५४); पृ० ३४६। तथा वाकेनिशी प्रकरण, कलम १८।

२. हिंदी को मराठी संतों की देन; डॉ० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७ ई०); पृ० १०६।

उन पत्रों को जाली न भी मान लिया जाय तो भी उससे यह सिद्ध नहीं होता कि शिवाजी और समर्थ रामदास में उन तिथियों के पूर्व भेंट ही नहीं हुई। हो सकता है, राजा ने आर्थिक सहायता देने के पूर्व व्यक्ति की परीक्षा लेना ठीक समझा हो कि वास्तव में वह 'समर्थ' के आश्रम का प्रतिनिधि है अथवा ठग है।[1] यह भी संभव है कि जिस स्थान पर मिलने की बात की गई है उस स्थान पर वे प्रथम बार जा रहे होंगे। 'राजा प्रथमवार वहाँ आ रहे हैं' इस वाक्य का 'वहाँ' स्थानदर्शक है न कि व्यक्तिदर्शक। अतः इससे यह अर्थ निकालना कि शिवाजी रामदास से प्रथम बार मिल रहे हैं उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे पत्र के अनुसार यह भी संभव है कि भ्रमणशील रहने से समयविशेष में रामदासके वास्तव्य के संबंध में सहज पूछ लिया हो कि वे आजकल कहाँ रहते हैं। शके १५८० अर्थात् ई० सन् १६५८ के समय स्वामी रामदास की कीर्ति तथा प्रसिद्धि इतनी हो चुकी थी कि शायद ही महाराष्ट्र में कोई व्यक्ति हो जो समर्थ रामदास का चरित्र न जानता हो। ऐसी स्थिति में यह असंभव है कि शिवाजी जैसा धर्मनिष्ठ व्यक्ति उनके संबंध में साधारण बातें भी न जानता हो। समकालीन तथा रामदास के ग्रंथांतर्गत कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'समर्थ' के धर्मकारण में राजनीति एक महत्वपूर्ण अंग था। दासबोध के साधन चतुष्टय में[2] इसका स्पष्ट उल्लेख है। रामदास तथा शिवाजी के राजनीति विषयक विचारों में प्राप्त समता भी इसकी पुष्टि में पर्याप्त है कि सन् १६४९ ई० से ही उन दोनों में विचारविमर्श होते रहे होंगे।

समर्थ रामदास ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जहाँ अपने 'समर्थ-संप्रदाय' की स्थापना की वह स्थान मसूर नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान मानो शहाजी महाराज के 'राजकारण' तथा समर्थ के 'धर्मकारण' का संगमस्थल ही था।[3] शहाजी का उत्तर चरित्र अर्थात् शके १५६२ से शके १५८५ तक के २३ वर्षों का चरित्र शिवाजी के तत्कालीन चरित्र से समांतर ही नहीं बल्कि स्वराज्यसंस्थापक शिवाजी के चरित्र के लिये प्रोत्साहक भी था।[4] मसूर का महोत्सव, ग्यारह मारुतियों की योजना, समर्थ संप्रदाय की

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७), पृ० १७१-१८० ।
२. मुख्य हरिकथा निरूपण । दूसरे ते 'राजकारण' । राजकारण = राजनीति ।
३. पाँच संतकवि, डा० शं० गो० तुलपुळे (सन् १९६२), पृष्ठ २१ ।
४. राधामाधव विलास चंपू, संपा० वि०का० राजवाडे (शक १८४४), पृष्ठ १०१ ।

स्थापना, चाफल के राममंदिर की योजना आदि रामदास की कृतियों का साथ उसी समय और उसी स्थल पर शिवाजी की 'रोहिलखोरे' की कृतियाँ दे रही थीं। संभव है कि मसूर के उत्सव प्रसंग पर शिवाजी और रामदास एक दूसरे से मिले भी हों परंतु यह निश्चित कहा जा सकता है कि शिवाजी और समर्थ के संबंध का यह सूत्र पंद्रह वर्ष पूर्व की शहाजी की राजनीति तक जा पहुँचता है और आगे की घटनाओं को पूर्वेतिहास का प्रमाण भी मिल जाता है।

शक १५७० अर्थात् सन् १६४८ ई० में बिजापुर के बादशाह ने शिवाजी के पिता शहाजी को अचानक कैद किया। कोंडाणा तथा पुरंदर जैसे भारी किलों पर अधिकार कर लेने पर बादशाह द्वारा ऐसा होना स्वाभाविक था। डॉ० तुलपुले के मत में इसी समय शिवाजी अगतिक होने से रामदास की ओर आए होंगे। आध्यात्मिक और आधिभौतिक ऐसे द्विविध तापों से प्रताडित तथा द्विविध उद्देश्यों से प्रेरित शिवाजी का मन रामदास की ओर आकर्षित हुआ और संयोग की बात यह कि भेंट के पूर्व ही शिवाजी नें समर्थ के स्वप्नदर्शन कर लिए और उसके पश्चात् चार दिनों में उनका ओवीबद्ध पत्र भी प्राप्त हुआ।

तुमचें देशीं वास्तव्य केलें। परंतु वर्तमान नाहीं घेतलें।
ऋणानुबंधे विस्मरणजालें। बा काय नेणुं॥
उदंड राजकारण तटलें। तेथें चित्त विभागलें।
प्रसंग नसतां लिहिलें। क्षेमा केली पाहिजे॥[1]

ये पंक्तियाँ शिवाजी के हृदयतल तक पहुँच गईं और शीघ्र ही शिवाजी ने समर्थ रामदास की भेंट लेकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। यह घटना चाफल निकटवर्ती शिंगणवाडी के बगीचे में शक १५७१, वैशाख शुद्ध ६ गुरुवार के दिन हुई।[2] वाकेनिशी प्रकरण की यह तिथि अनेक दृष्टियों से योग्य तथा तर्कसंगत लगती है। पंचांग के अनुसार उक्त नवमी को गुरुवार ही था अतः यह तिथि सही होगी।[3] परंतु शिवसमर्थ भेंट की तिथि के संबंध में विद्वानों के परस्परविरोधी मतों के कारण निश्चित निर्णय नहीं हो सका है। यदि प्रथम पक्ष का कथन सत्य माना जाय तो शिवसमर्थ की प्रथम भेंट सन् १६४९ ई० में हुई थी और समर्थ रामदास शिवाजी के केवल मोक्षगुरु ही नहीं राष्ट्रगुरु भी ठहर जाते हैं। यदि विरोधी पक्ष का मत मान्य किया

---

१. रामदासाँचे समग्र ग्रंथ, चित्रशाला प्रेस पुणें, पृष्ठ ६३०।
२. पाँच संत कवि, डा० शं० गो० तुलपुले (सन् १९५२), पृष्ठ ३९२–३९३।
३. ऐतिहासिक प्रस्तावना, भा० १, वि० का० राजवाडे (सन् १९२८), पृष्ठ २७१।

जाय तो शिवसमर्थ भेंट अत्यंत देर से सन् १६७२ ई० में हो पाती है और शिवाजी की स्वराज्यसाधना में समर्थ रामदास का नेतृत्व सिद्ध न होकर वे शिवाजी के केवल मोक्षगुरु ही ठहर जाते हैं जो तर्कसंगत नहीं लगता।

'वाकेनिशि प्रकरण' तथा 'हनुमंतस्वामीची बखर' में सन् १६५० से सन् १६५८ ई० तक के आठ वर्षों में शिवसमर्थ के मिलनेजुलने के इतने उल्लेख पाए जाते हैं कि उसे देखकर यह संदेह नहीं रह जाता कि शिवसमर्थ भेंट सन् १६७२ ई० के पूर्व हुई थी और शिवाजी की राजनीति के सूत्रधार समर्थ रामदास ही थे। रामदास कृत 'रामवरदायिनी', 'आनंदभुवन' इत्यादि ऐतिहासिक प्रकरणों में शिवाजी की राजनीति को उद्देश्य कर ही उपदेश दिखाई देता है। समर्थ द्वारा प्राप्त सतर्कता के उपदेश की आवश्यकता सन् १६५०-१६५८ के काल में शिवाजी के लिये जितनी थी उतनी सन् १६७२ ई० में कार्यसफल शिवाजी के लिये कदापि न थी। समर्थ ने दासबोधादि रचनाओं में शिवाजी के संबंध में जो उद्गार लिखे हैं उनसे दोनों के पुराने संबंध पर ही प्रकाश पड़ता है। शके १५८३ अर्थात् ई० सन् १६६१ में शिवाजी ने प्रतापगढ़ पर भवानी देवी की स्थापना श्रीसमर्थ रामदास के हाथों से की थी। यह घटना भी विशेष ध्यान देने योग्य है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण वह सनद है जो शिवाजी ने शके १६०० अर्थात् ई० सन् १६७८ में रामदास को दी थी।[1] इस सनद

---

१. सनद की प्रतिलिपि—

श्री रघुपति श्रीमारुती

आश्विन शु० १० शके १६००

श्री सद्गुरुवर्य श्रीकलतीर्थरूप श्रीकैवल्यधाम श्रीमहाराजस्वामींचे सेवेसीं चरणरज शिवाजीराजे यानी चरणावरी मस्तक ठेऊन विज्ञापना जे मजवर कृपा करुनु सनाथ केलें, आज्ञा केली कीं तुमचा मुख्य धर्म राज्यसाधन करुन धर्मस्थापना, देवब्राह्मणाची सेवा, प्रजेची पीडा दूर करनु, पालण रक्षण करावें। हें व्रत संपादून त्यांत परमार्थ करावा. तुम्ही जें मनी धराल तें श्री सिद्धिस पाववील। त्याजवरून जो जो उद्योग केला व दुष्ट तुरुक लोकांचा नाश करावा, विपुल द्रव्ये करुनु राज्यपरंपरा अखंड चालेल ऐशी स्थलें दुर्घट करावी, ऐसे जें जें मनो धरिलें तें तें स्वामीनी आशीर्वाद प्रतापें मनोरथ पूर्ण केले.

यापरि राज्य सर्व संपादिलें तें चरणीं अर्पण करुनु सर्व काल सेवा घडावी ऐसा विचार मनीं आणिला तेव्हां आज्ञा जाहली, कीं 'तुम्हास पूर्वी धर्म सांगितलें तेच करावेस, तीच सेवा होय। ऐसे आज्ञापिलें।

यावरून निकटवास घडुनु वारंवार दर्शन घडावें, श्रीची स्थापना कोठेंतरी होऊनु संप्रदाय शिष्य व भक्ती दिगंत विस्तीर्ण घडावी ऐसी प्रार्थना केली। ते

में चाफल में श्री की स्थापना के समय से अर्थात् सन् १६४८ ई० से शिवसमर्थ का साद्यंत सविस्तर इतिहास दिया है। प्रमाण की दृष्टि से यह सनद निर्णायक सिद्ध होती है। उपर्युक्त सभी प्रमाणों को देखकर यह निश्चित हो जाता है कि शिवसमर्थ का गुरुशिष्य संबंध सर्वप्रथम शके १५७१ अर्थात् सन् १६४६ में हुआ और वहाँसे शिवाजी की मृत्यु तक अर्थात् ई० सन् १६८० तक अधिकाधिक दृढ़ होता गया।

शिवाजी के आश्रित कवि भूषण ने शिवाजी के गुरु रामदास का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है—

> भव्य सभा शिवराय की रामदास गुरुराय।
> ठाडो जस वर्णन करे सो भूषण कविराय ॥[1]

यह निःसंदेह है कि समर्थ रामदास को शिवाजी अपना गुरु मानते थे और बड़ा सम्मान देते थे।

काव्यकृतियाँ तथा हिंदी रचनाएँ :

राष्ट्रीय नेता और प्रसिद्ध संत के साथ ही साथ श्रीसमर्थ रामदास एक उत्तम साहित्यकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। संस्कृत, मराठी तथा हिंदी भाषाओं के ये अच्छे ज्ञाता थे। इनकी अधिकांश रचना मराठी में ही है। इन्होंने विपुल मात्रा में ग्रंथरचना कर अपनी प्रतिभा का परिचय करा दिया है। इनके ग्रंथों में 'दासबोध' महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। समर्थ संप्रदाय की यह

ही असमंतात गिरिगव्हरीं वास करूनु चाफलीं सांप्रदाय शिष्य दिगंत विस्तीर्णता घडली।

त्यास चाफलीं श्रीची पूजा मोहोछाव ब्राह्मणभोजन अतिथि इमारत सर्व यथासांग घडावें। जेथें जेथें श्रीची मूर्तिस्थापना जाहाली तेथें उछाव पूजा घडावी। यास राज्य संपादिलें। यांतील ग्रामभूमि कोठे काय नेमावी तें आज्ञा व्हावी। तेव्हां आज्ञा जाहली कीं। विशेष उपाधीचें कारण काय? तथापि तुमचे मनीं श्रीची सेवा घडावी हा निश्चय जाहला त्यास यथाअवकाश जेथें जें नेमावेंसें वाटेल तें नेमावें, व पुढें जसा संप्रदायाचा व राज्याचा व वंशाचा विस्तार होईल तैसें करीत जावें। या प्रकारें आज्ञा जाहली. इ०'''।

—पाँच संत कवि, डॉ० शं० गो० तुलपुले, सन् १९६२, पृष्ठ ३८४-३८५ से उद्धृत।

१. भूषण ग्रंथावली, संपादक, श्रीअरुणोदय राय, कलकत्ता, (सं० १९९७), पृष्ठ ४।

एक प्रकार की 'गीता' ही है। इसके अतिरिक्त करुणाष्टक, पंचीकरण, चौदा शतकें, रामवरदायिनी, लघु रामायण, स्फुट ओवियाँ, स्फुट श्लोक, अनेक फुटकल पद तथा आरतियाँ आदि का प्रणयन इन्होंने किया। दासबोध की रचना शके १५८१ में हो चुकी थी और इसमें लगभग ७७५१ ओवियाँ हैं। इसमें आध्यात्मिक उपदेश के साथ व्यावहारिक विवेक तथा प्रयत्न विषयक बातें भी हैं। प्रपंचनिष्ठा, व्यवहारधर्म, राजनीति आदि की चर्चा इसके उत्तरार्ध में है। 'करुणाष्टक' में रामदास के हृदय की भगवान् के प्रति मिलन उत्कंठा की भावनाएँ हैं। इस आत्मपरक काव्य में भावना की सूक्ष्मता तथा कविता की उत्कृष्टता विशेष दर्शनीय है। अनुताप, वैराग्य, उत्कंठा, तीव्रता इत्यादि विविध भावनाओं की अभिव्यंजना के कारण शोकपरक भावगीतों की श्रेणी में इसे रखा जा सकता है।

रामदास का संपूर्ण साहित्य प्रासंगिक, सहजस्फूर्त एवम् प्रभावोत्पादक है। रामदास की काव्यदृष्टि ही मूलतः स्वतंत्र थी। उनकी साहित्य रचनाओं में विचार, व्यवहार, भावना आदि को कमअधिक प्रमाण में स्थान दिया गया है। भावनाओं के उद्रेक की अपेक्षा अनुभावों का विचारात्मक परिपाक समर्थ साहित्य में परिलक्षित होता है। इनके काव्य में मृदुता, मंजुलता, कोमलता की अपेक्षा भव्यता, अद्भुतता, विशालता आदि गुण ही अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं। समर्थकाव्य का मर्म तभी समझ में आ सकता है जब समर्थ रामदास के मन की प्रवृत्ति को समझ लिया जाय। जैसा कवि वैसा काव्य। विवेकयुक्त वैराग्य, प्रचंड उद्योग, समाजोन्मुखता, दुर्बलता के प्रति चिढ़, भव्यता तथा दिव्यता में रुचि, लोकोद्धार की लगन, वैभव की अनासक्ति, प्रचार प्रयत्नवाद, साक्षेप तथा उपासना ये सामान्यतः समर्थ के चरित्र की विशेषताएँ हैं। लगभग ये ही बातें उनके काव्य में प्रतिबिंबित हो चुकी हैं।[1]

इन्होंने 'दासगीता' नामक पाँच अध्याय का संस्कृत प्रकरण लिखा है।[2] इनकी हिंदी भाषा में भी फुटकल रचनाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें समर्थ गाथा तथा धूलिया के श्रीसमर्थ वाग्देवता मंदिर की जीर्ण पांडुलिपियों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त किया गया है। इनमें से कुछ पद संगीत की रागरागिनियों में भी पाए जाते हैं। संभव है कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोगों में समर्थ-संप्रदाय के सिद्धांत तथा अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये इन्होंने

---

१. पाँच संतकवि, डॉ० शं० गो० तुलपुले (सन् १९६२ ई०), पृ० ४१८।
२. महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे। चतुर्थावृत्ति, शाके १८७६), पृष्ठ ४२९।

हिंदी भाषा का प्रयोग किया हो। इनकी भाषा तत्कालीन जनभाषा प्रतीत होती है जो खड़ी बोली का दक्षिण में व्यवहृत बाजारू रूप है। राम के भक्त होने से रामदास के पदों में अपने आराध्य देवता का नाम लगभग सर्वत्र परिलक्षित होता है। हिंदी पदों में ये रामदास नाम के अतिरिक्त 'दास' अथवा 'दासफकीरा' का भी प्रयोग करते थे। अपने आराध्य देवता 'राम' के लिये मोहन नागर, साई नामों का भी प्रयोग करते हैं। ईश्वर की सर्व-व्यापकता का वर्णन करते हुए रामदास कहते हैं—

जित देखो उत रामहि रामा।
जित देखो उत पूरण कामा।
तृण तरुवर सातो सागर।
जित देखो उत मोहन नागर।
जल थल काष्ठ पषाण आकासा।
चंद्र सुरज नच तेज प्रकासा।
मेरे मन मानस राम भजो रे।
रामदास प्रभु ऐसा करो रे॥[1]

यह छंद मराठी में 'मनाचे श्लोक' के अंतर्गत इनकी जो रचनाएँ हैं उसी पद्धति का दिखाई देता है। मन को संबोधन कर भगवान् राम के सर्व-व्यापक रूप का वर्णन कर उसे राम का भजन करने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार दूसरे एक छंद में भगवान् के निर्गुण, निराकार का सुंदर वर्णन किया है। भगवान् का रंग न हरा है न पीला, न काला है न सफेद। वह तो इन चर्मचक्षुओं को दिखाई देनेवाले सभी रंगों से न्यारा है जिसका वर्णन करने में वाणी असमर्थ है—

हरा ना पिला रंग काला नहि रे।
सिफेदी नहीं क्या कहूँ मैं इसे रे॥
सब रंग से वो नियारा खुदा है।
मुं से हि कहे सा नहि वो ईलाहि॥[2]

समर्थ संप्रदाय के रामदासी साधु की विशेषता बताते हुए वे लिखते हैं—

---

१ हिंदी को मराठी संतों की देन, डा० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७), पृष्ठ ३४३।

२. वही, पृष्ठ १८३।

गले मोहि कफनी हातो म्यान तस्वि ।
खुदा क्या ही बातां मु से बोहि गैबि ॥
कहे बात वैसा राहा से च्यले सो ।
ईनो कि ही कफ्नी कहे रामदासो ॥[1]

सत्रहवीं शताब्दी में धर्मप्रचार के लिये आंतरप्रांतीय भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग करनेवाले राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास की बहुत सी हिंदी रचनाएँ अब भी अप्राप्य हैं।

छत्रपति शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् समर्थ रामदास स्वामी ने छत्रपति संभाजी को भी समझाने का प्रयत्न किया था। शिवकाल के एक सुप्रसिद्ध संत, राष्ट्रगुरु, समाजसुधारक तथा साहित्यकार श्रीसमर्थ रामदास स्वामी शके १६०३ माघ कृष्ण नवमी के दिन पंचतत्व में विलीन हुए। समर्थ रामदास अपने अलौकिक कर्तृत्व के कारण अमरता पा चुके हैं।

देवनाथ :

पूर्ववृत्त—विदर्भ के अंतर्गत अमरावती जिले के सुरजी नामक ग्राम में शक संवत् १६७६ (ई० सन् १७५४ में) इनका जन्म हुआ।[2] इनके पिता राजोपंत निजामराज्य के कर्मचारी थे। देवनाथ के बड़े भाई व्यंकटराव अचलपुर में ५०० सवारों के नायक थे। देवनाथ का मूल नाम देवराम था। बारह वर्ष की अवस्था ही में उनका विवाह कृष्णराव नामक व्यक्ति की कन्या काशी से हुआ जिसका ससुराल का नाम रमा रखा था। बचपन से ही व्यायाम की ओर आकर्षण रहने से तथा अखाड़े में कुश्तियाँ वगैरह लड़ने से इनका शरीर ताकतवर एवम् सुदृढ़ था। इनके आराध्य देवता थे शक्ति के अधिष्ठाता हनुमान। तत्कालीन महाराष्ट्रीय वीरों की तरह इन्हें भी सिपाही के जीवन का आकर्षण था। ये अपने पास सदैव तलवार रखा करते करते थे। आलस्ययुक्त जीवन से इन्हें तिरस्कार था। हनुमान के भक्त होने से भक्ति की भावना इनके मन में थी ही। कहते हैं कि इन्हें हनुमान के दर्शन हुए थे तबसे इनकी चित्तवृत्ति अंतर्मुखी बन गई।

गुरुपरंपरा :

शक १७०३ अर्थात् ई० सन् १७८१ में गोविंदनाथ नामक नाथपंथी साधुपुरुष ने इन्हें बीजमंत्र और दीक्षा दे दी थी। गुरुमंत्र प्राप्त होने पर

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७), पृष्ठ १८२।
२. वही, पृष्ठ २०१।

देवराम का नाम देवनाथ हुआ। देवनाथ की गुरु परंपरा इस प्रकार है—नृसिंह सरस्वती—जनार्दनस्वामी—एकनाथ—गावबा उर्फ नित्यानंद—कृष्णनाथ—विश्वंभरनाथ—मुरारनाथ—रंगनाथ—गोपालनाथ—गोविंदनाथ—देवनाथ।[1] देवनाथ के प्रियशिष्य सखे गोपाल के शिष्य माधव द्वारा रचित 'आरती' के अनुसार यही परंपरा थोड़े अंतर के साथ इस प्रकार मिलती है—आदिनाथ—विधि (ब्रह्मदेव)—अत्रिनाथ—दत्तात्रेय—जनार्दन—एकनाथ—नित्यानंद—कृष्णानंद विसोबानंद—मुरहारनाथ—रंगनाथ—गोपालनाथ—गोविंदनाथ—देवनाथ।[2] देवनाथ के प्रिय शिष्य सखे गोपाल के शिष्य होने से माधव की जानकारी को ठीक मानना समीचीन लगता है। गुरू की कृपा से उन्हें जो अनुभूति प्राप्त हुई उसका वर्णन इन्होंने कविता में इस तरह किया है—

हो निर्मल अपने हित को तवज्जु करना।
गुरु ज्ञान सुनावे कान बतावे नैना।
प्यारे देख कमल बिच मगन आप हो रहना।
नहीं कमा लाये धन माल रैन का सपना।
सोचकर मान सिपाही दिलजान नहींरे तन अपना।
जम छोड़ पेट को तोड़ नजर मो रखना।
प्यारे अजब फौज में बाजे अनहूत बाजा।
सब घट मों नाथ बिराजा॥

× × ×

सुन मिहरबान हनुमान धनी है आला।
तन पाक किया है पाक कमल उजियाला।
अब दिया नाथ के हाथ पिग्राला प्याला।
दस्तान चढ़ा मस्तान हुआ मतवाला।
गैबत का बाजे तास घनन घडियाला।
गुरुज्ञान समझकर बूझे लाख मों बिरला।
कहे देवनाथ सुन बात खुदा नहिं दूजा।
सब घट मों नाथ बिराजा॥[3]

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे (चतुर्थावृत्ति, शक १८७६), पृष्ठ ८०३।
२. कवितासंग्रह, वामनदाजी ओक (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २५–२६।
३. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल (सन् १९६१, पृष्ठ ४१)।

देशाटन एवम् सम्मान :

कहा जाता है कि यह पद सुनकर हनुमानजी ने इन्हें वरदान दिया था कि देवनाथ के मुख से निःसृत हर बात कविता होगी। यह देवनाथजी की आरंभिक रचना है। इन्होंने भी अन्य मराठी संतों की भाँति हिंदी में भी पद-रचना की है। देवनाथ द्वारा रचित हिंदी रचना बहुत है। गुरु से दीक्षा प्राप्त होने पर भारत के समस्त तीर्थों का इन्होंने भ्रमण किया। विभिन्न स्थानों तथा ग्रामों में घूम घूमकर ये भगवान् का कीर्तन किया करते थे। उनकी रसयुक्त वाणी पर सभी लोग मुग्ध रहते थे। एलिचपुर के नवाब इनका कीर्तन सुनने का एक भी अवसर व्यर्थ नहीं जाने देते थे। सातारा, पूना, नागपुर, ग्वालियर, इंदौर, काशी, रामेश्वर, द्वारका आदि स्थानों में इनके कीर्तन अत्यंत लोकप्रिय हुए थे। इन्हें दूर दूर से निमंत्रण भी आया करते थे। सवाई माधवराव पेशवा के समय ये पूना भी जाया करते थे। सवाई माधवराव की माता ने इनसे गुरुमंत्र लिया था। नागपुर के राजा रघोजी भोंसले द्वितीय के दरबार में[1] देवनाथ पहुँचा करते थे और वहाँ उनका बहुत आदर सम्मान हो जाता था। इन्होंने अंजनगाँव में एक मठ की स्थापना की थी जिसकी व्यवस्था आज भी अच्छी तरह रखी जाती है। इनके प्रमुख शिष्य का नाम दयालनाथ था जो विदर्भांतर्गत मूर्तिजापुर के निवासी थे। अन्य संतों की भाँति इनके जीवन की भी कई चमत्कारपूर्ण तथा अद्भुत घटनाएँ बताई जाती हैं, जैसे हनुमान से संभाषण, मृत पुत्र को जिलाना आदि।

साहित्यसृजन तथा हिंदी पद रचनाएँ :

नाथपंथीय संतकवियों में एकनाथ की 'ओवियाँ', गोविंदनाथ के 'अभंग' तथा देवनाथ के 'पद' सरलता के कारण मन को प्रभावित कर देते हैं।[2] देवनाथ शीघ्र कवित्व भी कर सकते थे। अभीतक इनकी रचनाओं का यथावत् संकलन नहीं हो पाया है। स्व० वामन दाजी ओक ने कतिपय रचनाएँ 'कवितासंग्रह' नाम से प्रकाशित की हैं जिनमें हिंदी रचनाएँ भी प्राप्त हैं। श्रीमान् साठेजी ने भी 'वैदर्भकाव्य संग्रह' में इनकी कविताओं का उत्तम संपादन कर उसे प्रकाशित किया है। इनके अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्त हिंदी रचनाओं को भी डॉ० विनयमोहन शर्मा ने 'प्रमुख महाराष्ट्र संतों का वाणी संग्रह' में प्रकाशित किया है। इनके पद ध्रुपद, ताल तथा कटिबंध

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयाग दत्त शुक्ल (सन् १९६१), पृ० ४२।
२. वैदर्भकाव्य संग्रह, संपादक अच्युत सिताराम साठे, (प्रस्तावना लेख)।

(कटाव) में गाए जा सकते हैं। वैराग्ययुक्त पदों के साथ कृष्णभक्ति विषयक सरस रचनाएँ भी इन्होंने पर्याप्त मात्रा में की हैं। इनके कृष्ण-विषयक पदों को देखकर अनेक स्थान पर सूरदास का सहज ही स्मरण हो जाता है। इनके कटिबंध अर्थात् कटाव भी विशेष द्रष्टव्य हैं। यद्यपि इनकी हिंदी कविताओं पर दक्खिनी तथा मराठी का प्रभाव दिखाई देता है फिर भी इनका भावसौंदर्य देखने योग्य है। पूर्ववर्ती मराठी संत कवियों की हिंदी कविताओं से इनकी कविता की भाषा में अधिक सफाई, सुथरापन एवम् प्रौढत्व दृष्टिगोचर होता है। अनुप्रास, उपमा, रूपक अलंकार इन्हें विशेष प्रिय थे। अनुप्रासिक पदरचना का नाद अर्थानुगामी होने से आनंददायक लगता है। वर्षा की रिमझिम का वर्णन पढ़ते समय वर्षा के रिमझिम की ध्वनि का आभास हो जाता है। यथा—

भादों मास मों मेघ गडाडत टपकत बुंदरी खासी।
रुमझुम रुमझुम झरझर झरिया बरसत हैं घन रासी ॥[१]

इस छंद को देखकर 'कातिक की राति थोरि थोरि सियराति है' अथवा 'घुमरि घुमरि घन घोर घहरात है' की रचना करनेवाले रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि सेनापति का स्मरण हो जाता है। 'बारहमासी' के अंतर्गत देवनाथ ने जो ऋतुवर्णन किया है वह भी उत्कृष्ट कोटि का है। उसमें शृंगार रस के मधुर पुट के साथ भक्ति का हृदय उछल पड़ता है। शृंगार का पर्यवसान भक्ति में हो जाता है। इस दृष्टि से फाल्गुन मास का वर्णन उल्लेखनीय है—

फागण मास मों खेलत फागरी सब मिलिया ब्रिज नारी।
ग्यान गुलाल और ध्यान अबीर की हाथ लई भरजोरी।
भक्ति को रंग सुरंग बनायो री प्रेम भरी पिचकारी।
ऐसी भाई मतवारी सखी सब कान्हकु देखन आई॥[२]

कृष्ण के प्रेम में पगी गोपियाँ कृष्णविरह की पीड़ा में किस प्रकार व्यथित हो जाती हैं इस बात का जो यथार्थ वर्णन देवनाथ ने किया है वह द्रष्टव्य है—

---

१. देवनाथ महाराज के पद, हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनय-मोहन शर्मा (प्रथम संस्करण), से उद्धृत, पृ० ४२१।
२. देवनाथ महाराज के पद, वही, पृ० ४२१ से उद्धृत।

वैशाख मास मों आई उदासी झारत जब रुख पाती।
तैसे हूँ डार सिंगार जो, हरि बिन भर भर आवत्त छाती।
आधी रैन मोहे चैन परे नहीं कुंजन मों ढूँढ़न जाती।
बावरी भई जैसी खाई विजया सारी सूध गमाई॥[1]

कन्हैया की मधुर मुरली में वह जादू था कि उसकी रसीली तान छेड़ देते ही वृंदावन की गोपियाँ अपनी सुधबुध भूल जाती थीं। कृष्ण की मुरली की ध्वनि मानो निमंत्रण की सूचना ही थी। उसे सुनते ही लौकिक लाज की तनिक भी परवाह न करते हुए 'मदमस्त' होकर वे वृंदावन की ओर दौड़ पड़ती ही हैं, चाहे बरसात की अँधियारी रात भी क्यों न हो! मिलन की तीव्र उत्कंठा का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है—

जमुना तट पे निकट बजावे मधुर धुनी मुरली की।
सुनत कानहू भई बावरी सूध न तन मन की॥
आधि रैन सुख चैन सखी री मैं पिया संग सोई।
सुनत नाद मदमस्त धौरके बिरंदावन आई॥
कह री बजाई बंसी कान्हने मधुर लहर वाकी।
सुनत डार घर बार निकसी मैं बुद्ध सखी बहकी॥
गरज गरज के बरसे मेंह बुंद बरी रण के।
आधिरात अँधियारी परी री बीच दामिन चमके॥
देवनाथ प्रभु नाथ निरंजन नंदलाल कान्हा।
देख लपट रही पगसों सखी री निरखि रूप नैना॥[2]

अपने गूढ़ भावों को व्यक्त करने के लिये संत कभी कभी अनाकलनीय, दुर्बोध और प्राकृतिक नियमों के विपरीत प्रतीकों की रचना कर पाठकों को दिङ्मूढ़ कर देते हैं जिसे 'उलटबाँसी' कहा जाता है। कबीरादि संत कवियों की भाँति देवनाथ ने भी उलटबाँसियों की रचनाएँ की हैं। निम्न उलटबाँसी द्रष्टव्य है—

---

१. देवनाथ महाराज के पद, वही, पृ० ४२१।
२. देवनाथ महाराज के पद, वही, पृ० ४२३।

चूहे वादल उड़े गगन सो, कौआ तीर चलावे।
बकरी ने जद बाघ पछाडा, बाघ कौन छुड़ावे।
सद्गुरु वाह वाजी, खेल तुम्हारा कैसा जी ॥
गूंगा बात बहेरे सो कहता अंधा कुरान बाचे।
टुंडे ने जब ढोल बजाया लंगड़ा क्या खूब नाचे।
सद्गुरु वाह वाजी, खेल तुम्हारा कैसा जी ॥
देवनाथ की अमृत बानी सुनो मोरे भाई।
उलट भेद है सदगुरु घरका बिरला समझे कोई।
सद्गुरु वाह वाजी, खेल तुम्हारा कैसा जी ॥[1]

देवनाथ अपने युग के अच्छे कवि और कीर्तनकार थे। उनके अनेकों मराठी पदों में राम, कृष्ण, हनुमान, विठ्ठल और गुरु की महत्ता बताई गई है। अधिकांश पद कृष्ण विषयक ही हैं। मानवीय दुर्बलताओं की भाव-भ्रांति पर उन्होंने उत्तम 'कटाव' पद रचे हैं। इनके हिंदी पदों पर शेखसादी, सूरदास, तुलसीदास, कबीर, मीरा आदि का प्रभाव दिखाई देता है। इनके मराठी पदों में इस बात का उल्लेख[2] मिलता है कि इन्होंने इन कवियों की रचनाओं का भी अध्ययन किया था। ज्ञान और भक्ति का सुंदर समन्वय इनके पदों में मिलता है। अद्वैतवादी होने के कारण इन्होंने अपनी रचना में गणपति, शंकर, राम, जगदंबा, हनुमान आदि विविध देवताओं के प्रति आदर तथा श्रद्धा व्यक्त की है। योगसाधन विषयक चर्चा भी पर्याप्त है। कबीर की भाँति अत्यंत स्पष्टता से दांभिकों को इन्होंने फटकारा है। हिंदू और मुसलमान दोनों उनकी दृष्टि में समान ही थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर इनका विश्वास है। उसके संबंध में वे कहते हैं—

या जगमों कोई और न जानिये। पूरन भर्यो भगवान हो।
जलथल ब्रिख पासान बीच मों रूप भयो सब जान हो।
देवनाथ प्रभु नाथ निरंजन। सब घर मान समान हो।[3]

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल, (प्रथम संस्करण), पृ० ४४।
२. वही, पृ० ४२।
३. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७), पृष्ठ २१२।

मराठी पदों के समान ही देवनाथ महाराज के हिंदी पदों में भी विषयों की विविधता तथा सरसता दृष्टिगोचर होती है। हिंदी पदों को देखकर उनका हिंदी पर कितना प्रभाव था इसकी स्पष्ट कल्पना आ जाती है।

शके १७४३ (ई. सन् १८२१) की चैत्र शुक्ल नवमी के दिन ग्वालियर में रामजन्मोत्सव के कीर्तन के समय मंडप में आग लगी जिसमें अनेक लोगों के साथ देवनाथ का भी अंत हुआ।[१] युद्ध में वीर की मृत्यु और भगवान् के कीर्तन में संत की मृत्यु श्रेष्ठ तथा मोक्षदायक मानी जाती है। देवनाथ को यह भाग्य मिला था।

कवि कलश :

छत्रपति संभाजी महाराज के ये काव्यगुरु तथा प्रधान अमात्य थे। संभाजी इनकी बहुत इज्जत करते थे।[२] संभाजी के शासनकाल में कवि कलश का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और प्रयाग में बहुत समय से भोंसला परिवार के पुरोहित थे। जयपुर राज्य के दफ्तर में प्राप्त ऐतिहासिक पत्रों में सबसे प्रथम कवि कलश का उल्लेख मिलता है। जिस पत्र में इनका उल्लेख है वह पत्र प०कालदास ने कल्याणदास को २३ अगस्त १६६६ के दिन लिखा था। आगरे के बंदीगृह से शिवाजी के भाग जाने पर उनका पता मालूम करने के हेतु औरंगजेब के सिपाहियों ने इन्हें कैद किया था। इनके साथ सक्सेना कायस्थ को भी कैद कर दोनों को शृंखला में बाँध दिया। पत्रलेखक ने इन दोनों को शिवाजी के 'दरबारी सेवक' कहा है।[३] इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि कलश सन् १६६६ ई० के पूर्व शिवाजी महाराज के दरबार में थे।

ये प्रगाढ़ विद्वान् थे और उच्चकोटि के कवि भी। संभाजी को संस्कृत तथा पुराणों को पढ़ाने का कार्य इन्हें दिया गया था। कवि कलश मंत्रविद्या के उत्तम ज्ञाता थे। आधुनिक अन्वेषण से यह सिद्ध हो गया है कि संभाजी को तांत्रिक विद्या से प्रेम था।[४] विशेष मंत्रों द्वारा कुछ लक्ष्यों की सिद्धि

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे (चतुर्थावृत्ति, शक १८७६), पृष्ठ ८०८।
२. मिश्रबंधु विनोद, भाग ३ (द्वितीयावृत्ति), पृष्ठ ३२१।
३. शिवाजी व्हिजिट टु औरंगजेब ऐट आगरा, यदुनाथ सरकार और रघुबीर सिंह (सन् १९६३ ई० , पत्रक्रमांक ३३, पृष्ठ ४४।
४. मराठों का नवीन इतिहास, गो. स. सरदेसाई (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ३७७।

प्राप्त करने की यह पद्धति उस समय विशेष प्रचार में थी। संभवतः पारिवारिक एवम् बाह्य संकटों को पार करने के हेतु संभाजी ने इस दुर्बल मार्ग का अवलंबन किया होगा और कवि कलश को अपने परामर्शदाता के रूप में स्वीकार किया होगा। कवि कलश की जो सरकारी मुद्रा उपलब्ध हुई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि संभाजी ने कवि कलश को यह महत्वपूर्ण स्थान क्यों दिया था। मुद्रा में अंकित श्लोक इस प्रकार है—

विधिरर्थि मनीषाणामवधिनयवर्त्मनां।
शेवधिः सर्वसिद्धीनां मुद्रा कलश हस्तगा॥[1]

इसका अर्थ है कि कलश के हाथ में अंकित यह मुद्रा दीनजनों की इच्छाओं को पूर्ण करती है, मनीषियों को शुभ अवसर प्रदान करती है और समस्त सफल योजनाओं का उद्गम स्थान है। इस मुद्रा के अतिरिक्त समकालीन अनेक पत्र उपलब्ध हुए हैं जिनमें कलश के प्रति प्रयुक्त ऐसे ही वाक्यांश हैं, जिनका धार्मिक महत्व है और जो राज्यव्यवहार के लिये भी उपयुक्त हैं। 'आज्ञापत्र धर्माभिमान, कर्मकांडपरायण, दैवतैकनिष्ठाग्राहिताभिमान, सत्यसंध, समस्त राजकार्य धुरंधुर, विश्वासनिधि, कविकलश छंदोगामात्य।'[2] इन उपाधियों से कवि कलश की योग्यता की कल्पना की जा सकती है।

संभाजी ने कवि कलश के लिये एक नवीन प्रधान पद निर्माण किया जिसका नाम 'छंदोगामात्य' अर्थात् वेदशास्त्र में पारंगत अमात्य था। इससे अनुमान होता है कि अथर्ववेदांतर्गत मांत्रिक विद्या के ज्ञाता कवि कलश को अपने उद्देश्य की सिद्धि के हेतु शंभुराज ने विशेष सम्मान के साथ पास रखा होगा। शंभुराज का भी इस बातपर विश्वास दिखाई देता है कि तांत्रिक विद्या के अनुष्ठानादि प्रयोग से दुःसाध्य बातें भी साध्य हो जाती हैं। संभाजी महाराज की मुद्रा भी विशेष द्रष्टव्य है—

श्रीशंभोः शिवजातस्य मुद्राद्योरिव राजते।
यदंकसेविनो लेखा वर्तते कस्य नोपरि॥[3]

अर्थात् शिवाजी के पुत्र संभाजी की यह मुद्रा आकाश के समान सुशोभित है। इस शंभुराज का अंकाश्रय करनेवालों का प्रभुत्व किन पर

---

१. उग्र प्रकृति संभाजी, गो. स. सरदेसाई, सन् १६३५, पृष्ठ ३१।

२. मराठों का नवीन इतिहास, गो. स. सरदेसाई (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ३७८।

३. उग्र प्रकृति संभाजी, गो. स. सरदेसाई (सन् १६३५), पृष्ठ ३२।

नहीं होगा ? संभाजी तथा कवि कलश की मुद्राओं से सेवक सेव्य के संबंध स्पष्ट हो जाते हैं और उनका राजनीतिक दृष्टिकोण भी ज्ञात हो जाता है।

मूल नाम :

कवि कलश के पूर्ववृत्त के संबंध में प्रामाणिक प्रमाणों के अभाव में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। अधिकांश विद्वान् 'कवि कलश' को कवि की श्रेष्ठ उपाधि मानने के पक्ष में हैं, अतः इनके मूल नाम के संबंध में स्वभावतः खोज रही। विद्वानों में इनके संबंध में एकमत नहीं है। रियासतकार सरदेसाईजी ने[१] कविकलश का मूल नाम केशव भट्ट माना और अपनी पुष्टि के लिये प्राचीन बखर में प्राप्त एक प्रमाण उद्धृत किया। बखर में लिखा है कि केशव भट्ट कवजी नामक उत्तर भारतीय ब्राह्मण मांत्रिक था, जिसने संभाजी को अपने वश में कर लिया था और उसी की सलाह के अनुसार संभाजी कार्य करते थे।[२] श्रीमान् तामसकरजी ने इनका मूलनाम उमाजी पंडित माना है जिनको संभाजी को पढ़ाने के लिये नियुक्त किया गया था।[३] इतिहासाचार्य श्रीराजवाडेजी 'कवि कलश' को उपाधि न मानते हुए कवि का नाम ही मानते हैं और पुष्टि में बिल्हणकृत 'विक्रमांकदेवचरित' में उल्लिखित राजकलश, ज्येष्ठकलश, मुक्तिकलश आदि का आधार देते हुए कविकलश को कश्मीरी ब्राह्मण मानते हैं।[४] स्वर्गीय डा० पी० के० गोडेजी ने संभाजी के आश्रित हरि कवि के तीन संस्कृत ग्रंथों को[५] प्रकाश में लाने का श्रेय पाया है जिनमें से 'शंभुविलास' में यह स्पष्ट लिखा है कि शंभुराज के प्रधानमंत्री तथा विद्वान् कवि कृष्ण पंडित की आज्ञा से हरिकवि ने ग्रंथ निर्माण किया था। इसी के आधार पर डा० गोडेजी ने कविकलश का मूलनाम कृष्ण पंडित मान लिया है।[६]

उपर्युक्त सभी अनुमान किसी ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं दिखाई देते। तत्कालीन ग्रंथों तथा पत्रों में 'कविकलश' नाम का ही सर्वत्र उल्लेख

---

१. उग्र प्रकृति संभाजी, गो० स० सरदेसाई (सन् १९२९ ई०), पृ० २१।
२. मराठा दफ्तर रूमाल २, पृ० ७०।
३. माधुरी पत्रिका, जून १९४१, पृ० ५१८।
४. ऐतिहासिक प्रस्तावना, भा० १, वि० का० राजवाडे (सन् १९२८ ई०), पृ० ४४६।
५. शंभुराज चरितम्, हैहयेंद्र काव्य और उसकी टीका शंभुविलासिका, हरि कविकृत तीन ग्रंथ भांडारकर इन्सिटट्यूट, पूना में सुरक्षित हैं।
६. ॲनालज आव् दि भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टि० पूना, ग्रंथ १६, भाग ३-४, पृष्ठ २६२-२६३।

पाया जाता है, उनके मूल नाम का उल्लेख कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं आया। जोधपुर के महाराज अजितसिंह के संस्कृत इतिहास 'अजितोदय' और दुर्गादास के पत्रों में भी 'कवि कलश' इसी नाम का उल्लेख है। कविकलश की कविता का जो छंद प्राप्त हुआ है उसमें भी 'कवि कलश' शब्द का प्रयोग किया गया है। आगरा के क़ारावास से बड़ी ही कुशलता से मुक्ति कर लेने के पश्चात् शिवाजी तथा उनके छोटे पुत्र शंभु के प्रवास के संबंध में खफीखाँ ने जो वर्णन किया है उसमें भी बाल्यावस्था में लंबा सफर करने में असमर्थ छोटे पुत्र शंभु को इलाहाबाद में कवि कलश के पास बड़े विश्वास के साथ रखने तथा शिवाजी का पत्र आने पर उसे महाराष्ट्र में ले आने की बात स्पष्टतः लिखी है।[1] इसमें भी खफीखाँ ने कविकलश शब्द का ही प्रयोग किया है। कविकलश की जो मुद्रा है उसमें भी 'कलश' शब्द का प्रयोग है। इन सभी बातों से यह ज्ञात होता है कि 'कलश' ही कवि का नाम होगा और स्वयम् एक उत्तम कवि होने से संभवतः उन्हें 'कविकलश' यह गौरवसूचक उपाधि मिली होगी। अतः जबतक इनके मूलनाम के संबंध में कोई ठोस तथा प्रामाणिक प्रमाण प्राप्त नहीं होते तबतक इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

असाधारण व्यक्तित्व :

कविकलश का व्यक्तित्व असाधारण था। राजनीति तथा साहित्य दोनों परस्पर विरोधपूर्ण लगनेवाली बातों में वे सिद्धहस्त थे। इतिहास की घटनाओं से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि शंभुराज की राजनीति विषयक बातों में इनका कितना महत्वपूर्ण स्थान था। जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह के इतिहास 'अजितोदय' से भी यह ज्ञात होता है कि राजनीति विषयक महत्वपूर्ण बातों में संभाजी का कविकलश पर संपूर्ण विश्वास था और उनकी सलाह के अनुसार ही वे कार्य करते थे। शाहजादा अकबर और दुर्गादास जब संभाजी के आश्रय में पहुँचे तब उन्हें पास रखने या न रखने का संपूर्ण निर्णय कविकलश पर अवलंबित था। उनके कहने पर ही संभाजी ने दोनों को सम्मानपूर्वक पास रख लिया।[2] जंजिरे के षड्यंत्र को इन्हीं ने

---

१. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे (प्रथम सं०), पृष्ठ ४८।

२. 'जब दुर्गादास और शाहजादे अकबर के पहुँचने की खबर राजा शंभु को मिली तो उसने अपने दीवान कविकलश से पूछा कि इन दोनों को, जो आए हैं अपने देश में रखना ठीक है या नहीं। कविकलश ने कहा कि महा-

संभाजी को समझाया और अपनी नियुक्ति करा ली। लेकिन योग्य समय पर इनकी रसद न पहुँचने के कारण दादाजी प्रभु की फजीहत हो गई (सन् १६८२–८५)।[1] संस्कृत तथा हिंदी भाषा पर इनका अच्छा प्रभुत्व था। इन्होंने संस्कृत तथा हिंदी में कई ग्रंथों की रचना की थी।[2] उपलब्ध नवीन प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि संभाजी भी संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता थे। शंभुराज के विलासी होने की बात इतिहासप्रसिद्ध है। अतः यह भी बहुत संभव है कि कविकलश की मंत्रसिद्धि, राजनीति में पटुता, तथा संस्कृत और हिंदी की शृंगारयुक्त कविता करने की क्षमता आदि अनेक बातों के कारण संभाजी इनकी ओर विशेष आकृष्ट हुए होंगे।

काव्य रचनाएँ :

कविकलश के द्वारा संस्कृत तथा हिंदी में ग्रंथ रचे जाने के उल्लेख तो अनेक स्थानों पर मिलते हैं परंतु दुर्भाग्य से इनका कोई ग्रंथ अबतक प्रकाश में नहीं आया है। मिश्रबंधु विनोद ने इनके एक छंद को उद्धृत किया है। छंद की भाषा से यह ज्ञात होता है कि कविकलश हिंदी के बहुत ही अधिकारी कवि थे। अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति इनकी कविता में भी शृंगार-रस प्रधान नायिकाभेद वर्णन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है—

> अंग अरसौंहैं छबि अधरन सौं हैं,
> चढी अलस की भौंहैं धरे आभा रतिरोज की।
> 'सुकवि कलस' तैसे लोचन पगे हैं नेह,
> जिनमै निकाई अरुनोदय सरोज की।

राज एक तो दिल्ली के बादशाह का शाहजादा है और दूसरा अजीतसिंह का उमराव है। सो इनको बहुत आदर सत्कार कर रखना चाहिए। इसमें आपका बड़ा यश होगा। महाराज ने कहा कि तुम अच्छी तरह से विचार कर लो और जो तुमको अच्छा लगे वही करो। कविकलश ने उन्हें बुलाकर झाड़ियों से छिपे एक बड़े मकान में आदर सत्कार से रखा और खानेपीने कपड़े लत्ते का बंदोबस्त करके बहुत सा धनमाल सोना रत्न और घोड़ा आदि दिया। जिससे वे सुख पाकर बहुत समय तक वहाँ रहे।'

—अजितोदय, सर्ग १२, श्लोक २७ और २८।

१. मध्ययुगीन चरित्रकोश, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव (सन् १९३७), पृ० २०१।

२. मराठों का नवीन इतिहास, गो० स० सरदेसाई (सन् १९४९), पृ० ३७७।

आछी छबि छाकि मंद मंद मुसकान लागी,
बिचल बिलोकि तन भूषन के फौज की।
राजे रदमंडली कपोल मंडली मैं,
मानो रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ॥[1]

'कविकलश' तथा 'नृपशंभु' दोनों को हिंदी कविता में बड़ी ही रुचि थी। यह बात खफीखाँ के द्वारा वर्णित एक प्रसंग से अधिक दृढ़ हो जाती है। यह प्रसंग संभाजी महाराज की मृत्यु के समय का है। बादशाह औरंगजेब ने शंभुराज और कविकलश दोनों को कैद किया था। वध करने के पूर्व उन दोनों को अत्यंत अपमानास्पद व्यवहार के साथ रास्तों पर घुमाकर औरंगजेब के दरबार में लाया गया। इनके दरबार में आते ही औरंगजेब सिंहासन से नीचे उतर आया और अल्लाताला की प्रार्थना करने लगा। यह कविकलश ने देख लिया। शरीर के सभी अवयव शृंखला से बंद्ध होने से जीभ और आँखें इनसे ही कुछ किया जा सकता था। अतः संभाजी को औरंगजेब की इस दशा का वर्णन हिंदी कविता के माध्यम से इन्होंने समझाया। इस कविता की केवल प्रथम पंक्ति ही अबतक प्राप्त हुई है। उससे कविकलश का हिंदी भाषा पर प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। यदि इस कविता की अन्य पंक्तियाँ भी मिल जातीं तो अनेक बातें अधिक स्पष्ट हो जातीं। उपलब्ध पंक्ति इस प्रकार है—

तुअ तप तेज निहार के तखत तज्यो अवरंग।[2]

तत्कालीन लोगों की यह धारणा रही कि कविकलश के कारण ही संभाजी की यह दुर्गति अर्थात् वध हुआ। अतः यह संभव है कि कवि कलश के प्रति लोगों के मन में जो असंतोष तथा क्षोभ था उसी से प्रेरित होकर कलश की मृत्यु के पश्चात् लोगों ने कविकलश की कविताओं क्रोधवश नष्ट कर दिया हो। कविकलश का भी संभाजी के साथ ही ११ मार्च, १६८९ के दिन कोरेगाँव के पास अत्यंत हृदयद्रावक रीति से वध किया गया।[3]

इस प्रकार महाराष्ट्र के मराठा राजाओं द्वारा सम्मानित गुरुतुल्य कवियों में हिंदी में काव्यरचना करनेवाले तुकाराम, श्रीसमर्थ रामदास तथा देवनाथ

---

1. मिश्रबंधु विनोद, भा० २ (द्वितीयावृत्ति), पृ० ४४२।
२ नागरी प्रचारणी पत्रिका भा. २ सं. १७६८ पृष्ठ ६७ (मुंशी देवीप्रसाद का लेख)
३. उग्र प्रकृति संभाजी, गो. स. सरदेसाई, पृष्ठ ११।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत थे। महाराष्ट्र में 'संत' शब्द का प्रयोग केवल निर्गुणो-पासक के लिये ही नहीं किया जाता बल्कि सगुणोपासक भक्त के लिये भी किया जाता है। ये तीनों संतकवि मराठीभाषी थे। इन्होंने अपने उपदेशों तथा विचारों को मराठी भाषा के अतिरिक्त हिंदी में भी व्यक्त किया है। तत्कालीन भारत की अंतरप्रांतीय भाषा हिंदी होने के कारण संभवतः अन्य भाषियों तक अपने विचारों को पहुँचाने के उद्देश्य से इन्होंने हिंदी में काव्य-रचना की होगी। काव्य उनका साध्य नहीं साधन मात्र था। अतः इनकी कविताओं में यद्यपि प्रौढ रचना की भाँति सभी काव्यगुण उपलब्ध नहीं होते फिर भी वे पूर्णतः नीरसमात्र नहीं हैं। हिंदी साहित्य के अंतर्गत इनका भी अपना विशेष स्थान है। कविकलश तो हिंदी और संस्कृत के उत्कृष्ट ज्ञाता थे। स्वयं हिंदीभाषी होने से हिंदी भाषा की प्रकृति से वे पूर्णतः परिचित थे। दुर्भाग्य से इनकी रचनाएँ कालकवलित हो जाने से अप्राप्य हैं फिर भी जो छंद उपलब्ध हैं उनसे इनकी कवित्व शक्ति का परिचय मिल सकता है। यदि इनकी रचनाएँ उपलब्ध हो जायँ तो हिंदी साहित्य के लिये वह गौरव की ही वस्तु होती।

प्रसंगवश दरबार में एवम् संपर्क में आनेवाले कवि :

महाराष्ट्र के मराठा राजाओं द्वारा संमानित कवियों के अतिरिक्त समय समय पर दरबार में आनेवाले तथा पुरस्कार प्राप्त करनेवाले कवियों की संख्या भी कम नहीं है। इन कवियों में भारत की विभिन्न भाषाओं के कवि भी रहते थे। ऐसे कवियों में हिंदी में रचना करनेवाले कवि भी बहुत थे। कभी कभी किसी विशेष प्रसंग पर दरबार के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी कुछ कवियों का भोंसला राजाओं से संपर्क होता था। उस प्रसंग विशेष पर वे संबंधित राजा की प्रशंसा के कुछ छंदों की रचना कर डालते थे। इन कवियों में अनेक कवियों के संबंध में विशेष परिचय भी नहीं मिलता। उपलब्ध सूचनाओं एवम् सामग्री के आधार पर इनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

रघुनाथ व्यास :

छत्रपति शिवाजी महाराज के पिता शहाजी राजा के दरबारी कवि जय-राम ने 'राधामाधव विलास चंपू' नामक ग्रंथ में इस कवि का उल्लेख किया है। शहाजी महाराज की साहित्याभिरुचि तथा दातृत्व के कारण दूरस्थ प्रांतों के अनेक कविगण उनके दरबार में आते रहते थे और कुछ प्रशंसात्मक छंद सुनाकर पुरस्कार प्राप्त करते थे। समस्यापूर्ति की प्रणाली प्राचीन काल से

भारत के राजाओं के दरबारों में प्रचलित थी। समस्या देने तथा उसकी पूर्ति करने में कवि अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार अपनी योग्यता दरबारी कवियों तथा पंडितों में सिद्ध कर देते थे। शहाजी के दरबारी कवियों में जयराम कवि तो संस्कृत, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कन्नड़, हिंदी आदि बारह भाषाओं के ज्ञाता थे। अतः प्रत्येक भाषा के कवि अपनी अपनी भाषा में समस्याएँ कह देते थे जिनकी पूर्ति जयराम कवि उन्हीं कवियों की भाषा में कर देते थे। इसी क्रम में रघुनाथ व्यास कवि ने जयराम को हिंदी भाषा में निम्न समस्या दे दी—

'वैरिन की वधू फिरे वैरन के वन में ।।'

इस समस्या की पूर्ति करते समय जयराम ने शहाजी के अतुलनीय पराक्रम एवम् समकालीन राजाओं पर उनका प्रभाव आदि को लक्ष्य करते हुए कहा—

'माल मकरंद सुव साहेब बलि बंड तुव,
दापहि सो काँपे तहाँ कौन रहे रन में।
राजान के राजा तुव बाजाउ न सह्यो जात,
धाकतु है साहिजहाँ जहाँ तहाँ मन में।
वाजत कर्णाटक भाजत कर्णाटक,
वातन में टांगड़े हाटकसे तन में।
वालक की वाट लखें वार वार वावरीसी,
बैरिन की बधू फिरै बैरन के वन में।'[1]

इनका कविताकाल सन् १६५३ ई० अर्थात् संवत् १७१० के लगभग माना जाता है।[2] शहाजी के समकालीन तथा शाहजहाँ के आश्रित विद्वान् एवं प्रतिभासंपन्न कवि कवींद्राचार्य सरस्वती ने प्रयाग, काशी आदि हिंदुओं के तीर्थक्षेत्रों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करवा कर हिंदू जनता को अपना ऋणी बनाया था और इस ऋण को किसी अंश में चुकाने के हेतु काशीस्थ संस्कृत एवं हिंदी पंडितों एवं कवियों ने उनका गुणगान किया था।[3] उनमें से

---

१. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० वि० का० राजवाड़े (सन १६०१), पृ० २४६ तथा तंजावर की हस्तलिखित प्रति।

२. राधामाधव विलास चंपू, राजवाड़े, प्रस्तावना; पृ० ४ तथा मिश्रबंधु-विनोद, भा० ४, पृ० ३७।

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका (श्रीदशरथ शर्मा का लेख), वर्ष ४७, अंक ३-४, कार्तिक माघ १९९९।

संस्कृत श्लोक 'कवींद्र चंद्रोदय' द्वारा[1] प्रकाशित हो चुके हैं तथा हिंदी के छंद 'कवींद्र चंद्रिका' नामक अप्रकाशित ग्रंथालय में संगृहीत हैं। 'कवींद्र चंद्रिका' की मूल हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत ग्रंथालय में सुरक्षित है। उसकी एक प्रतिलिपि पूना के भांडारकर इंस्टिट्यूट में भी उपलब्ध है। उसमें रघुनाथ नामक कवि के कुछ छंद प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

सील सत्त सागर सुधाकर ते आगर,
सुनागर उजागर गुनी तिगुन गायो है॥
कीरति कौ वरू कैंधों कामना को कामतरु,
कमला को घरन पढतरु पुण्य पायो है।
कहै 'रघुनाथ' पैज पूरन प्रताप ही सौं
ताको ताकौं जस सुच्छ छितिच्छौर छायो है॥
परम उदार सिरदार है कविंद्र एक,
करिके विवेक विधि विधि सौं वनायो है॥[2]

इस छंद के रचयिता रघुनाथ कवि और राधामाधव विलास चंपू में जयराम द्वारा उल्लिखित रघुनाथ कवि दोनों के समकालीन होने तथा उनकी भाषा शैली में साम्य होने से प्रतीत होता है कि संभवतः दोनों कवि अभिन्न थे। इनके संबंध में अन्यत्र कोई जानकारी नहीं मिलती।

रघुनंदन :

यह भी शहाजी महाराज के दरबारी और व्रजभाषा के कवि थे।[3] इन्होंने अपनी मधुर व्रजभाषा में 'नौ द्रुम के नव पल्लव राते' यह विषम समस्या जयराम कवि को पूर्त्यर्थ दे दी थी। जयराम ने भी व्रजभाषा की मधुरिमा के अनुकूल उसी भाषा में कृष्ण के वर्णन द्वारा समस्या की पूर्ति की—

---

१. इसको संपादक डॉ० पाटकर और शर्मा ने पूना ओरिएंटल बुक एजेंसी के द्वारा प्रकाशित किया है।

२. कवींद्र चंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, बीकानेर, छंद २५ वाँ।

३. मिश्रबंधु विनोद, भाग ४, पृ० ३७ तथा रा० मा० वि० चं० राजवाडे, प्रस्तावना, पृ० २५

वारिज लोचन बाल नवोढजु
खेलति ही कहु ख्याल के नाते ॥
कान्ह अचानक आन गही
कर छुवत छातिन्ह काम के माते ॥
चौंकि गई द्रिग चंचल तारनि
कोंल में भौंर मनों फहराते ॥
हात नचावत बातन यौं मनो
नवद्रुम के नव पल्लव राते ॥[१]

इनका कविताकाल भी सन् १६५३ तथा १६५८ ई० के बीच में माना गया है। व्रजभाषा के कवि होते हुए भी समकालीन अन्य व्रजभाषा कवियों ने इनका कहीं उल्लेख नहीं किया। हिंदी साहित्य के इतिहासों में भी इसकी कहीं चर्चा नहीं हुई। सिर्फ 'मिश्रबंधु विनोद'[२] में शहाजी के कुछ दरबारी कवियों का अत्यंत संक्षेप में परिचय दिया गया है जिसका आधार राधामाधव-विलास चंपू ही दिखाई देता है।

ठाकुर :

यह कवि शहाजी महराज के दरबार में रहे होंगे अथवा प्रसंगवश आए होंगे। इनका उल्लेख इनके समकालीन तथा शहाजी के दरबार के कवि जयराम ने किया है। ठाकुर कवि बड़े ही चतुर थे। उन्होंने जयराम से शहाजी राजा के संबंध में यमकयुक्त सवैया करने के लिये कहा था—

ठाकुर चतुर दसों दध के सोहु न कोहु न लेत।
वर्णों साहेब साहे यों अर्थ समस्या देत ॥
चारि चरण जमक करि करो सवय्या एक।
जामे नरपति साहे कों वर्णों कछुक बिसेख ॥[३]

मराठी और हिंदी में यमक अलंकार विषयक कल्पना में भिन्नता होते हुए भी जयराम कवि ने हिंदी साहित्य के अनुसार ही यमकबद्ध सवैया इस प्रकार कहा—

---

१ राधामाधव विलास चंपू, जयराम पिंड्ये, संपा. वि. का. राजवाड़े, पृ. २४७।
२. देखिए – मिश्रबंधु विनोद, भाग ४।
३. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू, संपादक वि. का. राजवाड़े, पृष्ठ २४७।

साहेब तों सम कौन अहें, सूरजु सूरज उपर ताप तपो है।
कौन कहूँ अब तेरे मुकाबल, काबल ते कारभार लयो है।
बांधि जमद्वार साहें ते माजुक, साहे तमाजकु भैंजु भयो है।
साहिजु हि कर लेत फिरंग, फिरंगिन की फिररंग गयो है ॥[1]

इनका कविताकाल लगभग सन् १६५३ ई० के आसपास ही है। शिव सिंह सरोज, मिश्रबंधु विनोद, ग्रियर्सन कृत दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान आदि में सन् १६४३ ई० के आसपास उपस्थित ठाकुर कवि की चर्चा की गई है। हिंदी साहित्य के इतिहास के[2] अंतर्गत स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्लजी ने तीन ठाकुर कवियों का विवरण दिया है जिसमें असनीवाले प्राचीन ठाकुर कवि का कविताकाल संवत् १७०० के आसपास ठहराया है। इन्होंने अपनी रचना कवित्त और सवैया छंदों में ही खास कर लिखी है। इनके फुटकल छंद ही उपलब्ध होते हैं। प्राप्त रचनाओं में इनका सवैया के प्रति प्रेम तथा यमक की आसक्ति देखकर लगता है कि दोनों समकालीन कवि संभवतः एक ही थे। शहाजी महाराज का हिंदीप्रेम सुनकर वे उनके दरबार में गए होंगे।

लछिराम :

शहाजी राजा के दरबारी कवियों में लछिराम नामक हिंदी कवि का उल्लेख भी 'राधामाधव विलास चंपू' में मिलता है। इन्होंने 'फूली तिलोकमों फैली परी है' वाली समस्या जयराम कवि को पूर्ति के लिये दी थी जिसकी पूर्ति जयराम ने निम्नानुसार की—

साहेब तेरी ये कीर्ति पौन सों गौन के अधिकता तें लरी है।
स्याव कुंदा फिरे तिरिभौन मों ता पर शंकर नीति करी है।
पडन लियो पवना सन लीलिवो कीरती बंद त्यौं सीर धरो है।
जोन्ह दुकूल दयो बहुमोल सो फूली तिलोक मों फैली परी है ॥[3]

इनका समय भी लगभग सन् १६५३ ई० के आसपास ही माना जा सकता है। दुर्भाग्य से इस कवि के विषय में अधिक परिचय अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इनकी फुटकल रचनाएँ भी अप्राप्य ही हैं। नागरी-

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २४७।
२. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल (सं. २०१८), पृष्ठ ३२१।
३. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २४८।

प्रचारिणी सभा द्वारा हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का जो संक्षिप्त विवरण प्रकाशित हुआ है, उसमें लछिराम नामक एक कवि की चर्चा है। ये लछिराम कवींद्राचार्य सरस्वती के समकालीन थे जो संवत् १६८७ से १७१४ के लगभग वर्तमान थे। इनके पिता का नाम कृष्णजीवन कल्याण था। इनके नाम पर 'करुणाभरण नाटक' तथा 'योगसुधा निधि' इन दो रचनाओं का उल्लेख मिलता है।[1] ये लछिराम शहाजी के दरबारी कवि लछिराम के समकालीन थे, अतः इस अनुमान को प्रश्रय मिलता है कि ये दोनों कवि अभिन्न होंगे। परंतु जबतक इनके संबंध में इससे अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती तबतक निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है।

श्याम गुसाईं :

हिंदी कवियों के अंतर्गत इनका समावेश भी जयराम कवि ने किया है। गुसाईं शब्द से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कवि संभवतः कोई साधु या भक्त की श्रेणी के थे। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति जयराम को कोई समस्या नहीं दी बल्कि ऐसा अर्थचित्र खींचने को कहा जिससे शहाजी महाराज प्रसन्न हो जायँ। उनकी इच्छा के अनुसार जयराम ने काव्य-चमत्कार दिखाते हुए कहा—

तैं तरवार गही करवारिज च्यारि दिसा अरिराजु भागे।
वैरिवधू वें चढीं गढकूँ सो खडि रह नेन तमों नहिं जागे ॥
चंद बच्यो उन चंदमुखी बिच वंद हि चंद विधुंतुद आगे।
शाह बली तौं बाहुन को जसु राहु ससी बस राहुन लागे ॥[2]

इनका कविताकाल भी सन् १६५३ ई० के आसपास ही माना जाता है। इनके संबंध में अधिक सामग्री प्राप्त न होने से इनका परिचय इससे अधिक नहीं मिल पाता।

ठाकुर शिवदास :

जयराम ने इनको 'कविकोविद' विशेषण से विभूषित किया है। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति अपनी समस्या केवल मौखिक रूप में न कहकर कागज पर लिखी और पूर्ति के लिये जयराम को दी। उत्तर में शहाजी महाराज के भय से शत्रुओं की स्त्रियाँ किस तरह जंगल में भागीं इसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

---

१. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (सं० २०२१ वि०), द्वितीय खंड, पृष्ठ ३४२।

२. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० वि० का० राजवाडे, पृष्ठ २४८

मालमकरंद सुव साहे तेरे वैरन की,
बंदर कै बंद परी कंदरि मो सुंदरी।
कोमल कमल हूत कुद्‌मळिनी भाज भाज,
साज पर सोय गई रोय रोय कै घरी।
वनचर आयसुंगे तालफल जानि कुच,
बिंबफल विभ्रम सों ओंठ मूठ मों धरी।
दारिके बीज जानि दाँत गहे दाँतनिसों,
और और भाँत भाँत की विपति गात कों करी ॥[1]

इनका कविताकाल सन् १६५३ तथा १६५८ ई० के दरमियान ही माना जाता है। शहाजी के पिता मालोजी के लिये भूषण कवि ने 'शिवराज-भूषण' के अंतर्गत 'माल मकरंद' शब्द का प्रयोग किया है। इस छंद में भी मालोजी के लिये उसी शब्द का प्रयोग दिखाई देता है।

नारायण भट्ट :

इनके 'गुरु' इस विशेषण से अनुमान हो जाता है कि ये दरबार के कवियों में ज्येष्ठ तथा पवित्र पुरुष थे। इस अनुमान की पुष्टि शिवसिंह सेंगर[2] तथा डा० ग्रियर्सन[3] के ग्रंथों में चर्चित कवि नारायण भट्ट का परिचय देखकर हो जाती है। दोनों ग्रंथों में लिखा है कि ये कवि व्रजांतर्गत ऊँचगाँव बरसाना के निवासी थे और बहुत ही पवित्र पुरुष थे। इनका जन्मकाल सन् १५७३ ई० है और शहाजी के दरबार में उपस्थित नारायण भट्ट का समय सन् १६५३ ई० है। अतः यदि दोनों को एक ही कवि माना जाय तो जयराम द्वारा उल्लिखित कवि की आयु ८० साल की हो जायगी जो असंभव भी नहीं है। इसलिये उपर्युक्त अनुमान को अधिक पुष्टि मिल जाती है कि ये दरबार में उपस्थित कवियों में जेष्ठ भी होंगे। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति समस्या न देते हुए जयराम से कविता द्वारा इतना ही कहा—

गुरु नारायण भट्ट कहि साहिजहा कहि वात।
साहें जो मेरो होत है तो मे हों वाके हात ॥[4]

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २७८।
२. शिवसिंह सरोज, संख्या ४०६।
३. दि वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान (हिंदी अनुवादक डा० किशोरीलाल गुप्त), संख्या ६६, पृष्ठ १०७।
४. राधामाधव विलास चंपू, संपा. राजवाडे (शके १८४४), पृष्ठ २५०।

जयराम कवि ने भी उनकी इच्छा के अनुकूल शहाजी महाराज तथा शाहजहाँ इन दोनों की प्रबल शक्तियों का सुंदर छंद में वर्णन करते हुए कहा—

जगदीश विरंचिकु पुछत है कहो शिष्टि रची रखे कोन कहाँ।
कर जोरि कहि जयराम विरंच्ये तिरिलोक जहाँ कै तहाँ ॥
ससि वो रवि पूरब पश्चिम लों तुम सोय रहो सिर सिकु महा।
अरु उत्तर दच्छन रच्छन को इत साहजु है उत साहिजहाँ ॥[१]

केहरी :

अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में संगृहीत हस्तलिखित ग्रंथों में केहरी नामक कवि का 'रसिकविलास' ग्रंथ सुरक्षित है। यह नायकनायिका भेद का बड़ा ग्रंथ है जिसकी अभीतक केवल एक ही प्रति उपलब्ध हुई है। इस ग्रंथ के कुल मिलकर सात अध्याय हैं जिसे कवि ने 'प्रभाव' कहा है। छठा प्रभाव विशेषतः बहुत महत्व का है, जिसमें शृंगार रस के विविध अंगों का विशद और मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है जिसकी झाँकी निम्न-लिखित उदाहरण में देखी जा सकती है—

भौंन के कौंन में भीतर भावनु लोग जगैं पर के बहरावै।
ब्यौंत बनै न निकासन कौं खिनु ही खिनु बाहिर भीतर आवै ॥
केहरि ज्यौं ज्यौं उज्यारो चहै तिनु लेकर जोति जिठानी जगावै।
बैनी बनाइ कै सौहे ह्वै आइ कै त्यौं त्यौं तिया हो दिया अचरावै ॥

और इसी ग्रंथ में निम्नलिखित छंद भी पाया जाता है—

सकल देह में केहरी, जैसे मनुपखान।
त्यों भूपनि मनि जानिये, सत्रसालु अतिजान ॥
सत्रसालु ज्यों केहरी, भूपनि को सिरताजु।
त्यों बरनत सब रसिक जन, है सिंगारु रसराजु ॥[२]

इस छंद से ज्ञात होता है कि ये कवि सत्रसाल (छत्रसाल) नामक किसी

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २५०।
२. केहरी कवि कृत रसिकविलास, अ० सं० पु० बीकानेर, हस्तलिखित प्रति, पृ० १२६-१२७।

राजा के आश्रित अथवा समकालीन थे। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने[1] इन्हें बूँदीनरेश राव शत्रुसाल माना है। इसकी पुष्टि करने के लिये दलपत मिश्रकृत 'जसवंत उद्योत' का वह छंद दिया है जिसमें शत्रुसाल नाम के आगे बूँदी राजाओं की 'रावु' पदवी लगाई है और उनके द्वारा केहरी कवि का निहाल होना बताया गया है। वह छंद इस प्रकार है—

अलमपनाह सहिजहाँ नरनाह द्विजु,
सुंदरनि निवाज्यौ मही महा कविराइ कैं।
बिदित बूँदेला इंद्रजीत कौ बढायौ कैसो-
दास सु सिरै गायौ गुनि गनना गनाइ कैं।
रावु सत्रसाल सौं निहाल भयौ सुकवि,
केहरी कनौजिया कविंदु पद पाइ कैं।
गरीब निवाज महाराजा जसराज त्यौं,
तिहारै बाट पर्यौ दलपति कवि आइ कैं॥[2]

डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इस कवि की चर्चा करते हुए लिखा है कि केहरी और दलपति ने अपनी रचनाओं में जिन शत्रुसाल का नामोल्लेख किया है वे बूँदी के राव शत्रुसाल मालूम पड़ते हैं, जिनका शासनकाल संवत् १६८८ से १७१० तक था। शहाजी महाराज के दरबार में केहरी नामक हिंदी कवि का उपस्थितिकाल भी संवत् १७१० ही है।[3] अतः यह अनुमान होता है कि यह केहरी कवि वही थे जो राजस्थान के बूँदी नरेश शत्रुसाल के आश्रय में थे और जिन्होंने रसिकविलास नामक नायकनायिका भेद का उत्तम ग्रंथ लिखा। इस अनुमान की पुष्टि जयराम कवि द्वारा केहरी को दी हुई उपाधि से होती है। जयराम ने अन्य कवियों की भाँति इनका केवल उल्लेख मात्र नहीं किया वरन् उन्हें 'भाखा कानन केहरी' की उपाधि से गौरवान्वित किया है जिससे जान पड़ता है कि ये केहरी कवि तत्कालीन भाखा-कवियों में श्रेष्ठ तथा अधिकारी कवि होंगे। संभवतः अपने आश्रयदाता बूँदी नरेश शत्रुसाल के शासनकाल की समाप्ति पर संवत् १७१० में शहाजी

---

१. राजस्थान का पिंगल साहित्य, डॉ० मोतीलाल मेनारिया (द्वि. सं. दिसंबर १९५८), पृ. १६-१७।
२. जसवंत उद्योत, दलपत मिश्र, पदसंख्या ७१७।
३. मिश्रबंधु विनोद, भाग ४, पृ. ३१।

महाराज की गुणग्राहकता एवम् हिंदी के प्रति रसिकता देखकर ये शहाजी महाराज के दरबार में पहुँचे।

भोंसलों का मूल वंश राजस्थान का सिसौदिया वंश माना जाता है। अनेक समकालीन ग्रंथों से इसकी पुष्टि हो जाती है। स्वयं जयराम ने भी शहाजी को सिसोदिया वंश का ही कहा है। अतः स्वभावतः राजस्थान से कुछ कवि शहाजी के आश्रयार्थ आते होंगे। इस तर्क का समर्थन भी जयराम के राधामाधव विलास चंपू में मिलता है। स्वयम् जयराम ने राजस्थान के चारणों के मुख से, जो शहाजी के दरबार से अपने देश वापस जा रहे थे, शहाजी के दातृत्व तथा शातृत्व की प्रशंसा सुनी और उसे सुनकर ही जयराम कवि शहाजी के दरबार में गए थे।[1]

विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शहाजी महाराज के दरबार में उपस्थित केहरी नामक कवि वही कनौजिया वंश के कवि होंगे जिनको 'कविंदु' नामक उपाधि से विभूषित कर बूँदी नरेश शत्रुसाल ने सम्मानित किया था। 'रसिकविलास' जैसा नायिकाभेद का भारी ग्रंथ देखकर लगता है कि जयराम का दिया हुआ 'भाषा कानन केहरी' विशेषण सार्थ ही था। केहरी कवि की प्रार्थना के अनुसार जयराम ने शहाजी का 'जसधाम' निम्न-लिखित छंद में गाया :

वाडवमो तायो रवि खारे सिंधु पे उजरो,
थें तेरे तेजु तरनिकिं कला उन छूपि है।
तैसे जस लेस हूकि उपमा न सुधा पावे,
वार डारि सुर धुनि ज्यों कामधेनु दुही हैं।
तेरे गुन गनिवे के विधिना विधु ये मेरू,
करि तारा मुकताहल माल मानो गहि है।
साहे गुन जसधाम गम थक्यो अष्टौ जाम,
याते कहे जयराम तेरे सम तू ही है॥[2]

गयंद :

इनका ठीक ठीक वृत्त नहीं मिलता। इनका कविताकाल सन् १६५३

---

१. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू (षष्ठोल्लास), संपादक वि० का० राजवाडे, पृ० २२७।

२. राधामाधव विलास चंपू, वही, पृ० २४८-२४९।

ई०. के आसपास माना जाता है। इनके नाम का उल्लेख सूदन कवि ने 'सुजान चरित्र' में किया है।[1] इनके संबंध में राधामाधव विलास चंपू में केवल इतना ही कहा गया है—

आयो यक पुनि गयंद कवि साहे चढ़ायो घोर।
गँद चढ्यो पुनि घोर पर पर्यो सहर मों सोर॥[2]

इनके संबंध में इससे अधिक जानकारी नहीं मिलती।

सुबार कवि :

ये भी गयंद कवि के समान ही शहाजी के दरबार में पुरस्कार पाने के हेतु पहुँचे थे। इन्होंने शहाजी राजा की उदारता देखकर एक घोड़ा माँग लिया जो शहाजी ने तत्काल दे दिया। इसी प्रसंग का वर्णन जयराम ने निम्नलिखित छंद में कर दिया है--

पुनि आयो यक सुधार कवि नाच कहायौ जैन।
मागत घोरे एक के सो भेरकरी नृप दैन॥[3]

इनका हिंदी साहित्य के इतिहास में अथवा अन्य किसी ग्रंथ में अधिक वृत्त नहीं मिलता।

द्वारकादास :

ये जाति के वैश्य थे। इन्होंने भी सुधार कवि की भाँति शहाजी महाराज से उनका खास घोड़ा पा लिया था। इनका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। जयराम ने इस अश्वदान का प्रसंग निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया—

ता पर थोरे यि (दि) वैस वैस को थाट द्वारकादास।
वाहि दयो नृप सहज ऐसो घोरो खास॥

बलभद्र :

इनका कविताकाल भी उपर्युक्त कवियों की भाँति सन् १६५३ ई० के आसपास ही माना जाता है। इनका वर्णन करते समय जयराम ने 'बड़ा' इस विशेषण का प्रयोग किया है। बलभद्र कवि कुछ दिन शहाजी के साथ रह

---

१. मिश्रबंधु विनोद, भाग ४, पृ० ३६।
२. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २५३।
३. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २५३।
४. राधामाधव विलास चंपू, पृ० २५३।

चुके थे तथा उनको पुरस्कार के रूप में राजा से एक हाथी भी मिला था। इनका वर्णन करते हुए जयराम ने लिखा है —

एक बड़ो बलभद्र कवि रह्यो साहे के साथ।
उहू गज नृप के प्रीति को ले न लगायो हाथ ॥[१]

बलभद्र कवि की समस्या का उत्तर देते समय जयराम कवि ने राजा शहाजी और मीरजुमला के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया है। मीर जुमला जैसे प्रबल सरदार को घमासान युद्ध के उपरांत पराजित कर उसकी जो दुर्दशा शहाजी राजा ने की उससे उनकी प्रसिद्धि अधिक फैली। ऐतिहासिक दृष्टि से इस छंद का महत्त्व है। उस वर्णन की प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

वीर सहस्र असुवार बर मीरजुमिला के संग।
जंग करत रन रंग मों उन्ह्यो पायो भंग॥

× × × ×

बैरिन के अब खैर नहिं यह मैर मालिव साहे रसीदे।
भागन को जुमला अब पाग को पेचक से जानि पेशक सी दे॥[२]

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास के बड़े भाई का नाम भी बलभद्र था परंतु उनका जन्मकाल संवत् १६०० के लगभग होने से दोनों का एक होना संभव नहीं है। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण में केशवदास के पुत्र बलभद्र नामक कवि की चर्चा है। ये क्षत्रिय थे और इनका समय संवत् १६६५ के लगभग था। इनके नाम पर 'वैद्यविद्याविनोद' नामक ग्रंथ का उल्लेख है।[३] हिंदी साहित्य के किसी भी इतिहास में इनका उल्लेख नहीं है। बलभद्र कवि के शहाजी के समकालीन होने से यह संभावना हो जाती है कि शहाजी के दरबार में आनेवाले बलभद्र कवि से ये अभिन्न होंगे। परंतु जबतक दोनों कवियों का अधिक विवरण नहीं प्राप्त होता तबतक निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। सामग्री के अभाव से यह नहीं ज्ञात होता कि बलभद्र नामक हिंदी के 'बड़े' कवि कौन हैं?

---

१. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाड़े, पृ २४४।
२. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २४४।
३. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (संवत २०२१), प्रथम खंड, पृष्ठ ६२८।

सुखलाल :

इनके संबंध में अन्यत्र कहीं अधिक परिचयात्मक सामग्री नहीं मिलती। यह भी राजा शहाजी के दरबार में सन् १६५३ ई० के आसपास थे। बलभद्र कवि के द्वारा वर्णित गुल्ती की चढ़ाई के पश्चात् विजयानगर के रायलु की चढ़ाई का वर्णन करते हुए जंतकल की विजय तथा शहाजी राजा द्वारा रायलु की फौज की दुर्दशा का उत्कृष्ट वर्णन सुखलाल ने किया है—

देखियत नैननिन सोयि वैन बोलतु है,
सुनो साहि मकरंद जंतकल रन की।
बेडर कहावते सो सब ही डरन लागे,
डारत तुरंग पौन पात मानो धन की।
मर्द सुखलाल देखे जर्द मुख भई सब,
गई जो मिलाय डारी फौज दुरजन की ॥[1]

इसके अनंतर भी बहुत सा वर्णन विस्तार से किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्व का है। कविता के छंदों से ज्ञात होता है कि कवि ने वह युद्ध स्वयम् अपनी आँखों से देखा था। इससे शहाजी की प्रबल शक्ति का परिचय हो जाता है। उपर्युक्त छंद में एक विशेष बात यह द्रष्टव्य है कि इन्होंने शहाजी महाराज के लिये 'साहि मकरंद' शब्द का प्रयोग किया है। इसकी अधिक विस्तार से चर्चा चिंतामणि कवि के परिचय में की जायगी।

अल्लीखान :

शहाजी के दरबारी कवियों में अधिकांश हिंदू कवि ही थे। फिर भी अपवादस्वरूप अल्लीखान जैसे यवन गुणीजन भी अपने गुणों के बल पर दरबार में स्थान पाते रहे। जयराम ने इनका वर्णन निम्न पंक्तियों में किया है—

करका तब यह बात परकू बि वहं वीयो प्रकास।
अल्लीखाना गुनिजन वह गायो साहेब पास ॥[2]

इनकी समस्यापूर्ति के लिये जयराम ने अल्लंग गढ़ की चढ़ाई का वर्णन अत्यंत सुंदर शब्दों में किया है—

---

1. जयरामकृत राधामाधव विलास चंपू, संपा. राजवाडे, पृ. २२६।
2. राधामाधव विलास चंपू, पृ. २५१।

चढ़ो साहे दल भारि अल्लंगगड को
हृदय करनाटिको बठत भड़को ॥
हृडबडत गडपाल दडबड हिं जाय
घर कहत दरबार कोढार अको ।
जितहि तित घेरि करि बंद किय बीज
अरि पंछि पुनि गिरिदरिन जात फडको ।
सखत तख्ते सिडी करि तोडि सब
यौरि लागत जबर जंग धडको ॥[1]

कवि के मुसलमान होने से तख्त, जब्र, जग आदि उर्दू शब्दों का प्रयोग स्वाभाविकता से हुआ है । इनका कविताकाल सन् १६५३ ई० के आसपास है । इनके विषय में अन्यत्र सामग्री नहीं मिलती ।

रघुनंद 'रामानुज' :

यह भी शहाजी राजा के दरबार में उपस्थित थे । इनका मूल नाम रघुनंद था और यह काव्य में रामानुज की छाप का प्रयोग करते थे । ये ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे जिनके विषय में जयराम ने बड़े ही प्रशंसोद्गार निकाले हैं । इन्होंने अपने कवित्व से जयराम को इतना प्रभावित किया कि अंत में प्रसन्न होकर जयराम कवि को कहना पड़ा :--

रामको बान है बानि तिहारि कहे जयराम नशरि टरतु हैं ।
मोहि कियो रघुनंद बराबरि सो अब और को और बस्तु है ॥[2]

जयराम की प्रशंसा देखकर जान पड़ता है कि रघुनंद ब्रजभाषा के तत्कालीन प्रसिद्ध तथा प्रतिभावान् कवि होंगे । परंतु हिंदी साहित्य संसार में आजतक यह अज्ञात ही हैं ।

सुबुधीराव :

यह कवि उत्तर भारत के घाटमपुर नामक स्थान के निवासी थे । इनकी हिंदी कविता पर प्रसन्न होकर शहाजी महाराज ने इन्हें कई दिन अपने पास रखा था । इन्होंने विदाई के समय अरिल, सवैया, कवित्त आदि में वर्णन किया है । जयराम ने इन्हें भाट कहा है परंतु भाटों के विवरण में, राजस्थान के

---

१. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २४३ ।
२. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २६० ।

कवियों में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। हिंदी के किसी इतिहास में भी इनका वर्णन उपलब्ध नहीं है। शिवसिंह सेंगर ने[1] सुबुद्धि नामक एक कवि का उल्लेख किया है परंतु समय निर्धारित नहीं किया। डा० ग्रियर्सन ने[2] भी अपने ग्रंथ में एक सुबुद्धि नामक कवि का उल्लेख किया है और उन्हें सन् १६५५ ई० के पूर्व ठहराया है। परंतु इनकी जानकारी नहीं के बराबर ही दी है। यदि उन्हें सन् १६५५ ई० के पूर्व माना जाता है तो संभव है कि शहाजी के आश्रय में रहनेवाले घाटमपुर के सुबुधीराव वही हों। इनके फुटकल छंदों के अतिरिक्त कोई अन्य रचना प्राप्त नहीं हुई है। इन्होंने शहाजी की प्रशंसा में लिखा है—

इंद भयो सब हिंदुन को अरु आमुखमानयो छत्र कियो है।
ज्योहि गोवर्धन कृष्ण धर्यो तर गोकुल वो कुल लोक जियो है॥
साहेखुमान दान कहा विधि कैसें कयो निधि मोल लियो है।
कारनिया को कह्यो करतारने सीसोदिये कुल सीसो दियो है॥[3]

यह सत्य है छत्रपति का पद शहाजी राजा ने यद्यपि धारण नहीं किया था फिर भी जनता उन्हें छत्रपति के रूप में ही देखती थी। कवि का हिंदी भाषा पर अच्छा अधिकार था।

हिंदुस्तानी भाट :

जयराम ने इनका नाम नहीं दिया। केवल 'हिंदुस्तानी भाट' कहकर उनका छंद कहा है। छंद में अतिशयोक्ति दिखाई देने से उसका अभिधार्थ न लेते हुए केवल लक्ष्यार्थ ही लेना योग्य होगा। कवि ने अपने वर्णन में लिखा है कि बर्गी, बक्सर, ठट्ठा, भक्कर, बागलाण, काबूल आदि दूरस्थ प्रांतों के सरदार शहाजी के दरबार में चाहे जो सेवा करते हैं। इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कवि ने कहा है—

बर्गी, बक्सर, ठट्ठा, भड्क्कर, बागुल, काबल भूप बड़े।
साहेब साइजिके दरबार में चौंकि पहरा देत खड़े॥[4]

---

१. शिवसिंह सरोज, कविसंख्या. ९४० ।
२. दी माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान, कविसंख्या ७४४, हिंदी अनुवाद किशोरीलाल गुप्त ।।
३. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २६८।
४. वही पृष्ठ २७१ ।

कवि को संभवतः यही कहना है कि शहाजी के दरबार में तथा सेना में उपर्युक्त सभी प्रांतों के लोगों का सभी स्तरों में समावेश था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात विचारणीय है।

विश्वंभर :

जयराम ने इनको विसंभर भाट कहकर इनकी शहाजी के दरबार में उपस्थित होने की सूचना एक छंद द्वारा दी है। मिश्रबंधुओं ने[1] इनकी चर्चा 'विनोद' में की है। इन्होंने 'भाट' के स्थान पर 'भट्ट' लिखा है जो मूल प्रति में नहीं है। इनका समय संवत् १७१० दिया है जो ठीक ही है। उसके बाद कवि की चर्चा करते हुए लिखा है कि इन्होंने तिलंगना, कलिंग, कर्नाटक आदि की चढ़ाइयों का 'अमृतध्वनि' और कलसा' छंदों में वर्णन किया है। स्वयम् राजवाडेजी ने भी प्रस्तावना के अंतर्गत लगभग यही अभिप्राय व्यक्त किया है। परंतु प्रत्यक्ष रचना में तो जयराम कवि कहते हैं—

सोजू पूर्व तिलक दान जले गयो।
भादो माह बिसंभर स्याग अबहीं लयो ॥
ऐसे और अनंत नरोत्तमऊ पाय के।
हरि हाँ हाँ भाई देसोदेस गये साहेसुजस गायके ॥[2]

इस छंद से स्पष्ट हो जाता है कि जयराम ने विसंभर कवि तथा अन्य श्रेष्ठ गुणीजन नरोत्तमों के अपने अपने देश जाने की बात कही है। अमृतध्वनि तथा कलसा छंद उपर्युक्त छंद के अनंतर हैं जिनमें कर्नाटक, तिलंगना, कलिंग आदि की चढ़ाई का वर्णन है। ये छंद विसंभर के चले जाने पर जयराम कवि ने ही लिखे हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने इन छंदों को जयराम का ही माना है।[3] इनके संबंध में अन्यत्र कहीं जानकारी नहीं मिलती।

लालमनि और घनश्याम :

जयराम ने इन दोनों का एक साथ ही उल्लेख किया है। ये दोनों

---

१. मिश्रबंधु विनोद, भाग ४ (संवत् १९९१ वि०), पृष्ठ ३६।
२. राधामाधव विलास चंपू, जयराम पिंड्ये, संपा० वि० का० राजवाडे, पृष्ठ २७६।
३. भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वि० सं०), पृष्ठ ८६।

उत्तर भारत के निवासी तथा अत्यंत गुणवान् कवि थे। इनका परिचय देते समय जयराम ने निम्नलिखित छंद लिख दिया है—

गायो उत्तर देस को द्वै गुनि अति अभिराम।
नाम एक को लालमनि दूसरो है घनशाम॥
बात अचंभो एक यह जंत्र सजे को ठाट।
चित्रचना के दारि मह चित्र चना के दारि मह॥
चित्रचना के दारि वारन साट लिखि ल्यायो।
जंत्र सज्यो जह ठाट राग मारुत वुरि गायो॥[1]

हिंदी के विद्वान् एवम् सुप्रसिद्ध समीक्षक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने अपने 'भूषण'[2] में इन दोनों के विषय में चर्चा करते हुए कुछ अनुमान दिए हैं। इनमें से 'लालमनि' नामक कवि को उन्होंने हिंदी के रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि चिंतामणि ही माना है क्योंकि चिंतामणि दो नामों (भणिता, छाप) से रचना करते थे—मनिलाल और लालमनि। इसकी अधिक चर्चा चिंतामणि के परिचय में होगी। इसी तरह पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने अनेक तर्क एवंम् प्रमाण प्रस्तुत कर भूषण का वास्तविक नाम 'घनश्याम' मान लिया है। इसके संबंध में भी अधिक चर्चा 'भूषण' के परिचय के समय की जायगी। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण में इन घनश्याम के समकालीन किसी घनश्याम कवि की चर्चा है जो आगरा (राजघाट) के निवासी तथा चतुर्भुज मिश्र के पुत्र थे। ये शिरोमनि मिश्र के शिष्य और किसी कासिम के आश्रित थे।[3] इनके संबंध में अधिक जानकारी नहीं मिलती। इनके नाम पर 'रागमाला' नामक ग्रंथ का उल्लेख है, जिससे अनुमान होता है कि ये स्वयम् संगीत के ज्ञाता होंगे। जयराम कवि ने इनके द्वारा कविता गायन किए जाने का जो वर्णन किया है उससे इस अनुमान को अधिक बल मिलता है कि ये दोनों कवि एक ही होंगे। परंतु सामग्री के अभाव से निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

१. राधामाधव विलास चंपू, जयराम पिंड्ये, संपा० राजवाडे, पृष्ठ २७४।
२. भूषण, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वि० सं०), पृष्ठ ८६।
३. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (संवत् २०२१ विक्रम), प्रथम खंड, पृष्ठ २७४।

श्री गोविंद :

ये शिवाजी महाराज के दरबारी कवि थे। इनके संबंध में अधिक विवरण नहीं प्राप्त होता। इनके केवल दो छंद उपलब्ध हुए हैं। वे इस प्रकार हैं—

भूप शिवराज साहि प्रबल प्रचंड तेज,
तेरो दौरदंड भूम झारत झड़ांका है।
कारे आसमान भासमान को गरब गाडे,
ड़ारे मघवान हूँ के हिय में हड़ाका है॥
कहे श्री गोविंद सब शत्रुन के शोशन पें,
गाजतें गिरत गास गाजसे घड़ाका है।
हौदा काट हाथी काट भूतल बराह काटि,
काटी श्रीकमल पीठ काटती कड़ा का है॥[1]

यही छंद थोड़े अंतर से 'शिवराज शतक' में भी मिलता है—

भूप शिवराज शाहि प्रबल प्रचंड तेग,
तेरो दोर दंड भूमि झारत झड़ाका है।
फारे आसमान भासमान को गरब गारे,
डारे मघवान हू के हिय में हड़ाका है॥
कहे श्री 'गुविंद' सब शत्रुन के शोशन पै,
गाजसें गिरत करी गाज सों घड़ाका है।
हौदा काटि हाथी काटि भूतल बराह काटि,
काटती कमठ पीठ करती कड़ाका है॥[2]

इन दोनों में से 'शिवराज शतक' का छंद ही अधिक पुराना एवं ठीक दिखाई देता है। इस कवि की चर्चा शिवसिंह सेंगर[3] तथा डा० ग्रियर्सन[4] दोनों ने की है। उन्होंने श्री गोविंद कवि का उपस्थितिकाल भी सन् १६७३

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल (१९६१, पृष्ठ १०-११।
२. शिवराज शतक, संपादक श्री गोविंद गिल्लाभाई, सन् १९१६, पृष्ठ ११९-१२०।
३ शिवसिंह सरोज, कविसंख्या ८६३।
दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, कविख्या २११, (हिंदी संस्करण किशोरीलाल गुप्त)।

ई० दिया है और लिखा है कि यह सितारा के शिवराज सुलंकी के दरबार में थे। भूखन त्रिपाठी को भी इन्होंने सितारा के शिवराज सुलंकी के आश्रित कवि माना है। अतः स्पष्ट होता है कि 'सुलंकी' शब्द गलत है। एक तो सतारा में संन् १६७३ ई० के आसपास अथवा अन्य किसी समय भी शिवराज सुलंकी नामक कोई राजा न थे। भूषण के आश्रयदाता शिवराज भोंसले थे न कि शिवराज सुलंकी। फिर भी यह गोविंद कौन है इस बात का अधिक परिचय नहीं होता। इनके छंद देखकर तो अनुमान होता है कि इनका हिंदी भाषा पर अच्छा अधिकार था। छंद का संबोधन एवं वर्तमानकालीन क्रियाएँ देख कर लगता है कि इन्होंने यह छंद शिवाजी के दरबार में तथा उनके सामने ही गाया होगा।

गंगेश :

मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि आप भूषणजी का महाराजा शिवाजी के दरबार में संमानित होना सुनकर उक्त महाराज के दरबार में पहुँचे थे।[1] कवि गंगेश शिवाजी के दरबार में एक प्रमुख कवि थे। इनके कुछ पद मिले हैं—पर हैं सब साधारण श्रेणी के।[2] श्रीभालेराव के परममित्र प्रयागदत्त शुक्लजी से पता लगा कि भालेरावजी के पास गंगेश का एक ग्रंथ भी था। उक्त ग्रंथ की खोज में लेखक स्वयं स्वर्गीय भालेरावजी के निवासस्थान ग्वालेर में गया था। उनके परिवारवालों ने बड़ी आस्था से बिखरी हुई सामग्री में से उक्त ग्रंथ देने का आश्वासन भी दिया था परंतु दुर्भाग्य से वह न मिल सका। स्वर्गीय भालेरावजी ने गंगेश कवि की कविता के कुछ उदाहरण प्रकाशित किए थे[3] जिनमें से कुछ अंश मिश्रबंधु विनोद में भी पाया जाता है, देखिए—

राजमों राज सिवराज महाराज सब,
साजसे भूप मैं आज देखे,
सुरत से भरी दीदार भरि जानकै,
मदन से सर्व सौंदर्य रेखे॥

---

१. मिश्रबंधु विनोद, भा० ४, संवत् १९९१ वि, पृष्ठ ४०।
२. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल, प्रथम सं०, पृष्ठ १०।
३. हिंदी साहित्य के अप्रकाशित परिच्छेद, भा० रा० भालेराव (ना० प्र० प० वर्ष ४७)।

बख्त के तख्त सारूढ़ खुश बख्त,
दिन बख्त के धर्म सत्कर्म साठे,
बीर गंभीर केयुर मणि और के,
हृदय से बंदते सब मराठे ॥[१]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में[२] गंगाधर उपनाम गंगेश नामक कवि का उल्लेख है जो सं० १७२९ अर्थात् सन् १६७२ में उपस्थित थे। संभव है कि समकालीन होने से यही कवि कुछ वर्ष शिवाजी महाराज के पास गए हों। परंतु खोज रिपोर्ट में इनकी इससे अधिक जानकारी नहीं है। उपर्युक्त कविता में कवि की अनुप्रासप्रियता दर्शनीय है। इनके संबंध में हिंदी साहित्य के लगभग सभी इतिहासों में कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं होता।

दत्त कवि :

'शिवराज शतक' में शिवाजी महाराज के आश्रित तथा उनके संपर्क में आए हुए कुछ हिंदी कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें दत्त कवि का निम्नलिखित सवैया भी है—

केतक देश जिते दल के बल,
चाँपि धराधर चूरिकै नाख्यौ।
रूप गुमान हर्यो गुजरात कों,
सूरत के रस चूसिके चाख्यो।
जट्ट की हद लिखी कवि दत्तने,
झूठ नहीं यह सांचिके भाख्यो।
हे रंग तो तो शिवराज महाबलि,
नौ रंग में रंग एक न राख्यो ॥[३]

इनका अधिक वृत्त नहीं मिलता। दत्त कवि के उपर्युक्त छंद पर महा-

---

१. हिंदी साहित्य के अप्रकाशित परिच्छेद, पृष्ठ १०२।
२. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट ३२-६३, २९-१११ ए.बी.।
३. शिवराज शतक (गुजराती) सं. गोविंद गिल्लाभाई (सन् १९१६ ई०) पृ. १२२।

कवि भूषण के एक छंद[1] का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें से कुछ पंक्तियाँ विशेषकर अंतिम पंक्ति, भूषण के छंद में ज्यों की त्यों मिलती है। इसके संबंध में पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने अपने महाकवि भूषण में[2] चर्चा की है, जिसमें उन्होंने दत्त कवि को भूषण के परवर्ती मानकर भूषण के छंद का अपहार करनेवाले के रूप में सिद्ध किया है। 'जट्ट की हद' के आधार पर उन्होंने इन्हें *भरतपुर नरेश के आश्रित भी कहा है। ये भरतपुर नरेश कौन* थे इसका उल्लेख किया नहीं है। इसके लिये कोई ठोस आधार न मिलने से संभवतः उन्होंने अनुमान ही किया होगा।

यदि 'जट्ट की हद' इन शब्दों के आधार पर दत्त कवि को भरतपुर के नरेश का आश्रित मान लिया जाय तो सहज प्रश्न उठता है कि संपूर्ण पद में केवल शिवाजी ही की प्रशंसा कैसे की गई है ? जाटों के संबंध में कुछ कैसे नहीं कहा ? इसके अतिरिक्त भूषण ग्रंथावली में संगृहीत शिवा बावनी के उक्त सवैया छंद में अन्य छंदों के समान 'भूषण' की छाप भी नहीं है। केवल इस छंद के दक्षिण में मिलने से उसके भूषण कृत होने की संभावना श्रीदीक्षित ने व्यक्त की है। जबतक दत्त कवि के और भी छंद नहीं मिलते तबतक किस पर किसका प्रभाव है यह कहना असंभव सा है। यह वर्णन संभवतः सन् १६७० ई० में जब शिवाजी महाराज ने सूरत को दूसरी बार लूटा उस समय का होगा। क्योंकि इस समय वापस आते हुए दिंडोरी नामक स्थान पर मुगलों की अत्यंत विराट सेना के साथ संख्या में बहुत ही कम होनेवाले मराठों ने घनघोर युद्ध कर उनकी दुर्दशा की थी। प्रत्यक्ष शिवाजी और दाऊदखान में दोपहर तक घमासान युद्ध हुआ[3] जिसमें तीन हजार मोगल तथा बहुत ही कम मराठे खेत रहे। कहीं कहीं 'जट्ट' के स्थान पर 'जद्द' भी मिलता है जिसका अर्थ प्रबलता, प्रचंडता होता है। संभव है कि इस युद्ध में मराठों ने जो प्रबलता की सीमा दिखाई उसी को लक्ष्य कर कवि ने 'जद्द की हद' कहा होगा।

---

१. भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सप्तम संस्करण २०१९), पृ. ११८।

२. महाकवि भूषण, भगीरथप्रसाद दीक्षित (प्रथम संस्करण १९५३ ई०), पृ. ४६-४७।

३. शककर्ता शिवाजी, गो. स. सरदेसाई (१९३९ ई), पृ.० १४३।

'जट्ट' के स्थान पर 'जद्द' का पाठ ही अधिक समीचीन लगता है जिससे छंद के अर्थ में बाधा नहीं पहुँचती। यदि 'जद्द' पाठभेद ही उचित माना जाय तो दत्त कवि की उपस्थिति शिवाजी के समय हो सकती है। अब प्रश्न रहा भूषण तथा दत्त कवि के छंदों में प्राप्त भावसाम्य तथा शब्दसाम्य का। जबतक दत्त कवि के अन्य छंद प्राप्त नहीं होते तबतक इसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन ही है। अतः इतना तो अनुमान किया जा सकता है कि दोनों के समकालीन होने से उनका एक दूसरे से प्रभावित होना असंभव नहीं। इसके अतिरिक्त दत्त कवि के नामपर जो छंद मिलता है उसमें 'दत्त' कवि की स्पष्ट छाप है लेकिन भूषण कवि के नाम पर भूषण ग्रंथावली में संगृहीत 'छंद' में 'भूषण' की छाप नहीं मिलती। यह देखकर शंका उठती है कि लगभग सभी छंदों में भूषण ने अपना नाम किसी न किसी रूप में रख दिया है और इस छंद में क्यों नहीं ? यदि इस छंद को दत्त कविकृत माना जाय तो कहा जा सकता है कि समकालीन प्रसिद्ध कवि भूषण का प्रभाव इनपर स्वभावतः रहा होगा। संभवतः इसी कारण से कुछ शब्दसाम्य मिलता है।

सोन कवि :

श्रीगिल्लाभाई ने शिवाजी के संपर्क में आनेवाले सोन कवि का निम्नलिखित कवित्त अपने 'शिवराज शतक' में दिया है—

करत पयान के सरजा घुमान तब,
जात अभिमान हबसान के विलाय कें।
अरब खरब देत गरब शरम छाड़ी,
मुगल गरब सब जात है समाय कें।
बीजापूर विपति के 'सोन' भने भय मानि,
भागे भागे जात सब नारी भभराय के।
दिल्ली के बहादूर दिलेर दल बादल सों,
जाते भजे कानन में आहट को पाय कें॥[1]

इस पद के 'सरजा घुमान' का अर्थ गिल्लाभाई ने सिंहरूपी शिवाजी दिया है। शिवाजी के लिये समकालीन कवियों ने 'सरजा खुमान' शब्द का प्रयोग

---

१. शिवराजशतक, श्री गोविंद गिल्लाभाई (१९१६ ईसवी), पृष्ठ १२०।

किया है। उपर्युक्त पद में वर्णित प्रसंग को देखकर भी इसी की पुष्टि होती है। यह प्रसंग संभवतः उस समय का है जब मुगलों के बड़े सरदार दिलेरखान के अमानुष अत्याचार से विजापुर की जनता को मुक्त करने के हेतु सन् १६७९ ई० में शिवाजी ने दिलेरखान पर आक्रमण किया और मुगलों की सेना को 'त्राहि भगवन्' कर दिया था।[1] संभवतः यह कवि शिवाजी का पराक्रम देखकर उनके दरबार में पहुँचे होंगे और वहीं उन्होंने उपर्युक्त प्रशंसात्मक कवित्त सुनाकर कुछ पुरस्कार भी पाया होगा। इनके संबंध में अन्यत्र जानकारी नहीं मिलती। इनका यह वर्णन इतिहास से पूर्णतः मेल खाता है।

कविराज :

इनके कुछ छंद 'शिवराजशतक में संग्रहीत किए गए हैं। निम्नलिखित कवित्तों से कवि के काव्यसौंदर्य की कल्पना की जा सकती है :—

काहू ने सुधारी काहू वंदर तें पाहुधारी,
पंडव पखारी रखवारी रजवट की।
चढी भुजदंड पर चंचल अकाश खेली,
लागी पर लाग लेन काहू पैं न अटकीं।
खेली दिल्ली बीच और गोलकुंडा विजापुर,
खेलत निहारी मरजाद सिंधु तट की।
कहे 'कविराज' महाराज शिवराज बीर,
तेरी तरवार केधौं नाची नारि नटकी॥[2]

इसी प्रकार दूसरा छंद भी द्रष्टव्य है—

श्री शिवराज धरा पति की यह,
भाँति पराक्रम कांति निहारी।
दंड लियो भुवमंडल में नहि कोउ,
अदंड बच्यो छत धारी।

---

१. शककर्ता शिवाजी, गो. स. सरदेसाई (१९३५ ईसवी), पृष्ठ २०३-२०४।
२. शिवराज शतक, श्री गोविंद गिल्लाभाई (१९१६ ईसवी), पृष्ठ १२१।

दक्षन बैठि 'कहे कविराज',
षुमान सबे हिंदुवान उजारी।
दिल्ली तें गाजिकें गाजिव्हे आयें पैं,
पाजी से पीटे हैं पंच हजारी ॥'[1]

श्रीगिल्लाभाई ने इन्हें कंपिला निवासी शुकदेव (सुखदेव) कवि माना है जो काव्य में 'कविराज' की छाप लिखते थे। इनका कविताकाल शिवसिंह सेंगर[2] तथा डा० ग्रियर्सन[3] ने १७०० ई० के आसपास माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका कविताकाल सं० १७२० से १७६० वि० तक माना है। इनका पूरा नाम सुखदेव मिश्र था। इनके सात ग्रंथों का पता अबतक है—(१) छंद विचार, (२) वृत्त विचार, (३) फाजिल अलि प्रकाश, (४) रसार्णव, (५) शृंगारलता, (६) अध्यात्मप्रकाश, (७) दशरथराय। काशी से विद्याध्ययन करके लौटने पर ये असोथर (जि० फतेपुर) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंडियाखेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे थे। अंत में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सह परिवार दौलतपुर जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंदशास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे।[4]

जयपुर के दफ्तरखाने में प्राप्त समकालीन राजस्थानी पत्र में 'कविराय' नामक कवि का उल्लेख है जिनको शिवाजी द्वारा पुरस्कारस्वरूप हाथी प्राप्त हुए थे। यह पत्र परकालदास ने कल्याणदास को तीन सितंबर १६६६ को लिखा था।[5] कंपिला निवासी कविराज का और पत्र में उल्लिखित कविराय का समय एक ही है। अतः यह अनुमान होता है कि दोनों व्यक्ति एक ही होंगे। 'कविराज' का गद्य में लिखित पत्र में 'कविराय' लिखा जाना सहज स्वाभाविक है। यदि दोनों व्यक्ति एक ही होंगे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. शिवराज शतक, श्री गोविंद गिल्ला भाई, (१९१६), पृ० १२१।
२. शिवसिंह सरोज, कवि संख्या ८३४।
३. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ इंडिया, डा. ग्रियर्सन, कवि सं. २६०।
४. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० २५०–२५१।
५ शिवाजी विजिट टु औरंगजेब ऐट आगरा, सर यदुनाथ सरकार और रघुवीर सिंह, सन् १९६३, पत्र क्र० ६३।

तीन सितंबर १६६६ के कुछ ही दिन पूर्व ये शिवाजी द्वारा पुरस्कृत हुए थे। शिवाजी के आश्रय में लिखा हुआ इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, केवल स्फुट छंद ही प्राप्त होते हैं। बहुत संभव है कि आगरे में शिवाजी ने जिन गुणीजनों को पुरस्कृत किया था उनमें से यह भी एक हों और शिवाजी की प्रशंसा के जो छंद प्राप्त होते हैं उन्हें उसी समय रचा हो। शिवाजी विषयक इनके जो छंद हैं वे प्रौढ़ एवं बड़े ही स्फूर्तिदायक हैं।

अज्ञानदास :

पोवाड़ा महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोकछंद है। उपलब्ध पोवाडों में अज्ञानदास का अफजलवध नामक पोवाडा सबसे प्राचीन दिखाई देता है। अज्ञानदास महाराष्ट्र के अंतर्गत पूना शहर के निवासी थे। जाति से ये गोंधली थे। इनकी रचना में पोवाडा परंपरा का प्रारंभिक स्वरूप दिखाई देता है।[1] इन्हें शिवाजी महाराज का आश्रय था। इनकी रचना स्वयं शिवाजी, उनकी माता जिजाबाई तथा अन्य सरदारों ने प्रत्यक्ष सुनी थी जिसके उपलक्ष में इन्हें एक घोड़ा तथा सोने का 'तोड़ा' नामक एक आभूषण पुरस्कार के रूप में शिवाजी ने दिया था। इसके संबंध में स्वयं अज्ञानदास ही कहते हैं—

म्हणून शिवाजी सरज्यानें, इनाम घोड़ा बक्षीस दिला।
शेर भर सोन्याचा, तोड़ा हालात घातला।[2]

हिंदी मातृभाषा न होते हुए भी इनकी रचनाओं में मराठी के साथ साथ हिंदी छंद भी प्राप्त होते हैं। इन हिंदी छंदों का प्रयोग इन्होंने मुसलमान सरदार के वार्तालाप के प्रसंगों में किया है जो अत्यंत स्वाभाविक हुआ है। शिवाजी महाराज जब अफजल खान से मिलने के लिये प्रतापगढ़ की तलहटी में स्थित सुनिश्चित स्थान पर आते हैं तब उनका अपमान करने के उद्देश्य से अफजल खान 'कुनबी का छोकरा' कहकर शिवाजी का स्वागत करता है। प्रत्युत्तर में शिवाजी ने खान को टका सा जवाब दिया। इस प्रसंग को अज्ञानदास ने हिंदी छंदों में व्यक्त किया है—

अफजल—तू तो कुनबी का छोकरा, सवरत वाच्छाई सदरा।
शिवाजी—तू तरी भटारनी का छोरा, शिवाजी सरज्या पर लाया तोरा।

× × × ×

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे (चतुर्थावृत्ति), पृ० १७२।
२ ऐतिहासिक पोवाड़े- य० न० केलकर (सन् १९२८), पृ० २२।

अब्दुल जाति का भटारी, तुमने करना दुकानदारी।[1]

इनकी हिंदी रचनाएँ साधारण श्रेणी की ही हैं फिर भी उनका हिंदी भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्व है। मराठी मातृभाषा के कवि भी हिंदी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करते थे, जिसकी परंपरा आगे भी प्रचलित रही। इनकी अधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं। इनका कविताकाल मिश्रबंधुओं ने[2] संवत् १७३५ अर्थात् सन् १६७८ ई० माना है जो इनकी रचनाओं में वर्णित घटनाओं को देखकर उचित नहीं जान पड़ता। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुवार दिनांक १०-११-१६५६ ई० में अफजलखान का वध होने के पश्चात् तुरंत ही शिवाजी की माता जिजाबाई ने अज्ञानदास शाहीर को बुलाया और उसी समय उन्होंने उपर्युक्त रचना की थी।[3] अतः इनका कविताकाल १६५६ ई० के आसपास ही मानना उचित है।

तुलसीदास :

अज्ञानदास के समान तुलसीदास भी पोवाडों की रचना करनेवाले शाहीर थे। अज्ञानदास और तुलसीदास दोनों समकालीन थे। इन्हें भी शिवाजी महाराज का आश्रय मिला था। ये पूना में रहते थे। अज्ञानदास की रचना की अपेक्षा इनकी रचनाओं में काव्यगुण अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं। कथानक का प्रसंग, प्रारंभ, वर्णन, संघर्ष, अंत आदि सभी बातें सुचारु रूप से इनकी रचना में पाई जाती हैं।[4] इनकी स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त हुई हैं। सिंहगढ़ की चढ़ाई तथा विजय का वर्णन करते समय मराठी भाषा के साथ प्रसंगानुकूल हिंदी पंक्तियों का भी प्रयोग इन्होंने किया है—

मेरे उदेभान मोंगला।
सिंहगड किल्ला डूब होया।
सलाम सलाम मेरे भाई।
नऊशें पठान काट्या।

---

१. ऐतिहासिक पोवाड़े, वही, पृ० १८-१९।
२. मिश्रबंधु विनोद, भा० ४, पृ० ४२।
३. मराठी रियासत (शककर्ता शिवाजी), गो० स० सरदेसाई (१९२९ ई०), पृ० ७३।
४. महाराष्ट्र सारस्वत, स्व० वि० ल० भावे (चतुर्थावृत्ति), पृ० ७१२।

बाच्छाई का हाथी काट्या ।
सिद्दी हिलाल काट्या ॥[1]

मातृभाषा हिंदी न होते हुए भी हिंदीभाषी सरदार को अपना कथन उसी की टूटी फूटी जबान में बताने का प्रयत्न तुलसीदास ने किया है। इनकी हिंदी भाषा साधारण तथा बोलचाल की भाषा है न कि साहित्यिक।

पाला कवि :

शिवाजी महाराज के एक पराक्रमी सरदार साबूसिंह पवार के यह आश्रित कवि थे। कविता से जान पड़ता है कि अपने आश्रयदाता के साथ वे कभी शिवाजी के संपर्क में अवश्य ही आए होंगे। ये चारण या भाट जाति के थे। सन् १६५७ ई० में शिवाजी महाराज की सेना ने कल्याण के सूबेदार सुलेमान के साथ युद्ध में अतुलनीय पराक्रम दिखाकर उसको पराजित कर भगा दिया था। इस प्रसंग का वर्णन अत्यंत सुंदर रीति से उन्होंने अपने वीर गीत में किया है और अंत में शिवाजी महाराज तथा उनके सरदार साबूसिंह दोनों की प्रशंसा की है। इनकी भाषा में वीररस की अभिव्यक्ति बड़ी ही अच्छी बन पड़ी है। कल्याण के आक्रमण का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का माना जाता है—

चली बावनी फौज सिवराज चालै,
कलेजे मुगल्लान के साल सालै।
दहके दिली पातशा नींद माँ ही,
छितीनाथ सिवराज की फौज आई ॥
कल्यान से दूत ने खब्र दी थी,
चढ़ाई सुबेदार ने अव्व कीधी।
ये बात सिवराज को लागि ऐसो,
पड़ो सोरके गंज में आग जैसी ॥
हुवो हुक्म वीरान मारू बजावो।
सभी शूर सामंत सेना सजावो।

---

1. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केलकर (१९२८ ई०), पृ० ४२ तथा ४६।

महामत्त हाथी पै हौदा कसावो,
चढ़ी वेगि वीरान तुर्या सजावो ॥
× × ×
सिवाजी सावूसिंह की धन्य माता।
पाळा कवि प्रेमचू जस सुनाता ॥[1]

इनके और भी बहुत से फुटकल छंद प्राप्त होते हैं। अपने आश्रयदाता के—पराक्रमी एवं श्रेष्ठ आश्रयदाता शिवाजी के—संपर्क में आकर ही इन्हें शिवाजी के असाधारण व्यक्तित्व के दर्शन हुए होंगे जिसके फलस्वरूप इन्होंने शिवाजी की प्रशस्ति को छंदबद्ध किया है। इनके संबंध में हिंदी इतिहास अबतक मौन ही है। इनके उपर्युक्त छंदों की भाषा तथा उनमें परिलक्षित काव्यगुण देखकर अनुमान होता है कि महाकवि भूषण की भाँति इनके भी कुछ स्वतंत्र ग्रंथ होंगे जो अप्राप्य हैं। यदि वे मिल जायँ तो इस कवि के जीवनचरित पर प्रकाश पड़ जायगा और साथ ही साथ मराठों के इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण जानकारी भी प्राप्त हो सकेगी।

गणेश :

डा० विनयमोहन शर्मा ने हिंदी को मराठी संतों की देन' के अंतर्गत गणेश कवि के शिवाजी के दरबार में होने का उल्लेख किया है।[2] परंतु इसके लिये कोई सामग्री उपलब्ध न होने से निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

गौतम :

डा० विनयमोहन शर्मा ने इनके भी शिवाजी के दरबार में होने की बात का उल्लेख किया है।[3] परंतु दुर्भाग्य से इनके संबंध में भी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती है, इसलिये कुछ कहा नहीं जा सकता।

नीलकंठ :

श्रीअरुणोदय राय ने अपनी भूषण ग्रंथावली की भूमिका में इनकी चर्चा की है। आपके कथनानुसार भूषण तथा मतिराम के सबसे छोटे भाई

---

१. 'विश्वास राऊ' प्रशस्ति, संपा० कृ० गं० कवचाळे (सन् १९४२), पृष्ठ ६, १०, १४, १५।

२. हिंदी को मराठी संतों की देन, डा० विनयमोहन शर्मा, (प्रथम सं०) पृष्ठ ४३।

३. हिंदी को मराठी संतों की देन, वही, पृष्ठ ४३।

जटाशंकर उपनाम नीलकंठ शिवाजी के पुत्र संभाजी के दरबार में रहे थे।[1] इसी में उन्होंने नीलकंठ की स्फुट कविताएँ देखने का भी उल्लेख किया है। श्रीअरुणोदय राय के कथन की पुष्टि 'शिवराज शतक' में संगृहीत 'नीलकंठ' के पद से कुछ सीमा तक होती है—

तनपर भारतीन तनपर भारतीन,
तनपर भारतीन तनपर भार है।
पूजै देवदार तीन पूजै देवदार तीन,
पूजै देवदार तीन पूजै देवदार है।
'नीलकंठ' दारुण 'दिलेलखाँ' तिहारी धाक,
नाँघती न द्वारतें वै नाँघती पहार है।
आँधेर न कर गहे बहिरे न संग रहे,
वार छूटे वार छूटे वार छूटे वार है॥[2]

उक्त पद में दिलेरखाँ की धाक से जनता की जो दारुण स्थिति हुई है उसका वर्णन है। यह इतिहासप्रसिद्ध घटना है कि शिवाजी के पुत्र युवराज संभाजी तथा मोंगलों का प्रबल सरदार दिलेरखाँ सन् १३-१२-१६७८ से २०-११-१६७९ तक साथ रहे। तत्कालीन पारिवारिक या अन्य किसी कारण से उद्विग्न होकर शत्रु पक्ष से मिलने का अविचार संभाजी के द्वारा हुआ था। परंतु शीघ्र ही उनकी आँखें तब खुलीं जब विजापुर की लड़ाई में शिवाजी द्वारा पराजित होकर दिलेरखाँ ने पन्हाला की ओर जाते समय रास्ते में हिंदुओं पर अमानुष अत्याचार करना शुरू किया। हजारों स्त्रियों ने शील की रक्षा करने के लिये छोटे छोटे बच्चों सहित कुओं तथा बावड़ियों में कूदकर आत्महत्याएँ कीं। हिंदुओं को पकड़कर उनकी बिक्री करना तथा धन प्राप्त करना आदि दुष्कृत्य भी किए जाने लगे। भावुक संभाजी के द्वारा यह अत्याचार न देखा गया और वे पश्चात्तापदग्ध होकर अपने घर वापस आए।[3]

---

१. भूषण ग्रंथावली, श्रीअरुणोदय राय द्वारा प्रकाशित (कलकत्ता, सं० १६५७), पृष्ठ ४।
२ शिवराज शतक (गुजराती), श्रीगोविंद गिल्लाभाई (१६१६ ई०), पृष्ठ ६।
३. शककर्ता शिवाजी, गो० स० सरदेसाई, (१६३५ ई० पृष्ठ २०४–२०५।

छंद में वर्णित दिलेरखाँ की दारुणता संभवतः इसी प्रसंग को लक्ष्य कर कही गई है। यदि 'नीलकंठ' कवि संभाजी के आश्रित थे तो उन्होंने यह दृश्य स्वयं अपनी आँखों से देखा होगा। संभव है कि दिलेरखाँ के साथ जब संभाजी रहते थे तब यह कवि भी उनके पास रहे हों। छंद को पढ़कर धारणा होती है कि श्रीअरुणोदय राय के अनुसार नीलकंठ संभाजी के आश्रित हो सकते हैं। अब रही बात भूषण, मतिराम आदि के साथ बंधुत्व की। परंपरा से यह प्रसिद्ध है कि चिंतामणि, मतिराम, भूषण तथा जटाशंकर उपनाम नीलकंठ चारों भाई थे। मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि संभवतः जटाशंकर उपनाम नीलकंठ भूषण, चिंतामणि, मतिराम के सगे भाई न थे।[1] अनेक आलोचक इसी मत की पुष्टि करते हैं। जबतक इनके भाई होने का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता तबतक यह निश्चित करना कठिन है कि ये भूषणादि के सगे भाई थे अथवा नहीं। उपर्युक्त छंद के प्रसंग को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भूषण के समकालीन तथा संभाजी के आश्रय में थे।

डॉ॰ ग्रियर्सन ने नीलकंठ को चिंतामणि त्रिपाठी का भाई मानते हुए उन्हें टिकमापुर, जिला कानपुर के निवासी कहा है। इनके नामपर काव्यनिर्णय तथा सत्कविगिरविलास इन दो ग्रंथों का उल्लेख किया है परंतु साथ ही साथ उनके अप्राप्य होने की बात भी लिखी है।[2] अतः जबतक ग्रंथ प्राप्त नहीं होते तबतक उनके संबंध में कुछ कहना कठिन है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण में इनको जनश्रुति के अनुसार ही चिंतामणि, मतिराम, भूषण का भाई माना है और इनके नामपर 'अमरेशविलास' तथा 'नायिकाभेद' नामक ग्रंथों का उल्लेख भी किया गया है।[3] इनमें से 'अमरेशविलास' की खंडित प्रति और नायिकाभेद के कुछ पत्र ही उपलब्ध हैं। रीवाँनरेश अमरसिंह के लिये संवत् १६९८ वि॰ में 'अमरेशविलास' लिखा गया है। इसका रचनाकाल कवि ने इस प्रकार दिया है—

---

१. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, (सं॰ १९९८), पृष्ठ ३६३।

२. डॉ॰ ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास—अनु॰ डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १४८।

३. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, प्रथम खंड (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २१२।

बरष सै सोरह ठानवे सातै सावन मास।
'नीलकंठ' कवि उच्चरिय श्रीअमरेश विलास ॥[1]

छत्रपति संभाजी के आश्रय में नीलकंठ द्वारा लिखित कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं होता। संभव है कि इन्होंने संभाजी के आश्रय में कुछ रचना की भी हो परंतु संभाजी के वध के पश्चात् उनके द्वारा आश्रयप्राप्त अन्य कवियों की भाँति इनकी भी रचनाएँ नष्ट की गई होंगी। इनके संबंध में अधिकृत वृत्त उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध सामग्री से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका कविताकाल सन् १६४१ ई० से सन् १६७९ ई० तक था। नीलकंठ कवि की यमक अलंकार के प्रति आसक्ति देखकर महाकवि भूषण की यमक-परक कविता का स्मरण होता है। भूषण का प्रभाव इनकी रचना पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। नीलकंठ के उपर्युक्त छंद में प्रयुक्त वर्णयोजना तथा यमक अलंकार निम्नलिखित भूषण कृत छंद से तुलनीय है—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं ॥[2]

महेसदास :

इनके संबंध में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। इतिहासाचार्य राजवाडेजी ने ऐतिहासिक प्रस्तावना के अंतर्गत इनके संबंध में लिखा है कि 'शिवाजी महाराज के पास जिस तरह भूषण कवि थे उसी तरह संभाजी के पास महेसदास नामक कवि थे।[3] मुसलमानों की जबरदस्ती से जिन हिंदुओं को अनिच्छा से मुसलमान किया गया था, उन्हें शुद्धकर पुनः हिंदू समाज में

---

१. नीलकंठ कृत अमरेश विलास की हस्तलिखित प्रति से।
२. भूषण ग्रंथावली, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०) पृष्ठ २११।
३. ऐतिहासिक प्रस्तावना, वि० का० राजवाड़े, (सन् १९२८) पृ० ४४८।

संमिलित करने के लिये छत्रपति संभाजी ने अनेक 'आज्ञाएँ' घोषित की थीं। उनमें से एक संमतपत्र श्री वा० सी० बेंद्रेजी ने प्रकाशित किया है जिसपर तत्कालीन प्रसिद्ध पंडितों तथा अन्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर हैं। उन हस्ताक्षरों में कविकलश, केशव पंडित, रघुनाथ अमात्य आदि २३ व्यक्तियों का उल्लेख है जिनमें तीसरा ही नाम 'कविराज महेसदास' लिखा है।[1] इससे यह जान पड़ता है कि वे भूषण की भाँति छत्रपति संभाजी के राजकवि रहे होंगे। दुर्भाग्य से इनके संबंध में न कोई अधिक जानकारी प्राप्त होती है और न इनके कुछ छंद ही। हिंदी के प्रसिद्ध कवि बीरबल ब्रह्म अथवा कविराय महेसदास की छाप अपने काव्य में लिखते थे परंतु उनके संभाजी के समकालीन न होने से दोनों का एक होना संभव नहीं है। अतः ये महेसदास कोई अन्य ही कवि होंगे जिनका कविताकाल लगभग सन् १६८६ ई० के आसपास होगा। क्योंकि जिस पत्र पर उनका हस्ताक्षर है वह दि० १६ मार्च १६८६ का है। यदि इनके संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त होगी तो हिंदी साहित्य के रसिकों के लिये वह हर्ष का विषय होगा और इतिहासकारों के लिये तथ्य का।

मतिराम :

हिंदी साहित्य के रीतिकालीन सुप्रसिद्ध कवि मतिराम के शिवाजी विषयक कुछ स्फुट छंद उपलब्ध हुए हैं जिनमें से निम्नलिखित छंद विशेष विचारणीय हैं—

मोहमद छाके बिरचे ते बर बाँके ऐसे,
बकसे सिवा के कविराज लिए जात हैं।
धावत धरनि धराधर धुकि धक्कन सों,
चिक्करत जिन्हें देखि दिग्गज परात हैं।
तामसी तरुन तामरस तोरि 'मतिराम',
गगन की गंगा में करत उतपात हैं।
मंद गति सिंधुर मदंध में बिलंदु बिंदु,
ज्ञान अरविंद कंद चंदहि चबात हैं ॥१॥
बान अरजुन को बखानै 'मतिराम' कवि,
गदा भीमसेन की सदा ही जस काज की।

१. छत्रपति संभाजी महाराज, वा० सी० बेंद्रे, (१९६० ई०), पृ० २२६।

वासव को बज्र वासुदेव जू को चक्र,
बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की।
दंड दंडधर को अदंडन के दंडिबे को,
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की।
संभु को त्रिसूल, संभुसिस्य को कुठार,
संभुसुत की सकति, समसेर सिवराज की ॥२॥[1]

इन छंदों की मतिराम के छंदों से तुलना करने पर यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि भाषा शैली, गुण आदि की दृष्टि से ये उनके ही प्रतीत होते हैं। प्रथम छंद भाऊसिंह और ज्ञानचंद के दानवर्णन से किसी भी प्रकार दूर नहीं है। इसमें व्यवहृत शब्दावली तथा भाव वैसे ही हैं जैसे 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' के अंतर्गत हाथियों के वर्णन में मिलते हैं। द्वितीय छंद में भूषण की शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है जो इस बात का द्योतक है कि मतिराम शिवाजी के दरबारी कवि भूषण के संपर्क में अवश्य आए होंगे।

इन छंदों का अस्तित्व अपने आप में सर्वथा स्वतंत्र है, अतएव ये किसी भी प्रकार से इस कल्पना को आश्रय नहीं देते कि मतिराम ने शिवाजी के आश्रय में ग्रंथों की रचना की थी और ये उनके अंश हैं। जहाँतक इनके रचनाकाल का प्रश्न है, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि किस संवत् में इनकी रचना हुई होगी। छंदों की वर्तमानकालीन क्रियाएँ इस बात की द्योतक हैं कि मतिराम ने शिवाजी के दरबार में जाकर स्वयम् इनका पाठ किया होगा। अतः इनकी रचना सन् १६८० ई० के पूर्व ही हुई होगी।[2]

मतिराम के विशेषज्ञ आलोचक पं० कृष्णबिहारी मिश्र[3], डा० महेंद्रकुमार[4], डा० त्रिभुवन सिंह[5] आदि इन छंदों को प्रसिद्ध कवि मतिराम का ही

---

१. माधुरी पत्रिका, ६ जुलाई, १९२४, पृ० ७४१ तथा मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, (सं० १९९१), पृ० २२५-२२६।
२. मतिराम कवि और आचार्य, डा० महेंद्रकुमार, सन् १९६० ई०), पृष्ठ ७० ।
३. मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, (संवत् १९९१), पृष्ठ २२१।
४. मतिराम कवि और आचार्य, डा० महेंद्रकुमार, (१९६० ई०), पृष्ठ ७०।
५. महाकवि मतिराम, डा० त्रिभुवन सिंह, (संवत् २०१७), पृष्ठ १२२।

मानते हैं तथा उनका शिवाजी के आश्रय में अथवा दरबार में जाना स्वीकार करते हैं। मतिराम पर उपलब्ध लगभग सभी ग्रंथों में फूलमंजरी, रसराज, ललितललाम, सतसई तथा अलंकारपंचाशिका, छंदसार (पिंगल) संग्रह या वृत्तकौमुदी, साहित्यसार और लक्षणशृंगार इन प्रमुख ग्रंथों के निर्माता सुप्रसिद्ध कवि मतिराम को माना है। परंतु हाल ही में मतिराम विषयक उपलब्ध अद्यावत् सभी सामग्रियों का अंतर्बाह्य आलोडनकर हिंदी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डा० भगीरथ मिश्र ने 'मतिराम नामधारी दो कवि' लेख में केवल फूलमंजरी, रसराज, ललितललाम तथा सतसई इन्हीं ग्रंथों को सुप्रसिद्ध कवि मतिराम का ग्रंथ मान लिया हैं। उनकी दृष्टि में शेष रचनाओं के रचयिता कोई दूसरे मतिराम होंगे जिन्हें पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने अपने लेख तथा 'भूषण विमर्श' नामक ग्रंथ में वत्सगोत्री तथा बनपुर निवासी माना है। अपने मत की पुष्टि के लिये डा० भगीरथ मिश्र ने निम्नलिखित प्रमाण दिए हैं।[1]

(१) मतिराम का जन्म समय सं० १६६० के लगभग आता है और वृत्तकौमुदी की रचना उन्होंने संवत् १७५८ में की और कुछ लोगों का विचार है कि साहित्यसार आदि रचनाएँ और भी बाद में हुईं। एक ही व्यक्ति के सभी ग्रंथ मानने पर वृत्तकौमुदी की रचना ९८ वर्ष की आयु में और अन्य ग्रंथों की रचना उसके भी बाद ठहरती है। इस अवस्था में मतिराम का श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा स्वरूपसिंह बुंदेला के आश्रय में जाना और छंदसारसंग्रह या वृत्तकौमुदी की रचना करना अधिक संगत नहीं जान पड़ता।

(२) दोनों मतिरामों के वंशपरिचय भिन्न भिन्न हैं और दोनों का संबंध भिन्न गोत्रों के भिन्न भिन्न व्यक्तियों से है।

(३) दोनों मतिरामों के समयों में थोड़ी ही भिन्नता नहीं, बरन् दोनों का कार्यक्षेत्र भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में रहा। मतिराम का आगरा, बूँदी आदि तथा दूसरे मतिराम का पहाड़ी क्षेत्र, कुमायूँ, गढ़वाल आदि था।

(४) दोनों की भाषा शैली में भी भिन्नता परिलक्षित होती है। जहाँ रसराज और ललितललाम के रचयिता मतिराम की भाषा समर्थ, विदग्ध,

---

१. कला, साहित्य और समीक्षा, डा० भगीरथ मिश्र, (सन् १९६३ ई०), पृष्ठ २६०–२६१।

अलंकार एवम् भावव्यंजना की अद्भुत क्षमता से संपन्न; ऐतिहासिक संदर्भ संयुक्त तथा छंद प्रवाहपूर्ण, सुंदर, मोहक गतिवाले हैं, वहाँ वृत्तकौमुदीकार की भाषा सामान्य, छंद शिथिल तथा शैली अभिधात्मक है।

(५) रसराज के प्रणेता मतिराम ने न कहीं किसी ग्रंथ में अपना परिचय दिया है और न रचनाकाल ही, क्योंकि वे स्वयम् अति प्रसिद्ध व्यक्ति थे और उनके ग्रंथ भी अति विख्यात थे। किसी भी दरबार में मतिराम जैसे कवि का जाना उसकी परम शोभा ही थी। अतः उनके अपने परिचय की आवश्यकता नहीं पड़ी। परंतु वृत्तकौमुदीकार की शैली ऐसी है जिसमें रचनाकाल भी दिया हुआ है। अतः दोनों व्यक्तियों की पद्धतियाँ अलग अलग हैं।

(६) यदि अलंकारपंचाशिका और वृत्तकौमुदी या छंदसारसंग्रह ग्रंथ बाद में प्रसिद्ध मतिराम द्वारा अधिक परिपक्वावस्था में लिखे गए होते तो वे निश्चय ही वैचारिक और भाषा संबंधी अधिक प्रौढ़ता का द्योतन करते। यह हो सकता है कि उनमें कवित्व की मात्रा कम हो जाती, पर उनमें अधिक संदर्भगर्भता होनी चाहिए, परंतु ऐसा नहीं है।

डा० मिश्र का उपर्युक्त विवेचन स्वतः इतना सुस्पष्ट एवम् तर्कपूर्ण है कि जिसे पढ़कर हिंदी साहित्य के विशेषतः रीतिकालीन युग के सुप्रसिद्ध आलोचक एवम् ज्येष्ठ विद्वान् पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी जैसे व्यक्ति ने भी इस नई दृष्टि का प्रसन्नता से स्वागत किया। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शिवाजी की प्रशस्ति में प्राप्त छंदों की भाषा शैली सुप्रसिद्ध कवि मतिराम के समान ही समर्थ, संदर्भसंयुक्त प्रवाहमयी दिखाई देती है। उन छंदों पर 'ललित ललाम' की शैली का प्रभाव विशेषतः दृष्टिगोचर होता है।

मतिराम का जन्म संभवतः संवत् १६६० अर्थात् सन् १६०३ ई० के लगभग हुआ था और स्वर्गवास संवत् १७५० अर्थात् सन् १६९३ ई० के आसपास हुआ था।[१] उत्तरप्रदेश के कानपुर जिले में स्थित टिकमापुर अर्थात् त्रिविक्रमपुर के ये निवासी थे। प्रसिद्ध आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी और भूषण त्रिपाठी इनके भाई थे। इसका उल्लेख वंशभास्कर एवम् तजकिरए सर्व आजाद में भी मिलता है। ये काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि मतिराम महाराजा शंभुनाथ के यहाँ

---

१. मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, (सं० १९९१), पृष्ठ २२५।

भी रहे और इन्हीं के नाम से आपने 'छंदसार पिंगल' नामक ग्रंथ रचा। यह महाराज कविता में बड़े पटु थे। काव्य में यह अपना नाम 'नृपशंभु' रखते थे।[१] उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये 'नृपशंभु' और कोई न होकर शिवाजी के पुत्र संभाजी ही थे। इसका विस्तृत विवेचन 'नृपशंभु' के परिचय में दिया जायगा।

पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने[२] वृत्तकौमुदी को ही उक्त छंदसार-पिंगल माना है क्योंकि वृत्त कौमुदी के अंत में छंदसार संग्रह दिया है। परंतु डा० त्रिभुवन सिंह ने[३] इस कथन का विरोध करते हुए अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि दोनों एक नहीं हो सकते। संभव है कि मिश्रबंधुओं ने जिस 'छंदसारपिंगल' के कुछ जीर्ण पृष्ठों के आधार पर अपना कथन किया वह ग्रंथ वृत्तकौमुदी से सर्वथा भिन्न हो जो अप्राप्य है। जबतक 'छंदसारपिंगल' की मूल प्रति प्राप्त नहीं होती तबतक मिश्रबंधु का कथन पूर्णतः असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके कथन की पुष्टि में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। संभाजी महाराज स्वयम् एक उत्तम कवि थे जो शृंगार रस की कविता में विशेष रुचि रखते थे। उनके द्वारा रचित हिंदी काव्य को देखकर उनकी रुचि का परिचय हो सकता है। अतः यह असंभव भी नहीं जान पड़ता कि मतिराम जैसे रससिद्ध कवि उनके यहाँ हों। मतिराम का स्वर्गवास सन् १६६३ ई० के आसपास माना जाता है और संभाजी का वध सन् १६८९ ई० में हुआ; अतः यह तो सिद्ध है कि दोनों समकालीन थे। दोनों का काल-साम्य तथा काव्यगत विषयसाम्य देखकर अनुमान होता है कि मतिराम 'नृपशंभु' के यहाँ रहे होंगे। संभव है कि शिवाजी महाराज के दरबार में जब मतिराम ने कुछ छंदों का पाठ किया होगा उसी समय इनका और युवराज शंभुजी का परिचय हुआ होगा जो कालांतर में दृढ़ होता गया। दुर्भाग्य से 'छंदसारपिंगल' ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। दक्षिण के लगभग सभी ग्रंथालयों में जो इनेगिने हिंदी ग्रंथ हैं उनमें मतिराम के रसराज, ललितललाम तथा सतसई अधिकतः सर्वत्र मिलते हैं परंतु 'छंदसारपिंगल' प्राप्त नहीं होता है। अतः उसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु, (सं० १९६८ वि०), पृष्ठ ४३७-४३८।
२. भूषण विमर्श, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, (द्वितीयावृत्ति), पृष्ठ २२।
३. महाकवि मतिराम, डॉ० त्रिभुवन सिंह, (सं० २०१७), पृष्ठ १५४-५५।

ठाकुरसी :

इनके कुछ स्फुट छंद उपलब्ध हैं। शिवाजी महाराज के पराक्रमी सरदार सावूसिंह के नाती बुवाजी, रायाजी तथा केरोजी आदि व्यक्तियों ने भी शिवाजी के राज्य में सरदार का ही काम किया। शिवाजी महाराज के प्रसिद्ध सरदारों में इनकी गणना होती थी।[1] ठाकुरसी कवि पाला कवि के पुत्र थे। अपने पिता के आश्रयदाता के खानदान ही में आश्रय लेकर रहते थे। उपलब्ध छंदों को पढ़कर अनुमान होता है कि ठाकुरसी अपने आश्रय-दाताओं के साथ संभवतः किसी प्रसंगपर संभाजी तथा राजाराम के दरबार में अवश्य ही पहुँचे होंगे अथवा किसी न किसी कारण से उनके संपर्क में आए होंगे। इन्होंने जो फुटकल छंद रचे हैं उनमें संभाजी तथा राजाराम की प्रशस्ति भी है। संभाजी के वध के पश्चात् राजाराम आदि ने औरंगजेब को कैसे तंग कर दिया और मराठा राज्य की किस तरह रक्षा की आदि बातों का विस्तृत वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन छंदों का अत्यंत महत्व है। समकालीन अथवा आश्रित कवि का वर्णन अनेक बार बहुत गुत्थियाँ खोल सकता है। इन के कुछ छंद निम्नानुसार हैं—

संकित थी सारी हिंद या की इस वीरता पै।
धीरता सिवा की याने जब्बर संभारी है।
हाय क्रूर काल करवाल भयो दक्खन को।
स्वर्गगामी संभा कियो करी के सवारी है॥

× × × ×

सबल सहायक और भी, राजाराम बुलाय।
वे भी भड बाँका हता, सुण आये हरपाय॥
नीराजी प्रहलाद औ, रामचंद्र हडमंत,
संकराजी नारायन और परसराम त्र्यंवक॥
घोरपडे संतायजी, धन्नाजी जादव।
राजाराम सहाय हूँ, मिली आये बाँध॥
कवहूँ न तजो पुँवार हट्ट, मरहट्टन सिरताज।
ठाकुरसी कविराज के बूवाजी महाराज॥[2]

---

१ श्रीशिव छत्रपति महाराज, म० रा० चिटणीस, सन् १९२४, पृष्ठ ३१३।
२. विश्वासराऊ प्रशस्ति, संपा० कृ० गं० कवचाले, पृष्ठ २२, २३, ३३।

इनके और भी छंद उपलब्ध हैं। परंतु सभी रचना स्फुट ही है। इनके द्वारा लिखित ग्रंथ का उल्लेख भी नहीं मिलता। इनकी भाषा तथा शैली अच्छी है। इनके वर्णन इतिहास से मेल खाते हैं। इससे अधिक सामग्री इनके संबंध में नहीं प्राप्त होती।

भावसिंग :

पालाजी कवि का जो वंशवृक्ष प्राप्त हुआ है उससे ज्ञात होता है कि ये भाट जाति के थे। इनके वंश में कवियों की परंपरा ही थी। पालाजी कवि के सभी वंशज जो कवि थे, पँवार वंश के आश्रय में थे। अपने आश्रयदाता के साथ जब कभी राजदर्शन पा लेते तब प्रशस्ति के छंद स्वभावतः रचते थे। इन्होंने छत्रपति शाहू की सेना का सुंदर वर्णन किया है—

सीवा के सपूत पूत, लेवें मुजरा भूप भूप,
दक्खन का धीर, बाजी राखी हिंदुवान को।

× × ×

साहु राजा भेटवे को, सभी सेन राजी है,
साहू का दल जोर चढ़े, दक्खन खलबल पड़े।
खुरशान देहली आगरे उछाव करे।
धाक बाजीराव की, रावन में बाजीराव,
फौज साहूराज की, आगोडी मल्हारराव।

× × ×

साहू राजा छत्रपति, चकवे सतारा पति,
कहे कवि भावसिंग, अचल रहे छत्रपाट।[1]

उपर्युक्त छंदों का वर्णन देखकर अनुमान होता है कि भावसिंग कवि अपने आश्रयदाता छत्रपति शाहू महाराज के मुख्य प्रधान पेशवा बाजीराव के साथ उत्तर में गए होंगे जहाँ उन्होंने शाहू की सेना तथा बाजीराव का पराक्रम प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा था। यह इतिहासप्रसिद्ध घटना है कि छत्रपति शाहू महाराज के शासनकाल में पेशवा बाजीराव प्रथम ने अपने असामान्य शौर्य तथा पराक्रम से संपूर्ण भारतवर्ष को थर्रा दिया था। दिल्ली

---

१. विश्वासराऊ प्रशस्ति, कृ० गं० कवचाले, (१९४२), पृष्ठ ४७, ४८, ४९।

तथा आगरा तक उनकी धाक जमी थी। तत्कालीन हिंदू सरदार तथा राजा विपत्ति के समय बाजीराव की सहायता लेकर अपनी रक्षा कर लेते थे। छत्रसाल ने बाजीराव को सांकेतिक काव्य द्वारा[1] गजेंद्रमोक्ष की पौराणिक कथा लिखकर विष्णुस्वरूप बाजीराव से गजस्वरूप छत्रसाल को महंमद बंगश रूपी नक्र से मुक्त करने के लिये जो प्रार्थना की थी वह भी प्रसिद्ध है। अंतिम आशीर्वादात्मक पंक्तियों को देखकर अनुमान को बल मिलता है कि ये कवि छत्रपति शाहू के दरबार में प्रसंगवश गए होंगे। इनका रचनाकाल भी लगभग सन् १७३०–१७४० ई० दरमियान होगा।

निरंजन माधव :

छत्रपति शाहू महाराज के मुख्य प्रधान बाजीराव प्रथम तथा बालाजी बाजीराव अर्थात् नानासाहब पेशवा की कृपा से इन्हें राजाश्रय प्राप्त हुआ था। गुणज्ञ बाजीराव का अपने काव्य में इन्होंने नियमानुसार वर्णन किया है—

> शाहू भूपती चा प्रधान। बाजीराव बल्लाल।
> परम यशस्वी पावन गुण। भूपाल मंडल शिरोमणि॥
> गुणरत्ना चा परीक्षक। स्वयं सद्गुण पूर्ण अशेख।
> तेणें संग्रह केला सम्यक। ज्येष्ठ बंधु सह आमुचा॥[2]

अपने बड़े भाई के साथ बाजीराव प्रथम की कृपा से सतारा में इनके रहने का उल्लेख श्रीभावे ने किया है।[3] अतः यह संभव है कि निरंजन माधव छत्रपति शाहू महाराज के दरबार में अवश्य गए होंगे। ये मराठी के प्रसिद्ध कवि थे। कर्नाटक, तंजावर, श्रीरंगपट्टण आदि स्थानों में ये मराठा राज्य के वकील का काम नाना साहब पेशवा के समय किया करते थे। राजनैतिक कार्यों का गुरुभार होते हुए भी निरंजन माधव विविध शैलियों में काव्यरचना करते रहे। शासनकार्य के निमित्त इन्हें विभिन्न प्रांतों में जाना पड़ा था। श्रीभावे ने लिखा है कि इन्होंने पूरे भारतवर्ष का प्रवास एवम् तीर्थयात्राएँ की थीं। मिश्रबंधुओं[4] ने इन्हें कई भाषाओं के ज्ञाता लिखा

---

१. युगवाणी, विदर्भ साहित्य संघ, नागपुर, अप्रैल १९४२, (मराठी पत्रिका, प्रा० म० श्री० पंडित का लेख)।

२. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप, प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर, (१९६२ ई०), पृष्ठ ६०–६१।

३. महाराष्ट्र सारस्वत, स्व० वि० ल० भावे, (शक १८७६), पृष्ठ ४३९।

४. मिश्रबंधु विनोद, भा० ४, पृ० ४४।

है परंतु यह स्पष्ट नहीं किया कि वे हिंदी भाषा के ज्ञाता थे या नहीं। श्रीयुत् चित्राव शास्त्री ने[1] इसके संबंध में अधिक विस्तार से विवरण देते हुए लिखा है कि ये मराठी, कन्नड, तेलुगु, हिंदी आदि भाषाओं में रचना करते थे। इनकी मराठी रचनाएँ तो पर्याप्त उपलब्ध हैं परंतु हिंदी रचना उपलब्ध नहीं हुई हैं। उनके मराठी काव्य पर हिंदी भाषा का प्रभाव कहीं कहीं परिलक्षित होता है। प्रयाग में जब ये गए थे तब उन्हें जो अनुभव हुआ उसका वर्णन इन्होंने किया है। उसी वर्णन की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

शिवी वेगला शब्द तोंडी असेना।
बुरा कीं भला लोक त्यातें कलेना॥
उणा देति सौदा खरा घेति पैका।
ठकु लोक मोठा प्रयागांत देखा॥[2]

उपर्युक्त छंद में बुरा, भला, सौदा, देखा आदि हिंदी शब्दों का प्रयोग विशेष उल्लेखनीय है। इनका जीवनकाल सन् १७०३–१७६० ई० माना जाता है। सांप्रदाय परिमल, कृष्णानंद सिंधु, चिद्बोध रामायण, ज्ञानेश्वर विजय, सद्वृत्त मुक्तावली, सुभद्रा चंपू आदि मराठी ग्रंथों के साथ अनेक स्फुट रचनाएँ भी इनकी मिलती हैं। इनके काव्य में शब्दप्रभुत्व, मनोहर पद-लालित्य, अर्थगांभीर्य, सुंदर अलंकारयोजना, बहुश्रुतता, अद्भुत, वीर तथा शृंगार रसों का मिश्रण आदि उत्तम गुणों के साथ ही अनुप्रासाधीनता, संस्कृत प्राधान्यता, वृत्तदोष, बुद्धिपक्ष का प्राबल्य तथा भाषाशुद्धि के प्रति औदासीन्य आदि बातें भी दिखाई देती हैं। इनकी मराठी रचनाओं को देखकर अनुमान होता है कि इन्होंने मराठी काव्य ही अधिक लिखा होगा तथा हिंदी या अन्य भाषा में भी फुटकल रचनाएँ की होगी जो अप्राप्य हैं।

हरदेव :

शिवसिंह सेंगरजी ने इन्हें नागपुर के रघुनाथराव के दरबारी कवि मानकर इनका उपस्थितिकाल संवत् १८३० अर्थात् सन् १७७३ ई० लिखा है।[3] डा० ग्रियर्सन ने इनका उपस्थितिकाल सन् १८०० ई० माना है।[4] काशी

---

१. मध्ययुगीन चरित्रकोश, सिद्धेश्वर चित्राव शास्त्री, (१९३७ ई०), पृ० ४६६।
२. महाराष्ट्र सारस्वत, स्व० वि० ल० भावे, (शक १८७६), पृ० ४४३।
३. शिवसिंह सरोज, कवि संख्या ९८६।
४. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, डा० ग्रियर्सन, (हिंदी अनुवाद, डा० किशोरीलाल गुप्त), कवि संख्या ४०५।

नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में इनके संबंध में उपर्युक्त दो ग्रंथों से थोड़ी अधिक जानकारी प्राप्त होती है। उसमें हरदेव कवि का उपस्थिति-काल सन् १८०० ई० ही माना है और नागपुर के रघुनाथराव के दरबार में जाने की बात भी स्वीकार की है। साथ ही इनके द्वारा रचित 'नायिका-लक्षण' नामक शृंगारी ग्रंथ के उपलब्ध होने तथा छतरपुर के हेड एकौंटेंट श्री बाबू जगन्नाथप्रसाद के पास इस ग्रंथ के सुरक्षित होने की बात लिखी है।[1] इस सूचना को पढ़ने के बाद 'नायिकालक्षण' को प्राप्त करने के सभी प्रयत्न लेखक ने किए परंतु ज्ञात हुआ कि उसके संग्रहकर्ता का स्वर्गवास होने से वह ग्रंथ अस्तव्यस्त हो गया है जिसका मिलना असंभव सा है। छतरपुर के ग्रंथालय में भी इसकी प्रति उपलब्ध नहीं है। इनके संबंध में इससे अधिक परिचय अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता है।

डॉ० ग्रियर्सन ने नागपुर के रघुनाथराव का शासनकाल सन् १८१६-१८१८ ई० तक दो वर्षों का दिया है। उन्होंने हिंदी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर के इन्हीं के दरबार में जाने की बात लिखी है और यह भी स्पष्टीकरण किया है कि ये रघुनाथराव सामान्यतया अप्पासाहिब के नाम से प्रसिद्ध थे।[2] इतिहास के अनुसार इन अप्पा साहब का नाम मुधोजी था न कि रघुनाथ। इसके अतिरिक्त अप्पा साहब का यह अल्प शासनकाल शांतिमय भी न था। वह समय अंतर्बाह्य संघर्ष का था। परसोजी भोंसले का संशयास्पद अंत, उनके अभिमानी धर्माजी भोंसले की हत्या, आदि बातों के कारण वातावरण पहले ही क्षुब्ध था, उसपर अंग्रेजों के साथ सीताबर्डी तथा नागपुर के युद्धप्रसंग आदि अशांति निर्माण करनेवाली बातें देखकर यह संभव नहीं लगता कि उनके दरबार में कवियों को आश्रय तथा संमान मिले। ये सभी बातें तब संभव होती हैं जब राज्य में शांति हो तथा शासनकाल भी सुस्थिर हो। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि हरदेव जैसे कवि का वहाँ आश्रय में रहकर 'नायिकालक्षण' लिखना संभव नहीं है।

यदि शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनका कविताकाल सन् १७७३ ई० मान लिया जाय तो उस समय नागपुर के राजा द्वितीय रघुजी थे। संभव है कि ये कवि इन्हीं के आश्रय में रह चुके हों और उन्होंने वहीं 'नायिकालक्षण'

---

१. नागरीप्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट सन् १९२६-२८।

२. नागपूर चा सांस्कृतिक इतिहास, दे० गो० लांडगे, (१९५३ ई०), पृष्ठ ६।

लिखा हो। इनका शासनकाल सन् १७७२-१८१६ ई० तक था।[१] ये महाराज कला के प्रेमी तथा विलासी भी थे। इनका शासनकाल सुस्थिर तथा वैभवसंपन्न था। इन सभी ऐतिहासिक प्रमाणों को पाकर तो अनुमान की अधिक ही पुष्टि होती है। अब रहा प्रश्न रघुजी और रघुनाथ का। साधारणतः मूल नाम रघुनाथ ही रहा होगा जो आगे चलकर हिंदी प्रदेश के प्रभाव से रघूजी अथवा रघोजी हुआ होगा। सुप्रसिद्ध पेशवा रघुनाथराव को भी मराठी प्रभाव से अधिकांश लोग 'राघोबा' कहते थे यह बात भी विचारणीय है।

पद्माकर (संदिग्ध) :

'शिवसिंह सरोज' में हिंदी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर का उपस्थितिकाल संवत् १८३८ माना गया है।[२] डा० ग्रियर्सन ने इनका उपस्थितिकाल सन् १८१५ ई० दिया है और विवरण में लिखा है कि यह बाँदावाले मोहन भट्ट के पुत्र थे। पद्माकर पहले सामान्यतया अप्पासाहिब के नाम से प्रसिद्ध नागपुर के रघुनाथराव (शासनकाल १८१६-१८१८) के दरबार में गए जहाँ इन्हें अपनी कविता के लिये बहुत पुरस्कार मिला।[३] आचार्य रामचंद्र शुक्लजी ने पद्माकर के पिता मोहनलाल भट्ट का नागपुर के उक्त रघुनाथराव के दरबार में जाना स्वीकार किया है और बाद में इनके पुत्र कवि पद्माकर का परिचय देते हुए लिखा है कि इनका जन्म संवत् १८१० अर्थात् सन् १७५३ ई० में बाँदे में हुआ। इन्होंने ८० वर्ष की आयु भोगकर अंत में कानपुर में गंगा तट पर संवत् १८९० अर्थात् सन् १८३३ ई० में शरीर छोड़ा। ये कई स्थानों पर रहे। संवत् १८४९ में ये गोसाईं अनूपगिरी उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे, फिर अवध बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली' नाम की वीर रस की एक पुस्तक लिखी।

संवत् १८५६ अर्थात् सन् १७९९ ई० में ये सितारा के महाराज रघुनाथ राव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पं० प्रयागदत्त शुक्ल, (१९६१ ई०), पृष्ठ ४४।

२. शिवसिंह सरोज, कविसंख्या ४४६।

३. दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, डा० ग्रियर्सन, (हिंदी अनुवाद, डा० किशोरीलाल गुप्त, कवि संख्या ५०६)।

दस गाँव पाए।[१] परवर्ती लगभग सभी इतिहासों में इसी को स्वीकार किया गया है। इस कथन का मूल है पद्माकर की कविताओं में पाई जाने-वाली रघुनाथराव की भूरि भूरि प्रशंसा। उनकी प्रशंसा का निम्न छंद मननीय है—

दाहन तें दूनी तेज तिगुनी त्रिशूलन तें,
चिल्लन तें चौगुनी चलाँक चक्रपाली तें।
कहै पद्माकर महीप रघुनाथ राव,
ऐसी समसेर शेर शत्रुन पै छाली तें॥[२]

उपर्युक्त छंद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होगा कि इस छंद में जिन रघुनाथ की प्रशस्ति है वे 'महीप' हैं न कि पेशवा। प्रथम आचार्य शुक्लजी के कथन पर विचार करना सुविधाजनक होगा। इतिहास से ज्ञात होता है कि वे सितारा के महाराजा कदापि न थे। वे सितारा के छत्रपति रामराजा के पेशवा थे और वह भी नारायणराव पेशवा का वध होने के पश्चात् केवल दो तीन महीने ही। पेशवा के निःस्पृह न्यायाधीश रामशास्त्री प्रभुणे ने बड़ी निर्भीकता से यह सप्रमाण सिद्ध किया कि नारायणराव पेशवा के वध में इन्हीं का हाथ था। क्षुब्ध जनता की आँखों से दूर रहने के उद्देश्य से ही इन तीन महीनों में रघुनाथराव सदैव अभियान पर ही रहे।[३] ऐसी विषम स्थिति में पद्माकर का राघोबा के पास जाना और एक हाथी, एक लाख रुपया तथा दस गाँवों का पाना अत्यंत असंभव लगता है। उक्त छंद में प्रयुक्त 'महीप' विशेषण इस बात का द्योतक है कि ये रघुनाथ कोई राजा ही थे। 'पेशवे दफ्तर'[४] में उपलब्ध सामग्री में भी पद्माकर के उपर्युक्त 'दान' का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पद्माकर जिनके दरबार में जाकर पुरस्कृत हुए थे वे 'महीप रघुनाथराव' प्रसिद्ध

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, संवत् २०१८, पृ० २६३-२६४।
२. युगवाणी (मासिक पत्रिका), नागपुर, अप्रैल १९१२, (प्रा० मा० श्री० पंडित लेख)।
३. हिंदुस्थानचा अभिनव इतिहास वि० सी० चितले, (प्रथम संस्करण), पृ० ३८२।
४. पूना में 'पेशवे दफ्तर' नामक वह स्थान है जहाँ पेशवों के उपलब्ध लगभग सभी कागजपत्र हैं।

राघोबा पेशवा न थे। अब रही बात शिवसिंह सेंगर तथा डॉ० ग्रियर्सन की। उनके कथन के अनुसार सन् १८१६ से १८१८ ई० के शासनकाल के राजा अप्पासाहब ही रघुनाथराव थे जिनके दरबार में पद्माकर पहुँचे थे। परंतु हरदेव कवि के समय लेखक ने यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि शिवसिंह सेंगर तथा डॉ० ग्रियर्सन द्वारा वर्णित अप्पासाहब का नाम मुधोजी था न कि रघुनाथ।

पद्माकर के छंदों में कहीं भी सितारा के महाराजा अथवा नागपुर के राजा आदि का उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः विद्वान् समीक्षकों ने समकालीनत्व तथा छंदों में वर्णित रघुनाथ का पराक्रम एवम् दानशूरता आदि के आधार पर उपर्युक्त अनुमान किए होंगे। ठीक यही बात प्रसिद्ध कवि और आचार्य चिंतामणि के संबंध में भी हुई है जिसकी विस्तृत चर्चा चिंतामणि के परिचय में की गई है। अब विचार आता है कि 'महीप रघुनाथ' कौन थे? बुंदेलखंड के इतिहास में[१] पद्माकर के समकालीन राजा रघुनाथ राव उपनाम अप्पासाहेब का विवरण है जो झाँसी, जालोन तथा सागर के राजा थे। ये सागरवाले रघुनाथ 'महीप' थे और पद्माकर के समकालीन भी। अतः पद्माकर का इनके पास जाना एवं निहाल होना अधिक समीचीन ज्ञात होता है। पुरातत्व एवं इतिहास के पंडित डा० हीरालाल ने भी 'सागर-सरोज' और 'जिला गजेटियर' में लिखा है कि 'पद्माकर सागरवाले रघुनाथ-राव आबासाहब के पास भी रहे थे।'[२] नागपुर के प्रसिद्ध समीक्षक प्रा० भवानीशंकर पंडित[३] तथा प्रयागदत्त शुक्ल[४] भी पद्माकर को सागर के रघुनाथराव के ही आश्रित कवि मानते हैं।

पद्माकर ग्रंथावली के संपादक तथा रीतिकालीन हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने[५] पद्माकर के 'जीवनवृत्त' के अंतर्गत इनके राघोबा के दरबार में जाने तथा पुरस्कार पाने की बात अवश्य

---

१. बुंदेलखंड का इतिहास (प्रथम संस्करण), पं० गोरेलाल तिवारी, पृ० २६०।
२. अंग्रेजी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर का अंश, हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, प्रयागदत्त शुक्ल से उद्धृत, पृ० ६२।
३. युगवाणी, मासिक पत्रिका, अप्रैल १९५२।
४. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, (प्रथम सं०), पं० प्रयागदत्त शुक्ल, पृष्ठ ६२।
५. पद्माकर ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ४३।

लिखी है जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथन का अनुसरण मात्र दिखाई देता है। निश्चित प्रमाण उपलब्ध न होने से ही संभवतः उन्होंने 'कहा जाता है' इन शब्दों के प्रयोग से उस कथन की संदिग्धता भी प्रकट की है। उन्होंने रघुनाथराव की तलवार की प्रशस्ति में लिखित उपर्युक्त छंद को सागर के राजा रघुनाथराव से संबंधित ही स्वीकार किया है। यह भी विचारणीय है कि उन्होंने 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना में जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है उनमें सितारा के रघुनाथराव (राघोबा) की परिगणना नहीं की।[1] अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पद्माकर न तो नागपुर के किसी रघुनाथराव के दरबार में पुरस्कृत हुए न प्रसिद्ध राघोबा पेशवा के ही। इनको पुरस्कृत एवं संमानित करनेवाले महीप रघुनाथराव सागर के राजा ही थे। अतः भोंसला राजाओं के आश्रित अथवा संमानित कवियों में इनकी परिगणना नहीं की जा सकती।

महिपति :

छत्रपति शाहू महाराज के प्रमुख प्रधान बाजीराव प्रथम ने इन्हें पुरस्कार के रूप में भूमि दे दी थी और संमानित भी किया था। इनका जीवनकाल सन् १७१५-१७९० ई० था। ये मराठी के प्रसिद्ध संत चरित्रकार थे। भक्तिविजय, संतलीलामृत, भक्तिलीलामृत तथा संतविजय (अपूर्ण) ये चार संतचरित्र इन्होंने लिखे। इसके अतिरिक्त स्फुट रचनाएँ भी इन्होंने अनेक कीं। इन्होंने नाभादास के हिंदी ग्रंथ 'भक्तमाल' को पढ़कर एक ही ग्रंथ में अनेक संतों के चरित्रलेखन की प्रणाली मराठी में शुरू की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये हिंदी भाषा से भलीभाँति परिचित थे। श्रीसिद्धेश्वर चित्राव शास्त्री ने[2] अपने 'चरित्रकोश' में महिपति नामक एक कवि की चर्चा की है जिन्होंने 'गोपीचंदाख्यान' नामक काव्यग्रंथ हिंदी में लिखा था। परंतु सामग्री के अभाव से वे यह प्रमाणित नहीं कर सके कि प्रसिद्ध चरित्रकार महिपति ही 'गोपीचंदाख्यान' के रचयिता हैं अथवा नहीं। इनका 'गोपीचंदाख्यान' भी अप्राप्य है। अतः जबतक वह ग्रंथ प्राप्त नहीं होता तबतक उसके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। इनके द्वारा रचित निम्नलिखित पद्यांश द्रष्टव्य है —

---

१. पद्माकर ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ७६-८७।

२. मध्ययुगीन चरित्रकोश, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृष्ठ ६१७।

बे परवा मन मौजी राजा आप अपने दील के।
क्या बे कीसी से काम दाम येक गुलाम गुरू घर के ॥धृ०॥
नहीं कीस की दरकार तुकडा मंकर खाते हैं॥
गुरू ग्यान की अमल निशा मो हमेश झुलते हैं।
तीनो उपर धुनी लगाकर बैठे रहते हैं॥
आर्धचंद्र का अमरत प्याला भरकर पीते हैं।
गगन मंडल मो दस नाद का आवाजा सुनते हैं॥
चंद्र सुरज दो मशाली लेकर आगे चलते हैं।
उलटी तुर्या हो गइ उन्मनी मीलगै जा करके ॥ क्या० ॥

× × ×

नहीं कछु अकार अब तो उगरी रीता है।
भाव भगत की नाव छुटी आब कि बैठा है॥
सुन बे मुरख महिपति बंदा कैसा सोता है।
खलक में रहेणा घरघर फीरना अलख जगा करके ॥क्या०॥[1]

ठाकुरदास बुवा :

इनका मूल नाम बालाप्रसाद था। ये कवि कनौजी जाति के ब्राह्मण थे। भोंसला वंश के अंतिम गुणज्ञ छत्रपति प्रतापसिंह महाराज ने इन्हें संमानित किया था।[2] ये शिवराजपुर के निवासी थे और पूना आकर बसे थे। इन्होंने मराठी तथा हिंदी भाषा में फुट रचनाएँ की हैं। इनकी मृत्यु शके १७५२ अर्थात् सन् १८३० ई० में हुई। बंबई का 'ठाकुरद्वार' इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है।[3] इनकी हिंदी की स्फुट रचनाएँ प्राप्त नहीं होती जिससे इनके काव्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके संबंध में इससे अधिक वृत्त प्राप्त नहीं होता।

---

१. श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर, धुलिया में प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों से उद्धृत।
२ पेशवेकालीन महाराष्ट्र, वा० कृ० भावे, पृष्ठ १२१।
३. हिंदी साहित्य के अप्रकाशित परिच्छेद, भा० रा० भालेराव, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७, भा० १०, पृ० ८७।

अनंत फंदी :

संगमनेर निवासी अनंत फंदी का जन्म सन् १७४४ ई० में हुआ। ये यजुर्वेदी कौंडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे और इनका उपनाम घोलप था। इनके पिता के संबंध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती। अनंत फंदी की जो किंवदंतियाँ प्राप्त होती हैं उनसे अनुमान होता है कि बाल्यावस्था ही में उनके पिता का स्वर्गवास हुआ होगा और विधवा माता राऊबाई ने इनका पालनपोषण किया होगा।[1] इनकी पत्नी का नाम म्हालसाबाई था। इनके श्रीपत फंदी उर्फ सवाई फंदी और बापू फंदी नामक दो पुत्र थे।[2] संगमनेर में मलक फंदी नामक एक फकीर के साथ अनंत का स्नेह संबंध होने से लोगों ने अनंत को 'अनंत फंदी' कहना शुरू किया, तब से ये अनंत फंदी नाम से ही प्रसिद्ध हुए।[3] इनकी शिक्षादीक्षा के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। इन्हीं के हाथों से लिखित 'माधवनिधन' नामक ग्रंथ के अक्षरों को देखकर अनुमान होता है कि बचपन में पिता का कृपाछत्र नष्ट होने से इन्हें नियमित रूप से शिक्षा न मिली होगी। इनके पूर्वज गोंधली का काम तथा सोना चाँदी का व्यापार करते थे।

किंवदंती है कि अनंत फंदी को भवानी बोवा नामक सिद्ध पुरुष की कृपा से कवित्वस्फूर्ति प्राप्त हुई थी। बचपन से ही इन्हें काव्य के प्रति रुचि थी और वंशपरंपरा से प्रचलित कवित्व शक्ति इन्हें भी प्राप्त हुई थी। बहुश्रुतता, भाषा का प्रभुत्व, वक्तृत्व एवं निस्पृहता ये गुण अनंत फंदी की समस्त रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रारंभ में इन्होंने शृंगार रसयुक्त रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में कीं जिनका सर्वत्र सहर्ष स्वागत हुआ। परंतु प्रौढ़ावस्था में इन्होंने जो रचनाएँ कीं उनमें से अधिकांश रचनाएँ आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक हैं। कहा जाता है कि यह परिवर्तन श्रीमती अहिल्याबाई होलकर के उपदेशानुसार हुआ था।

छत्रपति शाहू महाराज द्वितीय के शासनकाल में इन्हें बहुत ही गौरवास्पद स्थान मिला। इस समय उनके पेशवा बाजीराव द्वितीय थे। वे अनंत फंदी की लावनियों पर इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने स्वयम् आवश्यक

---

१. ऐतिहासिक पोवाडे, भा० १, य० न० केलकर, (सन् १९२८ ई०), पृष्ठ ७३-७४।

२. अनंत फंदी कृत कविता, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १९०८ ई०), पृष्ठ ५।

३. लोकनाट्याची परंपरा, वि० कृ० जोशी, (सन् १९६१ ई०), पृष्ठ १८५।

परिचयात्मक सामग्री भेजकर अनंत फंदी द्वारा 'माधवनिधन' नामक काव्य-ग्रंथ लिखवाया। ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से यह काव्यग्रंथ महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार का राजसंमान तत्कालीन किसी भी शाहीर को प्राप्त नहीं हुआ था। अनंत फंदी के समकालीन शाहीर होनाजी बाला की एक लावनी से ज्ञात होता है कि अनंत फंदी अत्यंत लोकप्रिय थे और उनकी कवित्व शक्ति असाधारण थी। समस्त लावनी में अनंत फंदी की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए होनाजी ने कहा है—'अनंत फंदी कविता के सागर हैं। कविता करना उनके लिये बायें हाथ का खेल है। उनकी वाणी वाचस्पति के समान है जो अनेकों के तनमन को हरण करती है।'[१] सामान्य कवि अनंत फंदी के सामने अपनी प्रतिभा दिखाने में लज्जित होते थे। उन्हें विपुल धनराशि प्राप्त हुई थी। विद्या तथा धन के कारण उनके मन में कभी भी अहंकार का निर्माण नहीं हुआ था। मराठी भाषा में इनकी रचना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इन्होंने मराठी के साथ हिंदी पद रचनाएँ की हैं। इनकी हिंदी भाषा पर दक्खिनी हिंदी का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

जोरू कसम का कज्या सुनो हाजा लड़ते फिरते ते।
बड़ा हजांबा खडा एक पर एक धबाधब गिरथे ते॥
खाने पिने के तंगशाई येतो नाका दिन निकला।
मा बापनो भला न किया मजपर रूठा हागतारा॥[२]

× × ×

सवाई माधवराव सवाई सवाई डंका बजाया।
फडणीस नाना की तारीफ अकलने तो गजब किया॥ धृ०॥
बिन धारसे राज्य चलाया ना किसे चकमक झाड़ी।
कैक मुत्सदी चप गये बस भये नाना की तो अकल बड़ी॥
दिल्ली अटक लाहोर भाहोर कर्नाटक बीच पुकार पड़ी।
चारो तरफ तजेला निकला चंदा ऐसी किरत बड़ी॥[३]

---

१. होनाजी बाला कृत लावण्या, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १९०८ ई०), पृ० १७-१८।

२. अनंत फंदी कृत कविता, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १९०८), पृ० ७२.

३. अनंत फंदी कृत कविता, वही, पृ० ४२-४३।

मातृभाषा हिंदी न होने पर भी जैसे बन सके हिंदी भाषा के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करने का यह प्रयास निःसंदेह प्रशंसनीय है। अहिंदी-भाषी लगभग सभी शाहीरों तथा संतकवियों की हिंदी रचनाओं की भाषा इसी प्रकार की पाई जाती है। हिंदी भाषा के विकास की दृष्टि से इनका भी महत्त्व है। अनंत फंदी का स्वर्गवास सन् १८१९ ई० में हुआ।

होनाजी बाला :

इनकी जन्मतिथि के संबंध में प्रामाणिक विवरण उपलब्ध न होने से निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन सा है। श्रीजोशी ने इनका जन्म सन् १८५४ ई० में माना है।[1] इसकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया अतः संभव है कि उनका यह कथन अनुमान पर ही आश्रित हो। होनाजी के पिता का नाम सयाजी था और उपनाम शिलारखाने था। ये जाति से अहिर (ग्वाला) थे। होनाजी पूना के निवासी थे और आज भी उनके मकान में उनके वंशज रहते हैं। इनका घरेलू नाम होनप्पा था। इनके दो पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र का नाम कुशाबा और कनिष्ठ का बाबाजी था। होनाजी को काव्यगुण की देन पूर्वजों से ही प्राप्त हुई थी। इनके पितामह सातप्पा तथा चाचा बालामयरु प्रसिद्ध कवि तथा गायक थे।

छत्रपति शाहू महाराज भोंसले द्वितीय की सरकार का इन्हें राजाश्रय था। पेशवों के द्वारा इन्हें वार्षिक ३०० रुपए मिलते थे जिसके लिये इन्हें होली के उत्सव में पाँच दिन अपनी लावनियों को साथियों के साथ गाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त इन्हें बड़ोदा राज्य के सयाजीराव गायकवाड़ की ओर से भी वार्षिक २०० रुपयों का इनाम मिलता था। सवाई माधवराव पेशवा के समय ही होनाजी की प्रसिद्धि होने लगी थी। छत्रपति शाहू महाराज द्वितीय के पेशवा बाजीराव द्वितीय विलासी व्यक्ति थे। उन्हीं के आदेशानुसार होनाजी ने उत्तमोत्तम लावनियों की रचना उच्चकोटि के संगीत की राग रागिनियों के अनुकूल की। संभवतः उसी समय से संगीत रागों में लावनियों की रचना होने लगी होगी। होनाजी का 'तमाशा मंडल' संगीत की मधुरिमा के लिये विशेष प्रसिद्ध था। होनाजी के साथीदार बाला करंजकर तो साक्षात् प्रतिगंधर्व माना जाता था। होनाजी की लावनियाँ बाला करंजकर के मधुर स्वरों में ही लोगों तक पहुँचती थी। इन दोनों में इतनी घनिष्ठता थी कि लोग होनाजी के साथ

---

१. लोकनाट्याची परंपरा, वि० कृ० जोशी, (सन् १९६१ ई०), पृ० १८६।

'बाला' का भी नाम लगाते थे। होनाजी भी अपनी लावनियों में 'होनाजी बाला' लिखते थे। इस प्रकार होनाजी शाहीर—'होनाजी बाला' इस संयुक्त नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी मराठी रचनाएँ विपुल मात्रा में मिलती हैं। मराठी की भाँति हिंदी लावनियों की रचना भी इन्होंने की थी। शाहीरों की प्राप्त हिंदी लावनियों में होनाजी की हिंदी लावनियाँ संख्या में अधिक हैं। उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सखे जमुना का पानी गहेरा चला।
भरण ज्याती थी रा(ह) मो माधो मिला ॥ धृ० ॥
सुनेरी जसोदा गोपी मिल सगरी।
शीर पे घरिती माई भरि घगरी ॥
जलद चली थी अपने घर नगरी।
पकर मोहे कु कहे जल हे पिला ॥[1]

× × ×

मिया भिरे दिल में शाम भये थे।
हँसी खुशी में लाल सखी हम थे।
मुझक अंतर के भरे जाम थे।
मंदर में क्या अजब काम थे।
सखी पलंग ऊपर आराम थे।
दोनों इष्क म्याने बेफाम थे।
सो होनाजी बाला मुखामधे
खूब रंग उडा था।[2]

नवयुवती के हावभाव तथा कृष्णलीलाओं का वर्णन होनाजी की लावनियों में अत्यंत कलापूर्ण रीति से पाया जाता है। सारल्य, शब्द-लालित्य तथा अर्थगांभीर्य होनाजी की रचनाओं का वैशिष्ट्य है। कहा जाता है कि होनाजी की लावनियाँ उस समय इतनी लोकप्रिय हुई थीं कि पूना जैसे राजधानी के शहर में नृत्यशालाओं तथा रंगशालाओं में खयाल, टप्पा, गजल आदि संगीत रागों के स्थान पर होनाजी की लावनियों का

---

१. होनाजी बाला कृत लावण्या, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १६०८ ई०), पद ३६।
२. य० न० केलकरजी के हस्तलिखित संग्रह से प्राप्त रचनाओं में से उद्धृत छंद।

महत्व बढ़ने लगा था। होनाजी की रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें हिंदी और मराठी के मिश्रण से चमत्कृति निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसी शैली को प्रवाल शैली कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने[1] अनेक भाषाओं के ऐसे काव्य को करंभक काव्य माना है। होनाजी की यह रचना देखिए—

औरन से तुम प्रीत लगा के हामे सता ना मीया।
आवडले तुम्हा सख्या स्वामीया ॥ धृ० ॥
येके ते दीन चलता आव नजरों से देखते वसई।
निजतजा खुशाल अपुले गृहीं।
विगर पुछे जोशोत हमारी दर्द तुमे कुच नहीं।
पुढे भरवसा मला सर्व ही।
तुम सारा दिन खुशाल फिरत्थो मैं तो दीवानी भई।
तुम्हीं तर लंपट पर के गृहीं।
मैं सपडी हो गरीवकर हाकनाक सता ना मीया।
आवडले तुम्हा सख्या स्वामीया ॥[2]

मातृभाषा हिंदी न होने तथा अशिक्षित होने के कारण लगभग सभी शाहीरों के हिंदी काव्य में लिंग, वचन, क्रिया आदि की व्याकरणसम्मत योजना नहीं मिलती। कहीं कहीं लिपिकार के कारण भी दोष आ गए होंगे। ऐसे प्रतिभासंपन्न तथा लोकप्रिय होनाजी का अंत अत्यंत हृदय-द्रावक रीति से हुआ। पेशवे दरबार तथा समाज में दिन ब दिन जो सम्मान एवम् आदर बढ़ता था वह कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियों से न देखा गया और परिणामस्वरूप एक दिन अचानक कुछ हत्यारों के द्वारा होनाजी की हत्या की गई। होनाजी का यह हृदयद्रावक अंत सुनकर सभी को अत्यंत दुःख हुआ। होनाजी की मृत्यु सन् १८४४ ई० में मानी जाती है, परंतु यह भी अनुमान पर ही आश्रित है। उनकी मृत्यु के विषय में निश्चित सन् संवत् के लिये प्रमाण नहीं मिलते।

---

१. साहित्य दर्पण, ६।३३७।
२. होनाजी बाला कृत लावण्या, सं० तु० शालिग्राम, (सन् १६०८ ई०), पृष्ठ १२०।

रामजोशी :

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध लावनीकार तथा कीर्तनकार रामजोशी का जन्म सोलापुर में सन् १७६२ ई० में माना जाता है।[१] श्रीशालिग्राम के इस मत को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये श्री य० न० केलकरजी ने एक असली पत्र प्रस्तुत किया है जिसमें रामजोशी और उनके ज्येष्ठ बंधु मुद्गल के बँटवारे के विषय में विस्तार सहित लिखा है। उसके आधार पर केलकरजी ने रामजोशी का जन्म सन् १७५८ ई० के लगभग माना है जो उचित जान पड़ता है।[२] रामजोशी के पिता जगन्नाथ वेदशास्त्र संपन्न ज्योतिषी थे। ये वत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे। परंपरागत पूर्वजों के व्यवसाय को छोड़ 'तमाशा' जैसे लोकनाट्य के प्रति रामजोशी में आकर्षण देखकर सनातनी लोगों ने उनकी निंदा भी की थी। परंतु अपनी रूचि के अनुकूल क्षेत्र में कार्य करने का रामजोशी ने निश्चय किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपने बड़े भाई से अलग हो जाना पड़ा। परिवार के उत्तरदायित्व की वास्तविक कठिनाइयों का सामना करने के लिये उन्हें सिद्ध होना पड़ा। पंढरपुर के वेदशास्त्र-संपन्न बाबा पाध्ये के यहाँ कुछ वर्ष रहकर उत्तम विद्या तथा कीर्तन की कला का संपादन उन्होंने किया। स्वभावतः अत्यंत बुद्धिमान होने से थोड़े समय में उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की। दूर दूर के स्थानों से उन्हें कीर्तन के लिये निमंत्रण आने लगे और अल्पावधि में ही वे अत्यंत लोकप्रिय हो गए।

एक दिन कीर्तन के प्रसंग में ही मराठी के सुप्रसिद्ध कवि श्रीमोरोपंत और रामजोशी का परिचय बारामती नामक ग्राम में हुआ जो भविष्यत् में घनिष्ठ स्नेह में रूपांतरित हुआ। रामजोशी की कविता देखकर मोरोपंत को बड़ी प्रसन्नता हुई और आदर के साथ उन्होंने 'कविप्रवर' इस विशेषण से रामजोशी का गौरव करना प्रारंभ किया। रामजोशी भी मोरोपंत को अपना काव्यगुरु मानते थे। भाषाशैली, यमकों की बहुलता, संस्कृत प्राकृत शब्दों का मिश्रण, संस्कृत शब्दों पर प्रभुत्व आदि बातों में रामजोशी की रचनाओं पर मोरोपंत का प्रभाव परिलक्षित होता है। रामजोशी की रचनाओं में शृंगारिक लावनियाँ तथा उपदेशपरक एवं आध्यात्मिक कविताएँ भी पाई जाती हैं। कीर्तनकार और लावनीकार का अपूर्व संयोग रामजोशी के व्यक्तित्व

---

१. रामजोशीकृत लावण्या, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १९०८ ई०), पृ० १।
२. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केलकर, (सन् १९३८), पृ० ४९-६० ।

में था। कहा जाता है कि पूर्वायुष्य में उन्होंने शृंगारिक लावनियाँ अधिक कीं और उत्तरायुष्य में पारमार्थिक। पेशवे दरबार के प्रसिद्ध एवं संमानित शाहीरों में रामजोशी का भी अपना विशेष स्थान रहा है। अपने वैभव काल में रामजोशी ने ऐश्वर्य का उपभोग भी पर्याप्त किया।

रामजोशी की अधिकांश रचनाएँ लावनी छंद में पाई जाती हैं। स्वयं संस्कृतज्ञ विद्वान् होने से इनकी लावनियों में अशुद्धता नहीं के बराबर मिलती हैं। मराठी लावनियों के अतिरिक्त मदालसाचंपू और कुछ फुटकर आरतियों की संस्कृत रचना भी उन्होंने की है। श्रीमान् भावे ने इनका भाषाप्रभुत्व देखकर इन्हें 'भाषा कामिनी के उस्ताद' कहा है।[1] रामजोशी की एक ऐसी रचना मिलती है जिसमें मराठी, संस्कृत, हिंदी और कन्नड भाषाओं का समुचित प्रयोगकर चमत्कृति निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

पाहि पाहि निजभुवनम्। प्रती का बोलशी मुडदारा॥
निन्नमातना केलु दिल्ला। चल छोड पल्लो मेरो॥
देहि देहि पदमिदम् मुरारे। उचित नव्हे तुजला॥
मी परगातिणी याक्क पकडता। यंव क्या रे किने कर भुला॥

× × ×

मुंच मुंच चैलाधर मधुना। नंदाच्या पोरा॥
हिड निन तदिग मन्याग। पिहुजन बहुत बुरा मेरा॥
तिष्ठ तिष्ठ सखी। इतुकी रागाने कागे बोली॥
ना गोकुलपति निन्नम्याल। सखी सुनरी अलवेली[2]॥

इन उदाहरणों में संस्कृत, मराठी, कन्नड और हिंदी का प्रयोग क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवम् चतुर्थ पंक्तियों में पाया जाता है। इस रचना को देखकर ज्ञात होता है कि रामजोशी का इन चारों भाषाओं पर प्रभुत्व था। इनकी केवल संस्कृत और मराठी रचनाएँ ही उपलब्ध हैं, कन्नड तथा हिंदी रचनाएँ स्वतंत्र रूप से प्राप्त नहीं होतीं। उपर्युक्त करंभक काव्य को

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, वि० ल० भावे, (चतुर्थ आवृत्ति, शके १८७६), पृ० ७३१-७३२।

२. रामजोशी कृत लावण्या, शं० तु० शालिग्राम, (सन् १६०८ ई०), लावनी क्रम ३४।

देखकर अनुमान होता है कि अन्य शाहीरों की भाँति इन्होंने भी हिंदी में रचना की होगी जो दुर्भाग्य से प्राप्त नहीं होती। अपनी रचनाओं की लोकप्रियता के कारण इन्हें राजाश्रय एवम् लोकाश्रय दोनों प्राप्त हुए थे। परंतु विलासिता एवम् ऐश्वर्य के कारण जीवन के अंत में इनके पास अर्थ-संपत्ति न रही। इनकी मृत्यु सन् १८१२ ई० में पूना में हुई[1]।

सगनभाऊ :

इनका मूल निवासस्थान पूना के समीपवर्ती जेजुरी नामक ग्राम था परंतु इनके जीवन का अधिकांश काल पूना ही में बीत गया था। इनके जन्म तथा स्वर्गवास के संबंध में कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। इनका जन्म शके १७०० के आसपास (सन् १७७८ ई०) माना जाता है।[2] इनकी रचनाओं में वर्णित घटनाओं तथा ऐतिहासिक प्रसंगों से इस बात की सत्यता के लिये पुष्टि ही मिलती है। इसी से अधिकांश विद्वान् इसी जन्म-काल को उचित तथा मान्य समझते हैं। जाति से मुसलमान होकर भी इनका मराठी भाषा पर अधिकार था। ये तलवार की धार को तेज करने तथा तलवार के म्यान बनवाने का व्यवसाय करते थे। इनके पारिवारिक जीवन के संबंध में जानकारी प्राप्त नहीं होती। इनके समय 'गवलयाचा फड' और 'रावलाचा फड' इस तरह के दो प्रसिद्ध एवम् लोकप्रिय शाहीरों के गुट थे। सगनभाऊ रावल के फड में थे।

शृंगाररसयुक्त रचना करने में सगनभाऊ बड़े ही सिद्धहस्त थे। ये अत्यंत लोकप्रिय शाहीर थे। इनकी लावनियाँ रामा गोंधली नामक साथीदार के सुस्वर कंठ से प्रसृत होती थीं जिसे सुनने के लिये जनता बड़ी उत्सुक रहती थी। कहा जाता है कि इनकी लावनियाँ सुनने के लिये पाँच पाँच मीलों तक लोगों की भीड़ चारों तरफ लगी रहती थी। सगनभाऊ की प्रसिद्धि के कारण इन्हें राजसंमान भी बहुत मिला। पेशवाई की समाप्ति (सन् १८१८ ई०) तक ये बाजीराव द्वितीय के पास ही थे। पेशवाई समाप्त होने पर मराठा राज्य का मेरुदंड ही टूट गया और उसके पतन का आरंभ हुआ। ऐसी दुरवस्था में आश्रित कवियों की स्थिति दयनीय होना स्वाभाविक था। सन् १८१८ ई० के पश्चात् सगनभाऊ छत्रपति प्रतापसिंह भोंसले के दरबार में सतारा गए

---

१. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केलकर, (सन् १८०८ ई०), पृ० ६३।
२. ऐतिहासिक पोवाडे, वही, पृ० ८४।

और उस राज्य की समाप्ति तक वहीं रहे।[1] सगनभाऊ ने पोवाडे तथा लावनियाँ दोनों की रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं में स्वतंत्र विचार तथा मनोहर कल्पना का मणिकांचन संयोग दिखाई देता है। मुसलमान होने पर भी उनकी रचनाओं में अनेक स्थान पर हिंदू देवताओं की कथाओं के संदर्भ पाए जाते हैं। इनकी रचनाओं में समकालीन स्थिति का चित्रण बड़ी सफलता से मिलता है। इनकी समस्त रचना फुटकर काव्य के रूप में ही पाई जाती है। इन्होंने मराठी की भाँति हिंदी में भी अपने भावों को व्यक्त किया है। मातृभाषा उर्दू होने से रचनाओं में उर्दू शब्दों की बहुलता स्वाभाविक है। इनकी हिंदी रचनाएँ भी मराठी की भाँति संगीत की राग रागिनियों के अनुकूल की गई हैं। कालंगडा, भूपाली, संकीर्ण, कल्याणी, घनासरी, लीलांबरी आदि रागों में इनका काव्य भरा पड़ा है। कालंगडा राग की हिंदी रचना का उदाहरण देखिए—

शाम भई राम तुजे आराम करेगा।
पिहु जन पार अल्ला खैर करेगा ॥धृ०॥
सुनत सखी पिहुन यका इष्क कहते।
रुखसत के वक्त कच्छु बयन कहते ॥
रत फरेकव बंदगी मो रयन भयेते।
घोड़े उपर सवार हुयेते नयन भयेते।
पलो सफलाय खुदा मेहेरे करेगा ॥[2]

चली गेंद धरन मखमोल कमल का,
फूल हात पिजरा मैना का लिया।
खूप बनी महेंबुप विचतर,
नयनों ने गचव किया ॥ धृ ०॥[3]

लिपिकार के दोष इनकी रचनाओं में भी पाए जाते हैं। इनकी ही नहीं वरन् सभी शाहीरों की उपलब्ध हिंदी रचनाओं के पाठ शुद्ध करना आवश्यक है। सगनभाऊ ने भी हिंदी मराठी मिश्रित काव्य किया है।

---

१. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केलकर, (सन् १९२८ ई०), पृ० ८७।
२. सगनभाऊ कृत लावण्या व पोवाडे, संपा० जहागिरदार अधिकारी, (सन् १९२४ ई०), पृ० ४५।
३. सगनभाऊ कृत लावण्या व पोवाडे, वही, पृ० ६६।

सगनभाऊ गुरुनाथ नामक किसी सिद्ध पुरुष के शिष्य थे। मृत्यु के समय वे स्वयम् गुरुपद की पदवीतक पहुँच गए थे। इनका संप्रदाय तथा शिष्यपरंपरा भी निर्मित हुई थी। सन् १७४० ई० के आसपास सगनभाऊ का स्वर्गवास हुआ।[1] सगनभाऊ की प्राप्त रचनाओं में आध्यात्मिक तथा भेदिक रचनाओं की संख्या बहुत ही कम है। शृंगारिक रचना विपुल मात्रा में मिलती हैं।

प्रभाकर :

इनके जन्मकाल के संबंध में भी तथ्यपूर्ण प्रमाणों के अभाव में अनिश्चितता आ गई है। श्रीमान् जोशीजी[2] इनका जन्म सन् १७६६ ई० मानते हैं और श्रीमान् केलकरजी[3] इनका जन्म सन् १७५३-५४ ई० के आसपास मानते हैं। श्रीजोशीजी ने अपने अनुमान की पुष्टि में किसी प्रमाण को प्रस्तुत नहीं किया। श्रीकेलकरजी ने अनेक ऐतिहासिक कागजपत्रों के प्रमाणों से प्रभाकर की जीवनी का अनुसंधान कर उनका चरित्र प्रस्तुत किया है, इसलिये उन्हीं के मत को स्वीकार करना उचित होगा। प्रभाकर का उपनाम दातार और पिता का नाम जनार्दन था। इनका मूल निवासस्थान रत्नागिरि जिलांतर्गत मुरुड नामक ग्राम माना जाता है। प्रभाकर के पिता जनार्दन पंत पेशवों के दफ्तर में क्लर्क की हैसियत से काम करते थे। प्रभाकर के दो छोटे भाई थे जिनके नामों का पता नहीं लगता। एक भाई अल्पायु में स्वर्गवासी हुए और दूसरे गृह त्यागकर लापता हो गए थे। पंद्रह-सोलह वर्ष की अवस्था से ही प्रभाकर में कवित्व शक्ति अंकुरित होने लगी थी। उस समय पूना में गंगु हैबती का 'शाहीरी फड' विशेष प्रसिद्ध था। गंगु हैबती तथा अन्य गुणीजनों का और प्रभाकर का परिचय हो जाने पर प्रभाकर भी उसी 'मंडली' में सम्मिलित होकर जनता के संमुख आए। इस मंच के द्वारा प्रभाकर की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

सवाई माधवराव पेशवा के शासनकाल में रंगपंचमी का उत्सव बड़ी ही धूमधाम के साथ मनाया गया था। उस उत्सव का वर्णन प्रभाकर ने अपने एक पोवाडे में किया। वह पोवाडा इतना लोकप्रिय हुआ कि स्वयम् पेशवा ने इन्हें अपने दरबार में निमंत्रण देकर इनके मुख से उस पोवाडे को सुन लिया

---

१. ऐतिहासिक-पोवाडे, य० न० केलकर, (सन् १९२८ ई०), पृ० ८८-८९।
२. लोकनाट्याची परंपरा, वि० कृ० जोशी, (सन् १९६१ ई०), पृ० १८९।
३. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केलकर, (सन् १९२४ ई०), पृ० ९४।

और सम्मानित किया। सवाई माधवराव की मृत्यु के पश्चात् बाजीराव द्वितीय के समय भी प्रभाकर को राजाश्रय मिला। उत्तरोत्तर इनकी कीर्तिसुगंध दूर दूरतक फैलने लगी। केवल बाजीराव को लक्ष्यकर इन्होंने ३५-३६ लावनियों की रचना की है। इन्होंने पोवाडे और लावनियाँ दोनों प्रकार की रचनाएँ की हैं। उज्ज्वल प्रतिभा, अनूठी वर्णन शैली, मँजी हुई भाषा, विषय वैचित्र्य आदि गुणों से इनकी काव्यरचना अलंकृत हो चुकी है। इन्होंने भी मराठी रचना के साथ हिंदी रचना की है—

जा सखी पीतम लावो। घर बेग बुलावो ॥ धृ० ॥
नयन दीदार तूफानी। दो भवाँ कमानी ॥
भरी भरपूर जवानी। मैं भई दीवानी ॥
लाल की रीत पछानी। रखो होगी बिरानी ॥
ताको चित्त खुलावो। जा सखी पीतम लावो ॥[1]

प्रभाकर की हिंदी लावनियाँ अन्य शाहीरों की तुलना में अधिक शुद्ध एवम् लालित्यपूर्ण हैं। इनके काव्य में ब्रजभाषा एवम् दक्खिनी हिंदी का संयोग दिखाई देता है। मणिप्रवाल शैली अथवा करंभक काव्य में रचना करना उस काल में एक प्रथा सी दिखाई देती है। क्योंकि लगभग सभी शाहीरों की रचनाओं में हिंदी, मराठी तथा एकाध अन्य भाषा के मिश्रण से हेतुपूर्वक लिखित पद मिलते हैं। प्रभाकर की भी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं। उदाहरण—

लाव खंजीर सिर काट धरूँ। धिर धरवत नाहीं ॥ धृ० ॥
डाग लगा के पिहूँ पाछे। मज टाकुन गेला ॥
यार कहो तुम तो भी। गुन्हा कधी त्याचा केला ॥
कोन जगा प्यारा किसी ने। गळ घालून गेला ॥
वार कलेजे पार गया। कशी वाचेन बाई ॥

× × ×

लाल सलामत रहो मेरा। मंदिर चा ऐना ॥
छंद मीठे परभाकर के। छाप करून पाही ॥[2]

---

१. प्रभाकर कृत पोवाडे व लावण्या, शं० न० जोशी, (सन् १६२० ई०), पृ० १३६।
२. प्रभाकर कृत पोवाडे व लावण्या, वही, पृ० १४४।

प्रभाकर की शृंगारपरक रचनाएँ अत्यंत मधुर एवं चित्ताकर्षक हैं। उनकी पारमार्थिक रचना भी प्राप्त होती है। इनके ऐतिहासिक पोवाडो में 'सवाई माधवराव का पोवाडा' श्रेष्ठ माना जाता है। काव्य और इतिहास दोनों दृष्टियों से प्रभाकर का काव्य कलापूर्ण एवं महत्व का माना जाता है। प्रभाकर स्वयम् तमाशा लोकनाट्य) में हिस्सा नहीं लेते थे। वे केवल गीतरचना करते थे और उनकी रचनाएँ गंगु हैबती और महादबा सुतार गाया करते थे। सन् १८१८ ई० के पश्चात् इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई थी। जीवन की संध्या में पेट जो न कराए सो थोड़ा—इस कहावत के अनुसार छोटेमोटे जागीरदारों का भी उन्हें आश्रय लेना पड़ा। सन् १८४३ ई० में[1] इस प्रतिभावान् प्रभाकर ने अपनी जीवनलीला समाप्त की। शाहीरों में प्रभाकर का विशिष्ट स्थान माना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि मराठा राजाओं की साहित्यप्रियता, गुणग्राहकता, रसिकता तथा उदारता देखकर दूरस्थ प्रदेशों से कविगण उनके दरबारों में सदैव आते रहते थे और अपनी योग्यता के अनुरूप पुरस्कार पाकर अपने अपने प्रदेशों में लौट जाया करते थे। इन कवियों में साधारण श्रेणी के कवियों से लेकर प्रतिभासंपन्न महाकवियों का भी समावेश होता था। विवेचित कवियों में दो प्रकार के कवि थे। प्रथम में वे कवि हैं जिनकी मातृभाषा हिंदी थी और द्वितीय में वे कवि हैं जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी ! हिंदी भाषा पर उतना प्रभुत्व न होते हुए भी अहिंदी-भाषियों ने जो हिंदी कविताएँ कीं और दरबारों में सुनाईं उनमें से अधिकांश प्रसंगविशेष को अभिव्यक्त करने के लिये निर्मित थीं।

इन कवियों के अतिरिक्त और भी कई कवि मराठा राजाओं के दरबारों में अथवा संपर्क में आए होंगे जो अबतक प्रकाश में नहीं आए हैं। जो प्रकाश में आए हैं उनमें से अधिकांश के फुटकल छंद ही उपलब्ध होते हैं और कुछ ऐसे हैं कि जिनके संबंध में इतिहास ग्रंथों, ऐतिहासिक पत्रों, समकालीन लेखकों की रचनाओं में उल्लेख तो मिलते हैं कि उन्होंने हिंदी में भी रचनाएँ कीं, परंतु प्रयास करने पर भी उनकी वे हिंदी रचनाएँ प्राप्त न हो सकीं। संभव है कि इन कवियों ने बड़े ग्रंथ न रचे हों और स्फुट काव्य ही प्रसंग-विशेष पर रचा हो। ग्रंथों की अपेक्षा स्फुट काव्य के बिखरने, नष्ट होने

---

1. ऐतिहासिक पोवाडे, य० न० केळकर (सन् १९२८ ई०) पृ० ६६।

तथा अस्तव्यस्त होने की संभावना अधिक रहती है जो स्वाभाविक भी है। इतिहासों में तथा अन्य ग्रंथों में ये भी उल्लेख पाए जाते हैं कि मराठा राजाओं के दरबारों में हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, मराठी तथा अन्य भाषाओं के भी अनेक कवि तथा पंडित आते रहते थे। इन कवियों की उपलब्ध रचनाओं का बहुत महत्व है, चाहे वे अल्प मात्रा में भी क्यों न हों।

४

काव्य का भाव पक्ष

भावपक्ष का सबसे उत्कृष्ट रूपरस निष्पत्ति है। भाव और रस में घनिष्ठ संबंध है। अतः काव्य के भाव पक्ष में रसविवेचना का स्थान अनिवार्य है।[1] इस अध्याय में आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त विभिन्न रसों एवं भावों का वर्णन तथा उनका विवेचन करना अभीष्ट है। रसनिरूपण की दृष्टि से इन कवियों की रचनाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम विभाग में ऐसे ग्रंथ समाविष्ट किए जा सकते हैं जिनमें रसों के लक्षणादि के विवेचन और उदाहरण दिए गए हैं, जैसे, चिंतामणि त्रिपाठी का 'रसविलास' लोकमणि मिश्र का 'नवरसरंग'। द्वितीय में उन रीति ग्रंथों को रखा जा सकता है जो अलंकार, छंद, नायिका भेद, नखशिख आदि के विवेचन हेतु लिखे गए हैं। ऐसे ग्रंथों में दिए गए उदाहरणों में कई स्थलों पर रसोद्रेक दिखाई देता है। भूषण कृत 'शिवराज भूषण', चिंतामणि कृत 'छंदविचार अथवा भाषा पिंगल, कविकुलकल्पतरु', नृपशंभु कृत 'नायिकाभेद' तथा 'नखशिख', सीताराम महापात्र कृत 'उक्तिविलास', संकर सुकवि कृत 'शाहविलास' आदि ग्रंथ इसी के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। तृतीय श्रेणी के अंतर्गत वे ग्रंथ एवं मुक्तक छंद आ जाते हैं जो कविता की दृष्टि से तथा प्रसंगानुसार लिखे गए हैं, जैसे चिंतामणि का 'कृष्ण चरित्र', जयराम का राधामाधव विलास चंपू', शाहनृप कृत 'राधाबंसीधर विलास' एवं 'विश्वातीत विलास' तथा अन्य मुक्तक छंद। आलोच्य कवियों में हिंदीभाषियों के अतिरिक्त ऐसे भी अहिंदीभाषी कवि हैं जिनके काव्य की भाषा सामान्य होने पर भी उसमें रसपरिपाक एवं भावसौंदर्य सहज ही प्राप्त होता है। यहाँ सर्वप्रथम रस पक्ष का विचार किया जायगा। काव्य में प्राप्त रसपरिपाक के कुछ उत्कृष्ट उदाहरणों का दिग्दर्शन करने से उनके काव्यगत सौंदर्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

---

१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (प्रथम भाग), ले० डा० गोविंद त्रिगुणायत, पृ० १०८।

रसनिष्पत्ति :

आचार्यों ने रसनिष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव और संचारी अथवा व्यभिचारी भावों का संयोग आवश्यक माना है।[1] इनमें से किसी एक अंग के अभाव में रस का पूर्ण परिपाक संभव नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि रस के अंतर्गत विभाव और अनुभाव का वर्णन तो प्रत्यक्ष होता है परंतु संचारियों की स्थिति अधिकांश में व्यंग्य रूप में ही रहती है। काव्यशास्त्र में विभाव से अभिप्राय आलंबन और उद्दीपन से होता है तथा अनुभाव से तात्पर्य आश्रय की शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं अथवा प्रतिक्रियाओं से लिया जाता है। इस प्रकार स्थूल रूप से रस के चार उपकरण हो जाते हैं- स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। आलोच्य कवियों के के रसवर्णन पर इन सभी को दृष्टि में रखकर विचार किया जाएगा।

रसों की संख्या :

अब प्रश्न उठता है रसों की संख्या का। प्रारंभ में रसों की संख्या नौ ही मान्य थी। भरत ने तो नाटक में आठ ही रस माने हैं पर अन्य अनेक आचार्यों के द्वारा काव्य में नौ रस माने गए। आगे चलकर दस रस हुए और फिर ग्यारह। आचार्य मम्मट ने जिन्हें 'रतिर्देवादिविषया' सूत्र में भाव कहकर टाल दिया था वे हिंदी साहित्य की भक्ति काव्यधारा के प्रवाह से सरसित होकर वात्सल्य और भक्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यों वात्सल्य और भक्ति रस के रूप में साहित्य दर्पणकार को भी मान्य हैं, पर मध्ययुग में जो अजस्र गंभीर धारा व्रजभूमि में प्रकट हुई उसे भक्ति रस की कालिंदी के रूप में सभी को स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र और शांत के साथ वात्सल्य और भक्ति रस की एकादशी प्रतिष्ठित हो गई।[2] आलोच्य कवियों की रचनाओं में ये सभी रस कम या अधिक परिमाण में मिल जाते हैं। अतः यहाँ सभी रसों के आलोच्य कवियों की रचनाओं में उपलब्ध उदाहरण देकर उनका विवेचन करना तर्कसंगत होगा।

---

१. 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः', भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्रम् (चौखंबा सिरीज), सन् १९५२ का संस्करण, पृ० ७१।

२. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृ० २६२।

श्रृंगार रस :

आलोच्य कवियों का समय अधिकांश हिंदी साहित्य के रीतिकाल का ही समय है। रीतिकालीन वातावरण से ये कवि भी अलिप्त न रह सके। इस काल के प्रमुख रसों में श्रृंगार रस सर्वोपरि रहा है। श्रृंगार रस के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—के विभिन्न अंगोपांगों का विस्तृत विवेचन इनकी रचनाओं में पाया जाता है। श्रृंगारवर्णन के अंतर्गत नायक नायिकाओं के भेद, नखशिखवर्णन, बारहमासा, ऋतुवर्णन, आदि का चित्रण प्रचुरता से पाया जाता है। इस प्रकार का वर्णन चिंतामणि त्रिपाठी, नृपशंभु, लोकमणि मिश्र, सीताराम महापात्र, देवनाथ आदि की रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय है। चिंतामणि त्रिपाठी के महाकाव्य 'कृष्ण चरित्र', शाह नृप कृत 'राधा-बंसीधर विलास' तथा 'विश्वातीत विलास' के अतिरिक्त उपलब्ध लगभग समस्त साहित्य मुक्तक छंदों में ही लिखा गया है, इसलिये उसमें कथावस्तु के निर्वाह का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जहाँतक 'कृष्ण चरित्र' का प्रश्न है, वहाँ इतना कहना आवश्यक है कि कवि कथावस्तु के निर्वाह में भी पूर्ण सफलता पा सका है। 'कृष्ण चरित्र' में भी प्रसंगानुकूल श्रृगार रस की व्यंजना खूब हुई है। 'राधा बंसीधर विलास' तथा 'विश्वातीत विलास' में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। इन कवियों में कुछ ऐसे भी छंद अवश्य प्राप्त होते हैं जो अत्यंत साधारण कोटि के तथा अश्लीलता की हल्की सी गंध लिए हुए हैं परंतु ऐसे छंद अत्यंत कम मात्रा में ही पाए जाते हैं। अधिकांश छंदों में श्रृंगार के ऐसे वर्णन मिलते हैं जो उच्च श्रृंगारिक कवियों से किसी प्रकार भी घटकर नहीं है। कहीं कहीं वीर रस के अंतर्गत भी श्रृंगार रस का मधुर पुट मिलता है। भूषण, जयराम, इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय कवि हैं। नृपशंभु के 'सातसतक' तथा देवनाथ और सीताराम के भक्ति-काव्य में भी श्रृंगार रस दृष्टिगत होता है। देवनाथ ने लौकिक श्रृंगार द्वारा अलौकिक श्रृंगार की ओर संकेत किया है। इस प्रकार विविध रूपों में श्रृंगार रस का प्रयोग इन रचनाओं में हुआ है। सभी कवियों की रचनाओं में प्राप्त श्रृंगार रस के उदाहरण देना तो वांछनीय न होगा, इसलिये प्रातिनिधिक रूप में श्रृंगार रस के कुछ चुने हुए उदाहरण ही यहाँ दिए जाएँगे।

संयोग श्रृंगार :

नायक नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्श तथा आलिंगनादि व्यवहार को संयोग कहते हैं। बहिरिंद्रिय संयोग ही संयोग के नाम से वर्ण्य

है।[1] किंतु शृंगार के अंतर्गत इसका तभी ग्रहण होता है जब यह अन्योन्य तथा अनुकूल रूप में उपस्थित किया जाता है। बलात्कार के समान अनुचित संयोग का वर्णन अथवा किसी एक की ओर से रति का अधिक अथवा न्यून प्रदर्शन संयोग शृंगार का उदाहरण न बनकर केवल शृंगार रसाभास का प्रदर्शक बना रहता है।[2] संयोग में मानसिक नैकट्य का भी एक विशेष स्थान रहता है। मनमोहन की मुरली की मधुर तान सुनते ही, गोपवधू का मन कृष्ण के निकट पहुँच जाता है। उसका अपने मन पर कोई नियंत्रण नहीं रह पाता और परिणामस्वरूप हाथ की दोहनी हाथ ही में रह जाती है। नृपशंभु द्वारा वर्णित 'गोपवधू' की यह मानसिक अवस्था द्रष्टव्य है—

दूति सँकेत गई बन को बदि,
प्यारी पगी हरि के गुनगाथ में।
गाय दुहावन को कहि 'शंभु',
खरी खरिकान सखीन के साथ में।
केलि के कुंज बजी मुरली बुधि,
गोपवधू की बंधी ब्रजनाथ में।
दोहनी हाथ की हाथ रही,
न रह्यो मनो मोहिनी को मन हाथ में॥[3]

यहाँपर स्थायी भाव रति है। ब्रजनाथ कृष्ण आलंबन और गोपवधू आश्रय है। केलि के कुंज में मुरली का बजना उद्दीपन है। मुरली की ध्वनि सुनते ही गोपवधू की बुद्धि का ब्रजनाथ में बँध जाना, दोहनी हाथ में रह जाना, मन हाथ में न रहना आदि अनुभाव हैं। स्मृति, चंचलता, औत्सुक्य, मोह संचारी भाव है। इन सभी उपकरणों से पुष्ट स्थायी रतिभाव शृंगार रस के रूप में प्रकट हुआ है।

---

१. तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्पर संयोगेनोत्पद्यमान आनंदो वा संयोगः। संयोगो बहिरिन्द्रियसंबंधः। —भानुदत्त कृत रसतरंगिणी, तरंग ६।२, पृ० १२८।

२ यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक् संपूर्णरतिभावो वा शृंगारः। यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतावाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति। —वही, तरंग ६।२, पृ० १२८।

३. माधुरी पत्रिका, जून १९४१ से उद्धृत, पृ० ४२७।

नायक नायिका के संयोग की सर्वप्रथम स्थिति उस समय आती है जब दोनों एक दूसरे के आकर्षक रूप तथा गुण को देखकर परस्पर आकर्षित हो जाते हैं। संयोग के सभी व्यापार यहीं से प्रारंभ होते हैं। परस्परावलोकन के पश्चात् जब वे एक दूसरे के आकर्षण में बँध जाते हैं तब दोनों में से किसी एक को आरंभकर्ता बनना पड़ता है। आरंभकर्ता की दृष्टि से संयोग शृंगार के नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध नाम के दो भेद किए गए हैं। परंतु कभी कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जिसमें आरंभकर्ता का निश्चित संकेत नहीं मिलता। ऐसे स्थलों के लिये पूर्वोक्त दो भेदों के अतिरिक्त डा० आनंदप्रकाश दीक्षित ने उभयारब्ध नामक भेद जोड़ दिया है।[१] इस प्रकार के उभयारब्ध संयोग शृंगार के लिये चिंतामणि त्रिपाठी का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

दोऊ जने दुहू कौ अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि सागर को छोर हैं॥
'चिंतामनि' केलि के कलानि के विलासिनि सौं,
दोऊ जने दोउन के चित्तनि के चोर हैं॥
दोऊ जने मंद मुसक्यानि सुधा बरसत,
दोनों जने छके मोद मद दुहूँ ओर हैं॥
सीताजू के नैन रामचंद्र कै चकार राम—
चंद्र नैन सीता मुखचंद के चकोर हैं॥[२]

यहाँपर रति स्थायी भाव के आश्रय राम और सीता दोनों माने जायँगे। अतः राम के लिये सीता आलंबन होगी और सीता के लिये आलंबन राम होंगे। दोनों की अनूप रूपराशि उद्दीपन है। पारस्परिक चित्त का चुराना, मंद मुसकान, मोदमद में छका जाना आदि अनुभाव है। हर्ष, जड़ता, मद तथा औत्सुक्य संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट रति स्थायी भाव की यहाँ शृंगार रस के रूप में व्यंजना हुई है।

वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण के काव्य में वीर रस के अतिरिक्त अन्य

---

१. रस सिद्धांत: स्वरूप विश्लेषण, डा० आनंदप्रकाश दीक्षित, (प्रथम संस्करण), पृ० ३१५।

२. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ५-१-२१।

रसों का चित्रण भी पाया जाता है। उन्होंने संयोग शृंगार के अंतर्गत 'रति-संगर' का जो अनूठा वर्णन किया है वह द्रष्टव्य है—

नैनजुग नैनन सौं प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहि टेरे हैं।
अडि अडि पिलि पिलि लड़े हैं उरोज वीर,
देखौ लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं।
पिय को चखायो स्वाद कैसो रतिसंगर को,
भए अंग अंगनि तें केते मुठभेरे हैं।
पाछे परे वारन कौं बाँधि कहैं अलिन सों,
भूषन सुभट येई पाछे परे नेरे हैं॥[1]

शाहजी भोसला के दरबारी कवि जयराम ने होली के वर्णन के अंतर्गत संयोग शृंगार का वर्णन किया है। मातृभाषा हिंदी न होने तथा लिपिकार की असावधानी से यद्यपि भाषा में कुछ दोष हैं फिर भी रसपरिपाक की दृष्टि से यह छंद दर्शनीय है--

प्यारी कौन सुजान की।
सो रहु सहुलहुती अति सुंदर कान्हौं कुं जौ विलमान की॥ध्रु०॥
खेलत फाग पिय रागरंग सो बनक बनी सुर तान की।
ताल फखावज बाजत लय सो बली बलो हु यह गान की॥
कुचुच उतंग रंग के छिरके चहपहू जौं गजदान की।
मनो मेन मैदान धरि है मरजादा चौगान की॥
रूप अनूप बनी नखसिख लोयकि मति कवित गुमान की।
कवि जयराम वाम यह बरनी भावति साहि हुमान की॥[2]

इस प्रकार संयोगशृंगार रस के अनेक उदाहरण आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त हो जाते हैं। संयोग शृंगार में जहाँ सुरतवर्णन आता है वहाँ कहीं कहीं अभद्रता तथा अश्लीलता का समावेश कम अधिक अनुपात में हो गया है। कई स्थानों पर ऐसे भी छंद मिलते हैं जहाँ कवि की

---

१. भूषण ग्रंथावली: पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० संस्करण), पृ० २२६।
२. राधामाधव विलास चंपू, जयराम पिंड्ये, संपा० राजवाडे, (शक १८३४), पृ० २६१-६२।

संयमशील वृत्ति ने अभद्रता तथा अश्लीलता को बड़ी कुशलता से टाल दिया है।

विप्रलंभ शृंगार :

शृंगार के अंतर्गत संयोग के साथ साथ विप्रलंभ की स्थिति आती है। उत्कट अनुराग के विद्यमान रहने पर भी जहाँ प्रियसमागम न हो सके वहाँ विप्रलंभ शृंगार होता है। आचार्यों ने इसे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण इन चार भेदों में विभक्त किया है। प्रकारांतर से इन सभी भेदों का प्रमुख कारण इष्ट का अभाव ही माना जाता है। व्यापकता एव प्रभाव की दृष्टि से विप्रलंभ शृंगार निश्चय ही शृंगार रस का अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार वियोग के बिना संयोग परिपुष्ट नहीं होता।[2] विरहावस्था में प्रेमियों का पूर्ण मानसिक मिलन रहता है, मिलने की इच्छा ज्यों ज्यों तीव्र होती जाती हैं, त्यों त्यों प्रेम की गहराई बढ़ती जाती है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण अधिक कांतिमान बनता है ठीक उसी प्रकार विरहाग्नि में तपकर प्रेम निखर उठता है। वियोगवर्णन के अतर्गत प्रायः करुण विप्रलंभ का वर्णन इसलिये नहीं किया जाता कि उससे रसांतर होने की संभावना अधिक रहती है। आलोच्य कवियों के काव्य में विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत पूर्वराग, मान और प्रवास का ही वर्णन विशेष रूप में पाया जाता है।

पूर्वराग :

प्रत्यक्ष, चित्र, स्वप्न तथा गुणश्रवण—इनमें से किसी भी रूप में आलंबन के दर्शन कर लेने पर पूर्वानुराग उत्पन्न हो जाता है। इसमें मिलनोत्सुकता अत्यंत तीव्र रहती है। दांपत्यसंबंध के अभाव में तथा लोकलज्जा आदि के कारण इसके अंतर्गत प्रच्छन्नता और अस्पष्टता अधिक रहती है। आश्रय किसी के संमुख अपनी मनोव्यथा कह भी नहीं सकता, फलस्वरूप उसकी मनोव्यथा बढ़ती ही जाती है। कहीं कहीं विरहजन्य ताप की तीव्रता का अतिरंजित वर्णन भी मिल जाता है। लगभग सभी कवियों

---

१. 'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोसौ।' —साहित्य दर्पण, संपा० डा० सत्यव्रत सिंह, (सन् १९५७), पृष्ठ २३२।

२. न विना विप्रलंभेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥
—साहित्य दर्पण, वही, पृष्ठ २४६।

ने परंपरागत परिपाटी का ही अनुसरण किया है। प्रिय के गुणादि के संबंध में जिस दिन नायिका श्रवण करती है उसी दिन से उसको देखने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। प्रियविरह के कारण उसकी स्थिति अत्यंत व्याकुल हो जाती है। चिंतामणि की नायिका की यह विरहावस्था देखिए—

> जा दिन तें वै सुनै सजनी,
> तब ते मन मैं कछु और न आवै।
> लाल विलोकन कौ ललकै चितु
> भूषन भोजन भौन न भावै।
> द्यौस में फूले ये फूलत आवत,
> राति समै सखि चंद्र सतावै।
> कोउ सदा बड़े साहिब के,
> गुण स्रौननि मेरे सुधा रसु नावै॥[1]

यहाँपर नायक आलंबन और उसका गुणश्रवण उद्दीपन है। लाल को देखने के लिये चित्त का ललकना, भूषण, भोजन, भौन आदि का अच्छा न लगना आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, निर्वेद और व्याधि संचारी भाव हैं। इन सभी से स्थायी रतिभाव पुष्ट होकर विप्रलंभ श्रृंगार रस के रूप में प्रकट है। गुणश्रवण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, चित्र, स्वप्न आदि के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। यहाँ बानगी के रूप में गुणश्रवण का ही उदाहरण दिया गया है।

मान विप्रलंभ :

नायक अथवा नायिका का कुपित हो जाना अथवा रूठ जाना ही मान कहलाता है। आचार्य विश्वनाथ ने इसके प्रणयमान और ईर्ष्यामान ये दो भेद किए हैं।[2] नायक अथवा नायिका के हृदय में एक दूसरे के प्रति अत्यधिक अनुराग होने पर भी वे अकारण ही जो कोप करते हैं उसे प्रणयमान कहते हैं। नायक को अन्य स्त्री पर अनुरक्त देखकर नायिका जो कोप करती है वह ईर्ष्यामान होता है। प्रणयमान में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य दिखाई नहीं देता। परंतु ईर्ष्यामान के अंतर्गत व्यंग और तीव्रता के कारण

---

१. श्रृंगारमंजरी संपा० डा० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६ ई०), पृ० ४८।

२. मानः कोपः सतु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।—साहित्य दर्पण, पृ० २३९।

एक प्रकार का वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। इसके भी तीन भेद किए जाते हैं जो क्रमशः लघुमान, मध्यममान और गुरुमान कहलाए जाते हैं। इनमें मनस्थिति की तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। लघुमान की दृष्टि से चिंतामणि का निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

मन मान कियो वृषभान लली अननै अवलोकन लाल लहै।
एत आइ जुरीं सखिया सिगरी पिय आयो सखी इक बीज कहै।
दृग मूँदि रही चितए जुपै मान लल‍ हँसिते दृग मूँदि रहै।
मुसकाइकै राधिका आनंद सों, भुजमाल सों लाल लपेट गहै ॥[1]

इस छंद में नायिका ने नायक से मान करने की ठान ली है। सखियों ने भी उसे खूब सिखा पढ़ाकर मान करने के लिये तैयार किया था, इतने में प्रियतम का आगमन हो जाने से नायिका राधा अपने नेत्र मूँद लेती हैं। प्रियतम ने भी उसका मानभंग करने के हेतु हँसते हँसते उसके नेत्र मूँद लिए। बातों ही बातों में मानभंग होकर नायिका प्रियतम को अपनी भुजाओं में आबद्ध कर लेती है। यहाँ नायिका की मानसिक स्थिति का उत्तम वर्णन मिलता है। इस छंद में कृष्ण आलंबन और राधिका आश्रय हैं। कृष्ण का आगमन उद्दीपन और राधिका का आँखें मूँद लेना, मान करना और मान भंग होने पर मुस्काना, आनंदित होना आदि अनुभाव और हर्ष संचारी भाव है। विप्रलंभ शृंगार रस का यहाँ अच्छा परिपाक दृष्टिगत होता है। गुरुमान का भी एक उदाहरण देखिए—

चैत को चंद और मंद बयारि बहै अति सीत सुगंध भई इन।
जाकौ घनी ललचाति हौ बाल सो लाल सलौनो पर्‍यो मनि पाइन।
जोबन के दिन पाहुन हैं पछताउगी पीछे के मेरी गुसाइन।
केलि करौ मिलि मोहन सो कहा ठीक जु ठानती हौ ठकुराइन।[2]

नायिका की सखियाँ कृष्ण के साथ 'केलि करौ' की शिक्षा इसलिये देती हैं कि नायिका ने नायक के अपराध (अन्य स्त्री अनुरक्त होने का) पर गुरुमान किया है। नायक के लाख अनुनय विनय करने पर भी उसका मान भंग नहीं होता। इसमें अन्यस्त्रीरतिजन्य ईर्ष्या ही अधिक अभिव्यक्त हुई है। क्रोध का अपेक्षाकृत उग्र रूप ही इसमें व्यक्त हो रहा है। कभी कभी

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ८।१।६१।
२. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ८।१।६४।

अपने गुरुमान को अनुताप भी नायिका को होता है। उदाहरण के लिये सीताराम महापात्र का यह छंद देखिए—

मान मनावत ही कर्‍यो समुझाई बहुभाँति।
कह्यौ न मान्यो शाम को मन पाछे पछताति ॥[1]

प्रवास विप्रलंभ :

प्रिय के विदेशगमन के समय जो प्रेम की दुःखमयी स्थिति होती है, वह प्रवास विप्रलंभ कहलाती है। यह गमन शाप, भय अथवा कार्यवश होता है। प्रवासगमन के लिये गए हुए प्रियतम निश्चित तथा पूर्वनियोजित समय पर लौट नहीं आते तब नायिका को प्रिय की स्मृति अत्यधिक व्याकुल करती है। इसमें तीव्रता की अपेक्षा मानसिक और शारीरिक गंभीरता प्रभूत मात्रा में समाविष्ट रहती है। प्रिय के अभाव में मानसिक स्थिति इतनी विषम तथा अव्यवस्थित हो जाती है कि जड़ चेतन पदार्थों में भेद करने का विवेक प्रायः नष्ट हो जाता है। विरहाग्नि की तीव्रता के कारण कृशता, पांडुता, जड़ता आदि बातें भी नायिका के शरीरपक्ष में पाई जाती हैं। आलोच्य कवियों के काव्य में प्रवास विप्रलंभ का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है। कृष्ण के मथुरा जाने पर गोपी की विरहावस्था का यह छंद देखिए—

कारो जल जमुना को काल सो लागत आली,
छाइ रह्यो मानो यह विष काली नाग को।
बैरिन भई है काली कोयल निगोडी यह,
तैसो ही भँवर कारो बासी बन बाग को।
भूषन भनत कारे कान्ह को वियोग हिए,
सबै दुखदायी जो करैया अनुराग को।
कारो घन घेरि घेरि मार्‍यो अब चाहत है,
एते पर करति भरोसो कारे काग को।[2]

यहाँपर कृष्ण आलंबन और नायिक आश्रय है। जमुना का काला जल, काली कोयल, काले भौंरे आदि उद्दीपन है। नायिका का यह कथन—कारे

---

१ सीताराम महापात्र कृत उक्तिविलास ३।४।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २४१।

कान्ह को वियोग हिए सबै दुखदायी जो करैया अनुराग को—अनुभाव है। विषाद तथा आवेग संचारी भाव हैं। यहाँ विप्रलंभ शृंगार रस का उद्रेक भलीभाँति हुआ है।

चिंतामणि ने मध्या प्रवत्स्यतपतिका के अंतर्गत प्रवासविरह का सुंदर वर्णन किया है। निम्न छंद देखिए—

लाल विदेश की साज सजी, सब सुंदरि हैं हियरे अकुलानो।
चाहै कह्यो अहो प्यारे रहो, तब लाजन ते न कढ़ी मुख बानी।
तौ लगि यौं असवार भयो गुरकाज भयो गुरता अधिकानी।
नैननि ह्वै जल पूरि बढ्यौ मृगलोचनी दुःख समुद्र समानी॥[१]

इस छंद के अंतर्गत प्रियतम के विदेश गमन के समय ही नायिका का हृदय व्याकुल हो जाता है। वह प्रियतम से कुछ कहकर रोकना चाहती थी परंतु लज्जावश वह कह न सकी। तब तक प्रियतम विदेश चल पड़े। अब वह विरहाधिक्य के कारण दुःखसमुद्र में डूब गई है और उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही है। यहाँपर 'लाल' आलंबन है। नायिका आश्रय है। प्रिय के विदेशगमन की तैयारियाँ उद्दीपन हैं। रोकने के लिये कुछ कहने की इच्छा होना, लज्जा से वैसा न कर पाना, अनुभाव है। लज्जा और विषाद संचारी भाव हैं। यहाँ विप्रलंभ शृंगार का पूर्ण परिपाक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

दश दशाएँ :

वियोग की अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—ये दश दशाएँ मानी गई हैं। इनमें से प्रथम पाँच दशाओं में निरंतर परिवर्तित मनःस्थिति का वर्णन किया जाता है तो शेष पाँच दशाओं में शारीरिक क्षीणता का संकेत ही रहता है जिसमें पांडुता, कृशता आदि का समावेश होता है। ये सभी दशाएँ परस्पर संबद्ध रहती हैं जिनसे विरह तथा मिलन की इच्छा की उत्कटता प्रकट होती है और वियोग शृंगार पुष्ट होता है। आलोच्य कवियों के काव्य में इन सभी का वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये यहाँ दो एक छंद दिए जाते हैं।

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ६–१–१६४।

अभिलाषा :

इस दशा में आलंबन से मिलने की अभिलाषा ही प्रधान रहती है। यह प्रियविरह के पश्चात् मन की प्रारंभावस्था होती है। सीताराम महापात्र ने अभिलाषादशा के अंतर्गत आलंबन से मिलने की नायिका की तीव्र अभिलाषा व्यक्त की है। भूख, प्यास आदि का उसे ध्यान तक नहीं है, वह दिनरात अपने ब्रजराज से मिलन की कामना में ही पगी है, देखिए—

भूष प्यास निसि दिन सबै भूली सखी समाज।
तुमहि मिलन की कामना सुफल करौ वृजराज ॥[1]

चिंता :

आलंबन के विरह से अत्यंत दुःखित होकर जब उसे प्राप्त करने के उपाय का विचार होता है तब चिंता दशा की अवस्था आती है। प्रिय व्यक्ति के अर्थात् आलंबन के अभाव में सारा जगत् ही दुःखमय प्रतीत होता है। नायक के विरह में नायिका की विरहदशा का वर्णन तो प्रचुरमात्रा में प्राप्त होता है परंतु नायिका की अनुपस्थिति के कारण नायक का विरहवर्णन बहुत ही कम मिलता है। शाहराज ने 'राधाबंसीधर विलास' के अंतगत कृष्ण का विरहवर्णन किया है। इस छंद की भाषा सुदूर दक्षिण के निवासी अहिंदी-भाषी की है। इसकी शैली परंपरागत ही है। उदाहरणार्थ—

निस दिन बिरह कैसे मैं साहो,
पल चन मोहै कल न परत है।
चंद्र किरन दुख देवे मों को।
मंजु गुंज करते हैं मधुकर।
मलय मारुत दुख दे मों कूँ।
सुक पिक शोरा दुख देवो दूनो।
राधा नादे बिरह बाध कराना ॥[2]

व्याधि और जड़ता :

इसमें विरह के कारण शरीर अत्यंत दुर्बल बन जाता है। दुर्बलता के कारण यदि वह चलने का प्रयत्न भी करती है तो चक्कर खाकर गिर पड़ती

---

१. सीताराम महापात्र कृत उक्तिविलास, २।१२।
२ शाहराज कृत राधा बंसीधर विलास, पृ० २४।

है। इस दशा के अंतर्गत चेष्टारहित शरीर को ही विशेष प्राधान्य दिया गया है। लोकमणि ने इस दशा का जो वर्णन किया है वह द्रष्टव्य है—

नहि ज्वाल जुड़ात अज्यौ उर की घनसारहि घोर दियै तौ दियै।
कवि लोकनजू घसिलाये पटीरन होत समीर कियै तौ कियै॥
सुधि देह को भूलि गई री भटू पय देखो पिया ये पियै तौ पियै।
सब ही मिलि आगम प्रीतम को कहिये सुनि श्रोन जियै तौ जिये॥[१]

यहाँपर नायक आलंबन और नायिका आश्रय है। विरहदशा में पिया की स्मृति उद्दीपन है। देह की सुधि भूल जाना अनुभाव है और व्याधि तथा जड़ता संचारी भाव हैं। इस छंद में विप्रलंभ शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है।

फारसी काव्यशास्त्र में भी विरह की अवस्थाओं का संकेत किया है, किंतु वे दस न होकर केवल नौ ही हैं। उनमें तीन शारीरिक पक्ष से संबंधित हैं, तीन मानसिक और तीन व्यावहारिक पक्ष से संबंधित हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ठंडी साँसें लेना (आहे सर्दों), (२) रंग का पीला पड़ जाना (रंगे जर्दों), (३) आँसुओं का बहना (चश्मेतर), (४) प्रतीक्षा करना (इंतजारी), (५) व्याकुल होना (बेकरारी), (६) अशांत और धैर्यहीन होना (बेसब्र), (७) अल्पाहारी होना (कमखुर्दनो), (८) बहुत कम बोलना (कमगुफ्तगो), (९) नींद न आना (नींदे हराम)।[२] आलोच्य कवियों में से कुछ कवियों पर फारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रभाकर के निम्न छंद में इंतजारी और बेकरारी द्रष्टव्य है—

प्रीत लगा के हुई मैं दीवानी साजन।
अब क्या रो रो भई भरजानी॥ धृ०॥
कोई नहीं मेरा पिहू बिन वाली।
डेरे एकली क्यों कर डाली॥
दर्द के मारे होती जो कहाली।
कहूँ किसे जाकर दुख अपनारी॥[३]

---

१. लोकमणि मिश्र कृत नवरसरंग, १२ ३७।

२. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, भा० १, डा० गोविंद त्रिगुणायत, पृष्ठ १८८-८९।

३. प्रभाकर कृत पोवाडे व लावण्या, संपा० शंकर नरहर जोशी, (प्रथम संस्करण), लावनी क्र० ४४।

श्रृंगार का पारलौकिक पक्ष :

भक्ति भावना को व्यक्त करने के लिये हर देश और हर काल के कवियों ने श्रृंगार की भाषा का प्रयोग किया है। परमात्मा के पुरुष रूप होने से उसे प्रियतम के रूप में समझना यह बात भारतीय विचारधारा के अनुकूल ही है। आलोच्य कवियों में तुकाराम, देवनाथ आदि भक्त कवियों की रचनाओं में प्राप्त श्रृंगार अलौकिक श्रृंगार का ही संकेत करता है। इनका यह श्रृंगार वर्णन यद्यपि लौकिक श्रृंगार की भाँति ही है फिर भी उसका साध्य तो भक्ति ही रहा है। भक्तश्रेष्ठ तुकाराम का निम्नलिखित छंद इस दृष्टि से दर्शनीय है—

हरि बिन रहिया न जाए जिहिरा,
कब की थाडी देखे राहा।
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई,
क्या मोहि पासिती बेर लगाई।
कोई सखी हरि जावे बुलवान,
वारहि डारूँ उस पर ये तन।
'तुका' प्रभु कब देख पाऊँ,
पासी आऊँ फेर न जाऊँ॥[1]

इस छंद में सात्विक प्रेमभाव की उत्तम व्यंजना हुई है। 'हरि बिन रहिया न जाए जिहिरा' में गोपी की व्याकुलता दृष्टिगत होती है। यह आत्मारूपी गोपी परमात्मारूपी प्रियतम से इसलिये मिलना चाहती है कि वह आत्मसमर्पण कर सके और उसी में सदैव विलीन हो जाय। यहाँपर हरि आलंबन और गोपी आश्रय है। हरि का स्मरण, उसे देखने की इच्छा उद्दीपन है। राह में प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहना, सखी को हरि के पास भेजना अनुभाव है। औत्सुक्य तथा वितर्क संचारी भाव हैं। विप्रलंभ श्रृंगार रस का यहाँ पूर्ण परिपाक हुआ है। साँवरे के विरह में बावरी आत्मा का तड़पना और प्रियमिलन की तीव्र अभिलाषा का उत्तम वर्णन देवनाथ ने किया है, देखिए—

सखी मेरो पिया कौन बतावे।
जाऊँगी हूँ बलिहारी ॥ ध्रु० ॥

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, (प्रथम संस्करण), पृ० १६४।

कहा करो, कित ज्याउं अरी।
अब धुंडत हूँ नहि पावे ॥
रैन दिन मोहे चैन पड़े नहीं।
सोवत नींद न आवे ॥
बावरी भई साँवरो नहि दिखत।
या मन विरह सतावे ॥
देवनाथ प्रभु नाथ निरंजन,
पिया मेरो नाहिं दिखावे ॥[1]

बारहमासा तथा षड्ऋतु वर्णन की परंपरा प्राचीन है। देवनाथ ने भी विरहिणी की विरहव्यथा को व्यक्त करने के लिये परंपरागत 'बारहमासा' लिखा है। परमात्मारूपी प्रियतम के विरह में आत्मारूपी गोपी को जीवन भाररूप हो जाता है। केवल 'पियामिलन' की ही आस लगी है। उसे सांसारिक सुखों में किसी प्रकार की रुचि नहीं रही है। माघ मास की ठंड में तो प्रियतम की अत्यधिक स्मृति हो जाती है। देवनाथ का यह विरहवर्णन देखिए—

माहो मास मों मनसिज मोरे बाजत थंड घनेरी।
तकिया तोषक नरम न्याहली कछु नहि लागत प्यारी।
मारी अटारी के डारी निरखत नैन कुंज बिहारी।
खडरस मोहे मीठो न लागत बंसी चित्त चुराई ॥[2]

इस छंद में कृष्ण आलंबन और नायिका आश्रय है। बंसी का बजना, घनी ठंड लगना आदि उद्दीपन है। तकिया तोशक तथा षड्रस का प्यारा न लगना अनुभाव है। निर्वेद, जड़ता तथा मोह संचारी भाव हैं। इस प्रकार स्थायी भाव रति परिपुष्ट होकर वियोग शृंगार के रूप में प्रकट है। कभी कभी ये कवि शृंगार रस में भक्ति के रूपक का भी पूर्ण निर्वाह कर देते हैं, जिससे आध्यात्मिक तथा पारलौकिक पक्ष अधिक ही स्पष्ट हो जाता है।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में शृंगार रस के प्रमुख भेदों तथा उपभेदों के प्रयोग सफलता से किए हैं।

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, (प्रथम संस्करण), पृ० ४१७।
२. वही, पृ० ४२२।

यद्यपि इनकी वर्णन शैली में परंपरागत संकेतों का अनुसरण किया गया है फिर भी प्रत्येक कवि की अपनी विशेषता उसमें अवश्य दृष्टिगत होती है। अधिकांश रचना मुक्तक होने से प्रत्येक छंद अपने आप में पूर्ण है। इन कवियों पर तत्कालीन रीति साहित्य तथा प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

वीर रस :

साहित्य में जितने रस गिनाए गए हैं उन सबमें शृंगार को छोड़कर और सब रसों से वीर रस की व्याप्ति बहुत अधिक है।[1] आलोच्य कवियों की रचनाओं में भी ठीक यही बात दृष्टिगत होती है। इन्होंने अपने काव्य में शृंगार रस के अतिरिक्त वीर रस का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है। हिंदी साहित्य के वीर रस के श्रेष्ठ कवि भूषण त्रिपाठी भी इन कवियों के अंतर्गत आते हैं। भूषण, जयराम आदि कवियों ने अपनी रचनाओं में वीर रस को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। कुछ कवि ऐसे हैं कि जिन्होंने शृंगार के बाद वीर रस ही को विशेष प्राधान्य प्रदत्त किया है। ऐसे कवियों में चिंतामणि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चिंतामणि के 'छंदविचार अथवा भाषापिंगल' तथा 'रसविलास' ग्रंथों में वीर रस पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। शेष कवियों ने अपनी शृंगारप्रधान रचनाओं में प्रसंगानुसार अथवा उदाहरण के रूप में वीर रस को स्वीकार किया है। शहाजी तथा शिवाजी से संबंधित जितने भी छंद प्राप्त होते हैं, उनमें से अधिकांश छंद वीर रस से ओतप्रोत हैं।

इन कवियों के वीर काव्य में वीरता और ऐश्वर्य ये दो विषय प्रमुख रूप में पाए जाते हैं। अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम एवं ऐश्वर्य का वर्णन करना इन कवियों के लिये स्वाभाविक बात थी। उनका यह एक कर्त्तव्य सा था। वीरता के प्रसंग में आश्रयदाताओं अथवा चरित्रनायकों का युद्ध-नैपुण्य, युद्ध के लिये आवश्यक शस्त्रास्त्रों की सामग्री, वीरों की सजधज, सेना का प्रस्थान, वीरों की गर्वोक्तियाँ, तुमुल कोलाहल, पौरुषपूर्ण तथा अभूतपूर्व कार्यों आदि का चित्रण विशेष रूप में किया गया है। ऐश्वर्य के प्रसंग में आश्रयदाताओं अथवा चरित्रनायकों की संपन्नता, समृद्धि, गौरव आदि का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। धनधान्य, द्रव्य, भूमि, हाथी, घोड़े

---

१. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन, ले० बटेकृष्ण, (प्रथम संस्करण), पृ० १७।

आदि ऐश्वर्य के द्योतक माने जाते थे। वीरता एवं ऐश्वर्य में नायक की अलौकिकता दिखाने के लिये कहीं कहीं ऊहात्मक वर्णन भी अवश्य पाया जाता है। ऐश्वर्य वर्णन के अंतर्गत दान वर्णन भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। ये राजा अपने आश्रित व्यक्तियों को प्रसन्न होनेपर स्वर्ण और मुक्तावली से सुसज्जित उन अत्यंत लड़ाके गजों का सहज ही दान कर दिया करते थे, जिन गजों की प्राप्ति के लिये बड़े बड़े मनसबदारों के मुख में पानी भर आता था। संयुक्ताक्षरों की वर्णन शैली का प्रयोग इनकी रचनाओं में लगभग सर्वत्र पाया जाता है। वीर रस के वर्णन के लिये इस शैली का प्रयोग संभवतः ये कवि आवश्यक समझते होंगे। काव्य में कहीं कहीं ऐसे स्थल अवश्य मिलते हैं जहाँ अतिरंजना के कारण अस्वाभाविकता एवम् नीरसता का समावेश हो गया है, परंतु केवल इसी कारण से इनके वीर काव्य को हेय नहीं माना जा सकता। संपूर्ण रचनाओं को देखने पर यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि चारण काल की अपेक्षा इसमें वीर रस का निखरा हुआ रूप दृष्टिगत होता है। अनेक स्थलों पर वीर रस के सभी उपकरणों के संयोग से वीर रस का उत्कृष्ट परिपाक भी दिखाई देता है।

वीर रस के स्थायीभाव 'उत्साह' को सभी कार्यों का मूल कारण मानकर वीर रस के इतने अधिक भेद किए गए हैं कि उसमें युद्धवीर से लेकर विरह-वीर,[1] लेखकवीर तक की परिगणना होने लगी। अधिकांश विद्वान् तथा आचार्य वीर रस के प्रमुख भेद चार ही मानते हैं, और वे हैं-युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। आलोच्य कवियों ने इन चारों प्रकार के वीरों का चित्रण किया है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि धर्मवीर और दयावीर की अपेक्षा युद्धवीर और दानवीर का वर्णन ही अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। वीर रस के इन चारों प्रकारों में स्थायीभाव उत्साह ही रहता है जो किसी महत्कार्य के संपन्न करने में प्रवृत्त कराता है। युद्धवीर में अन्यायी शत्रु का नाश, दानवीर में त्याग का, दयावीर में दयापात्र के कष्टनिवारण का, और धर्मवीर में अधर्मनाश एवं धर्म संस्थापन का उत्साह रहता है। यहाँ वीर रस की शास्त्रीय चर्चा करना तर्कसंगत न होगा। अतः इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त वीर रस के छंदों को उदाहरण रूप में देना अधिक संगत होगा।

---

१. वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' के अंतर्गत 'विरहवीर' का उल्लेख किया है।

युद्धवीर :

आचार्य मम्मट ने केवल युद्धवीर को ही वीर रस माना है।[1] इसका तात्पर्य यही लेना चाहिए कि वीर रस के सभी प्रकारों में युद्धवीरत्व ही प्रधान है। काव्य में भी तुलनात्मक दृष्टि में देखने पर अन्य प्रकारों की अपेक्षा युद्धवीरत्व का वर्णन ही प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कर्म की विविधता, परिस्थितियों की प्रचुरता, सभी प्रकार के संचारी भावों, अनुभावों, उद्दीपनों आदि के दर्शन इसी में सबसे अधिक पाए जाते हैं। यही एक ऐसा भेद है जो विस्तार में शृंगार रस से टक्कर ले सकता है।[2] भूषण कृत युद्ध-वीरत्व का यह छंद देखिए—

छूटत कमान वान बंदूक रु कोकवान,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट में।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दाव बाँधि द्वेषिन पै वीरन लै जोट में।
भूषन भनत तेरी हिम्मनि कहाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लागि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
घाव दै दै अरिमुख कूदै परैं कोट में ॥[3]

युद्ध के समय शिवाजी की आज्ञा होते ही उत्साह सहित उनके सैनिकों ने शत्रु पर आक्रमण कर जो तहलका मचाया उसका यहाँ वर्णन है। यहाँपर उत्साह स्थायीभाव है। शत्रु आलंबन है और शत्रुओं द्वारा तोपों, गोलियों तथा वाणों का चलाना तथा परिणामस्वरूप शिवाजी का आज्ञा देना उद्दीपन है। मूँछों पर ताव देना, शत्रु सैनिकों को घायल करना आदि अनुभाव है। धृति और उग्रता संचारी भाव है। इन सभी से स्थायीभाव उत्साह पुष्ट होकर युद्ध-वीर रस में प्रकट हुआ है। ऐसे कई छंद भूषण के काव्य में प्राप्त होते हैं। कभी कभी प्रतिपक्षी अपने शत्रु को उकसाने के लिये मदमत्त हाथी को छोड़ देते हैं। ऐसे मदमत्त हाथी को रोकना कोई साधारण बात नहीं है। शहाजी

---

१ आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश, संपा० डा० नगेंद्र, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ३१।

२. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन, वटेकृष्ण, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १२६।

३. भूषण ग्रंथावली, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृ० २०८।

के द्वारा शत्रु के गज को छिन्नभिन्न किए जाने का वर्णन करते हुए जयराम कवि कहते हैं—

राजन के सरजा नृप साहे महा बलबीर किरीट के मंडन ।
चंड गह्यो कर तें करवाल कर्‌यो अरि के करिको कट खंडन ।
फैल परे मुक्ताहल ता परि कुंडलिसी करी सुंड के दंडन ।
मानहु बाँबि समीप समेटि लेय बैठि साँपनि अपने अंडन ॥[१]

मुक्ताहल के बीच गिरी हुई शुंडा को बाँबी के पास अपने अंडों को समेटकर बैठनेवाली साँपिन की उपमा कवि की अपनी सूझ है। यहाँ आलंबन शत्रु और आश्रय शहाजी है। शत्रु के हाथी का आना उद्दीपन है। अपनी तलवार से उसको काटना अनुभाव है और उग्रता, कोध संचारी भाव हैं। इन सब अंगों से यहाँ वीर रस का अच्छा परिपाक हो चुका है।

इसी प्रकार श्रीगोविंद कवि के युद्धवीरत्व का यह उदाहरण भी देखिए—

भूप शिवराज शाहि प्रबल प्रचंड तेग,
तेरो दोर दंड भूमि झारत झड़ाका है।
फारे आसमान भासमान को गरब गारे,
डारे मघवान हू के हिय में हडाका है।
कहे श्री गुविंद सब शत्रुन के शीशन पै,
गाज से गिरत करी गाज सों धड़ाका है।
हौदा काटि हाथी काटि भूतल वराह काटि,
करती कमल पीठ करती कडाका है ॥[२]

इस छंद में शिवाजी की तलवार का वर्णन है जिससे शिवाजी के पराक्रम की व्यंजना होती है। यहाँ उत्साह स्थायीभाव है और शत्रु आलंबन है। शत्रु का उपस्थित होना, ललकारना आदि उद्दीपन है जो व्यंग्य रूप में स्थित है। शत्रुओं के शीश पै तलवार चलाना अनुभाव है और त्रास, उग्रता तथा विस्मय संचारी भाव हैं। अतः उत्साह का परिपोषण होकर युद्धवीर रस की निष्पत्ति हो सकी है।

---

१. जयराम कवि कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८३४), पृष्ठ २४२।

२ शिवराजशतक, संपा० गोविंद गिल्लाभाई, (सन् १९१६ ई०), पृष्ठ ११९–१२०।

दानवीर :

दानवीर वही माना जाता है जो दान करने में उत्साह दिखाता है। यों तो दान कुछ न कुछ सभी करते हैं, किन्तु सभी को दानवीर नहीं कहा जाता। दानवीर तो वह कहलाता है जिसे दान देने में अतीव प्रसन्नता का अनुभव होता है और जो उसके लिये बड़े से बड़े कष्ट सहने में भी किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं करता। दानवीर के लिये माँगनेवाला कोई भी हो वह उसको दान देता है और जो माँगता सो देता है। वह याचक को संतुष्ट करना अपना धर्म समझता है। यही कारण है कि दानवीर दान में दी जानेवाली वस्तु के मूल्य का विशेष विचार नहीं करते। उनमें दान देने का उत्साह ही अधिक होता है। शिवाजी के दानवीरत्व का भूषण कृत यह छंद द्रष्टव्य है—

साहितनै सरजाकी कीरति सों चारों ओर,
चाँदनी वितान छिति छोर छाइयतु है।
भूषन भनत ऐसो भूमिपति भोंसिला है,
जाके द्वार भिच्छुक सदा ही भाइयतु है।
महादानी सिवाजू खुमान या जहान पर,
दान के बखान जाके यों गनाइयतु है।
रजत की हौंस किए हेम पाइयतु है,
हयन की हौंस किए हाथी पाइयतु है॥[1]

इस छंद में वीर रस के सभी उपकरण उपस्थित हैं। उत्साह स्थायीभाव के आलंबन भिक्षुक और आश्रय शिवाजी हैं। याचक की योग्यता, उसका कीर्तिगान आदि उद्दीपन है। याचक पर प्रसन्न होकर उसकी इच्छा से अधिक दान देना अनुभाव है। हर्ष संचारी भाव है। इन सभी उपकरणों के संयोग से वीर रस का प्रस्फुटन हुआ है।

शिवाजी की यह दानवीरता उनके पिता शहाजी में भी पर्याप्त मात्रा में थी। शहाजी के पास जो भी याचक आता उसकी इच्छा पूर्ण कर उसके दुःख को मिटाना वे अपना कर्तव्य समझते थे। कभी कभी अंतर्यामी की

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० १६९।

भाँति याचक की इच्छा को जानकर वे उसे पूर्ण कर देते थे। चिंतामणि कृत निम्न छंद में शहाजी की दानवीरता के सहज दर्शन हो जाते हैं—

जाको प्रबल प्रताप तिष्ण लागें रविहूँ कौं,
जाकी छवि नहिं गनें कोटि शशि की छबि हूँ कौं।
इच्छा पूरन करै याहि जो ताके आवैं,
अंतरजामी साहि सकल संताप निरावै ॥[1]

यहाँपर उत्साह स्थायीभाव और शहाजी आश्रय हैं। आलंबन आनेवाले याचक और उद्दीपन याचक का इच्छा व्यक्त करना, संताप आदि है। याचक की इच्छा पूर्ण करना, उसके दुःख दूर करना आदि अनुभाव है। हर्ष तथा गर्व संचारी भाव हैं। अतः यहाँ वीर रस की निष्पत्ति हो जाती है।

दयावीर :

दयावीर में आलंबन की असहाय स्थिति का चित्रण होता है जिसमें आलंबन दया का पात्र हो सके। उसकी दयनीय अवस्था को दूरकर उसका संरक्षण करने का उत्साह आश्रय में उत्पन्न होता है। जयराम कवि का यह छंद इस दृष्टि से उल्लेखनीय है --

इंद भयो सब हिंदुन को अरु आयुखमान को छत्र कियो है।
ज्योंहि गोवर्धन कृष्ण धर्‍यो तर गोकुल वो कुल लोक जियो है।
साहे खुमान को दान कहा विधि कैसे कियो निधि मोल लियो है।
कारनि याको कह्यो कतार ने सीसोदिये कुल सीसो दियो है ॥[2]

इस छंद में शहाजी की दयावीरता का वर्णन है। यद्यपि अंत में दानवीरता का उल्लेख भी हुआ है फिर भी प्रमुखता दयावीर की ही है। यहाँ हिंदू जनता आलंबन है और शहाजी आश्रय हैं। असुरों से पीडित देवताओं का जिस प्रकार इंद्र ने संरक्षण किया था तथा गोवर्धन पर्वत धारणकर जिस प्रकार असहाय गोकुलवासियों को कृष्ण ने बचाया था उसी प्रकार शहाजी ने असहाय हिंदू जनता को यवनों के अत्याचारों से बचाया है। यहाँपर

---

१. चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार), छंद १०६, (नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति)।

२. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८३४ ; पृ० २६८।

हिंदुओं की दयनीय अवस्था उद्दीपन है जिसका वर्णन व्यंग्य रूप में किया गया है। उनकी असहाय स्थिति का विनाशकर उन्हें संरक्षण देना अनुभाव है। हर्ष तथा धृति संचारी भाव हैं। इस प्रकार दया का उत्साह स्थायीभाव पुष्ट होकर वीर रस के रूप में प्रस्तुत है। इसी प्रकार चिंतामणि के 'कृष्ण-चरित्र' में वर्णित कालियानाग को अभयदान देने का प्रसंग भी दयावीर के अंतर्गत रखा जा सकता है। कृष्ण द्वारा कालियानाग का दमन होने पर उसे अपनी भूल का ज्ञान होकर पछतावा होता है। तब वह कृष्ण से दया की याचना करता है। उसकी वह दयायाचना तथा दीनता देखकर कालिंदी छोड़कर सागर में जाने की शर्त पर कृष्ण जैसे पराक्रमी वीर उसपर दयाकर क्षमा करते हैं; देखिए—

विह्वल कालिय प्रबल पग घातन मरन
समय सरन गुविंद मन में धरे।
नाग नागनीन कर जोरि के प्रशंसा करी
ढरे ततछन दीनबंधु जू दया भरे।
कालिय को कान्ह जू अभय दान दीह्नों कह्यौ
ह्याँ तै जाहि सागर ह्वाँ तो को सुख है खरे ॥[1]

यहाँ कालियानाग आलंबन और कृष्ण आश्रय हैं। कालियानाग की विह्वलता तथा प्रार्थना करना उद्दीपन है। कृष्ण का दयालु होकर अभयदान देना और उसे सागर में जाने के लिये कहना अनुभाव हैं। विबोध तथा धृति संचारी भाव हैं। यहाँ स्थायीभाव उत्साह इन सभी से पुष्ट होकर वीर रस में परिणत हुआ है।

धर्मवीर :

धर्मवीर में कर्त्तव्य की दृढ़ता ही प्रधान होती है। इसमें शक्ति के प्रदर्शन का उतना ध्यान नहीं रहता जितना लोक में स्थापित व्यवस्था की रक्षा में रहता है। उसके लिये चाहे युद्ध में मर मिटना पड़े अथवा किसी प्रकार के कष्ट सहने पड़े तो वह उसकी परवाह नहीं करता। आलोच्य कवियों के समय 'धर्म' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त न होकर विशेषतः हिंदू धर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। आज के युग में धर्म को सांप्रदायिक रूप की अपेक्षा व्यापक

---

१. चिंतामणि कृत 'कृष्ण-चरित्र', ११६।

अर्थ में अर्थात् मानवधर्म के रूप में देखना ही संगत होगा। यदि ऐसा किया जाय तो वीर रस के उपर्युक्त भेद भी इसी के अंतर्गत आ सकते हैं। संभवतः इसी विचार के कुछ आचार्यों ने वीर रस के अंतगत 'धर्मवीर' का समावेश नहीं किया और युद्धवीर, दानवीर तथा दयावीर ये तीन ही भेद माने हैं।[1] आलोच्य कवियों में चिंतामणि और लोकमणि मिश्र को भी रसतरंगिणीकार भानुदत्त का ही मत मान्य है। भूषण की कविता में मात्र धर्मवीर के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं, देखिए—

राखी हिंदुवानी हिंदुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे बेदबिधि सुनी मैं।
राखी राजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यौ गुन राख्यौ गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्ठन की,
देस देस कीरति बखानो तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिकै दिवाल राखी दुनी मैं॥[2]

इस छंद में शिवाजी की धर्मवीरता का वर्णन अत्यंत सफलता से किया है। यहाँपर स्थायीभाव उत्साह है और आलंबन अत्याचारी औरंगजेब है। उसके द्वारा किए गए अत्याचार, हिंदू धर्म तथा वेदादिसंमत बातों का ध्वंस करना उद्दीपन है। हिंदूधर्म के संरक्षणार्थ तलवार चलाना और अत्याचारियों का दमन करना अनुभाव है। धृति, हर्ष, गर्व संचारी भाव हैं। यहाँ इन सभी से उत्साह स्थायीभाव परिपुष्ट होकर वीर रस के रूप में प्रकट हुआ है। कहीं कहीं युद्धवीर और दानवीर का मिश्रित रूप भी प्राप्त होता है। यथा—

मंगन विपति विहंडन कित्तिय भरिय ब्रह्मंड है।
साहि सबल रिपु दंडन अति उदंड भुज दंड है॥

---

१. 'वीरस्तु युद्धवीर दानवीर दयावीर भेदात् त्रिधा', रसतरंगिणी (भानुदत्त कृत), प्रथम तरंग श्लोक ११।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २०६।

हनि अरि तमवतुंडन तेज चंड कर चंड है।
कुल महि मंडल मंडन षल खंडन वरि वंड है ॥[1]

आलोच्य कवियों ने वीर रस के अंतर्गत दयावीर और धर्मवीर का बहुत कम प्रयोग किया है। वीर रस के अंतर्गत शृंगार, भयानक, रौद्र आदि रसों का भी समावेश कम अधिक अनुपात में प्राप्त होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन कवियों ने वीर रस के प्रमुख प्रकारों का अपने काव्य में प्रसंगानुकूल तथा यथोचित प्रयोग किया है।

करुण रस :

साहित्य में शृंगार और वीर रस के पश्चात् व्यापकता की दृष्टि से करुण रस का ही प्रयोग अधिक मात्रा में दृष्टिगत होता है। भारत के आदि काव्य रामायण का मूलाधार करुण रस ही रहा है। भोज ने जिस प्रकार एकमेव रस के रूप में शृंगार को स्वीकार किया है उसी प्रकार भवभूति ने भी 'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्' कहकर करुण को हि एकमात्र रस मानकर अन्य रसों को भेद के कारण मान लिया। करुण रस का स्थायीभाव शोक है। प्रियवियोग, इष्टनाश, नैराश्य, धर्माघात, द्रव्यनाश आदि अनिष्टों से करुण रस उत्पन्न होता है। आलोच्य कवियों के काव्य में इस रस का प्रयोग स्वतंत्र रूप में नहीं मिलता। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। राजाश्रित होने के कारण इन कवियों ने राजाओं की प्रशस्तिपरक रचनाओं की ओर ही अधिक ध्यान दिया। रीतिकालीन प्रवृत्ति ने उन्हें वीर के साथ शृंगार रस का वर्णन करने के लिये विशेष प्रेरित किया। चिंतामणि के 'कृष्णचरित्र' नामक प्रबंध काव्य को छोड़ अन्य किसी रचना में प्रबंधात्मकता न होने से करुण रस के लिये उपयुक्त प्रसंग भी नहीं थे। 'कृष्णचरित्र' में भी ऐसे प्रसंग कम ही रहे हैं। इन कवियों ने अपने रीतिग्रंथों में इस रस के उदाहरण रूप में करुण रस का वर्णन किया है। कहीं कहीं यह रस शृंगार तथा वीर के अंतर्गत मिश्रित रूप में भी पाया जाता है। लोकमणि का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

व्यापत मैन सदाशिव कोप त्रिनैनन ज्वाल कदा सियरे भई।
लोकनजू तिय आइ तहाँ पिय छार निहार दुखी जियरे भई॥

---

१. चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार), छंद ४२, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति।

भूमि परी विरहाज्वर ते दृग के जल सींचि विथा सियरे भई।
दीन दसा रति हेरत ही करुना कलिका हर के हियरे भई॥[1]

इस छंद में स्थायीभाव शोक है और आलंबन मदन है। आश्रय मदन की पत्नी रति है। उद्दीपन मदन की छार है। पिया की छार देखकर भूमि पर गिरना, आँसू बहाना आदि अनुभाव हैं। जड़ता, विषाद संचारी भाव हैं। इन सभी से स्थायीभाव शोक परिपुष्ट होकर करुण रस में परिणत हुआ है। इसी प्रकार चिंतामणि का निम्न छंद भी देखिए--

ऐसी भाँति राम सब नीति कौ प्रकार पूछ्यौ,
भरत सुनायो रोई पिता को मरन है।
बिह्वल अंगन ते अचेत ह्वै गिरे हैं भूमि,
भाइन को गन देखि भयौ असरन है।
तेरे ही वियोग तें तिहारे पिता प्रान तजे,
तुम को धरा को अब धीरज धरत है।
यह सुनते ही राम सूनो सब जगत लख्यौ,
वही समै ह्वै गयो बदन विवरन है।[2]

यहाँपर दशरथ की मृत्यु आलंबन और राम आश्रय हैं। भरत का कारुणिक कथन उद्दीपन है। राम को सारा जगत् शून्यवत् लगना तथा उनका मुख विवर्ण होना अनुभाव है। विषाद, ग्लानि तथा निर्वेद संचारी भाव हैं। करुण रस के परिपाक के लिये आवश्यक सामग्री यहाँ उपलब्ध होने से स्थायीभाव शोक करुण रस के रूप में उपस्थित है।

शाहजी के पराक्रम की धाक इतनी थी कि उनके भय से भयभीत होकर शत्रुओं की स्त्रियाँ कंदरा में भाग गईं। वहाँ जंगलों में वे वानरों के हाथों पड़ीं। उस समय उनकी जो कारुणिक अवस्था हुई उसका वर्णन जयराम कवि ने इस प्रकार किया है—

माल मकरंद साहे तेरे वैरन की
बंदर में बंद परी कंदरि मों सुंदरी।
कोमल कमलहूत कुद्मलिनी भाज भाज
साज पर सोय गई रोय रोय के घरी।

---

१. लोकमणि कृत नवरस रंग, ६।२०।
२. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ८।१।१०१।

बनचर आय सुँगे तालफल जानि कुच
बिंबफल विभ्रम सों ओठ मूठ मों धरी।
दारि के बीज जानि दाँत गहे दाँतनिसों
और भाँत भाँत की विपति गात को करी ॥[१]

इस छंद में करुण रस का पर्यावसान बीभत्स रस में हो चुका है। जो अवयव सुंदरियों के लिये गर्व के कारण थे वे ही आज उनके लिये दुःख के कारण बने हैं। भूषण ने भी 'ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी' वाले छंद में शिवाजी के भय से भयभीत शत्रुनारियों के कंदरा में भाग जाने का करुण वर्णन किया है परंतु उसमें वह बीभत्स भाव नहीं आने पाया जैसा इस छंद में प्राप्त है। आलोच्य कवियों ने यत्रतत्र करुण रस का जो वर्णन किया है वह अधिकांश रूप में परंपरा के अनुसार ही दृष्टिगत होता है। लोकमणि का उक्त छंद अवश्य ही नवीनता रखता है।

अद्‌भुत रस :

वीर रस से विकसित होने के कारण अद्‌भुत रस वीर रस के प्रसंग में बहुधा देखा जा सकता है। अत्यंत उत्साह की प्रतिमूर्ति बनकर ही व्यक्तियों ने विस्मय में डालनेवाले काम किए हैं।[२] परंतु इसका अर्थ यह नहीं मानना चाहिए कि यह रस केवल वीर रस के ही अंतर्गत मिलता है। किसी भी प्रकार के वैचित्र्यपूर्ण, अद्‌भुत तथा आश्चर्यकारक वर्णन में यह प्राप्त होता है। कबीर आदि संतों ने उलटबाँसियों में अद्‌भुत रस ही की सृष्टि की है। अद्‌भुत रस का स्थायीभाव विस्मय या आश्चर्य है। आलंबन अलौकिक चरित्र, विचित्र दृश्य अथवा वस्तु है और ऐसे चरित्र के संबंध में सुनना या उसपर बार बार विचार करना उद्दीपन है। नेत्रविस्फारण, रोमांच, स्तब्ध होना, अवाक् होना आदि अनुभाव है। दर्शक आश्रय है। भ्रम, हर्ष, औत्सुक्य, चंचलता, प्रलाप आदि संचारी भाव हैं। आलोच्य कवियों ने भी इस रस का प्रयोग किया है। कबीर की भाँति देवनाथ ने भी उलटबाँसियाँ लिखी हैं जिनमें अद्‌भुत रस स्वतः प्रकट हुआ है, देखिए—

---

१. जयरामकृत राधामाधवविलास चंपू, संपा०, राजवाडे, (शके १८४४), पृ० २४८।

२. काव्यविवेचन, डॉ० त्रिवेदी तथा डॉ० उषा गुप्ता, (प्रथम संस्करण), पृ० १३४।

चूहे बादल उड़े गगन सो कौवा तीर चलावे।
बकरी ने जद बाघ पछाड़ा बाघ कौन छुड़ावे।
सद्गुरु वाह वाजी। खेल तुम्हारा कैसा जी॥
गूँगा बात बहेरे सो कहता अंधा कुरान बाचे।
टुंडे ने जब ढोल बजाया लंगड़ा क्या खूब नाचे।
सद्गुरु वाह वाजी। खेल तुम्हारा कैसा जी॥
'देवनाथ' की अमृत बानी सुनो मोरे भाई।
उलट भेद है सद्गुरु घर का बिरला समझे कोई।
सद्गुरु वाह वाजी। खेल तुम्हारा कैसा जी॥[1]

यहाँ विस्मय स्थायीभाव और सद्गुरु का खेल आलंबन है। दर्शक आश्रय हैं। चूहों का बादल में उड़ना, कौवे का तीर चलाना, बकरी का बाघ को खाना, गूँगे का बहरे से कहना, अंधे का कुरान पढ़ना, टुंडे का ढोल बजाना, लंगड़े का नाचना आदि उद्दीपन हैं। यह विचित्र खेल देखकर स्तंभित तथा अवाक् हो जाना अनुभाव है। भ्रम, वितर्क तथा हर्ष संचारी भाव हैं। यहाँ इन सभी अंगों के संयोग से अद्भुत रस की निष्पत्ति हो पाती है। कमल से कोमल करों से कराल कंस को मारना भी क्या आश्चर्यजनक बात नहीं है! सीताराम का यह छंद देखिए—

अली अचंभो येक सुनु यह बालक नंदलाल।
पंकज से कोरे करनि मार्‍यों कंस कराल॥[2]

इस छंद में आलंबन है बालक नंदलाल और आश्रय है दर्शक सखी। कमल की भाँति कोमल करों से बालक नंदलाल का कराल कंस को मारना उद्दीपन है। गद्गद होकर अपनी सखी से सुनाना अनुभाव है और औत्सुक्य तथा हर्ष संचारी भाव हैं। इन सभी रसावयवों से स्थायीभाव विस्मय पुष्ट होकर अद्भुत रस में परिणत हुआ है। जयराम कवि का यह छंद भी अद्-भुत रस की निर्मिति में योग देता है—

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पं० प्रयागदत्त शुक्ल, (प्रथम सं०), पृ० ४४।

२ सीताराम कृत उक्तिविलास, १।४०।

अद्भुत नरपति साहे देखि तुव प्रबल बाहुबल।
भज्जत जित तित भीत अति ससमित सभीत शत्रु दल ॥[1]

इस प्रकार लगभग सभी कवियों ने अद्भुत रस का प्रयोग अपनी रचनाओं में सफलता के साथ किया है। भूषण ने शिवाजी के अलौकिक पराक्रम वर्णन में इस रस का खूब अच्छा प्रयोग किया है।

हास्य रस :

वाणी, रूप, आकार, वेश कार्य आदि के विकृत हो जाने से हास्य रस की उत्पत्ति होती है। हास्य की सीमा वहीं तक रहती है जहाँ तक इस विकृति से कोई अनिष्ट न हो, अनिष्ट होकर वह करुण रस में परिणत होगा।[2] भरत मुनि ने हास्य की उत्पत्ति शृंगार से मानी है।[3] उन्होंने हास्य रस के दो भेद माने हैं जिन्हें आत्मस्थ और परस्थ कहा है। जब व्यक्ति स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ हास्य और दूसरे को हँसाता है तो परस्थ हास्य कहलाता है।[4] किंतु रसगंगाधरकार ने इन भेदों की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनके मतानुसार हास्य विषय को देखने से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ और दूसरे को हँसाता देखकर हँसने से परस्थ हास्य की सिद्धि होती है।[5] रसगंगाधरकार की व्याख्या अधिक तर्कसंगत ज्ञात होती है। स्फुटता के विचार से भरतमुनि ने हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित अपहसित तथा अतिहसित—ये छह भेद किए हैं। आलोच्य कवियों की रचना में इनमें से प्रथम चार प्रकारों की अधिकता दिखाई देती है। हास्य रस के देवता प्रमथ अर्थात् शिव के गण और रंग श्वेत माना गया है। इसका स्थायीभाव हास होता है। विकृत रूप, आकार, वेशभूषा, अनर्गल वचन, विलक्षण चेष्टाएँ आदि को आलंबन के अंतर्गत रखा जाता है। विचित्र अंगभंगिमा, क्रियाकलाप, चेष्टाएँ आदि उद्दीपन हैं। दृश्य या विकृत रूप आदि को देखकर खिलखिला उठना, मुखपर प्रसन्नताजनक दीप्ति होना, व्यंग्य वाक्य कहना, नेत्र तथा मुख

---

१. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाडे, (प्रथम संस्करण), पृ० २७७।
२. वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते।—साहित्यदर्पण, पृ० २२७।
३. शृंगाराद्धिभवेद्धास्यः।—नाट्यशास्त्रम् ६।३६।
४. द्विविधश्चायं आत्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः। यदा परं हासयति तदा परस्थः।—नाट्यशास्त्र, पृ० ७४।
५. आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः। देवीं च हासयतीति तस्याः परस्थः।—रसगंगाधर, पृ० ३१३, (अ० भा०)।

का स्फुरित होना आदि अनुभाव हैं। अवहित्था, अश्रु, रोमांच, कंप, हर्ष, स्वेद, चंचलता आदि संचारी भाव माने जाते हैं। शाहराज सुकवि का हास्य-रसपूर्ण यह छंद द्रष्टव्य है--

लरकात आवे द्वारपाल देखो।
शिर बाँध चीरा नीको।
जामा पहर देखो तिलक माथे धर।
सब जन दूर करै लारी हाथ धर।
पटक बाँध कर हसत खेलत आवे देखो ॥[1]

इसमें द्वारपाल की विचित्र वेशभूषा तथा हावभाव आदि से हास्य रस उत्पन्न हो जाता है। यहाँपर आलंबन है द्वारपाल और आश्रय है दर्शक। उसका लचकते हुए आना, सिर पर लहरियादार रंगीन कपड़ा बाँधना, जामा पहनकर माथे पर तिलक धारण करना, लारी से सब को दूर करना; हँसते खेलते हुए प्रवेश करना आदि उद्दीपन हैं। खिलाखिलाकर हँसना अनुभाव है। हर्ष, चंचलता आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से स्थायीभाव हास परिपुष्ट होकर हास्य रस में उपस्थित है। लोकमणि मिश्र ने शंकर की विचित्र वेषभूषा तथा कार्यों का वर्णनकर हास्य रसनिर्मिति की है, देखिए—

ओढ़े गजखाल कनफटा शसि भाल जटाजूट,
मूड माल कालकूट को अहारी है।
लोकन भनत अभिलाष पेटे भाँग को लपेटे,
राख अँग को समेटे नाग भारी है।
भूत वैताल दूत भिरत कराल रूप फिरत,
पिशाच विरुपाक्ष के विहारी है।
बूढ़े बैल चढ़ो बूढ़ो दुलह विहारि कढ़ो,
शैल परिवार खड़ा हँसे नरनारी है ॥[2]

यहाँपर हास स्थायीभाव के शंकर आलंबन और नरनारी आश्रय हैं। शंकर का गजखाल ओढ़ना, कनफटा होना, मूँडमाल पहनना, कालकूट का

---

१. शाहराज कृत राधावंसीधर विलास, पृ० २८।
२. लोकमणि कृत नवरसरंग, ५।१६।

आहार, शरीर को राख से लपेटना, नागों को धारण करना, दूत के रूप में वेताल, भूत, पिशाच को लाना, बूढ़े बैल पर चढ़ना आदि सभी बातें उद्दीपन पक्ष में आ जाती हैं। नरनारियों का हँसना अनुभाव है। हर्ष, भय, औत्सुक्य संचारी भाव हैं। यहाँ हास्य रस का उत्तम प्रस्फुटन दृष्टिगत होता है। अनंत फंदी के निम्नलिखित काव्यांश में भी हास्य रस द्रष्टव्य है—

जोरू कसम का कज्या सुनो हाजा लड़ते फिरते थे।
बड़ा हजांबा खड़ा एक पर एक धबा धब गिरते थे।
खाने पीने के तंगशाई ये तो नाका दिन निकला।
माँ बाप नो भला न किया मुजपर रुटा हात गारा।
सारा दिन घर भुला खडू किव नहीं करता मुकाबला।
मैं चरखे की कमाई कहाँ लग तुझे खिलाऊँ नगदुल्ला।
तू क्या कमाती फत्तर चुडैल क्यों करती हाय हाय।
ऐसे लगकर जुथा मारु एक बाल नहिं रहने पाय।
क्या पशम चरखे की कमाई हम शिपाई हरगिज ना खाय।
दर रकिब मारे तलवारा लोह खनाखन तुटता जाय ॥[1]

इस काव्यांश में पतिपत्नी के झगड़े का मनोरंजक वर्णन किया है। इस झगड़े को देखने के लिये इतनी भीड़ लग जाती है कि हँसते हँसते लोग धबाधब एक दूसरे पर गिर पड़ते थे। पति के निठल्लेपन के कारण उदरपूर्ति के लिये पत्नी को चरखा चलाकर द्रव्यार्जन करना पड़ता है। लेकिन चर्खे से धनप्राप्ति होगी भी क्या ? एक दिन तंग आकर वह अपने पतिदेव को भला-बुरा कह बैठती है। वह भी अपने पौरुष, पराक्रम का वर्णन कर पत्नी की धनप्राप्ति को नगण्य मात्र समझता है। इस प्रकार उन दोनों के वार्तालाप से विनोदनिर्मिति हो जाती है। यहाँ हास स्थायीभाव है। दर्शक लोग आश्रय और पति पत्नी का झगड़ा आलंबन है। झगड़े में दोनों की उक्तियाँ उद्दीपन हैं। लोगों का लोटपोट होकर हँसना और एक दूसरे पर गिर जाना अनुभाव है। हर्ष, तथा औत्सुक्य संचारी भाव हैं। हास्य रस का यहाँ अच्छा परिपाक हो गया है। इसे 'अतिहसित' के अंतर्गत रखा जा सकता है।

---

1. अनंत फंदी कृत कविता, संपा० शंकर तुकाराम शालिग्राम, (प्रथम संस्करण), लावनी क्रमांक १६।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों ने हास्य रस के लगभग सभी भेदों का प्रयोग अपनी रचनाओं में सफलता से किया है।

रौद्र रस :

शत्रु की अपमानजनित चेष्टाओं से तथा गुरुनिंदा, देशप्रेम का अपकार और अपमान होने पर रौद्र रस का उदय होता है। इस रस का स्थायीभाव क्रोध है। इसके देवता रुद्र और वर्ण रक्त के समान लाल माना गया है। इसका आलंबन शत्रु या अपमानित बात कहनेवाला व्यक्ति होता है। अपमान तथा निंदाभरे वचन उद्दीपन रहता है। मुख और नेत्र का लाल होना, भौंहे तानना, दाँत पीसना, ललकारना, कंप, रोमांच, प्रस्वेद आदि अनुभाव के अंतर्गत आते हैं। गर्व, अमर्ष, उग्रता, मद, स्मृति, उद्वेग, असूया आदि संचारी भाव हैं। यह रस वीर रस का मित्र रस है अतः उसके आलंबन विभाव में बहुत सा साम्य रहता है। भूषण तथा चिंतामणि ने अपने आश्रयदाताओं के वीर रसपूर्ण वर्णनों के अंतर्गत इस रस का प्रयोग अधिक सफलता से किया है। शेष कवियों ने भी प्रसंगानुकूल इस रस का अवश्य उपयोग किया है। भूषण कृत निम्न छंद रौद्र रस के लिये द्रष्टव्य है—

सारी पातसाही के अमीर जुरि ठाढे तहाँ,
लायके बिठायो कोऊ सूबन के नियरे।
देखि कै रसीले नैन गरब गसीले भए,
करी न सलाम न बचन बोले सियरे।
भूषन भनत जबै धरचौ कर मूठ पर,
तबै तुरकान के निकसि गए जियरे।
देखि तेग चमक सिवा को मुख लाल भयो,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ॥[1]

यहाँपर स्थायीभाव क्रोध है। आश्रय हैं शिवाजी और आलंबन है औरंगजेब तथा उसके सेवक। अमीर उमरावों की उपस्थिति में शिवाजी को साधारण सूबेदार की श्रेणी में बिठाना उद्दीपन है। बादशाह को सलाम न करना, विनीत वचन न कहना, तलवार की मूठपर हाथ रखना, मुख रक्त-रंजित होना आदि अनुभाव है। अपस्मार, मति, अमर्ष, उग्रता आदि संचारी

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २१७।

भाव हैं। इन विभावानुभावादि से स्थायीभाव क्रोध परिपुष्ट होकर रौद्र रस के रूप में यहाँ प्रकट हुआ है। इसी प्रकार चिंतामणि का यह छंद भी देखिए—

अति अपार आकास धूरि पूरन सम गा करि।
अह निशि वासर वृंद चलिय उद्दाम दरप धरि॥
दिग्जिय पूरन विपति रोकि रावन के देसहि।
चलौ उजारौ लंक दौरि मारौ लंकेसहि॥
'चिंतामनि' वलगन करत सव वल उद्भट समर भट।
अति प्रवल विपुल कपि वलजलधि पहुँच्यौ दक्षिन जलधितट॥'[1]

इस छंद में राम की वानरसेना के क्रोध का वर्णन है। यहाँ आलंबन रावण है और उसका उद्दाम दर्प तथा पीड़ा उद्दीपन है। लंका को ध्वस्त कर लंकेश रावण को मारने के लिये सभी योद्धाओं का दक्षिण समुद्र तट पर इकट्ठा होना अनुभाव है। अमर्ष, गर्व संचारी भाव हैं। इन सभी से पुष्ट होकर स्थायीभाव क्रोध रौद्र रस के रूप में यहाँ दृष्टिगत होता है। लगभग सभी कवियों ने कहीं न कहीं इसका प्रयोग किया है, परंतु प्रचुरता से नहीं।

भयानक रस :

भयप्रदायक अनिष्टकारी दृश्य को देखने, श्रवण करने या स्मरण करने से भयानक रस उत्पन्न होता है। इस रस के देवता भूतपिशाच और रंग कृष्ण माना गया है।[2] इसका स्थायीभाव भय है। हिंस्र स्वभाववाले जीव तथा उग्र स्वभाव और आचरणवाले व्यक्ति, श्मशान, निर्जन स्थान आदि आलंबन के अंतर्गत आ जाता है। आलंबन की भयावह चेष्टाएँ और आचरण, विकृत और उग्र ध्वनि, भयानक निर्जनता आदि उद्दीपन हैं। कंप, वैवर्ण्य, कारुणिक रुदन, कंठावरोध, भागना, चीखना, चिल्लाना आदि इसके अनुभाव हैं। जुगुप्सा, शंका, मोह, मूर्च्छा मृत्यु, आवेग, दैन्य, चिंता, त्रास आदि संचारी भाव हैं। आलोच्य कवियों ने जहाँ लक्षणों का विवेचन किया है वहाँ उदाहरण के रूप में परंपरागत शैली का अनुसरण करते हुए पौराणिक कथाप्रसंग का कोई उदाहरण चुना है और जहाँ अपने आश्रय-

१. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ७।१०९।
२. भयानको भयस्थायिभावो भूताधिदैवतः स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्व-विशारदैः।—साहित्यदर्पण, पृ० २५९-२६०।

दाताओं के पराक्रम का वर्णन किया है वहाँ आश्रयदाताओं की धाक से भयभीत शत्रुओं का चित्रण करते हुए इस रस का प्रयोग किया है। कई स्थलों पर इस रस के उदाहरणों में अतिशयोक्ति भी दृष्टिगोचर होती है। सोन कवि का भयानक रस का यह छंद देखिए—

करत पयान के सरजा षुमान तव,
जात अभिमान हबसान के बिलाय के।
अरब खरब देत गरब शरम छोड़ी,
मुगल गरब सब जात है समाय के।
बिजापूर बिपति के 'सोन' भने भय भानि,
भागे भागे जात सब नारी भभराय के।
दिल्ली के बहादूर दिलेर दल बादल सों,
जात भजे काननन में आहट को पाय के ॥[1]

इस छंद में बिजापुर के युद्ध में शिवाजी का अतुलनीय पराक्रम देखकर शत्रुओं के भयभीत होकर भागने का वर्णन है। इसमें आलंबन शिवाजी और उद्दीपन शिवाजी का असामान्य शौर्य है। शत्रुओं का अभिमान नष्ट होना, नरनारियों का भभराकर भागना, आदि अनुभाव हैं और चिंता, दैन्य, त्रास संचारी भाव हैं। यहाँ भयानक रस का परिपाक स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। भूषण ने भी अपनी रचनाओं में शिवाजी के भय से भयभीत शत्रुओं का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। भयानक रस का निम्न छंद देखिए—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह खरकति है।
बलख बिलख बिलखात बीजापूरपति,
भिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपत कुतुबसाही गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
सिंह सिवराज तेरे धौंसा की धुकार सुनि,
केते पातसाहन की छाति धरकति है ॥[2]

---

१. शिवराजशतक, संपा० श्रीगोविंद गिल्लाभाई, (सन् १९१६ ई०), पृ० १२०।
२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २१०।

सेन कवि कृत उपर्युक्त छंद में और भूषण के इस छंद में भावसाम्य द्रष्टव्य है। यहाँ 'भय' स्थायीभाव और शिवाजी आलंबन हैं। शिवाजी के नगाड़ों का घोष उद्दीपन है। औरंगजेब का चौंक उठना, दिल्लीवासियों का दहशत से देखना, बीजापुर पति का दुःखी होना, फिरंगियों की नाड़ी फड़कना, कुतुबशाह का थर थर काँपना, हब्शियों का डर से भटकना तथा अन्य बादशाहों की छातियाँ फटना आदि अनुभाव हैं। त्रास, दैन्य, चिंता, शंका आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट होकर स्थायीभाव भय भयानक रस में परिणत हुआ है। विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि शिवाजी के समकालीन तथा आश्रित लगभग सभी कवियों की रचनाओं में शिवाजी के आतंक का वर्णन एक ही सा मिलता है।

शहाजी के दरबारी कवि जयराम ने शहाजी के आतंक का इस प्रकार वर्णन किया है—

मालमकरंद सुव साहेब बलि बंड तुव,
दापहि सों काँपे तहाँ कौन रहे रन में।
राजान के राजा तुव बाजाउ न सह्यो जात,
धाकतु है साहि जहाँ तहाँ मन में।
बाजत कर्णाटक भाजन कर्णाटक,
बाटन में काँगडे हारक से तन में।
बालम की बाट लखें बार बार बावरि सी,
बैरन की बधू फिरै बैरन के बन में॥[1]

शहाजी का आतंक समकालीन शत्रुओं पर किस प्रकार छाया हुआ था इसका सुंदर चित्रण इस छंद में मिलता है। यहाँ स्थायीभाव है भय और आलंबन हैं शहाजी। शहाजी का प्रचंड बल तथा पराक्रम की धाक उद्दीपन है। शाहजहाँ आदि शत्रुओं का मन में भय मानना, बैरन की वधुओं का बावरी होकर बालम की राह देखना आदि अनुभाव हैं। शंका, मोह तथा विषाद संचारी भाव हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि यहाँ भयानक रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में भयानक रस का वर्णन लगभग सर्वत्र पाया जाता है। कहीं कहीं वीर रस के अंग रूप में भी इसका प्रयोग दृष्टिगत होता है।

---

१. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाड़े, शके १८४४), पृष्ठ २४६।

बीभत्स रस :

घृणित वस्तुओं के देखने या सुनने से बीभत्स रस का उदय हो जाता है। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा या घृणा है। इसके देवता महाकाल माने गए हैं और वर्ण नीला। रुधिर, मांस, सड़ी गली तथा दुर्गंधियुक्त वस्तुएँ, घृणास्पद प्राणी आदि इसके आलंबन हैं। इन वस्तुओं की चर्चा करना, देखना, दुर्गंध, मांस भक्षण आदि उद्दीपन के अंतर्गत रखे जाते हैं। थूकना, आँखें बंद करना, नाक सिकोड़ना, मुँह फेरना आदि इसके अनुभाव हैं। भय, आवेग, व्याधि, अपस्मार, निर्वेद आदि संचारी भाव माने गए हैं। बीभत्स रस का वर्णन अधिकतर अन्य रसों के सहायक के रूप में ही किया जाता है। आलोच्य कवियों ने भी कहीं कहीं इस रस का बड़ी सफलता से वर्णन किया है। वैसे इनके लिये बीभत्स चर्चा के विशेष प्रसंग ही न थे, संभवतः इसी लिये इस रस का प्रयोग उन्होंने कम किया होगा। जहाँ प्रयोग किया है वहाँ अधिकतर स्थलों पर परंपरागत प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

लोकमणि मिश्र का यह छंद देखिए—

> वानरन पंडित सप्रान मनि मंडित
> प्रचंड, भुज खंडित मै श्रोनित झिरत है।
> लोकन भनत तहाँ महा उनमत्त बिना,
> हत्थ बिना मत्थ घिर घूमत गिरत है।
> बंधित सस्त्रन कबंध चलै शत्रन पै,
> बलै मद अंध प्रलैकाल ते भिरत है।
> सै सै जुक्ति जोटिन अनै सै मुक्ति चोटिन,
> सबीर बहोटिन यैसे कोटिन फिरत है॥[1]

यहाँपर युद्ध का दृश्य आलंबन है। शोणित का झर जाना, सिर तथा हाथ कटे उन्मत्त हुए कबंधों का चलना आदि उद्दीपन है। कंप तथा मुँह फेरने की इच्छा अनुभाव है। भय, व्याधि, अपस्मार आदि संचारी भाव हैं। अतः यहाँ बीभत्स रस का उद्रेक हुआ है। भूषण ने भी अपनी रचनाओं में वीर के अंग रूप में बीभत्स का वर्णन किया है—

---

१. लोकमणि कृत नवरसरंग, १।२६।

दिल्ली दल दले सलहेर के समर सिवा,
भूषन तमासे आय देव दमंकत है।
किलकति कालिका कलेजे की कलकल करि,
करिकै अलल भूत भैरो तमकत है।
कहूँ रुंड मुंड कहूँ कुंड भरे स्रोनित के,
कहूँ बखतर करि भुंड झमंकत है।
खुले खग कंध धरि तालगतिबंध पर,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं॥[1]

सालहेर के युद्ध में शिवाजी के द्वारा मुगलों की सेना को छिन्नभिन्न करने से युद्ध भूमि पर जो दृश्य उपस्थित हुआ है वह बीभत्स रस के उदय का कारण है, अतः यहाँपर यह दृश्य ही आलंबन है। युद्धभूमि पर रुंड-मुंडों का होना रक्त के कुंडों का भरा जाना, कबंध आदि उद्दीपन हैं। कालिका का किलकारी मारना, भूत पिशाचों का तमकना आदि अनुभाव हैं और अपस्मार तथा मोह संचारी भाव हैं। इन सभी भावों से स्थायी-भाव जुगुप्सा का परिपोषण हुआ है और परिणामस्वरूप बीभत्स रस की निष्पत्ति दर्शनीय है। इस छंद की शब्दावली भी इस रस के लिये पोषक बन पड़ी है।

जयराम कृत और एक बीभत्स रस का छंद देखिए -

कहूँ कबंध नटबंध गहत घायलन घुमत रन।
नाचत भूत वेताल अरि चौसट जोगिनि गन॥
मेद, मांस, वस दसन दहन पीन पीन ठौर हि तकत।
चंडघंट कीरघट करि तह घुंट घुंट घुंटति रकत॥[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कवियों ने बीभत्स रस के चित्रण में परंपरागत एवम् एक ही से उपकरणों का उपयोग किया है। जोगिनी, भूत प्रेत, वेताल तथा कालिका, मांस, रक्त, कबंध, रुंडमुंड आदि उपकरणों से योजित रूपकों में साम्य भी अधिक दृष्टिगोचर होता है।

---

१. भूषण ग्रंथावली. संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २१७।

२. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (प्रथम संस्करण), पृ० २७७।

शांत रस :

शृंगार तथा वीर रसों के साथ शांत रस की गणना भी प्रमुख रसों में की जाती है। साहित्य शास्त्र में इस रस की वास्तविक गणना सातवीं शताब्दी से मानी जाती है। इसके पूर्व के ग्रंथों में केवल आठ रसों का ही उल्लेख किया गया है और शांत को संचारी के रूप में देखा गया है। भरत मुनि ने यद्यपि शांत रस में सब रसों के अवसान होने की बात कही है फिर भी नाटक में, जो काव्य का प्रमुख अंग माना जाता है[१]—उसे स्थान नहीं दिया। शारदातनय ने 'भाव प्रकाश' में वासुकी को शांत रस का आदि प्रवर्तक आचार्य माना है।[२] अभिनवगुप्त ने शांत रस को सर्वश्रेष्ठ रस माना है,[३] क्योंकि इसका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति होता है जो जीवनसाधना का चरम लक्ष्य कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने शांत रस का लक्षण इस प्रकार दिया है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिंता न द्वेषरागौ नच काचिदिच्छा
रसः स शांतः कथितो मुनींद्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ।।[४]

भावों के समत्व को अर्थात् जहाँ सुख, दुःख, चिंता, राग, द्वेष, इच्छा आदि कुछ भी नहीं है उसे मुनियों ने शांत रस कहा है। शांत रस के स्थायीभाव के संबंध में भी आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। अभिनवगुप्त और धनंजय ने शम को शांत रस का स्थायीभाव माना है। आलोच्य कवियों में चिंतामणि ने इसी मत को स्वीकार किया है।[५] कुछ विद्वानों ने जुगुप्सा, उत्साह, धृति आदि को भी शांत रस का स्थायीभाव मान लिया है। परंतु अधिकांश विद्वानों द्वारा सर्वमान्य मत 'निर्वेद' को स्थायीभाव मानने के पक्ष ही में रहा है। इसके देवता विष्णु माने गए हैं और इसका रंग कुंद पुष्प

---

१. भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्रम्, संपा० शर्मा और उपाध्याय, (सन् १९२९ ई० का संस्करण ', पृष्ठ ६९।

२. शारदातनय कृत भावप्रकाशम्, संपा० बी० भट्टाचार्य, (सन् १९३० ई० का संस्करण), पृष्ठ ४७–४८।

३. अभिनवगुप्त कृत अभिनव भारती, संपा० डॉ० नगेंद्र, (प्रथम सं०), पृष्ठ ६३७।

४. विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, संपा० डॉ० सत्यव्रतसिंह, सन् १९५७ ई० का संस्करण), पृष्ठ २६५।

५. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ८-१-१४१।

या चंद्रमा के समान शुक्ल वर्ण माना गया है।[1] संसार की असारता, क्षण-भंगुरता आदि आलंबन हैं। सत्संग, तीर्थदर्शन, मृतक आदि उद्दीपन के अंतर्गत रखे जाते हैं। रोमांच, अश्रु, पुलक, पश्चात्ताप, ग्लानि आदि अनुभाव और हर्ष, धृति, मति, स्मृति आदि संचारी भाव होते हैं। आलोच्य कवियों में से तुकाराम, रामदास, देवनाथ आदि संतों ने तो इसका प्रयोग किया ही है अपितु चिंतामणि, नृपशंभु जैसे शृंगारप्रधान कवियों ने भी अपने जीवन के उत्तरार्ध की रचनाओं में इस रस का खूब प्रयोग किया है। अन्य कवियों ने भी यत्रतत्र इसका प्रयोग किया है। समर्थ रामदास का शांत रसपूर्ण निम्न काव्यांश द्रष्टव्य है—

राम न जाने तो नर क्या जी ॥धृ॥
धन दौलत सब माल खजीना,
और मुलख सर किया तो क्या जी।
आत्म ज्ञान की खबर न जाने,
और ध्यानन बक हुआ तो क्या जी।
'रामदास' प्रभु आत्म रघुवीर,
इस नयन नहिं छाया तो क्या जी ॥[2]

इस छंद में रामदास ने राम को न जानने पर सारे संसार की व्यर्थता का वर्णन किया है। यहाँपर निर्वेद स्थायीभाव और संसार की असारता आलंबन हैं। आत्मज्ञान की प्राप्ति, राम को जानने की इच्छा आदि उद्दीपन हैं। ग्लानिप्रकाशन अनुभाव और धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। यहाँ शांत-रस स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण का भी शांत रस का निम्न छंद प्राप्त होता है—

देह देह देह फिर पाइयै न ऐसी देह,
जौन तौन जो न जाने कौन जौन आइबो।
जेते मनि मानिक हैं तेते मन मानि कहैं,
धराई में धरे ते तौ धराई धराइबो।

---

१. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ २७४।
२. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, (प्र० सं०), पृष्ठ ३४३।

एक भूख राखै भूख राखै मत भूषन की,
यही भूख राखै भूप 'भूषन' बनाइबो।
गगन के गौन जम गिनन न दैहै नग,
नगन चलैगो साथ नग न चलाइबो ॥[१]

यहाँपर सांसारिक क्षणभंगुरता आलंबन है। मणि माणिक्य, आभूषणादि संसार की संपत्ति 'धराई धराइबो' का ज्ञान उद्दीपन है। विरक्तियुक्त कथन अनुभाव है। धृति, मति, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। यहाँ स्थायीभाव निर्वेद परिपुष्ट होकर शांत रस के रूप में प्रकट हुआ है। चिंतामणि का निम्न उदाहरण शांत रस से सिक्त है, देखिए—

पूरन विमल गुरुकृपा के प्रभाव सब,
बिगरे प्रपंच भए व्यापक गगन है।
प्राचीन कर्म भोग करति जो देह ताकी,
सुधि न कछू है ऐसे मान्यो जगन है।
काम क्रोध लोभ मद मत्सर आदि महा,
मोह कै विलास ठग सत ठगन है।
धन्य जन कोऊ राम अभिराम ब्रह्मज्ञान,
आनंद तपार पारा वार मैं मगन है।[२]

यहाँपर काम क्रोधादि से युक्त जगत् आलंबन हैं और गुरुकृपा का प्रभाव उद्दीपन है। ब्रह्मज्ञान के आनंदसागर में निमग्न होना अनुभाव है। शम, उत्साह, हर्ष आदि संचारी भाव है। यहाँ शांत रस का प्रस्फुटन दिखाई देता है।

इस प्रकार शांत रस के उदाहरण लगभग सभी कवियों के काव्य में न्यूनाधिक अनुपात से प्राप्त हो जाते हैं।

वात्सल्य रस :

संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने वात्सल्य रस की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकृत न करते हुए श्रृंगार रस के अंतर्गत ही इसे परिगणित किया है। प्रारंभिक आचार्यों ने तो इसे भाव कोटि से अधिक बढ़ने ही नहीं दिया। वात्सल्य को भाव कोटि ही में परिगणित करनेवाले आचार्यों में सर्वप्रथम मम्मट का नाम

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २४६।
२ चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ८।१।१४६।

आता है। इन्होंने स्थायीभाव रति से संबद्ध देव, मुनि, गुरु पुत्र, नृप तथा कांता के स्नेह संबंधों में से केवल कांता के स्नेह संबंध को ही रस माना है और शेष को स्पष्टतः भाव कोटि तक ही सीमित रखा है।[१] वात्सल्य को रस के रूप में स्वीकार करनेवाले आचार्यों में भोज, हरिपाल देव, भानुदत्त, विश्वनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस रस को पूर्णता से प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य हैं विश्वनाथ जिन्होंने वात्सल्य रस का स्पष्ट विवेचन कर सब से पृथक् मार्गदर्शन किया है। उन्होंने स्फुट रूप से चमत्कारक होने के कारण इसे रस कोटि में स्वीकार कर इसका स्वरूप विवेचन करते हुए लिखा है—

> स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
> स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालंबनं मतम्॥
> उद्दीपनादि तच्चेष्टा विद्या शौर्यदयादयः।
> आलिंगनांगसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
> पुलकानंद वाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
> संचारिणोऽनिष्टाशंका हर्ष गर्वादयो मताः॥[२]

इसके अनुसार वात्सल्य रस का स्थायीभाव वत्सस्नेह अर्थात् पुत्रस्नेह है। पुत्रादि आलंबन है और उनकी चेष्टाएँ, विद्या, शौर्य, दया आदि उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर का चुंबन, पुलक, आनंद आदि अनुभाव है। शंका, गर्व, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में इस रस का अत्यल्प मात्रा में प्रयोग किया है। संभवतः इसका कारण यही हो सकता है कि उनके सामनें इस रस के अनुकूल कोई प्रसग नहीं था। चिंतामणि के 'कृष्णचरित्र' में मात्र वात्सल्य रस के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। अन्यत्र इस रस के उदाहरण ढूँढने पर ही दो चार मिल जाएँगे।

> किंकिनि नूपूर की धुनि सों,
> किलकें कर जानुन के वल धावैं।

१. रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथांजितः भावः प्रोक्तः। आदि शब्दात् मुनि, गुरु, नृप, पुत्रादि विषया, कांताविषया तु व्यक्ता शृंगारः। ४।३५।
—आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश', संपा० डॉ नगेंद्र, (सं० २०१७), पृ० १४०।

२. विश्वनाथ कृत-साहित्यदर्पण, संपा० डा० सत्यव्रतसिंह, (सन् १९५७ ई० का संस्करण), पृष्ठ २६६-२६७।

दोऊ जने सित स्याम मनो
मनि, अंगन अंगन की छबि छावै।
रोहिनी संग बिलोकि जसोमति,
बाल विनोद महासुखु पावै।
औचक आपनी छांई निहारि,
डराइ कै माई समीपहि आवै ॥[१]

इस छंद में कृष्ण की बालक्रीडा की सुंदर व्यंजना है। इसमें पुत्र-स्नेह स्थायीभाव और बालक कृष्ण आलंबन हैं। किंकिणी और नूपुर की ध्वनि सुनकर किलकना, हाथों और घुटनों के बल दौड़ने का प्रयत्न, मणिमय आँगन में अपना प्रतिबिंब देखकर भय के मारे यशोदा के पास आना आदि उद्दीपन हैं। कृष्ण की बालक्रीड़ा देखकर बालविनोद से अतिसुख पाना अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। इन सभी से स्थायीभाव पुत्रस्नेह पुष्ट होकर 'वात्सल्य रस' रूप में प्रकट है।

नृपशंभु का निम्न छंद भी द्रष्टव्य है—

पालन परे ही पुँतनाँ हि को संघार्यो,
पाई संकट विदार्यो सोच मार्यो सुरपति को।
चौदहों भुँवन जाके उदंर में वसै नर,
बालक से लसै बलिहारी यहि गति के।
संभराज कहैं देषो नंद को वषत
जाकै आँगन में ब्रह्म षेले कारन भगति के।
कोऊ कहै हाऊ तब काढि काढि फाऊ हरि,
धाइ धाइ दुरै आइ गोद जसुमति के ॥[२]

यहाँपर नंद, यशोदा आदि दर्शक आश्रय हैं और बालकृष्ण आलंबन हैं। पूतना का संहार करना, इंद्र द्वारा प्राप्त संकट का निवारण करना आदि कार्य उद्दीपन हैं। बालक कृष्ण का यह अलौकिक कार्य देखना और 'हाऊ तब काढि काढि फाऊ' कहना अनुभाव है। यहांपर गर्व, शंका, विस्मय, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। वात्सल्य रस का यह उदाहरण भक्ति के आश्रित है।

---

१ चिंतामणि कृत, कृष्णचरित्र, २।१।

२. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद ७७।

भक्ति रस :

वात्सल्य रस की भाँति 'भक्ति रस' को भी रस कोटि में परिगणित करने के संबंध में बहुत मतभेद रहे हैं। आचार्य मम्मट तक के प्रमुख आचार्यों ने भक्ति रस की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया। कुछ आचार्यों ने इसे मम्मट की भाँति देवविषयक रति कहकर शृंगार रस के अंतर्गत ही समाविष्ट किया है। वास्तव में इसे शृंगार के अंतर्गत रखना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। शृंगार और भक्ति दोनों का स्थायीभाव रति होते हुए भी उनके स्वरूप और भाव में काफी अंतर है। अतः भक्ति को शृंगार के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। भरत मुनि ने भक्ति को शांत रस का विषय मानकर ज्ञान और भक्ति दोनों का संमिश्रण कर दिया है। परंतु ज्ञान विरागप्रधान होता है तो भक्ति रागप्रधान होती है, अतः दोनों का समुचित संमिश्रण करना सहज नहीं है, इसलिये भक्ति को स्वतंत्र रस के रूप में मानना ही समीचीन होगा। पंडितराज आचार्य जगन्नाथ ने भक्ति के स्वतंत्र रसत्व पर अपने विचार अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किए हैं।[1] भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित करनेवालों में मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार भक्ति परम रसरूपा है। रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को दो विभागों में विभाजित किया है जिन्हें क्रमशः मुख्य भक्ति रस और गौण भक्ति रस के नामों से अभिहित किया है।[2]

वैष्णवाचार्य भक्ति रस को केवल स्वतंत्र रस ही नहीं मानते बल्कि इसे सर्व रसों में श्रेष्ठ महा रस भी कहते हैं। इतना ही नहीं वे भक्ति रस के अंतर्गत अन्य रसों को भी निरूपित करते हैं। शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार को भक्ति रस के प्रधान भेद के रूप में माना गया है और हास्य, वीर, अद्भुत, रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स को गौण रूप में। मध्यकाल के भक्ति युग में भक्ति रस चरमोत्कर्ष की सीमापर पहुँच गया और उसका

---

१. कथमेत एव रसाः? भगवदालंबनस्य रोमांचाश्रुपातादिरनुभावितस्य हर्षादिभिः पोषितस्य भागवतादि पुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्ति रसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः न चासौ शांतरसे अंतर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्य विरुद्धत्वात्।—पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर', संपादक प्रो० रा० ब० आठवले, (सन् १९५२ ई०), पृ० ११६-१७।

२. रूपगोस्वामी कृत हरिभक्ति रसामृत सिंधु, ७।३।१०।

स्वरूप अधिक ही स्थिर एवम् निश्चित हुआ। भक्ति रस का स्थायीभाव भगवत्प्रेम अथवा इष्टदेव रति माना गया है। आलंबन ईश्वर अथवा उसका कोई स्वरूप होता है और पुराणादि का श्रवण उद्दीपन के अंतर्गत आता है। रोमांच, गुणकथन आदि अनुभाव और हर्ष, दैन्य, गर्व, स्मृति आदि संचारी भाव होते हैं। आलोच्य कवियों में रामदास, तुकाराम, देवनाथ, नृपशंभु तथा सीताराम की रचनाओं में भक्ति रस के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। अन्य कवियों ने भी एकाध स्थलपर इस रस का उपयोग किया है। शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास का यह भक्ति रस सिक्त छंद द्रष्टव्य है—

जित देखो उत रामहिं रामा ।
जित देखो उत पूरण कामा ॥ धृ० ॥
तृण तरुवर सातो सागर ।
जित देखो उत मोहन नागर ॥
जल थल काष्ठ पषाण अकाशा ।
चंद्र सुरज नच तेज प्रकाशा ॥
मोरे मन मानस राम भजो रे ।
'रामदास' प्रभु ऐसा करो रे ॥[१]

गोस्वामी तुलसीदास की 'सियाराम मय सब जग जानी' की विचारधारा में रामदास की विचारधारा का साम्य द्रष्टव्य है। यहाँ राम के प्रति अनुराग है स्थायीभाव और राम हैं आलंबन। राम की सर्वव्यापकता तथा अलौकिकता अर्थात् उनका पूर्णकाम रूप तथा तृण, तरुवर, सप्तसागर, जल, थल, काष्ठ, पाषाण, चंद्र, सूर्य आदि सर्वत्र उसके अस्तित्व तथा चैतन्य का साक्षात्कार उद्दीपन हैं। 'मोरे मन मानस राम भजो रे' के द्वारा पूर्णकाम राम का भजन करने का उपदेश देना अनुभाव है। विबोध, हर्ष, मति आदि संचारी भाव हैं। इन विभावानुभाव संचारियों से स्थायीभाव भगवत्प्रेम पुष्ट होकर भक्ति रस के रूप में यहाँ दृष्टिगत होता है। देवनाथ का यह छंद भी देखिए—

आज मोरी साँवरिया सों लागीं प्रीत ॥ टेक ॥
रैन दिन मोहे चैन परे नहिं उलट भई सब रीत ।

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, (प्र० सं०), पृष्ठ ३४३।

कहा करौं कित जाऊं सखी री कैसी बनी अब बीत ।
'देवनाथ' प्रभुनाथ निरंजन निसिदिन गावे गीत ॥[१]

इस छंद में भगवान् कृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गई है। यहाँपर कृष्ण के प्रति अनुराग स्थायीभाव और कृष्ण आलंबन हैं। साँवरिया के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न होना उद्दीपन है। साँवरिया कृष्ण अर्थात् परमात्मा से मिलने की तीव्र इच्छा के कारण दिन रात चैन न पड़ना, तथा व्याकुल हो उठना अनुभाव हैं। हर्ष, चिंता, औत्सुक्य आदि संचारी भाव है। यहाँ प्रभु से लौकिक प्रेम संबंध जोड़कर उसी दृष्टि से उसका सुंदर वर्णन किया है। प्रभु से रति होने के कारण उसमें अलौकिकता एवम् औदात्य की भावना सहज ही दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ भक्ति रस स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। शाहराज की रचना में भी भक्ति रस का प्रयोग दर्शनीय है—

अरुन मुख मंडल गंड नाद बिराजत ।
खंडेंदुसेखर सो गौरी सुत ॥
विघ्न तिमिर हर ज्ञान सूर्य प्रकाश करे ।
अपने भक्त पर दया कर ॥
अंग अंग नग भूखन बिराजत ।
भवसागर खेद हरन हार॥[२]

इस छंद में गौरीसुत गजानन की प्रार्थना की गई है। यहाँ भगवत्प्रेम स्थायीभाव तथा गजानन आलंबन हैं। प्रार्थी आश्रय है और गजानन का विघ्न हरण करना, ज्ञान का प्रकाश देना, भवसागर का खेद हरण करना आदि उद्दीपन हैं। दया करने की भक्त की प्रार्थना अनुभाव है। हर्ष, मति आदि संचारी भाव है। यहाँ भक्ति रस का अच्छा परिपाक दिखाई देता है।

नृपशंभु की भक्तिभावना भी उनकी रचना में मुखरित हो उठी है। देखिए—

गनिकहि तारे और पापिन उधारे, खल
रावन से मारे गुन कहाँ लौं बखानिए ।

---

१. हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पं० प्रयागदत्त शुक्ल, (प्र० सं०), पृ० ४५।
२. शाहराज कृत राधावंसीधर विलास, पृष्ठ १७।

द्रौपदी की लाज राषि गज को गोहारि करि,
दीन बंधु कहैं सब वेदन में जानिए।
हेमपुर दीन्हो ऐसे दरिद सुदामा हूं को,
ऐसे प्रभु छाँड़ि और काहि उर आँनिए।
कीजिये सहाइँ मेरी सीतावर टेरि कहौं,
औगुन कछुक मेरे मन में न माँनिए ॥[1]

इस छंद में भक्ति रस का उत्तम परिपाक दिखाई देता है। यहाँपर देवरति अर्थात् भगवत्प्रेम स्थायीभाव है। ईश्वर आलंबन है और स्वयं कवि नृपशंभु आश्रय है। गणिकादि पापियों का उद्धार करने, रावण के समान दुष्ट को मारकर संत्रस्त जनता के दुःख को दूर करने, कौरवों की सभा में चीरहरण के समय द्रौपदी की लज्जा रखने, गजेंद्र की पुकार सुनते ही सहायता के लिये दौड़ने, दरिद्र सुदामा को हेमपुर देकर उसे संपन्न बनाने, आदि के द्वारा प्रकट परमात्मा की दीनबंधुता, दयाशीलता आदि उद्दीपन हैं। प्रभु को छोड़कर अन्यत्र न जाने की इच्छा होना तथा सहायता के लिये प्रभु से प्रार्थना करना आदि अनुभाव हैं। मति, विबोध तथा व्रीड़ा संचारी भाव हैं। इस प्रकार 'सातसतक' के अंतर्गत भक्ति रस के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों की रचनाओं में शृंगार, वीर से लेकर भक्ति तक सभी रसों का परिपाक दृष्टिगत होता है। इन्होंने शृंगार, वीर और भक्ति इन तीन रसों का प्रधान रूप में प्रयोग किया है। राजाश्रित कवि होने से आश्रयदाता की रुचि का भी इन्हें विचार करना पड़ता था। अपनी जीविका चलाने के लिये इन्हें गुणज्ञ राजाओं का आश्रय तथा पुरस्कार प्राप्त करना आवश्यक था। अतः आश्रयदाता की कृपा को संपादन करने के हेतु उनकी रुचि के अनुकूल काव्य करना ही इन कवियों ने उचित समझा होगा। संभवतः यही कारण है कि चिंतामणि ने शहाजी के व्यक्तित्व में पराक्रम की प्रधानता देखकर उनके आश्रय में लिखित 'भाषा-पिंगल' या (छंदविचार) में वीर रस को ही प्रधानता दी और शाहजहाँ के व्यक्तित्व में वीर और शृंगार दोनों की समान वृत्ति देखकर उनके आश्रय में

---

1. नृपशंभुकृत सातसतक, छंद ३०।

लिखित 'रसविलास' में दोनों रसों का समान रूप से पर्याप्त वर्णन किया है। शिवाजी के व्यक्तित्व में भी पराक्रम, शौर्य आदि को ही विशेष प्राधान्य था इसी लिये उनके आश्रय में जितने भी कवि आए लगभग सभी ने वीररसपूर्ण कविता ही की है। भूषण का संपूर्ण काव्य इसी का द्योतक है। मतिराम आदि शृंगारप्रधान कवियों के द्वारा शिवाजी विषयक लिखे छंदों में वीर-रस ही व्यक्त हुआ है। संभाजी अर्थात् नृपशंभु के प्रारंभिक जीवन में शृंगार का प्राधान्य रहने के कारण ही कविकलश की रचना में शृंगार रस दृष्टिगत होता है। जो राजा स्वयम् कवि थे उन्होंने 'स्वांतःसुखाय' रचना अपनी रुचि के अनुकूल की। नृपशंभु और शाहराज की रचनाओं से इस कथन की पुष्टि हो जाती है। रामदास, तुकाराम, देवनाथ जैसे सम्मानित कवियों की रचनाओं में राजाश्रित कवियों की भाँति राजाओं की प्रशस्ति नहीं मिलती वरन् भक्तिरसपूर्ण उपदेश ही प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार इन कवियों की अपनी कुछ सीमाएँ थीं। यद्यपि इनकी रच-नाओं में शृंगार, वीर और भक्ति इन तीन रसों का ही प्राधान्य रहा है तथापि अन्य रसों की भी उपेक्षा नहीं की गई। प्रसंगानुकूल कम अधिक अनुपात से सभी रसों का प्रयोग इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। वीर रस वर्णन के अंतर्गत भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत इन मित्र रसों के प्रयोग देखे जाते हैं। शृंगारवर्णन के अंतर्गत हास्य आदि के वर्णन पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त शांत, वात्सल्य, इन रसों का भी यथोचित प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यदि इन कवियों ने प्रबंधकाव्य रचना अधिक मात्रा में की होती तो संभवतः सभी रसों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता। परंतु इनकी अधि-कांश रचना मुक्तक रूप में होने से ऐसे प्रसंग उनके संमुख नहीं थे। वीर, शृंगार तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य रसों के जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किए हैं उनसे उनकी रससिद्धता के दर्शन अवश्य हो जाते हैं।

भाववर्णन :

'विकारो मानसो भावः'—अर्थात् मन के विकार ही भाव कहलाते हैं। चित्त में उद्बुद्ध होनेवाले अधिक व्यापक, विस्तृत एवं रस की अवस्था तक पहुँचनेवाले भावों को स्थायीभाव कहा जाता है जिनकी संख्या नौ मानी गई है। ये स्थायीभाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय अथवा आश्चर्य, निर्वेद नामों से प्रसिद्ध हैं। स्थायीभावों की विशे-षता यह है कि अन्य भावों द्वारा ये नष्ट नहीं किए जाते वरन् विरुद्ध होने

पर भी उन्हें ये आत्मसात् कर लेते हैं। स्थायीभाव मूलभूत एवं सहजात होते हैं। संक्षेप में स्थायीभाव वह है जो सजातीय अथवा विजातीय भावों से नष्ट न होकर आस्वाद का मूलाधार बनकर स्थित रहता है और विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत होता है।[1] जो भाव स्थायी न रह कर अस्थिर होते हैं उन्हें संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये स्थायीभाव के सहयोगी बनकर सभी रसों में संचरण करते रहते हैं। अवस्था विशेष में उत्पन्न होकर ये स्थायीभाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं। जल के बुलबुले या मेघमाला की विद्युल्लता के सदृश शीघ्र ही प्रकट और लुप्त होनेवाले इन संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है। निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, आलस्य, अमर्ष, निद्रा; अवहित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, त्रास, व्रीडा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिंता, तर्क —इन तैंतीस भावों के अतिरिक्त और भी संचारी भाव हो सकते हैं परंतु आचार्यों ने अन्य भावों को इन्हीं तैंतीस के अंतर्भूत कर लिया है।

आचार्य विश्वनाथ ने भाव के स्वरूप का निरूपण करते समय लिखा है कि प्रधान रूप से प्रतीयमान संचारी भाव देवादिविषयक रति अथवा उद्बुद्ध मात्र स्थायीभाव की अभिव्यक्ति का नाम 'भाव' है।[2] स्थायीभावों के सहायक न होकर जब संचारीभाव स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होते हैं तब उन्हें 'भाव' कोटि में रखा जाता है। साथ ही साथ, ऐसे स्थायीभाव भी, जो समुचित विभावादि द्वारा पूर्णतया विभावित तथा परिपुष्ट न हो पाए हों और इसलिये 'रस' रूप में आस्वाद के विषय न बन सके हों, 'भाव' मात्र माने गए हैं। आलोच्य कवियों की रचनाओं में जिस प्रकार रसपरिपाक के उदाहरण प्राप्त होते हैं उसी प्रकार अपुष्ट स्थायी तथा व्यभिचारी भावों के वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे उदाहरणों में 'रस' का आस्वादन

---

१. काव्यविवेचन, डॉ० त्रिवेदी और डॉ० उषा गुप्ता, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २८।

२ संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥३।२६०॥
—साहित्य दर्पण, संपा० डॉ० सत्यव्रतसिंह, (सन् १९५७ ई० का संस्करण), पृष्ठ २७०)

यद्यपि नहीं मिल सकता तथापि उनमें कुछ भावगत सौंदर्य तो निहित रहता ही है। उदाहरण के रूप में यहाँ भाववर्णन के कुछ छंद प्रस्तुत करना अवांछनीय न होगा।

रति :

मनमोहन के उर को बनमाल
ले आई चुराय सखी सरकी।
तिय बैठी हुती गुर लोगनि बीच
सुनैन के सैनन सों हरकी।
मुसक्यानि तिरीछी दुराई मुखें,
तब ओंठ की कोर हरें फरकी।
'नृपशंभु' सुधाकर ही की बनी
मनो तुंग सुधा की कछु दरकी॥[१]

अनुकूल विषय की ओर मन का अनुराग ही 'रति' कहलाता है। यहाँ शृंगार रस का स्थायीभाव रति रस के सभी अवयवों से परिपुष्ट न होने से शृंगार रस में परिणत नहीं हो सका है। यहाँ मनमोहनकृष्ण और राधा के प्रेम की व्यंजना से रतिभाव प्रकट हुआ है। इसी प्रकार सीताराम कवि का एक उदाहरण देखिए—

मिले स्वप्न पुनि चित्र में, श्रवण मिले फिरि आइ।
द्रग देखें अनरुद्ध को, प्रगट उषा जस पाइ॥[२]

इस छंद में स्वप्न, चित्र, श्रवण तथा दर्शन इन चारों का वर्णन हुआ है। अनिरुद्ध के प्रति उषा के हृदय में रतिभाव का उत्तरोत्तर अधिक बढ़ना सुंदर रीति से व्यंजित हुआ है। चिंतामणि ने रतिभाव का वर्णन इस प्रकार किया है—

हसति बदन गोरे अंग गोरे रँगीली।
मटकनि चटकीली कौल नैनी रसीली॥

---

१. नृपशंभुकृत नखसिख, छंद ८१।
२. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।१०१।

प्रगटत सिगरौइ भाव नीको जु ही की।
हरति मनु छवीली चाहिकैं साहिजी कौं ॥[1]

यहाँ भी संचारी तथा विभावानुभावादि से स्थायीभाव रति परिपुष्ट न होने से रस रूप में परिणत नहीं हुआ। रूप के आकर्षण के कारण साहिजी के मन में रसीली के प्रति जो रतिभाव उत्पन्न हुआ उसका संकेत मात्र इसमें प्रस्तुत है।

उत्साह :

धैर्य और शौर्य के किसी कार्य को करने के लिये उत्पन्न आवेश को उत्साह कहते हैं। उत्साह के अंतर्गत सत्व, साहस, औचित्य और आनंद की उमंग ये चार तत्व समाविष्ट रहते हैं। इनमें से यदि औचित्य तत्व को हटाया जाय तो दस्युओं तथा दानवों के साहसिक कृत्य भी वीर रस की परिभाषा में सम्मिलित होंगे। दस्युओं के कार्यों में सदैव ही अनौचित्य विद्यमान रहता है। वे इस बात का विचार नहीं करते कि अमुक व्यक्ति का धन लूटना उचित है या अनुचित। और यदि सत्व को निकाल दिया जाय तो शेष तत्व उत्साह नहीं कहला सकते क्योंकि आचार्यों ने वीर रस को 'उत्तम प्रकृति' माना है। सतोगुण ही में उत्तम प्रकृति का अस्तित्व रहता है। इसके विपरीत तमोगुण और रजोगुण तो सत्व में भी विकृति ला देते हैं। रजोगुण और तमोगुण के तिरोहित हो जाने के उपरान्त जो स्थिति आती है, वही सत्त्वगुण संपन्न होती है। उत्साह के अंतर्गत इसी को ग्रहण किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उक्त चारों तत्व उत्साह के अभिन्न अंग हैं। इनमें से किसी एक तत्व के अभाव में हम उसे उत्तम प्रकृतिवाले उत्साह की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते। आलोच्य कवियों में जयराम, चिंतामणि, भूषण आदि की रचनाओं में उत्साह भाव का वर्णन तो पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता। शेष कवियों की रचनाओं में भी कहीं कहीं उत्साह की उत्कृष्ट व्यंजना हो पाई है। जयराम का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

साहेब शाह सुनो एक बात अचरज सो मानतु है मन मोरो।
तैं निज धर्म ते धर्म सिबि हरिचंद पुरु जनकादिका फेरो।

---

१. चिंतामणि कृत भाषापिंगल, (छंद विचार), २१६।
—(काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति)।

ऐसो गुनोदधि सौर दयानिधि वा तुज मों तरत मन हेरो।
या डरतें जिय में धर को निज को परको वरखासन तेरो ॥[1]

इस छंद में धर्म, शिबी, परिश्चन्द्र आदि दानवीरों से शहाजी की तुलना कर दान के उत्साह का वर्णन कवि ने किया है। इसमें उत्साह के चारों तत्त्व निहित हैं।

भूषण ने अपनी रचना में अपने चरित्रनायक शिवाजी के दान, युद्ध, धर्म तथा दया इन चारों कर्म के प्रति उत्साह का वर्णन प्रचुरता से किया है। म्लेच्छों के अत्याचार को नष्टकर हिंदुओं की रक्षा करने का उत्साह शिवाजी में किस प्रकार विद्यमान था, इसका वर्णन भूषण के शब्दों में देखिए—

काल मही सिवराज वली हिंदुआन बढाइबे कौं उर ऊटै।
भूषण भू निरम्लेच्छ करी वहै म्लेच्छन मारिबे कौ रन जूटै ॥
हिंदु बचाए इही अमरेस चंदावत लौ कोउ टूटै सु टूटै।
चंद आलोक तिलोक सुखी यह लोक अभाग जों सोग न छूटै ॥[2]

चिंतामणि ने अपने आश्रयदाताओं के वीर कर्मों का वर्णन अनेक स्थानों पर किया है जिसमें आश्रयदाताओं के युद्ध, धर्म आदि के प्रति सहज उत्साह की व्यंजना हो सकी है। भाषापिंगल अथवा छंदविचार के अंतर्गत शहाजी के उत्साह का यह वर्णन देखिए—

बुधि बल को आगर गुन सागर नागर नागरि मननि हरे।
परताप प्रभाकर सुभ सोभाकर जगत कृपा करि धरम धरै ॥
अति सित कीरति कर सोवित हर सुबरन झरकर जलधारबरसे।
रिपु जलनिभि मंथन कारन मंदर पुहुमि पुरंदर साह लसे ॥[3]

क्रोध।

शत्रु की अपमानजनित चेष्टाओं से तथा आदरणीय और प्रिय व्यक्ति की निंदा अथवा अपकारजनक बातों से उत्पन्न मनोविकार क्रोध कहलाता है। यह रौद्र रस का स्थायीभाव होता है। कई स्थानों पर विभावानुभाव संचा-

---

१. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा०राजवाडे, शके १८४४, पृष्ठ २१४।
२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ १७६।
३. चिंतामणि कृत भाषापिंगल, (नागरी प्रचारिणी सभा प्रति)।

रियों के समुचित संयोग होने से क्रोध रौद्र रस में परिणत न होकर केवल भावरूप में ही वर्णित रहता है। क्रोध भाव का निम्न वर्णन देखिए—

कोप करि चढ्यौ महाराज शिवराज बीर,
धौंसा की धुकार तें पहार दरकत हैं।
गिरे कुंभि मतवारे स्रोनित फुहारे छूटे,
कड़ाकड़ छितिनाल लाखौं थरकत हैं।
मारे रन जोम के जवान खुरासान केते,
काटि काटि दाहि दाबें छाती थरकत हैं।
रनभूमि लेटे वै चपेटे पठनेटे परे,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं॥[१]

इस छंद में भूषण ने शिवाजी के क्रोध का वर्णन किया है। इसमें न आलंबन का संकेत है न उद्दीपन का वर्णन है। केवल शिवाजी के क्रोध भाव का क्रियारूप में वर्णन मात्र है। धौंसे की धुकार से पहाड़ों का फटना, मदोन्मत्त हाथियों का गिर जाना, शत्रुओं का संहार करना आदि बातों से शिवाजी के क्रोध की मात्रा का ज्ञान हो जाता है।

भय :

हिंस्र प्राणियों के दर्शन अथवा किसी बलवान का अपराध या विरोध करने पर उत्पन्न मन की व्याकुलता 'भय' है। आलोच्य कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की धाक के कारण शत्रुओं के भयभीत होने का वर्णन भी अनेक स्थलों पर किया है। कभी कभी यह भाव वीर रस के अंतर्गत संचारी के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। भूषण, चिंतामणि, जयराम आदि ने इस भाव का विशेष रूप से वर्णन किया है। शहाजी के युद्धप्रयाण की सूचना देनेवाले नगाड़ों की ध्वनि मात्र सुनकर न केवल शत्रु बल्कि सारी धरती भय से किस प्रकार काँप उठती थी, इसका जयराम कवि ने जो वर्णन किया है वह द्रष्टव्य है—

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ २१७।

घुंघुं घुनि हुव कंप गहि भुव,
डुल्लइ मनो धुव चंप्यौ फनिपति।
झंपौ इत रवि अंधं करनानिरुंधं
यजसोकंध चटत गिरिंद।
सुखर सिंधु खलभल फंदे
जलचर रुंदे अचल निचल्लिय।[1]

भूषण ने शिवाजी के पराक्रम से शत्रु नरनारियों के अतिरिक्त आगरे के पशुपक्षियों के भयभीत होने का वर्णन बड़ी सुंदर रीति से किया है। देखिए—

महाराज सरजा खुमान सिंह तेरी धाक,
छूटे अरि नैनन में पानी की पनारिका।
भूषन, भनत धार धार सुनि वेसुमार,
बारक सम्हारैं न कुमार न कुमारिका।
देह की न खबरि सुगेह की चलावै कौन,
गात न सोहात न सोहाती परिचारिका।
मानव की कहा चली एते मान आगरे में
'आयाँ आयाँ सिवराज' रटैं सुक सारिका॥[2]

जुगुप्सा :

घृणात्मक वस्तु या दृश्य को देखने या सुनने से जो मनोविकार निर्माण होता है उसी को जुगुप्सा कहा जाता है। अपने आश्रयदाताओं के वीर कर्मों की व्यंजना करते समय इन कवियों ने बीभत्स रस का भी वर्णन किया है। जहाँ रस के सभी अवयवों का समुचित संयोग नहीं हो पाया वहाँ जुगुप्सा भाव ही व्यंजित हो सका है। जयराम कवि ने शहाजी के द्वारा युद्ध में मारे गए शत्रुओं के रक्त से पूरित भूमि का जो वर्णन किया है उससे जुगुप्सा भाव की तीव्र व्यंजना होती है, देखिए—

---

१. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाड़े, (शके १८४४), पृ० २७६।
२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ २२१।

जित तित रुहिर को पूर नहा भूमि भइ विभछा।
ढाले तरकस तरत सब सोहैं कछप मछा ॥[1]

इस छंद में रक्त में बहनेवाले तरकश और ढालों को पानी में तैरनेवाले कच्छपों और मत्स्यों की उपमा देना कवि की सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है। भूषण ने भी अनेक स्थलों पर जुगुप्सा भाव का वर्णन किया है। उदाहरण के लिये निम्न छंद देखिए—

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि बूत भिरत सुरदूत घिरत तहँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डुंडि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमासान अति भूषन तेज कियो अटल।
सिवराज साहिसुव खग्गबल दलि अडोल बहलोल दल ॥[2]

इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों का भी रसरूप में परिणत न होने के कारण स्वतंत्र भाव के रूप में सुंदर वर्णन मिलता है।

स्थायी भावों की भाँति संचारी भावों का वर्णन भी आलोच्य कवियों ने किया है। खोजने पर सभी संचारी भावों का वर्णन न्यूनाधिक अनुपात से प्राप्त होता है। सभी संचारियों के वर्णन के उदाहरण देना तो वांछनीय न होगा परंतु उदाहरण के लिये कुछ ऐसे छंदों को उद्धृत करना आवश्यक है जिनसे इन कवियों के भाववर्णन के कौशल की झाँकी प्राप्त हो सके।

हर्ष :

इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट जन के समागम आदि से उत्पन्न प्रसन्नता या मनोविकार हर्ष कहलाता है। मन की प्रफुल्लता, गद् गद वचन, रोमांच, स्वेद आदि इसके अनुभाव हैं। प्रियवियोग में व्याकुल नायिका के लिये प्रिय का अचानक आना प्रसन्नता का विषय है। निम्न छंद में प्रिय के आगमन की वार्ता सुनते ही नायिका को जो आनंद हुआ है उसका अत्यंत सजीव वर्णन किया गया है, देखिए—

---

१. जयराज पिळ्ये कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाड़े, (शके १८४४), पृष्ठ २७७।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ २०२-२०३।

बहुतें दिन मैं मन भावन को सजनी इक आनि संदेस सुनायौ।
यह बात सुने तिय जी सी उठी तन आनंद और रोमांचनि छायौ।
अँसुवा ढरके फरके अधरा तब आली सों यो बचनौ कहि जायौ।
पाइ परी कहि भाँति भली एरी हा हा अली पिय साँचें हि आयौ॥[१]

यहाँपर विभाव पक्ष ही न होने के कारण स्थायीभाव पुष्ट नहीं हो सका और संचारीभाव हर्ष ही को प्रधानता मिल गई है।

दैन्य :

दुःख, दारिद्र्य, मनस्ताप आदि से उत्पन्न दुर्दशा के वर्णन में दैन्य भाव होता है। भक्ति रस के अंतर्गत इस भाव का विशेष प्रयोग देखा जाता है। अपने आराध्य की कृपा को संपादन करने के हेतु भक्त अथवा साधक अपने दैन्य का वर्णन करता है। नृपशंभु के निम्न पद में दैन्य भाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है, देखिए—

निसु दिन धाइ धाइ धन मैं लगत,
आइ हेरे होत चेर जाइ नारि रूपवती के।
राजन के अंगी भए रागन के रंगी भए,
संगी भए कबहूँ न संभराज जती के।
भूलि गयो नाथ षोयो जनम अकारथ गाइ,
गरजे गाथा रघुनाथ छत्रपति के।
कैयो बार हम तुम्हें तौलि तौलि हारे पै,
मन कहवावत हो हौ न एक रती के॥[२]

औत्सुक्य :

इष्ट वस्तु की प्राप्ति, दर्शन आदि की उत्कट इच्छा ही औत्सुक्य भाव है। मन का संताप, शीघ्रता, पसीना छूटना, निश्वास आदि इसके अनुभाव माने जाते हैं। आलोच्य कवियों ने इस भाव का वर्णन प्रायः विप्रलंभ शृंगार के क्रम में अधिक किया है। चिंतामणि का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. चिंतामणि कृत रसविलास, ७।१७।
२. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद १६।

दुलहिन के बिछिया बजत, घर मैं इत उत जात।
ज्यौं ज्यौं होइ बिलंब अति, त्यौं त्यौं अति अकुलात॥[1]

इस छंद में तीव्र औत्सुक्य उत्तम रीति से व्यंजित किया गया है। इसी प्रकार राधा से मिलने की उत्कट इच्छा कृष्ण के कथन से स्वतः स्पष्ट हो रही है, देखिए—

उद्धो तुम जाय देख आवो राधा जु बन में कहीं।
जाय देख आवो उन बिन मोहे कल न परत है।
बिन देखे राहे न जाय बिरह अब मोहे साहे न जाय।
वेगे तुम मिलावु जाये देख आवो॥[2]

त्रास :

प्रबल विरोध, भयानक वस्तु के दर्शन, बिजली, उल्कापात आदि प्राकृतिक उत्पात के कारण चित्त की व्यग्रता को ही त्रास भाव माना जाता है। शरीरकंप, चीत्कार, चिल्लाना, पसीना आना, भागना आदि इसके अनुभाव हैं। भूषण ने शिवाजी जैसे प्रबल व्यक्ति के विरोध के कारण शत्रुओं के मन में उत्पन्न व्यग्रता के वर्णन द्वारा 'त्रास' नामक इस व्यभिचारी भाव का अच्छा वर्णन कई स्थानों पर किया है। एक उदाहरण देखिए—

उतरि पलँग ते न दियो है धरा पै पग,
तेऊ सगबग निसिदिन चली जाती हैं।
अति अकुलातीं मुरझातीं न छिपातीं गात,
बात न सोहाती बोले अति अनखाती हैं।
भूषन भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि नारी बिललाती हैं।
जोन्ह में न जातीं ते वै धूपै चली जातीं,
पुनि तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं॥

व्रीडा :

नारी के पुरुष को देखने, छिपे प्रेम का किसी के द्वारा संकेत करने, तथा

---

१. चिंतामणि कृत कवि कुलकल्पतरु, ६-८८।
२. शाहराज कृत राधाबंसीधर विलास, पृष्ठ २१
३. भूषण ग्रंथावली, सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०, पृष्ठ १११)।

प्रतिज्ञाभंग, पराजय एवं अनुचित कार्य आदि करने पर जो संकोच, लज्जा का भाव उत्पन्न होता है उसे व्रीडा कहते हैं। अधोमुख होना, विवर्ण होना, संकुचित होना आदि इसके अनुभाव हैं। प्रियतम के पट में लगी हुई बिंदी को सखी द्वारा उतार लेने पर नायिका संकोच के मारे गड़ी जाती है। यहाँ व्रीडा भाव की उत्कृष्ट व्यंजना हो पाई है, देखिए—

बेंदी पिय पट में लगी, लीन्हों अली उतारि।
बूडि गई अवलोकिइत, सकुच सिंधु सुकुमारि ॥[1]

लोकमणि का निम्न छंद भी व्रीडा भाव की उत्कृष्ट व्यंजना करता है, देखिए—

भौन विहार को दीप निहार सुदीपति देह विदेह की दूदत।
लोकन जू रस केलि कला कुसला अबला हि लला गहि गूदत।
वास हरै रति हास विलासन अंक भरै परजंक पै खूदत।
गातन गात सकोचत कै जलजात विलोचन हाथन मूदत ॥[2]

वितर्क :

संदेह के कारण हृदय में उत्पन्न ऊहापोह या तर्क ही वितर्क भाव कहलाता है। भ्रू चलना, शिरःकंप, उंगली उठाना आदि इसके अनुभाव माने जाते हैं। राधिका के अधरों पर पड़ी रेखा को देखकर ऐसे ही तर्क उत्पन्न होते हैं, उदाहरण देखिए—

राधिका के अधरा पर रेखें जे पेख्यें ते कोना बिचारें बिचारन।
कैधों प्रवाल में खाल परे के बँधूक कली धँसी चौंर के तारन।
कै 'नृपसंभु' जू लाल नवीन मै राग बढ्यो तन छोर्‌यो दरारन।
कान्ह के पान को बिंब अनंग कै चीर्‌यो बसीकर वान को धारन ॥[3]

स्वप्न :

निद्रानिमग्न व्यक्ति के विषयानुभव का नाम स्वप्न है। कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि इसके अनुभाव होते हैं। होनाजी की नायिका स्वप्नावस्था में अपने प्रिय से केलिक्रीड़ा के आनंद का अनुभव करती है। इसमें स्वप्न भाव द्रष्टव्य है—

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ६।६३।
२. लोकमणि मिश्र कृत नवरस रंग, ३।२८।
३. नृपशंभु कृत नखशिख, छंद ७२।

सपने में री तन की बहार पिया ने लूटी।
मैं निसंक होकर निपट गले सों लिपटी।
खूब हुई दोनों की बात रात को मीठी।
मैं हँसी खुशी से अंग पर उनके लेटी।
इतने में मोतन माल हमारी तूटी।
मोती चुनो खातर चमक उठी।
तद पास पिया नहीं देखी, सुनी पलंगडी।
पिहु पिहु पुकारत दरवाजे लग दवड़ी ॥[1]

निद्रा :

परिश्रम, मद, नशा आदि के कारण बाह्य विषयों से निवृत्त होना ही निद्रा है। जँभाई, अँगड़ाई, आँखों को मीचना, उच्छ्वास आदि इसके अनुभाव माने जाते हैं। उदाहरण—

निसि दिन रहति उदास, नैन नींद, नहिं भूख है।
मनमैं धरै पियास, पलक ओट पट ध्यान मैं ॥[2]

आलस्य :

गर्भ, जागरण, श्रम, व्याधि आदि के कारण कार्य करने से विमुख होना आलस्य कहलाता है। अँगड़ाई, एक ही स्थल पर स्थिर रहना आदि इसके अनुभाव हैं। चिंतामणि का आलस्य भाव का वर्णन द्रष्टव्य है—

टूटे हार मिटे हैं सिंगार सब अंगनि पैं
कोटिन सिंगारन की अंग झलकन की।
चिंतामनि कहै अहो कापै काहि जात गोरे,
इंदु वदन पर आभा अलकन की।
गुरजनि लखि हैं अगोछले सलोनी यह
लागी पीकी ललित कपोल फलकन की।

---

१. होनाजी बाला की लावनियाँ, श्री० य० न० केलकरजी के हस्तलिखित संग्रह से प्राप्त।

२. सीताराम कृत उक्तिविलास, छंद ७६।

राति रति रंग पति संग लाज खुली कैसी
खुली छवि आजु अधखुली पलकन की।[1]

अमर्ष :

निंदा, अपमान, आक्षेप, मानहानि के कारण उत्पन्न चित्त की चिढ़ या असहिष्णुता ही अमर्ष है। क्रोध की कोमलावस्था अर्थात् पूर्वावस्था अमर्ष तथा उत्कट अवस्था क्रोध है। नेत्रों का लाल होना, भ्रू भंग, गर्जन, तर्जन, शिरःकंप, संताप प्रतिकार के उपाय आदि इसके अनुभाव हैं। इस भाव के उदाहरण के रूप से लोकमणि का निम्न छंद द्रष्टव्य है—

सहित प्रधान मो विराजमान आसन पै,
सासनन जाकी पाक सासन लौटारतो।
लोकन भनत बोलै अंगद उठाइ हाथ,
आइस जो देतो रघुनाथ तौ निहारतो॥
दशो शीश तोरिकै मरोरिकै भुजान बीस,
मोरिकै नदीसमै कपीस को जुहारतो।
लंक को उखारिकै प्रजंक कै प्रकारिकै
असंक देव भार कै लै सीय को सिधारतो॥[2]

निर्वेद :

वैराग्य, दारिद्रय, व्याधि, अपमान, आक्षेप, आपत्ति, इष्टवियोग, तत्त्वज्ञान आदि के कारण अपने आपको धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जब निर्वेद वैराग्य या तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है तब यह शांत रस का स्थायी-भाव होता है किंतु जब यह अन्य उपर्युक्त कारणों से कुछ क्षणों के लिये हृदय में प्रतिबिंबित होता है तब यह अन्य रसों में व्यभिचारी रहता है। निर्वेद व्यभिचारी में दीनता, चिंता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास, विवर्णता आदि अनुभाव होते हैं। सीताराम के निम्न छंद में निर्वेद की व्यंजना स्पष्ट है—

माया को दवरो फिरत, धर्म न जानत मूढ़।
काल अचानक मारि है, कहाँ तरुण कह बूढ़॥[3]

---

१. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ६।७१।
२. लोकमणि कृत नवरसरंग, ३।१२।
३. सीताराम कृत उक्तिविलास, छंद ७०।

प्रभाकर की नायिका भी अपने प्रियतम की रीति पर अपने को कोसती है। प्रीति लगाकर जो हानि हुई अब किसी उपाय से उसकी पूर्ति संभव नहीं है। अतः वह अपनी संपत्ति को दान में देकर स्वयम् जोगिन बनना स्वीकार करती है। उसके कथन में निर्वेद भाव की अच्छी व्यंजना हुई है, देखिए —

पीत लगाके हुई मैं दीवानी साजन।
अब क्या रो रो भई भरजानी ॥
उघाड़ो खजाना सभी माल खोलो।
खैरात करूँगी कोई मत बोलो।
लड़के बाले पीछे ये संभालो।
बम्मन बुलावो उठो, धुंडो जाके।
गोकुल मथुरा बैरागी वहाँ के।
भर भर झोल्याँ देवो लुटाके।
लावो रंगा लो कुंडल कफनी ॥[२]

इस प्रकार आलोच्य कवियों की रचनाओं में रसवर्णन के अतिरिक्त भाववर्णन भी अच्छा प्राप्त होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि रस का परिपाक न होते हुए भी किसी विशेष भाव की व्यंजना से काव्य के सौंदर्य की वृद्धि ही हुई है और रसवर्णन और भाववर्णन दोनों दृष्टियों से इनके काव्य में पर्याप्त मात्रा में सफलता दृष्टिगोचर होती है।

रूपवर्णन :

रस के अवयवों में आलंबन का भी अपना स्थान है। रूपवर्णन के अंतर्गत सामान्यतः आलंबन के प्रमुख अंगों का वर्णन रहता है। इसके अंतर्गत नायक तथा नायिका दोनों का समावेश हो जाता है। रूपवर्णन की यह परंपरा-प्राचीनकाल से प्रचलित है। संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में यह प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होती है। हिंदी कवियों ने भी इसी परंपरा का अनुसरण किया है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने रूप के वस्तुपरक वर्णन को केवल परंपराभुक्त नखशिख वर्णन तक ही सीमित रखा है, यही कारण है कि उसमें रुचिवैशिष्ट्य का समावेश न हो पाने से प्रायः वह तन्मयता नहीं

---

२. प्रभाकर कृत कविता, सं० शंकर नरहर जोशी (प्रथम संस्करण), लावनी क्र० ४४।

आ पाई जो भावपरक वर्णन में दृष्टिगोचर होती है।[1] आलोच्य कवियों में चिंतामणि, नृपशंभु तथा सीताराम की रचनाओं में नखशिख वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है। नृपशंभु का तो नखसिख नामक स्वतंत्र ग्रंथ ही है। शेष में से लगभग सभी कवियों ने प्रसंगानुसार इसका वर्णन अवश्य किया है।

जहाँतक शृंगार रस का प्रश्न है वहाँ नखशिख की प्राचीन परंपरा का ही पालन हुआ है। वीर रस के अंतर्गत कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के व्यक्तित्व का जो वर्णन किया है उसे इसी के अंतर्गत रखना समीचीन होगा। भक्ति रस के अंतर्गत भक्त के आराध्य देवता के रूप का वर्णन पाया जाता है। आलोच्य कवियों ने इन्हीं तीन रसों का प्रमुख रूप में प्रयोग किया है, अतः तीनों के अंतर्गत प्राप्त रूपवर्णन के कुछ उदाहरण देना अवांछनीय न होगा। इन उदाहरणों से कवियों की रुचि का भी ज्ञान होता है।

शृंगार के अंतर्गत नारीसौंदर्य का चित्रांकन ही अधिक मात्रा में पाया जाता है। पुरुषसौंदर्य का चित्रांकन भी मिलता है परंतु अत्यल्प मात्रा में। सर्वप्रथम नखसिख के अंतर्गत नायिका का रूपवर्णन देखेंगे। चिंतामणि का यह मुखवर्णन देखिए—

याही की लै सुभ वेस करत है गंध वंध,
ऐसौ वामै साहजिक सौरभ चमेली को।
अंग मनो नाना रंग फूलनि की रासि,
उन अंगन मैं विमल विलास अलवेली को।
चिंतामनि चंपक कुसुम दोय अभिराम,
दिव्य रूप कामकला आनंद के कली को।
जाके अवलोके सव दूरि होत दुक्ख,
सौ है नैननि को सुख मुख कमल नवेली को॥[2]

मुख को नेत्रों का सुख कहना एक प्रकार से उसकी भावपरकता अर्थात् आनंदप्रदायकता की ओर संकेत करता है। सभी कवियों ने मुखवर्णन के अंतर्गत परंपरागत प्रतीकों—चंद्र, कमल आदि के आधार पर उज्ज्वलता,

---

१. मतिराम कवि और आचार्य, डा० महेंद्रकुमार, (प्र० सं०), पृ० ७४।
२. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ४।२१६।

कोमलता एवम् कांतियुक्त गौर वर्ण का विशेष रूप से वर्णन किया है। राधा के मुख के सौंदर्य वर्णन में नृपशंभु की सौंदर्याभिरुचि सहजता से दृष्टिगोचर होती है, देखिए—

मुख :

राधिका के आनन को बरनन कहा कीजै
देखि नैन जीजै सो जुडावै सींची सुधा झर।
संभुराज बृजराज प्रान को अधार ताको
पावै कौन पार सो बखानै सोभा कौन बर ॥
सहसन कोटि जोति औटि कै इकट्ठ किया
कैधौं चतुरानन समेत दियो बर हर।
फैलपट मंजु पर प्रफुल्लित कंज कैधौं
बसि रह्यो ससि आइ कंचन की बेलि पर ॥[१]

नेत्र :

नेत्रवर्णन में संकोच, आलस, अंजन, वक्रता, चांचल्य एवम् लालिमा का ही विशेष वर्णन किया गया है। कहीं कहीं इन्हें अलोल, विशाल एवम् हँसी है, कहकर उनमें किंचित् सूक्ष्म वैशिष्ट्य का भी समावेश कर दिया है।

(१) अंजन समेत नील कंजन समान दृग,
रखत न ए काको मन खंजन करत है ॥[२]
(२) राधा जू के ऐसे राजत उनीदे प्रात
मनो अधमूँदे नवनील उतपल है ॥[३]

आलस, गर्व, संकोच, लज्जा आदि भावों से समन्वित नेत्रों का वर्णन तो सर्वत्र मिलता है परन्तु कोपभवन की मानिनी की आँखों के रक्तवर्ण का तथा प्रखरता का सीताराम द्वारा किया गया यह वर्णन द्रष्टव्य है—

मुकुर विलोकति वदन त्रिय, मान सदन मैं ऐठि।
रिसराते लोचन मनो, चंद्र सूर ग्रह बैठि ॥[४]

१. नृपशंभु कृत नखशिख, छंद ६३।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।१६।
३. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र १२।९
४. सीताराम कृत उक्तिविलास, छंद ४०।

कुच :

नारीसौंदर्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। उत्तुंगता, कठोरता, पीनता एवं नुकीलापन इन परंपरागत विशेषताओं का ही वर्णन इस ग्रंथ के कवियों ने किया है जिसको अभिव्यक्त करने के लिये प्रायः कंचनकलश, श्रीफल, सुमेरु पर्वत, कंदुक आदि के उपमान प्रस्तुत किए हैं। नृपशंभु के निम्न छंद में लगभग सभी प्रमुख उपमानों के प्रयोग पाए जाते हैं—

उरमें उलहे मुलहे द्वै उरोज, सरोज करें गुन दासव के।
नृपशंभु जू कुंभी के कुंभ महा, सब कीजे बँधे रहें पासव के॥
फल श्रीफल के कहे आवति लाज, कहां गिरि शृंग हैं वासव के।
सु मनो छकि अंक अनंग धरे, उलटाय पियाले द्वै आसव के॥[1]

केश :

केशसंभार नारीसौंदर्य का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। नृपशंभु ने केशवर्णन के लिये जो छंद लिखा है उसमें केश की उत्तमता के सभी लक्षण विद्यमान हैं। इन विशेषताओं से युक्त केशसंभार किसको आकर्षित नहीं करेगा ? देखिए—

केसन की समताई बहु ठौर पाई हम,
भूलि मति रही निज कंचन के भार में।
शंभुजू विमलताई मेघन में पाई,
अरु सौरभ सुहाई पाई मृगमद छार में।
अहि में टेढाई, नरमाई पाई रेसम में,
निपट महीनताई स्याम चौंर तार में।
घनता सिवार में झलक अलिहार से
लमाई धूम धार में कर्‌याई अंधकार में।[2]

रोमराजि :

सीताराम ने रोमराजि के लिये 'मदन की सीढ़ी' कहा है जो अत्यंत भावव्यंजक है—

---

१. नृप शंभु कृत नखशिख, छंद ४० ।
२. वही, नखशिख, छंद १०६ ।

जुवति रोमराजी सुहिय, त्रिवली नाभि विशाल।
मनो सिढी शुभ मदन की, सुधा कुंड सेवाल ॥[१]

नाभि :

नृपशंभु ने नाभि का जो वर्णन किया है वह परंपरा से कुछ हटकर किया है और प्रायः परंपरागत रटेपिटे उपमानों को बचाकर नूतन चित्र प्रस्तुत किया है। उरोजों को मदिरा की शीशी, नाभि को मदिरा का प्याला कहना अवश्य ही तत्कालीन समाज में गृहीत नूतन उपमान है। कामदेव के मदिरा-पान के निमित्त नाभि का प्याला बनाकर कवि ने अपनी उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है—

रूप को कूप बखानत है कवि;
कोऊ तलाब सुधा ही संग को।
कोऊ तुफंग मोहारि कहै दहला
कल्पद्रुम भाषत अंग को।
बारहि बार बिचार किया नृपशंभु
नया मत मों मति ढंग को॥
सीसी उरोजनि ते मदधार समावती
नाभी न प्याला अनंग को॥[२]

जहाँ नखशिख का स्वतंत्र रूप में वर्णन किया गया है वहाँपर एडी, नितंब, चरण, चिबुक, तिल, ललाट, बेंदी, भृकुटि, भुजा, दंत, त्रिवली, अधर, नासिका, वेणी आदि अवयवों का स्वतंत्र एवं विस्तृत वर्णन किया गया है। नायिकावर्णन अथवा अन्य प्रसंग में एक साथ अनेक अवयवों की विशेषताओं के सामूहिक वर्णन से रूपसौंदर्य का दिग्दर्शन कराया गया है। कविकलश का निम्न छंद इसके उदाहरण में दिया जाता है, देखिए—

अंग अरसोहैं छवि अधरन सोहें चढि,
अलस की भौंहें धरै आभा रति उरोज की।
'सुकवि कलस' तैसे लोचन पगे हैं नेह,
जिनमें निकाई अरुणोदय सरोज की।

---

१. सीताराम कृत भक्तिविलास, छंद ६५।
२. नृप शंभु कृत नखशिख, छंद २३।

आछी छबि छाकि मंद मंद मुसकान लागी,
विचल विलोकी तन भूषण के फौज की।
राजै रदमंडली कपोलमंडली में मानौं,
रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ॥[1]

कपोलों में विराजित रदमंडली को रूप के खजाने पर कामदेव की मोहर मानना कवि की उत्कृष्ट कल्पना शक्ति का द्योतक है।

नारीसौंदर्य के वर्णन की तुलना में पुरुषसौंदर्य का वर्णन अपेक्षाकृत कम है फिर भी उसका अभाव नहीं है। होनाजी का यह नायक देखिए—

चाँदना पड़ा था री चाँदना पड़ा था।
अरी देखो सहेली महेल आँगन पुरख।
सुफेदसी सिरपर पगड़ी थी।
सिरपेंच की चमक बड़ी थी।
हिरे और हिरकण्या जड़ी थी।
लाल सखी मैं पिहुसे बिगड़ी थी ॥[2]

इसी प्रकार कृष्णलीला के अंतर्गत कृष्ण का यह वर्णन भी द्रष्टव्य है—

गावत नाचत बजावत वेनू।
गले हाथ डाल डाल के खुजावत धेनू।
आगे पीछे उठके दौरे कछू न जानूँ।
बाँके पैंजन, गले बीच माला।
मोर मुकुट सिर, है रंग काला।
खूब लपेट लिया पीतांबर पीला।
ग्वालन घरकू जाके करे रात चोरी ॥[3]

भक्ति के अंतर्गत भगवान् शंकर का यह वर्णन कितना सुंदर है—

चंद्रकला जटा पर। रुंड माला गला धर।
कर त्रिशुल धर। बाघांबर अंबर।

---

१. माधुरी पत्रिका, जून १९४१, पृष्ठ ४२०।
२. होनाजी की लावनियाँ, श्री य० न० केलकरजी के हस्तलिखित संग्रह से प्राप्त।
३. कोल्हापुर के हस्तलिखित संग्रहों में प्राप्त, प्रभाकर की लावनियों से उद्धृत।

भस्म अंग छिडाकर। इछा फल देनो हर।
डमरु पिनाक धर। अस्वार नंदीपर।
रुद्राक्ष माला धर। शिर पर गंगाधर।
त्रिनैनो त्रिपुर हर। आतंक भय दूर कर।
सर्पभूषण धर। भोंसल शाहकू वर देनुहार ॥[1]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कवियों ने रूप-वर्णन के अंतर्गत नारी तथा पुरुष दोनों आलंबनों का समावेश किया है। इन कवियों का रूपवर्णन पर्याप्त विस्तृत है। काव्य के आलंबन नायक नायिकाओं का वर्णन यद्यपि रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति ही है फिर भी एक विशेषता यह रही कि इन कवियों ने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा रुचिवैशिष्ट्य के कारण उसमें अनेक विशेषताओं का समावेश कर दिया है। इन्होंने केवल वस्तुपरक रूपवर्णन ही नहीं किया अपितु स्थान स्थान पर उसमें भावात्मकता का समावेश भी किया है। शरीरावयवों के वर्णन के लिये इन्होंने जिन अप्रस्तुतों तथा विशेषणों का प्रयोग किया है उसमें से अधिकांश तो परंपराभुक्त हैं परंतु कहीं कहीं परंपरा को छोड़कर नए उपमानों, विशेषणों के प्रयोग भी मिलते हैं। कई स्थलों पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। सीताराम महापात्र के छंदों को पढ़ते समय बिहारी का स्मरण सहज ही हो जाता है।

प्रकृतिवर्णन :

सामान्यतः प्रकृतिवर्णन की छह् स्थूल विधाएँ—आलंबन, उद्दीपन, अप्रस्तुत, मानवीकरण, उपदेश और नीति के माध्यम तथा परमतत्व के आभास–रूप में स्वीकार की गई हैं।[2] आलोच्य कवियों का अधिकांश काव्य मुक्तक रूप में होने से प्रकृतिवर्णन के लिये क्षेत्र अत्यंत सीमित रहा। उपलब्ध प्रकृति वर्णन में उद्दीपन और अप्रस्तुत रूप की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि प्रकृति की अन्य विधाओं के प्रयोग भी पाए जाते हैं परंतु वे अपेक्षाकृत कम हैं। प्रकृति के रमणीय, चित्ताकर्षक, सुंदर एवं मनोहारी दृश्य कामोद्दीपन में पर्याप्त सहायता देते हैं। प्रकृति के यही दृश्य संयोग के समय सुखद

---

१. शाहराजकृत विश्वातीत विलास, पृ० १५।

२. हिंदी काव्य में प्रकृतिचित्रण, डॉ० किरणकुमारी गुप्ता, (प्रथम संस्करण), पृ० ३१-६३।

और वियोग के समय दुःखद प्रतीत होते हैं। इन कवियों ने प्रकृति के संयोग तथा वियोग के उभयपक्षीय उद्दीपक रूप को ग्रहण किया है। फिर भी प्रधानता वियोग पक्ष की ही रही है। विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपक-रूप में चिंतामणि का निम्नलिखित वर्णन द्रष्टव्य है—

प्रफुलित बाग कुंजमल्लिका परागपुंज,
ल्याई जोन्ह वोप सी चढ़ाई उजराई मैं।
'चिंतामनि' कहै ऐसी सौध मध्य भरि राखी,
रास घनसार की सघन अगनाई मैं॥
दूध कैसी धारा धारा मैं पसारी चंद,
तेजु बढ्यौ कंदरप कुटिल कसाई सैं॥
औरऊ तिया को कैधौं मेरी मंद भागिनिको
कंत है विदेस या बसंत की जुन्हाई में॥[1]

यहाँ वसंतागमन से प्रमुदित तथा प्रफुल्लित प्रकृति विरहिणी नायिका के रतिभाव को उद्दीपित कर उसे पीड़ित करती है। उद्यान और कुंजों का प्रफुल्लित होना, मल्लिका का परागयुक्त होना, ज्योत्स्ना का दुग्धधारा की भाँति विकीर्ण होना, आदि से विरहिणी के हृदय में कामभावना उद्दीप्त हो जाती है परंतु प्रिय की अनुपस्थिति से वह पीड़ा का अनुभव कर रही है। यहाँ उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सुंदर वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार भूषण का निम्न छंद भी देखिए—

बन उपवन फूले अंबनि के झौर झूले,
अवनि सोहात सोभा और सरसाई है।
अलि मदमत्त भए केतकी बसंती फूली,
भूषन बखानै सोभा सबै सुखदाई है।
विषम बिडारिबे को बहत समीर मंद,
कोकिला की कूक कान कानन सुनाई है।
इतनो संदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ,
कहो जाय कंत सो बसंत रितु आई है॥[2]

---

१. चिंतामणि-कृत कविकुलकल्पतरु, ४।२।३८।
२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि. सं.), पृ. २४१।

इस छंद में ऋतुराज वसंत के आगमन से प्रकृति की श्रीवृद्धि का वर्णन किया गया है। वन उपवनों का प्रफुल्लित होना, आम की मंजरियों का झूलना, अलियों का मदमत्त होना, केतकी बसंती का फूलना, सुखद मंद समीर का बहना, कोकिला का कूकना आदि सभी उपकरण नायिका में काम की भावना को उत्तेजित कर रहे हैं। तभी तो वह कहती है—'कहो जाय कंत सों बसंत रितु आई है।' वासंती का यह वर्णन नायिका के स्थायीभाव रति को उद्दीपित करने में पूर्णतः सफल हुआ है।

शाहराज सुकवि की रचना में भी उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिये देखिए—

देख सखी वन रुह् मब प्रफुलित भए।
लता द्रुम हमन सो देख लपटाए।
मदमत्ते पिक बहुत डरावे।
मधुकर झंकार करते फिरे सखीरी।
फलित भए सखी तरु सब देख।
वसंत रितु देख देख कैसे सुहावे।
बिरहिनी वनिता कूँ मदन डरावे।
पवन त्रिविध गति चाले आवे देखो॥[1]

विरहावस्था में पीड़ा देनेवाली यही प्रकृति संयोगावस्था में अति सुखकर लगती है। लोकमणि का निम्नलिखित प्रकृतिवर्णन रतिभाव उद्दीप्त करने में पूर्णतः सफल रहा है—

राका मयंक अकाश प्रकास सों भूम मैं चाँदनी चारु बिछावनो।
लोकनजु पिक चातक मोर चकोरन को चहूँ ओर सुहावनो।
तैसे ही कुंजन की कलिकान पै गुंजत है अलिपुंज लुभावनो।
पावतो श्री वृजराज को आज मनावनो री वन को वन आवनो॥[2]

वसंत को ऋतुराज कहा गया है क्योंकि इस ऋतु में प्रकृति अपने नूतन शृंगार से समस्त भूमंडल को प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण कर देती है। आलोच्य कवियों ने इस ऋतु का वर्णन अत्यंत मनोयोग से किया है। बारह-

१. शाहराज कृत राधाबंसीधर विलास, पृष्ठ २४।
२. लोकमणि कृत नवरसरंग, ८।१२।

मासा और षट्ऋतु वर्णन में वैसे सभी ऋतुओं का समावेश तो हुआ है परंतु वसंत, होली और वर्षा का वर्णन प्रधान रहा है।

उद्दीपन रूप के अतिरिक्त अप्रस्तुत रूप में भी प्रकृति का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। नखशिख, नायिकाभेद, अलंकार आदि के उदाहरणों में अनेक स्थानों पर उपमान आदि प्रकृति से ग्रहण किए गए हैं। नृपशंभु का निम्नलिखित छंद इस दृष्टि से देखिए—

> फाग रच्यौ नँद नंद प्रबीन, बजै बहुबीन, मृदंग रबाबैं।
> खेलतीं वे सुकुमारि तिया, जिन भूषन हू की सही नहिं दाबैं।
> सेत अबीर के धूँधर में, इमि बालन की बिकसी मुख आबैं।
> चाँदनी में चहूँ ओर मनों, 'नृपसंभु' बिराज रही महतावैं॥[1]

सीताराम ने सुरतांतवर्णन के अंतर्गत प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है—

> केलि समै प्रीतम प्रिया, अंबर हरत निशंक।
> जैसे द्रुम पल्लव झरत, रितु वसंत लखि निसंक॥[2]

अन्योक्ति के प्रसंग में प्रकृति का यह वर्णन भी द्रष्टव्य है—

> नहिं सुगंध जा फूल में, नहिं पराग मकरंद।
> अली कली चित क्यों रचै, तजि सौरभ अरविंद॥[3]

आलंबन रूप में प्रकृति का वर्णन लगभग नहीं के बराबर ही मिलता है। ढूँढ़ने पर एकाध स्थान पर कुछ छंद प्राप्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों तथा विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों की रचनाओं में रसपरिपाक के अतिरिक्त भाववर्णन, रूपवर्णन और प्रकृतिवर्णन भी अत्यंत सफलता के साथ किया गया है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इन कवियों के काव्य का भावपक्ष सभी दृष्टियों से प्रभावपूर्ण एवं सबल रहा है।

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतुसौंदर्य, संपा० प्रभुदयाल मीतल, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २६२।

२. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।६६।

३. वही, उक्तिविलास, २।३।

५
काव्यकला और आचार्यत्व

भावपक्ष की भाँति कलापक्ष भी काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। किसी वस्तु को आकर्षक, सुंदर या चमत्कारपूर्ण बनाने या प्रस्तुत करने का ढंग ही कला कहलाती है।[1] कला का आनंद रस की भाँति अलौकिक नहीं होता, प्रत्युत कुछ स्थूल एवम् बाह्य कहा जा सकता है। उसमें चमत्कार-मूलक क्षणिक प्रसादन की प्रधानता रहती है। संभवतः इसी लिये भारत में कला का लक्ष्य किसी वस्तु के प्राण को बल प्रदान करना नहीं वरन् उसके स्वरूप को सँवारना मात्र समझा जाता था। कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है।[2] कला के स्वरूप के संबंध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्री क्रोचे ने कला के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है कि प्रभावों की अभिव्यक्ति ही कला है—अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं।[3] इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करते समय हरबर्ट रीड ने कहा है कि बाह्य विषयों के रंग, रूप, चेष्टा आदि स्थूल गुणों और मानसिक प्रक्रिया की अनुभूति को आह्लादकारी रूप प्रदान करके मन उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में करता है वही कला है।[4] कलिंगवूड ने कलाकार के मन में विद्यमान आंतरिक वस्तु अथवा अनुभूति को सौंदर्यसंपन्न रूप देने में जिस शिल्प का प्रयोग किया जाता है उसे कला माना है।[5]

---

१. कला, साहित्य और समीक्षा, डॉ० भगीरथ मिश्र, (सन् १९६३ ई० का संस्करण), पृष्ठ १।

२. 'कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद् वस्तुपरिच्छिनत्तीति कला व्यापारः'—क्षेमराजकृत शिवसूत्र विमर्शिणी, १।३।

३. क्रोचे कृत 'दि एस्थैटिक इगल', ऐंज्ली द्वारा अनूदित, (सन् १९२२ ई० का संस्करण), पृष्ठ १३।

४. हरबर्ट रीड कृत 'दि मीनिंग आव आर्ट', (सन् १९१९ ई० का संस्करण), पृष्ठ २०।

५. आर० जी० कलिंगवूड कृत 'दि प्रिंसिपल आव आर्ट', (सन् १९५५ ई० का संस्करण), पृष्ठ ३७।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आकर्षक आह्लादकारी सौंदर्यसंपन्न रूप प्रदान करना कला का कार्य होता है—चाहे वह वस्तु हो, भाव हो, अनुभूति हो या अभिव्यक्ति हो। आलोच्य कवियों का काव्य भारतीय प्राचीन परंपरा पर ही आद्धृत होने के कारण उसकी समीक्षा भारतीय पद्धति से करना ही समुचित होगा। काव्य को रमणीय, सौंदर्यसंपन्न आकर्षक, चमत्कारपूर्ण एवम् आह्लाददायक बनाने में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण और रीति का भारतीय दृष्टिकोण से विशेष योग रहा है। ये ही काव्य रमणी के सौंदर्य को अधिकाधिक आकर्षक एवम् आनंददायक बनाने में पर्याप्त सहयोग देते रहे हैं। अतः काव्यकला के अंतर्गत अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, गुण आदि का समावेश किया जायगा। यद्यपि भाषा और छंद का अंतर्भाव भी इसमें होता है फिर भी सुविधा के लिये उनका अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया जायगा। सर्वप्रथम यहाँ अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

अलंकार :

अलंकार वाणी के विभूषण हैं। अलंकारों से विभूषित होकर सामान्य बात अथवा कथन विशेष मनोहारी एवम् सौंदर्यपूर्ण प्रतीत होता है। किसी तथ्य, घटना, अनुभूति या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अलंकारों का उपयोग होता है।[1] अलंकारों के प्रयोग से अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौंदर्य का संपादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसी लिये काव्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यगत रमणीयता और चमत्कार का उद्रेक करने के हेतु अलंकारों की स्थिति आवश्यक है, अनिवार्य नहीं।[2] भामह, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने तो अलंकारों को अत्यधिक महत्व देते हुए उन्हें काव्यशोभा के सृष्टिकारक स्थायी धर्म के रूप में माना है। परंतु ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने अलंकारों को काव्यशोभा के सृष्टिकारक नहीं बल्कि वृद्धिकारक अस्थायी धर्म के रूप में ही ग्रहण किया है। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को काव्यशोभा

---

१. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ १६६।
२. हिंदी साहित्य कोश, संपादक डॉ० धीरेंद्र वर्मा, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ६०।

बढ़ानेवाले, रस, भाव आदि के उत्कर्ष में सहायक, शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म माना है[1], जो अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अलंकारों के प्रमुखतया दो भेद किए जाते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में शाब्दिक चमत्कार का प्राधान्य होता है तो अर्थालंकारों में अर्थगत चमत्कार का। जहाँ शब्दगत और अर्थगत दोनों चमत्कारों का प्राधान्य रहता है वहाँ उभयालंकार माना जाता है। शब्दालंकारों के अंतर्गत अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष और चित्र इन अलंकारों का परिगणन होता है। अर्थालंकारों की संख्या निश्चित नहीं कही जा सकती। विभिन्न विद्वानों ने अलग अलग संख्याओं को स्वीकार किया है। प्रत्येक अलंकार यद्यपि अपनी विशेषता रखता है फिर भी ये सभी अलंकार चमत्कार के कुछ तत्त्वों पर ही आधारित हैं। मूल तत्त्व की इसी एकात्मकता के आधार पर अर्थालंकारों का वर्गीकरण किया गया है। रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' में सादृश्य, विरोध, शृंखला, न्याय और गूढार्थप्रतीति इन पाँच मूलतत्त्वों के आधार पर अर्थालंकारों को क्रमशः सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ शृंखलाबद्ध, न्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिमूल इन पाँच वर्गों में विभाजित किया है।[2] आलोच्य कवियों के काव्य में लगभग सभी अलंकारों के प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक तथा अर्थालंकारों में सादृश्यगर्भ और विरोधगर्भ अलंकारों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। चिंतामणि और भूषण ने अपने ग्रंथों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ सर्वप्रथम शब्दालंकारों की चर्चा की जायगी और उसके पश्चात् अर्थालंकारों की।

शब्दालंकार :

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति तथा चित्र ये अलंकार प्रमुख हैं। इनमें से कुछ अलंकारों के उपभेद भी हैं। विवेच्य कवियों की रचनाओं में इन सभी अलंकारों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। अनुप्रास और यमक का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। इसके द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रमुख अलंकारों का प्रयोग यहाँ दिखाना वांछनीय होगा। इससे कवियों की अलंकारक्षमता के अतिरिक्त काव्यसौंदर्य के भी सहजता से दर्शन हो सकेंगे।

---

१. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

—साहित्यदर्पण, चौखंभा प्रकाशन (सन् १९५७), पृष्ठ ६६५।

२. रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व, संपा० टी० गणपति शास्त्री, सन् १९१५ ई०।

छेकानुप्रास :

(१) पिहु जन बहुत बुरा मेरा। सखी सुनरी अलबेली ॥[1]

× × × ×

(२) बिंदी सीसफूल चमक बतलाती।[2]

× × × ×

इन काव्य पंक्तियों में प्रथम के अंतर्गत 'ब' और 'स', द्वितीय के अंतर्गत 'ब' व्यंजन की केवल एक बार आवृत्ति हुई है। अतः इनमें छेकानुप्रास का सफल प्रयोग दृष्टिगत होता है।

वृत्यनुप्रास :

(१) बानर बरार बाघ बैहर बिलार बिग,
बगरे बराह जानवरन के जोम हैं।
भूषन भनत भारे भालुक भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लीलगऊ लोम हैं।
ऐंडायल गजगन गैंडा गररात गनि,
गेहन मैं गोहन गरूर गहे गोम हैं।
सिवाजी की धाक मिले खलकुल खाक बसे,
खलन के खैलन खवीसन के खोम हैं ॥[3]

× × × ×

(२) संभु को त्रिसूल संभु सिस्य को कुठार,
संभु सुत की सकति, समसेर सिवराज की।[4]

ये दोनों छंद वृत्यनुप्रास के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्रथम के अंतर्गत भूषण ने क्रमशः ब, भ, ग और ख इन वर्णों की योजना दो से अधिक बार कर उसमें चमत्कृति उत्पन्न की है। द्वितीय छंदांश मतिराम का है जो

---

१. रामजोशी कृत लावण्या, संपा० शं० तु० शालिग्राम, (प्रथम संस्करण), लावनी क्र० ३४।

२. सगनभाऊ कृत लावण्या व पोवाडे, संपा० जहागीरदार अधिकारी. (प्रथम संस्क०), पृ० ८७।

३. भूषण ग्रंथावली, संपा० पं० राजनारायण शर्मा, (सन् १९५० का संस्करण), पृ० २२६।

४. मतिराम ग्रंथावली, संपा० कृष्णबिहारी मिश्र, (संवत् १९९१ वि०), पृष्ठ २५६।

शिवाजी की प्रशस्ति में गाया गया है। उसमें भी 'स' व्यंजन का अनेक बार प्रयोग होने से कोमला चमत्कृति निर्माण हुई है। श्रुत्यनुप्रास के उदाहरण लगभग सभी कवियों की रचना में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

श्रुत्यनुप्रास :

तकिया तोपक नरम न्याहली, कछु नहिं लगत प्यारी।
बिजली सी वंसी आई, परि मोहे मदन कुमार भगाई॥[1]

उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में श्रुत्यनुप्रास का सुंदर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। प्रथम के अंतर्गत दंत्य वर्णों की और द्वितीय के अंतर्गत ओष्ठ्य वर्णों की समानता है।

अंत्यानुप्रास :

जय पार्वती रमण। जय पन्नगाभरण॥
जय सुरनुत चरण। जय दीन तरण॥
जय अखिल नुत चरण। जय अनंग हरण॥
जय असुर संहरण। जय दुरित शमन॥
जय रवि शशि नेत्र। जय राज राज मित्र॥
जय मुनि कृत स्तोत्र। जय कर्पूर गात्र॥[2]

इस छंद में अंत्यानुप्रास का सफल प्रयोग किया गया है। उदाहरण की चार पंक्तियों के अंत में 'र' और 'ण' वर्णों की समानता है तथा अंतिम दो पंक्तियों के अंत में 'त्र' वर्णों की समानता है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में अंत्यानुप्रास के ऐसे सफल उदाहरण सर्वत्र प्राप्त होते हैं।

लाटानुप्रास :

औरन के जांचे कहा, जौं जांच्यो सिवराज ;
औरन के जांचे, कहा जौं जांच्यो सिवराज॥[3]

---

1. [illegible] कृत [illegible], 'हिंदी साहित्य को [illegible] की देन', [illegible] पृष्ठ ५५ से उद्धृत।
2. [illegible] कृत [illegible] विलास, पृ० ११।
3. भूषण ग्रंथावली, संपादक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०९।

इस छंद में पहली और दूसरी पंक्तियों में प्रयुक्त शब्द समान हैं और उनके अर्थों में भी कोई अंतर नहीं है। केवल अन्वय में अंतर हो जाने मात्र से दोनों पंक्तियों के अर्थों में अंतर आ गया है। पहली पंक्ति का अर्थ होगा कि यदि शिवाजी से याचना की तो औरों से याचना क्या की जाय? अर्थात् शिवाजी से याचना करने पर याचक को इतनी संपत्ति मिल जाती है कि दूसरों के पास जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। दूसरी पंक्ति में यद्यपि वही शब्दावली है जो प्रथम पंक्ति में है फिर भी अन्वय के अनुसार अर्थ यह होगा कि शिवाजी से याचना करने पर जो धन प्राप्त होता है वह औरों से याचना करने पर भी कहाँ प्राप्त होगा? अर्थात् शिवाजी के समान दान अन्यत्र मिलना संभव ही नहीं। यहाँ लाटानुप्रास का प्रयोग बड़ी सफलता से हुआ है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में इस अलंकार का प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं दिखाई देता।

यमक :

(१) सुंदर जे रंगनि सिंगार चतुरंग दल।
मारत तुरंग जे कुरंगनि दबेटि कै ॥[1]

× × ×

(२) कौन कहूँ तेरे मुकाबल।
काबल ते कर भार लियो है ॥[2]

(३) भाषा कानन केहरी तव कवि केहरी नाम।
एक ठौर नृप साहे को बरनो गुन जस धाम ॥[3]

उपर्युक्त तीनों छंद यमक अलंकार के उदाहरण हैं। प्रथम उदाहरण के अंतर्गत रंगीन और तुरंग ये दो शब्द सार्थक हैं परंतु 'कुरंगनि' और 'चतुरंग' में प्रयुक्त रंगनि और तुरंग शब्द निरर्थक हैं। दूसरे उदाहरण में 'मुकाबल' में प्रयुक्त काबल निरर्थक है और द्वितीय पंक्ति का 'काबल' काबुल प्रांत के अर्थ में आया है। इन दोनों उदाहरणों में दो बार प्रयुक्त शब्द सार्थक और निर-

---

१. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।४८।
२. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपादक राजवाडे, (शक १८२४), पृष्ठ २४७।
३. वही, राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २४८।

र्थक दोनों रूपों में दृष्टिगत होते हैं। तृतीय उदाहरण में 'केहरी' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है और दोनों स्थानों पर उसका अलग-अलग अर्थ है। 'भाषा कानन केहरी' में केहरी का अर्थ सिंह अथवा श्रेष्ठ है और दूसरे केहरी शब्द का प्रयोग कवि के नाम के रूप में हुआ है। अतः यहाँ भी यमक अलंकार है। आलोच्य कवियों ने इस अलंकार का प्रयोग सामान्यतः सर्वत्र किया है।

श्लेष :

सरस रसी सूखत बिरह, ग्रीषम ऋतु को घाम।
जीवन वामैं अलप है सुधि लीजै घनश्याम ॥[1]

यहाँ भिन्न भिन्न अर्थों में 'जीवन' तथा 'घनश्याम' इन शब्दों का केवल एक ही बार प्रयोग हुआ है, अतः श्लेष अलंकार स्पष्ट रूप से विद्यमान है। 'जीवन' का एक अर्थ है जल और दूसरा अर्थ है जिंदगी, और घनश्याम का एक अर्थ है मेघ और दूसरा अर्थ है मेघश्याम कृष्ण। 'जीवन' तथा 'घनश्याम' शब्दों के श्लिष्ट प्रयोग से इस छंद में सौंदर्यवृद्धि हुई है। इसी प्रकार श्लेष अलंकार का और एक उदाहरण देखिए—

रसमंजरि ज्यों भानुकर लागत भई विकास।[2]

इसमें 'रसमंजरी' और 'भानुकर' ये शब्द श्लिष्ट हैं।

वक्रोक्ति :

ऊधौ कीरति श्याम को, शशि सम कहत सुहात।
श्रवण सुने चित हित गहै, दृग सरोज लजियात ॥[3]

गोपियों के कथन की प्रथम पंक्ति—ऊधौ कीरति श्याम की शशि सम कहत सुहात—में कंठध्वनि की विशेषता होने से विपरीत अर्थ भी ध्वनित होता है। वास्तव में चंद्रमा के समान उज्ज्वल कीर्ति के कारण प्रसन्न होना चाहिए परंतु यहाँ तो गोपियों को लज्जा आने लगी है। संभवतः गोपियाँ यह कहना चाहती हैं कि श्याम की कीर्ति चंद्रमा के समान उज्ज्वल है तो क्या हुआ, उसमें कलंक भी तो है? अर्थात् श्याम की कीर्ति कलंकित होने से गोपियों की आँखें लज्जा के कारण झुक जाती हैं। इसमें काकु वक्रोक्ति है।

चिंतामणि द्वारा श्लेष वक्रोक्ति का दिया हुआ यह उदाहरण देखिए—

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु २।२१।

२. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८३४), पृ० २५४।

३. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।२।

ए वृषभानुसुता निरखि, पगु जमुनै सलिलैन।
सिखई जीवन चातुरी, बन कीन्हों गुरुसैन ॥[1]

चित्र :

चित्रालंकार में वर्णों या शब्दों का इस प्रकार से प्रयोग किया जाता है जिससे विशेष चित्र बन जाते हैं। इस प्रकार के छंद में वास्तव में अलंकारत्व नहीं होता बल्कि कवि का चातुर्य ही प्रधान रहता है। चित्रालंकार द्वारा कवि कमल, छत्र, चक्र, चँवर, खड्ग, रथ, हाथी, घोड़ा, मनुष्य, हंस, कामधेनु आदि के चित्र बना सकता है।। कुछ विचारक इसे अलंकार न मानकर काव्यकोटि का एक विशेष प्रकार मात्र मानते हैं। आलोच्य कवियों में से केवल चिंतामणि और भूषण ने ही चित्रालंकारों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये कवि भूषण का निम्नलिखित चित्रालंकार देखिए[2]—

ध्रुव जो	गुरता	तिनको	गुरु भूषन	दानि बड़ो	गिरजा	पिव है।
हुव जो	हरता	रिनको	तरु भूषन	दानि बड़ो	सिरजा	छिव है।
भुव जो	भरता	दिनको	नर भूषन	दानि बड़ो	बरजा	सिव है।
तुव जो	करता	इनको	अरु भूषन	दानि बड़ो	करजा	सिव है।

यह कामधेनु बंध है। इसे कहीं से भी पढ़ने पर पूरा सवैया बनता है। शब्दालंकार के अंतर्गत पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास तथा वीप्सा का समावेश भी किया जाता है जिनके प्रयोग आलोच्य कवियों की रचनाओं में सहजता से देखे जा सकते हैं। अतः इनके स्वतंत्र उदाहरण देना वांछनीय न होगा।

अर्थालंकार :

शब्दालंकारों की संख्या सीमित और अल्पतर होने से उन सभी के उदाहरण देना संभव हुआ परंतु अर्थालंकारों की संख्या अधिक और अनिश्चित होने से उन सभी के विवरण सहित उदाहरण देना विस्तार के कारण संभव

1. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, २।६।
2. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० संस्करण), पृष्ठ २०३।

नहीं है। अतः उनके प्रमुख भेदों के कुछ ही उदाहरण दिए जाएँगे जिनसे कवियों की अलंकारज्ञमता एवं सौंदर्यदृष्टि का परिचय प्राप्त हो सके।

साहश्यमूलक :

इसके अंतर्गत अर्थालंकार के सब से अधिक भेद समाविष्ट हो जाते हैं। इस वर्ग में २८ अलंकारों को रखा गया है जो भेदाभेद तुल्य प्रधान, अभेद-प्रधान तथा गम्यमान औपम्य—इन तीन श्रेणियों में विभाजित किए हैं। आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त साहश्यमूलक अलंकारों में से उदाहरण के लिये कुछ देखिए—

उपमा :

(१) मोती माल पाँति बग पाँति सी लगति अरु,
दामिनी सों दमकत पीतपट छोर है।[१]

× × × ×

(२) प्राची सी जसोदा भई परम प्रसन्न रुचि,
पहिले परी ही महामोह अंधकार में।
चिंतामनि कुमुद से फूले साधुजन मन,
चारु उत्पत्ति कित्ति चंद्रिका उदार में॥[२]

प्रथम उदाहरण के अंतर्गत मोतीमाल और पीतपट को क्रमशः बगुलों की पंक्ति तथा दामिनी की उपमाएँ दी हैं। अप्रस्तुत बगुलों की पंक्ति में और दामिनी में तथा प्रस्तुत मोतीमाल और पीतपट में क्रमशः शुभ्रता लिए सरलता तथा चमक इन गुणों का साहश्य है। द्वितीय उदाहरण के अंतर्गत यशोदा और साधुओं का मन प्रस्तुत हैं। उनको अधिक स्पष्ट करने के हेतु कवि ने क्रमशः प्राची और कुमुद इन अप्रस्तुतों का वर्णन किया है। दोनों में प्रसन्नता की भावना का साहश्य दृष्टिगोचर होता है। उपमा अलंकार के ऐसे अनेक उदाहरण आलोच्य कवियों के काव्य में बिखरे पड़े हैं।

अनन्वय :

चंद की निकाई रुचि रुचिर बनाई विधि,
तडित सिताई है गोराई सोन जुही सों।

---

१. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद ८०।
२. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र, १।१४।

भाग श्री सुहाग अनुराग की त्रिवेनी शिर,
बेनी मृगनैनी तेरी निपुनि गुन गुही सी ॥
लोकन भनत ऐसी उठत उमंग जैसी,
छूटत बिहार में खिलार काम कुही सी।
रैन सैन तुही सी सुवैन नैन तुही सी न,
देखी मैं न तुही सी री तुही है री तुही सी ॥[1]

इस छंद में उपमेय और उपमान अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों एक ही हैं। नायिका का सौंदर्य इतना अलौकिक एवं विलोभनीय है कि कवि को उसके सदृश अप्रस्तुत ही नहीं मिल रहा है, इसी लिये तो उसने 'तुही है री तुही सी' कहकर अपनी असमर्थता प्रकट की है। यह अनन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है।

रूपक :

(१) अधर पल्लव मेरे इछ करे ऐसो।
पुरख कोकिल कब पाउँगी ॥[2]

(२) साँझ बनी सगुनाय सुबासिन तारक हार गरे पहरी है।
चंद दही कर थार भरी बिंब अंक हरि हरि दुब धरी है ॥[3]

(३) फागण मास मों खेलत फाग को सब मिलिया ब्रिजनारी।
ग्यान गुलाल और ध्यान अबिर की हाथ लई भरजोरी।[4]

उपर्युक्त तीनों छंद अभेदप्रधान एवं आरोपमूलक हैं। प्रथम छंद कृष्णमिलन के लिये उत्सुक राधा का आत्मोद्गार है। इसमें अधर और पुरुष अर्थात् कृष्ण इन प्रस्तुतों में और पल्लव तथा कोकिल इन अप्रस्तुतों में अभेद दिखाते हुए आरोप किया है। द्वितीय छंद शहाजी के रणगमन के प्रसंग में आया है। विदा करते समय सुवासिनी का आरती उतारना तथा

---

१. लोकमणि मिश्र कृत नवरसरंग, ७।१९।
२. शाहराज कृत राधावंसीधरविलास, पृष्ठ २७।
३. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८३४), पृ० २२१।
४. देवनाथ के पद; हिंदी को मराठी संतों की देन, आचार्य विनयमोहन शर्मा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२१ से उद्धृत।

जानेवाले के हाथ पर दही देना महाराष्ट्र की परंपरा है। यहाँ कवि ने संध्या के रूपक द्वारा यही बात अत्यंत-कौशल से कही है। यहाँ साँझ, तारक, चंद्र तथा उसका बिंब इन प्रस्तुतों पर क्रमशः सुवासिनी, हार, दही तथा हरी हरी दूब इन अप्रस्तुतों के अभेद होने का आरोप किया है जिससे साधारण कथन अत्यंत मनोहारी बन गया है। तृतीय उदाहरण में भी ग्यान और ध्यान पर क्रमशः गुलाल और अबीर के अभेद होने का आरोपण किया है। सादृश्यमूलक अलंकारों में रूपक अलंकार आलोच्य कवियों के प्रिय अलंकारों में से एक है।

अपह्नुति :

चमकति चपला न, फेरत फिरंगे भट,
इंद्र कौन चाप, रूप बैरख समाज कौ।
धाए धुवा न, छाए धुरि के पटल, मेघ,
गाजिबौ न साजिबौ हैं दुंदभी अवाज कौ।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं,
पिय भजौ, देखि उदौ पावस की साज कौ।
घन की घटा न, गजघटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयौ सैन सिवराज कौ॥[1]

यह छंद शिवाजी के भय से भयभीत शत्रुनारियों का अपने पतियों से कथन के रूप में प्रस्तुत है। वर्षा आगमन के लक्षणों को देखकर वे अपने पतियों से कहती हैं कि यह चपला नहीं चमकती वरन् शूरवीरों की चमकती हुई तलवारें हैं। यह इंद्रधुनुष नहीं है, यह सेना के झंडों का समूह ही है, ये आकाश के बादल नही हैं प्रत्युत सेना चलने से उत्पन्न धूल की तह उड़ रही है। यह घनगर्जन नहीं है नगाड़े की ध्वनि ही है और यह मेघों की घटा नहीं है बल्कि हाथियों के झुंड और कवचों से सुसज्जित होकर शिवाजी की सेना आ रही है। यहाँपर चपला की चमक, इंद्रधनुष, बादल, मेघ गर्जन, इन प्रस्तुतों के स्थान पर तादृश अप्रस्तुतों का क्रमशः तलवारों, झंडों, धूलि की तह, दुंदुभी ध्वनि, हाथियों और कवचों से युक्त सेना का मिथ्या आरोप किया है। सत्य को छिपाकर उसके स्थान पर असत्य की स्थापना हो जाने से यहाँ अपह्नुति अलंकार हुआ है।

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० संस्क०), पृ १४२।

संदेह :

स्याम ढाल पर बीर बधून की पाँति कैधौं,
भोर की किरिनि चली नील घन छाटि कै।
कैधौं 'संभुराज' इंद्रमनि कै कटोरा पर,
लाल की सलाका चारु राषी एक जाटि कै॥
कैधौं धूमधार बीच पातरी लपट धर्यो,
अंधकार हिए कै प्रवाल माल ठाटि कै।
कैधौं माँग बीच रचि सेंदुर की बढ़ी है,
कैधौं सोनधार कढी फनी फन फाड़ि कै॥[1]

यह संदेह अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। नृपशंभु ने अपनी रचनाओं में इस अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया है। नायिका की माँग में दृश्यमान सिंदूर रेखा को देखकर संदेह उत्पन्न होता है और वह संदेह बना ही रहता है, उसमें कोई निश्चितता नहीं होती। श्यामवर्ण कचों के बीच सुशोभित सिंदूर रेखा को देखकर कवि के मन में स्याम ढाल पर चलनेवाली बीरबहूटी, नीलघन छाँटकर चलनेवाली प्रभात किरन, इंद्रनील मणि के कटोरे पर रखी सुंदर लाल मणि की शलाका, धुएँ के बीच पतली लपट, अँधेरे की छाती पर दिखाई देनेवाली प्रवालमाला, फणि का फन फाड़कर निकलनेवाली रक्तधारा का संशय उत्पन्न हुआ। इन सभी उपमानों अथवा अप्रस्तुतों में और उपमेय अथवा प्रस्तुत में सादृश्य द्रष्टव्य है। इसमें कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय मिलता है।

भ्रांतिमान :

किसुक फूले देखि वन, चकित पथिक जिय चाह।
मानौ जरत दवार यह, समुझि गहत नहिं राह॥[2]

फूले हुए किंशुक को देखकर पथिक के मन में यह भ्रम हो जाता है कि दावाग्नि ही जल रही है और उसी भ्रम के कारण वह आगे नहीं जाता है। यहाँपर किंशुक इस प्रस्तुत को देखने से सादृश्य के कारण दावाग्नि इस अप्रस्तुत का भ्रम हो जाने से भ्रांतिमान अलंकार हुआ है। इसका अंतर्भाव आरोपमूलक के अंतर्गत हो जाता है।

---

१. नृपशंभु कृत नखसिख, छंद १२४, (नागरी प्रचारिणी सभा का हस्तलिखित ग्रंथ)।

२. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।६२।

उल्लेख :

कविन को राजै भोज, ओज को सरोज बंधु,
दीननि को दया सिंधु लाज सील को जहाज।
कोटि काम सुंदर है साहिबी पुरंदर है,
मंदरु है वैरीबल वारिधि मथन काज।
जंग मैं जालिम अवलंब कुलि आलम को,
आलम धरा को सब सूरन को सिरताज।
विक्रम अपार सूत सुजस को पारावार,
भारी भारथ मन समत्थ साहि महाराज ॥[१]

यह छंद चिंतामणि ने शहाजी भोंसला की प्रशस्ति में लिखा है। इस छंद में शहाजी के व्यक्तित्व के दर्शन सहजता से हो जाते हैं। यहाँपर एक ही व्यक्ति (शहाजी) का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। उसके लिये प्रयुक्त अप्रस्तुत शहाजी के व्यक्तित्व से सादृश्य रखते हैं। इसमें किए गए विभिन्न वर्णनों में शहाजी की रसिकता, तेजस्विता, दानशूरता, दयालुता, शालीनता, सुंदरता, धीरता, दूसरों को आधार देने की क्षमता आदि गुणों का उल्लेख सहज ही हो गया है। यहाँ उल्लेख अलंकार प्रयुक्त है।

उत्प्रेक्षा :

(१) राजै रदमंडली कपोल मंडली में मानौं
रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ॥[२]

× × × ×

(२) फैल परे मुकताहल ता परि कुंडलिसी करि सुंड के दंडन।
मानहु बंबि समीप समेटि लेय बैठि साँपनि अपने अंडन ॥[३]

(३) कुंद कली सम दसन दुति, मंद हसन अति पाइ।
मनो तडित घनश्याम में, शोभा सुभग सुभाइ ॥[४]

---

१. चिंतामणि कृत छंदोलता, छंद ७, (राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जयपुर, हस्तलिखित प्रति), डॉ० भगीरथ मिश्रजी की कृपा से प्राप्त।
२. कविकलस के छंद का अंश, माधुरी पत्रिका, जून १९४१ से उद्धृत।
३. जयराम कवि कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, शाके १८४४), पृष्ठ २९२।
४. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।४८।

उपर्युक्त उदाहरणों में उत्प्रेक्षा अलंकार विद्यमान है। प्रथम उदाहरण के अंतर्गत 'कपोलमंडली में सुशोभित रदमंडली' इस प्रस्तुत में रूप के खजाने पर मनोज के द्वारा लगाई हुई मुहर—इस अप्रस्तुत की संभावना की गई है। कवि की यह कल्पना अत्यंत मनोहारी एवं भावव्यंजक है। द्वितीय उदाहरण जयराम कवि ने शहाजी द्वारा एक मदमस्त हाथी की सूँड एवं गंडस्थल काटे जाने के प्रसंग पर लिखा है। मुक्ताहलों के बीच कुंडली की भाँति गिरी हुई हाथी की शुंडा को देखकर बाँबी के समीप अंडों को समेट कर बैठी हुई साँपिन की कल्पना कवि की अपनी सूझ है। तृतीय उदाहरण की कल्पना परंपरागत ही है। यहाँ अनिश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया गया है, इसलिये उत्प्रेक्षा को अतिशयोक्ति की भाँति अध्यवसायमूलक के उपभेद में परिगणित किया जाता है। आलोच्य कवियों ने उत्प्रेक्षा का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है।

अतिशयोक्ति :

तैं तरवार गही कर वारिज च्यारि दिसा अरिराजु भागे।
वैरिवधु वें चढी गढ़ कूँ सो खडि रह नैन तमों नहि जागे॥
चंद बच्यो उन चंदमुखी बिच चंद हि चंद विधुंतुद आगे।
शाह बली तौं बाहुन को जसु राहु ससी वस राहन लागे॥[1]

इस छंद में शहाजी के पराक्रम की शत्रुओं पर किस प्रकार धाक थी, इसका वर्णन अभीष्ट है। इस बात को व्यक्त करने के लिये कवि ने लोक-सीमा का उल्लंघन कर वर्णन किया है। शहाजी के हाथ में तलवार ग्रहण करते ही शत्रुओं का चारों दिशाओं को भाग निकलना, उनकी नारियों का भयभीत होकर रक्षणार्थ गढ़ पर चढ़ जाना, चंद्रमा का चंद्रमुखियों के बीच छिप जाना और राहु से बचना, शहाजी के बाहुबल से निर्मित सुयश का चंद्र और राहु को वश में कर लेना आदि बातें निश्चित ही लोकमर्यादा से बढ़कर हैं। उक्त छंद द्वारा शहाजी के पराक्रम की धाक का अतिशयता से वर्णन कर कवि ने उसकी तीव्रता व्यक्त की है। इस प्रकार के उदाहरण चिंतामणि के भाषापिंगल अथवा छंदविचार, रसविलास, भूषण के समस्त काव्य एवं जयराम के राधामाधवविलास चंपू में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

---

१. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८४४), पृ० २४८।

संबधातिशयोक्ति :

> गूँगा बात बहिरे सो कहता अंधा कुरान बाचे।
> टूँडे ने जब ढोल बजाया लंगड़ा क्या खूब नाचे ॥[1]

यह उदाहरण देवनाथ की उलटबाँसी के अंतर्गत है। वास्तव में गूँगे में बात करने, बहिरे में सुनने, अंधे में पढ़ने, टुंडे में ढोल बजाने तथा लँगड़े में नाचने की क्षमता अथवा योग्यता नहीं होती। फिर भी यहाँ गूँगा बहिरे से बात करता है, बहिरा सुनता है, अंधा कुरान पढ़ता है, टुंडा ढोल बजाता है लँगड़ा खूब नाचता है। अयोग्य बातों में योग्यता का क़थन हो जाने से यहाँ पर संबधातिशयोक्ति अलंकार स्पष्ट है।

सहोक्ति :

> (१) घटि वढ़ि सिसुता तरुणता, कटिकुच गति मति अंग।
> मानो किए अनंग नै, सबै एक ही संग ॥[2]

इस उदाहरण में शिशुता एवम् कटि का घटना और यौवन तथा कुचों का बढ़ना एक साथ कहा है। 'संग' इस सहवाची शब्द के प्रयोग से कवि ने यह बात स्पष्ट की है। यहाँ वयःसंधि का बड़ी कुशलता से वर्णन किया गया है। इसे गम्यमान औपम्य के अंतर्गत रखा जाता है।

दीपक :

> कामिनी कंत सों जामिनी चंद सों दामिनी पावस मेघ घटा सों।
> कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों प्रीति बड़ी सनमान महा सों ॥
> 'भूषन' भूषन सों तरुनी नलिनी नव पूषन देव प्रभा सों।
> जाहिर चारिहुँ ओर जहान लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों ॥[3]

इस छंद में प्रस्तुत और उसके लिये प्रयुक्त अप्रस्तुतों का धर्म एक ही कहा गया है और वह धर्म 'लसै' अर्थात् शोभित होना है। जिस प्रकार कांत से कामिनी, चंद्रमा से यामिनी, वर्षाकाल की मेघघटा से दामिनी,

---

१. देवनाथ का पद, हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, पं० प्रयागदत्त शुक्ल, (प्रथम संस्करण), पृ० ४४ से उद्धृत।

२. सीताराम कृत उक्तिविलास, २१८।

३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० १५०।

दान से कीर्ति, ज्ञान से सूरति, अत्यधिक संमान से प्रीति, अलंकारों से युवति और बालरवि से कमलिनी शोभा पाती है उसी प्रकार चिरंजीव शिवाजी से हिंदू जाति शोभा पाती है। यह दीपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। भूषण ने अत्यंत कौशल से शिवाजी की महत्ता की व्यंजना की है।

अर्थांतरन्यास :

बनी बनाई ना मिटै कौन मिटावन हार।
गर्व किए रावण गयो हतो सिंधु के पार ॥[1]

इस उदाहरण में सामान्य कथन का समर्थन द्वितीय पंक्ति के विशेष कथन के द्वारा किया गया है। अतः यहाँपर अर्थांतरन्यास अलंकार स्पष्ट है।

इस प्रकार सादृश्यमूलक अलंकारों के शेष भेदों का वर्णन भी आलोच्य कवियों की रचनाओं में सहज ही देखा जा सकता है।

विरोधमूलक :

जिन अर्थालंकारों का मूलाधार विरोधात्मक वर्णन होता है उन अलंकारों को विरोधमूलक के अंतर्गत रखा जाता है। इसे वैषम्यमूलक भी कहा जाता है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण पौर्वापर्य), असंगति, विषम तथा सम इन बारह अलंकारों की परिगणना की जाती है। 'सम' अलंकार यद्यपि विरोधमूलक नहीं है, किंतु 'विषम' का विरोधी होने के कारण इसी वर्ग में रखा गया है। आलोच्य कवियों ने विभावना, विशेषोक्ति, विषम तथा असंगति इन अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ अलंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

असंगति :

आजु चलाए नैन सर, मोपै तकि तकि नाँह।
सती लखौ आचरजु यह, छिदै सौति उर माँह ॥[2]

यहाँपर प्रियतम के द्वारा नायिका पर नेत्रबाण चलाया गया है। नियमानुकूल उस बाण के द्वारा नायिका के हृदय का छेदन अपेक्षित है

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, १।३१।
२. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ३।१६३।

परंतु यहाँ वैसा न होकर उस नायिका की सौत का हृदय छेदन हुआ है। अभिप्राय यह है कि नायिका के प्रति प्रियतम का नेत्रकटाक्ष देखकर सौत के हृदय में मत्सर की भावना से दुःख हुआ। यहाँ कारण एक ओर और कार्य दूसरी ओर दिखाकर कवि ने सौत के मत्सर की तीव्रता कौशलपूर्ण रीति से दिखाया है। यहाँ असंगति अलंकार स्पष्ट है।

विभावना :

साहि तनै सिवराज की सहज टेव यह ऐन।
अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे रिपु सैन॥[1]

यहाँ कारण के अभाव में कार्य की संपन्नता को वर्णित किया गया है। सामान्यत: प्रसन्न होने पर सभी पुरस्कार देते हैं। अतः हृदय की प्रसन्नता पुरस्कारादि का कारण कही जा सकती है। यहाँपर शिवाजी बिना किसी कारण से ही पुरस्कारादि द्वारा दीनों का दारिद्रय दूर करते हैं और बिना क्रोध किए ही शत्रु सेना का नाश करते हैं। अतः यहाँ 'विभावना' अलंकार है।

शृंखलामूलक :

जिन अलंकारों में एक पद या वाक्य, शृंखलावत् दूसरे पद या वाक्य से संबद्ध रहता है अर्थात् जिनकी मूल प्रवृत्ति शृंखलामूलक ही होती है उन्हें इस वर्ग के अंतर्गत रखा गया है। इसके अंतर्गत कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार इन चार अलंकारों का परिगणन किया जाता है।

कारणमाला :

संकर की किरपा सरजा पर जोर बढ़ी कवि भूषन गाई।
ता किरपा तें सुबुद्धि बढ़ी भुवि भौंसिला साहितनै की सुहाई।
राज सुबुद्धि सों दान बढ्यो बढ्यौ दान सों पुन्य समूह सदाई।
पुन्य सों बाढ्यौ सिवाजी खुमान खुमान सों बाढ़ी जहान भलाई॥[2]

यहाँपर पूर्वकथित शंकर की कृपा शिवाजी की सुबुद्धि का कारण और सुबुद्धि दान का कारण है, दान पुण्य का कारण है, पुण्य शिवाजी की उन्नति का कारण है और शिवाजी की उन्नति समस्त संसार की भलाई का कारण

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० पं० राजनारायण शर्मा, (सन् १९५० ई०), पृ० ११६।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ १६६।

कही गई है। इसमें प्रथम कथित वस्तु उत्तर कथित वस्तु का कारण होती गई है जो कारणों की माला सी जान पड़ती है। अतः यह कारणमाला अलंकार है। भूषण ने इसी को 'गुंफ' अलंकार भी कहा है।

एकावली :

> मात पियारो पुत्र है, पुत्र पियारी नार।
> नार पियारो काम है, काम सु जग विस्तार॥[१]

यहाँपर प्रथम चरणांत का पुत्र शब्द द्वितीय चरण का आधार बना है, उसी प्रकार द्वितीय चरणांत का नार शब्द तृतीय चरण का आधार और तृतीय चरणांत का काम शब्द चतुर्थ चरण का आधार बना है। इस प्रकार शृंखला सी बनी है, अतः एकावली अलंकार सिद्ध है। इसी प्रकार सार अलंकार का एक उदाहरण देखिए—

सार :

> आदि बड़ी रचना है विरंचि की, जामें रह्यौ रचि जीव जड़ो है।
> ता रचना महिं जीव बड़ो अति काहें तें ता उर ज्ञान गड़ो है।
> जीवन में नरलोक बड़ो कवि भूषन भाषत पैज अड़ो है।
> है नरलोक में राज बड़ो सब राजन में सिवराज बड़ो है॥[२]

यहाँ सृष्टि, जीव, मनुष्य, राजा और शिवाजी का उत्तरोत्तर उत्कर्ष 'बड़ो है' इस शब्द द्वारा किया है, इसलिये 'सार' अलंकार है।

न्यायमूलक :

इसके अंतर्गत सत्रह अलंकारों का समावेश किया जाता है। ये सभी अलंकार न्याय पर आधारित होते हैं। इसमें भी तर्क न्याय, वाक्य न्याय तथा लोक न्याय तीन उपभेद मानकर इन सत्रह अलंकारों का उसी के अनुकूल विभाजन भी किया गया है। तर्कन्याय के अंतर्गत 'काव्यलिंग' और 'अनुमान' ये दो अलंकार आते हैं। वाक्य न्याय के अंतर्गत यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि इन आठ अलंकारों का समावेश होता है और लोक न्याय के अंतर्गत प्रत्यनीक, प्रतीप,

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।३०।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि०सं०), पृ० १७०।

मीलन, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर इन सात अलंकारों को गिना जाता है। यहाँ प्रत्येक न्याय का एक एक उदाहरण दिया जाता है।

काव्यलिंग :

हरि उर निर्मल नीलमनि दरपन सिला समान।
प्रतिबिंबित इत राधिका कमला क्रांति निधान ॥[1]

जहाँपर युक्ति द्वारा कारण देकर पद या वाक्य के अर्थ का समर्थन किया जाता है, वहाँ पर 'काव्यलिंग' अलंकार होता है। इस उदाहरण में प्रथम पंक्ति के अर्थ का समर्थन 'प्रतिबिंबित इत राधिका', इस युक्तियुक्त कारण द्वारा किया है। अतः यहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार की योजना सफलता-पूर्वक हुई है।

प्रतीप :

चंदन में नाग, मद भर्‍यो इंद्र नाग,
विष भर्‍यो सेषनाग कहै उपमा अबस कौ।
चौंर थहरात न, कपूर ठहरात, मेघ
सरद उडात बात लागे दिस दस कौ।
संभु नीलग्रीव, भौर पुडंरीक ही बसति,
सरजा सिवाजी बोल भूषन सरस कौ।
छीरधि में पंक, कलानिधि में कलंक, यातें
रूप एक टंक ये लहैं न तेरे जस कौ ॥[2]

यहाँ चंदन, ऐरावत, शेषनाग, चौंर, कपूर, शरद्, शंभु, पुंडरीक, क्षीरसागर, चंद्रमा--इन उपमानों की शुभ्रता एवं उज्ज्वलता में किसी न किसी कारण से दोष या न्यूनता होने से शिवाजी के उज्ज्वल यश की तुलना में उन्हें अयोग्य सिद्ध किया है। यहाँ उज्वलता इस गुण के लिये सभी उपमानों को उपमेय से अतुलनीय माना है, अतः प्रतीप अलंकार स्पष्ट है।

'प्रतीप' का दूसरा एक उदाहरण देखिए—

जीते हैं अधर कर पगनि प्रबाल,
देह दुति बनक सौं कनक विचलाइए।

---

१. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ३।२४४।
२. भूषण ग्रंथावली, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० १३६।

नीलमनि कचनि दृगनि नीलमनि,
मोती दंतनि मानिक पाँति दीरति घटाइए।
भूषन कहा है तेरे अंगनि ते नीके निजु
अंग सो लगाइ प्यारी फीके न दिषाइए॥[१]

इसमें प्रवाल, कनक द्युति, नीलमनि, मानिक इन प्रसिद्ध उपमानों का क्रमशः नायिका के अधर, कर, पग, देहद्युति, दृग, दाँत, इन उपमेयों के आगे निरादर किया है। अतः यहाँ प्रतीप अलंकार की सफल योजना हुई है। इसमें नायिका की सौंदर्यकांति का उत्कृष्ट वर्णन कवि ने किया है।

गूढार्थप्रतीति मूलक :

इस वर्ग के अंतर्गत आनेवाले अलंकारों में गूढ़ अर्थ की प्रतीति होती है। इसके अंतर्गत सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर का समावेश किया जा सकता है। रुय्यक ने प्रथम तीन ही का समावेश किया है। इस वर्ग के आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ उदाहरण देखिए—

सूक्ष्म :

कहूँ किंसुक फूल फलानि सो पूजतु,
शंभु लखे वृषभान हरी।
मुसक्याति कछू मनि डीठि सखी,
सुवाल उरोजन बीच परी।
अँसुवानि विलोचनि पूरि रही,
सु विसूरति सी कछु आध घरी।
तब कौंल कली से दुओ कर जोरि
तिया नारी संकर ओर करी॥[२]

जहाँ दूसरे का भाव समझकर साभिप्राय चेष्टाओं के द्वारा उत्तर दिया जाता है, वहाँपर 'सूक्ष्म' अलंकार होता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'सूक्ष्म' अलंकार का यह लक्षण पूर्णतः विद्यमान है।

---

१. चिंतामणि द्वारा ब्रजभाषा रूपांतरित 'श्रृंगारमंजरी', संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६ ई०), पृ० ८१।

२. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३।२०१।

व्याजोक्ति :

साहन के उमराउ जितेक सिवा सरजा सब लूटि लिए हैं।
भूषन ते बिनु दौलति ह्वै कै फकीर ह्वै देस बिदेश गए हैं।
ईजति राखिवे कौं अपनी इमि स्यानपने करि त्यौंर ठए हैं।
भेटत ही सब ही सों कहैं हम या दुनिया तें उदास भए हैं।[1]

यहाँपर शिवाजी के द्वारा लूटे जाने से निधन बने हुए अमीर उमरावों का अपनी इज्जत रखने के हेतु मिलनेवालों से यह कहना कि हम स्वयम् संसार से विरक्त हो गए हैं—व्याजोक्ति है।

संकर :

भौंहन के भाय कछु लजीले सुभाय नैन,
भूल्यो भावतो री मन मोहन चकतु है।
मुख मुसक्यात अरसीले अंग अलसात,
हार के हिंडोले बैठि मनु मचकतु है॥
चिंतामनि मंद मंद चलति गयंद गौनी,
ऐसी मृगनैनी चित देषे सचकतु है॥
अंग सुकुमार अति सुंदर सुढार बने
ऊँचे कुचभार चारु लाँकु लचकतु है॥[2]

इस छंद में एक साथ वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, अंत्यानुप्रास, रूपक, अत्युक्ति आदि अलंकारों के वर्णन से नायिका का रूपचित्र अधिक सुंदरता से निखर उठा है। कवि के कौशल का चमत्कार यहाँ सहज ही दृष्टिगत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों में लगभग सभी ने अलंकारों के प्रयोग अत्यंत सफलता से किए हैं। इन कवियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम के अंतर्गत वे कवि आते हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों का विवेचन किया है। ऐसे कवियों में चिंतामणि और भूषण समाविष्ट हो जाते हैं। चिंतामणि के उपलब्ध ग्रंथों में केवल 'कविकुल कल्पतरु' के दो अध्यायों में अलंकारों का निरूपण

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि०सं०), पृ० १८२।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ३।२०।

किया गया है। शेष छह प्रकरणों में अन्य काव्यांगों का विवेचन है। भूषण के ग्रंथों में केवल 'शिवराज भूषण' में ही अलंकारों के लक्षणों एवम् उदाहरणों का विवेचन किया गया है। 'शिवराज भूषण' शुद्ध रीति की दृष्टि से निर्दोष ग्रंथ नहीं माना जा सकता।

भूषण के कुछ अलंकारों एवम् उदाहरणों में अशुद्धता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। इस विचार का विरोध करते हुए पं० भगीरथप्रसाद दीक्षितजी लिखते हैं कि लक्षण की भूल भूषण की नहीं वरन् चंद्रालोककार की है जिसे आलोचक महोदय भूषण के सिर थोप रहे हैं। हिंदी में महाकवि भूषण एक प्रमुख आचार्य हुए हैं जिन्होंने संस्कृत आचार्यों का अंधानुकरण नहीं किया वरन् उनकी भूलों का परिमार्जन करके शास्त्रानुमोदित संशोधन द्वारा अपने आचार्यत्व की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखा है।[1] जहाँतक अलंकारों के लक्षणों का प्रश्न है भूषण पर मतिराम के 'ललित ललाम' का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस बात की पुष्टि के लिये मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति, दीपक, निदर्शना आदि के लक्षण देखे जा सकते हैं। दोनों में न केवल भावसाम्य ही है प्रत्युत् शब्दावली भी वही है। कहीं कहीं तो केवल कवि नाम का ही भेद है। उदाहरण के लिये दोनों द्वारा लिखित छेकापह्नुति के लक्षण देखिए—

जहाँ और की संक ते साँच छपावत बात।
छेकापह्नुति कहत हैं तहाँ बुद्धि अवदात ॥[2]—मतिराम।

× × × ×

जहाँ और की संक तें साँचि छिपावत बात।
छेकापह्नुति कहत हैं भूषण मति अवदात ॥[3] – भूषण ॥

महाकवि भूषण का समस्त काव्य देखकर यह कहना पड़ता है कि भूषण की प्रकृति आचार्य की नहीं थी वरन् कवि की थी। जहाँपर उन्हें अलंकारों का बंधन नहीं है वहाँ उनकी कविता अधिक स्वतंत्र एवम् प्रभावपूर्ण है और

---

१. महाकवि भूषण, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, (सन् १६५३ ई०), पृष्ठ १२२।
२. मतिराम ग्रंथावली, संपा० पं० कृष्णविहारी मिश्र, (सं० १६६१ वि० का संस्करण), पृ० २८१।
३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ १४४।

साथ ही साथ उनमें स्वाभाविक रीति से आगत अलंकार अधिक ही उत्कृष्ट दिखाई देते हैं। भूषण का अलंकारों के उदाहरण रूप में छत्रपति शिवाजी का चरित्रकथन करना तत्कालीन रीतिकाव्य परंपरा का प्रभाव ही मानना चाहिए। यदि वे रीतिपरंपरा के प्रभाव में न आते तो उनकी कविता स्वतंत्रता से अत्युत्कृष्ट कोटि की वीर रस की रचना हो जाती। भूषण की रचना में प्राप्त अलंकारों के कुछ दोषों के कारण भूषण की महत्ता किसी प्रकार से कम नहीं होती।

'अलंकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई 'शिवभूषण' नहीं उठाता। इनकी कविता के पढ़ने और सुनने की लालसा का कारण दूसरा ही है। इन्होंने लोकरक्षा का भाव प्रधान रखा। शिवाजी ऐसे लोकोपकारक एवम् देशरक्षक नायक को आलंबन बनाया। जिन वीर नायकों द्वारा लोक का कल्याण एवम् उद्धार होता है, जनता उन्हीं को अपने हृदयमंदिर में प्रतिष्ठित करती है।'[1] अतः भूषण की ओर अलंकारनिरूपक आचार्य की दृष्टि से देखना उचित न होगा। वीर काव्य के रचयिता कवि की दृष्टि से भूषण की ओर देखना समीचीन होगा। भूषण की कविता हिंदी में उत्तम वीर काव्य है यह निःसंदिग्ध है। भूषण वीर रस के श्रेष्ठ कवि हैं, वीरकाव्यकर्ताओं के 'भूषण' हैं।[2]

चिंतामणि तो हिंदी रीति साहित्य के प्रतिनिधि एवम् श्रेष्ठ आचार्य ही थे। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों के व्यापक एवम् सम्यक् अध्ययन के उपरांत एक से बढ़कर एक काव्यांग विवेचक ग्रंथों का सृजन किया था। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों के लक्षणों एवम् उदाहरणों में पर्याप्त शुद्धता दृष्टिगत होती है। एकाध स्थलपर यदि त्रुटि भी दिखाई देती है तो वह या तो लिपिकार की भूल है या कवि की अपनी स्वतंत्र धारणा है। चिंतामणि के अलंकारनिरूपण का विवेचन करना यहाँ अभिप्रेत न होने से केवल स्थूल परिचयमात्र दिया जाता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आनेवाले इन दो कवियों ने अलंकारनिरूपण किया है इसी लिये अलंकारों के सभी भेदों तथा उपभेदों के उदाहरण भी इनमें प्राप्त होते हैं जो दूसरे वर्ग के कवियों में नहीं मिलते।

द्वितीय वर्ग के अंतर्गत वे कवि रखे जाते हैं जिन्होंने अलंकारनिरूपण नहीं किया वरन् कविता करना ही अपना लक्ष्य रखा है। इस वर्ग के अंतर्गत

---

१. भूषण ग्रंथावली संपा० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (अंतर्दर्शन), पृष्ठ ९६।
२. वही, (अंतर्दर्शन), पृष्ठ ९९।

चिंतामणि और भूषण को छोड़कर शेष सभी कवि आ जा सकते हैं। लोकमणि मिश्र का नवरसरंग यद्यपि रीति ग्रंथ है परंतु वह रसनिरूपण विषयक ही ग्रंथ है। इन कवियों की रचनाओं में अलंकारों के प्रयोग न्यूनाधिक परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इनमें से कुछ ग्रंथों में अलंकारों की विपुलता है तो कुछ ग्रंथों में अत्यल्पता। इसका विवरण उपर्युक्त विवेचन के प्रसंग में किया गया है।

इन कवियों की रचनाओं में सभी अलंकारों एवम् उनके भेदों उपभेदों के प्रयोग नहीं मिलते वरन् प्रमुख अलंकारों के प्रयोग ही विशेष रूप में प्राप्त होते हैं। जिन अलंकारों की योजना अधिक मात्रा में प्राप्त होती है उनमें से अधिकांश के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। जयराम, नृपशंभु, शाहराज, देवनाथ आदि अहिंदी भाषी कवियों के द्वारा भी इन अलंकारों के वैसे ही सफल प्रयोग हुए हैं जैसे हिंदी के अन्य कवियों द्वारा किए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इन्होंने न केवल पद्यरचना ही की है वरन् उसमें काव्यसौंदर्य के पक्ष का भी विचार किया है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त अलंकारों से उनके काव्य के कलापक्ष का सौष्ठव निःसंदिग्ध रूप से बड़ा प्रभावी हुआ है।

वक्रोक्ति :

भारतीय समीक्षा के मानदंडों में वक्रोक्ति सिद्धांत का भी अपना स्थान है। इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुंतक माने जाते हैं। उनकी वक्रोक्ति अथवा वक्रता वास्तव में कविकौशल अथवा काव्यसौंदर्य का पर्याय है। कुंतक ने स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य के अलंकार का पर्याय माना है।[1] शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, और वक्रोक्ति उनका अलंकार है, अर्थात् शब्द अर्थ के सौंदर्य अथवा अलंकार की समष्टि का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति है। काव्य में जो कुछ सुंदर, चमत्कारपूर्ण अथवा अलंकृत है, वह सब वक्रोक्ति का ही चमत्कार है। अतएव उसके अंतर्गत कुंतक ने कविकौशल अथवा काव्यसौंदर्य के सभी प्रकार भेदों को अंतर्भूत करने का प्रयत्न किया है। कवि प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये सहज अथवा सचेष्ट रूप में जिन साधनों प्रसाधनों का उपयोग

---

१. उभयावेतालंकार्यों तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥
—आचार्य कुंतक कृत वक्रोक्तिजीवितम् १।१०।

करता है, वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं। अतएव कुंतक की वक्रोक्ति का साम्राज्य वर्णविन्यास से लेकर प्रबंधकल्पना तक और उधर उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है।[1]

कवि का शब्दचयन सामान्य व्यक्तियों के शब्दचयन से भिन्न होता है। अपनी लोकातिक्रांत अभिव्यक्ति के कारण ही उसकी वाणी काव्यस्वरूपा बन जाती है। कुंतक ने वक्रोक्ति का प्रयोग मुख्यतः इसी अर्थ में किया। परंतु जब उन्होंने इससे आगे बढ़कर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया तब यह भी अपनी अतिवादिता में अलंकार संप्रदाय के समकक्ष हो गया। यद्यपि आगे चलकर एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में वक्रोक्ति को मान्यता नहीं रही, फिर भी काव्य की सौंदर्यवृद्धि तथा उसकी उक्ति में चारुता एवम् चमत्कार निर्मिति के हेतु वक्रोक्ति को सभी आवश्यक मानते आए हैं। कुंतक के पूर्व भी वक्रोक्ति का प्रयोग काव्य में होता था। कुंतक ने अपनी मौलिक उद्भावना एवम् असाधारण बुद्धि से विवेचन कर उसको सुस्थिर रूप प्रदान किया। अतः उनके द्वारा निर्देशित वक्रोक्ति के भेदादि का विवेचन आज भी ग्राह्य है। उक्तिवैचित्र्य उत्तम काव्य का सहज अंग माना जाता है जो कविकर्मकौशलजन्य शब्दार्थचारुता का द्योतक रहता है। काव्य के कलापक्ष का यह भी एक महत्वपूर्ण अंग है। आलोच्य कवियों की सभी रचनाओं में यह उक्तिवैचित्र्य अर्थात् वक्रोक्ति प्रचुरता से देखी जा सकती है। आचार्य कुंतक द्वारा माने गए वक्रोक्ति के छह भेदों में से वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध वक्रता के प्रयोग आलोच्य कवियों ने अत्यंत कौशल से एवं प्रचुरता से किए हैं। शेष तीन भेदों—वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबंध वक्रता के प्रयोग अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं होते। लगभग सभी कवियों का काव्य मुक्तक रूप में ही होने के कारण उसमें प्रबंध वक्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, अपवाद स्वरूप चिंतामणि का कृष्णचरित्र अवश्य है जिसमें कवि ने प्रबंध वक्रता की झलक भी दिखाई है।

वर्णविन्यास वक्रता :

आचार्य कुंतक ने वर्ण शब्द को व्यंजन के पर्यायवाचक रूप में स्वीकार

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भा० २, ले० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई० का संस्करण), पृ० २३६।

किया है।[1] वर्णविन्यास वक्रता के अंतर्गत वर्गांतयोगी स्पर्शों, त, ल, न आदि वर्णों का द्वित्व तथा रेफ आदि युक्त वर्णों की आवृत्ति का समावेश होता है।[2] उनका अभिप्राय ऐसी वर्णयोजना से है जो विषयानुकूल होकर उसे अलंकृत कर सके। काव्य में सौंदर्य, नावीन्य, शब्दचारुत्व तथा चमत्कार आदि का संपादन ऐसी वर्णयोजना से हो जाता है। इसके अंतर्गत अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारों एवम् गुणों का अंतर्भाव भी हो जाता है। आलोच्य कवियों की लगभग समस्त रचनाओं में यह वर्णविन्यास वक्रता सहजता से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये कुछ छंद देखिए—

पावन प्रवाह प्यारी पंकज नयनि जू को,
बर पानी छुयो फेरी पापु पर से नहीं।
संकर सुकवि है अमर मूरि जह्नुसुता जामे,
मरे मानों ते गनीजे मर से नहीं॥
सरस सलोनी मेदिनी को सुख देनी,
बयकुंठ की निसेनी ताको कोन तरसे नहीं।
भीखम की जननी जगनमाता जंबू दीप,
जाके लखें नेक जनु जमु दरसे नहीं॥[3]

× × × ×

उदित अनंग अंग अंग न समुदित,
उमंग रंग रंग न दुरत उघरत है।
लोकन भनत बेर बेर संभ्रमित हेर,
हेर ही भ्रमित फेर फेरे विहरत है॥[4]

× × ×

मो तन ताकि बड़ी आँखियान तें,
काँकरी लै फिरि मोतन धाँकरी।

---

१ वर्णं शब्दोऽत्र व्यंजनपर्यायः, हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, संपा० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई० का संस्करण), द्वितीयोन्मेष, प्रथम कारिका, पृ० १७० ।
२. वही, द्वितीयोन्मेष, दूसरी कारिका, पृ० १७३–७४ ।
३. संकर सुकवि कृत शाहविलास, १।२६६ ।
४. लोकमणि कृत नवरंग १२।१७ ।

काँकरी ओडि लई करतें पें करेजे,
कहाँ धौं गई गड़ि काँकरी ॥[१]

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में वर्णविन्यास वक्रता विद्यमान है। प्रथम उदाहरण के अंतर्गत पावन, प्रवाह, पंकज, पानी, पापु, परसे—इन शब्दों में 'प' वर्ण की, संकर, सुकवि, सुता, सर, सलोनी, सुख—इन शब्दों में 'स' वर्ण की, मरे, मानों मरसे आदि में 'म' वर्ण की तथा जननी, जगनमाता, जंबू दीप, जाके, जनु, जमु—इन शब्दों में 'ज' वर्ण की चातुर्यपूर्ण योजना से काव्य में चारुता, चमत्कृति तथा गतिमयता दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में अनंग, अंग, उमंग, रंग में 'अंग' की तथा दुरत, उघरत, विहरत में 'रत' की, संभ्रमित, भ्रमित में 'मित' की, वेर, हेर, फेर में 'र' वर्ण की आवृत्ति के कारण प्रस्तुत काव्य में उक्तिवैचित्र्य तथा चारुता का संपादन हुआ है। तृतीय उदाहरण के अंतर्गत काँकरी शब्द का तीन बार प्रयोग और वह भी विभिन्न प्रसंग तथा अर्थ में द्रष्टव्य है। काँकरी, कर, करेजे, कहाँ, इन शब्दों में 'क' वर्ण के प्रयोग में अनुप्रास की छटा विद्यमान है। इस प्रकार के कई उदाहरण आलोच्य कवियों की रचनाओं में सहजता से प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दालंकारों के अंतर्गत इसका विस्तृत विवरण आ जाने से अधिक वर्णन करना संगत न होगा।

पदपूर्वार्ध वक्रता :

अनेक वर्णों के सार्थक समूह को 'पद' की संज्ञा दी गई है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'पद' के दो अंग हैं—प्रकृति और प्रत्यय। आचार्य कुंतक ने इसी के आधार पर पदवक्रता को पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध वक्रता—इन दो भेदों में विभक्त किया है। उन्होंने पदपूर्वार्ध वक्रता के ग्यारह उपभेद माने हैं जो रूढ़िवैचित्र्य वक्रता, पर्यायवैचित्र्य वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता, कृदादि वक्रता, आगम वक्रता, वृत्ति वक्रता जिसका दूसरा नाम समास वक्रता भी है, भाव वक्रता, लिंगवैचित्र्य वक्रता, क्रियावैचित्र्य वक्रता इन नामों से प्रसिद्ध हैं।[२] इन सभी का विस्तृत विवेचन करना वांछनीय न होगा इसलिये इसके कुछ भेदों का विवेचन एवम्

१. नृपशंभु कृत नायिकाभेद, माधुरी पत्रिका, जून १९४१ के पृ० ९२७ से उद्धृत।

२. हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, संपा० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई० का संस्करण), द्वितीय उन्मेष की ८ से लेकर २५ वीं कारिका तक।

उनका उदाहरण दिया जायगा जिससे आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त उक्तिवैचित्र्य का सहजता से अनुमान किया जा सकेगा।

रूढ़िवैचित्र्य वक्रता :

इसमें रूढ़ि या परंपरागत मान्यता का वैचित्र्य होता है। जहाँपर असंभाव्य धर्म का आरोप अथवा विद्यमान धर्म की अतिशयता होती है, वहाँपर रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है। ध्वनिसिद्धांत के अंतर्गत लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेद--अर्थांतर संक्रमित और अत्यंत तिरस्कृत--इसके अंतर्गत लिए जाते हैं। इसमें रूढ़ि द्वारा किसी शब्द में वैचित्र्य का समावेश हो जाता है।[१] प्रतिभासंपन्न कवि ऐसे प्रयोग अत्यंत सहजता से कर देते हैं। आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त रूढ़िवैचित्र्य वक्रता के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) प्यारी सुधा अधरान सुप्याइ,
हौं ज्याइ लियो तेरे हाथ बिकान्यो॥[२]

(२) क्षुधा दहति है देह को देह दहति है रोग।
रोग दहति है पात की, हरि भजि भूले लोग॥[३]

(३) आम के बन माँहि किलकत कोकिल बोलत अमृत बानी॥[४]

(४) इंद्र भयो सब हिंदुन के अरु आयुस्मान यो छत्र कियो है।[५]

(५) 'सूरत' को रस चूसि के चाख्यो।[६]

---

१. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वि० संस्करण), पृष्ठ २२९।

२. शृंगारमंजरी, संपा०, डा० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६ का संस्करण), पृ० ४६, छंद क्रमांक १९८।

३. सीतारास कृत भक्ति-विलास, १।८१।

४. देवनाथ कृत बारहमासी, हिंदी साहित्य को विदर्भ की देन, श्री प्रयागदत्त शुक्ल, पृ० ४८ से उद्धृत।

५. जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८४४), पृ० २६८।

६. दत्त कवि कृत छंद का अंश, श्री गिल्लाभाई द्वारा संपादित 'शिवराज-शतक' के पृ० १२२ से उद्धृत।

इन उद्धरणों में सुधा, दहति, अमृत, इंद्र तथा रस इन शब्दों को लोक-व्यवहार में रूढ़ या प्रसिद्ध अर्थ के अंतर्गत लोकोत्तर चमत्कार दिखाया है। इन शब्दों का कोशगत सामान्य अर्थ में प्रयोग न होकर क्रमशः माधुर्य, कष्ट, मधुर संरक्षक तथा सौंदर्य अथवा महत्व इन रूढ़ अर्थों में प्रयोग किया जाने से काव्य में चमत्कृति निर्माण होकर सौंदर्य की वृद्धि हुई है।

पर्यायवक्रता :

इसके अंतर्गत पर्यायवाची शब्दों के कौशल्यपूर्ण प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। प्रतिभावान् कवि प्रत्येक शब्द की आत्मा का साक्षात्कार कर इन पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा काव्य में अपूर्व सौंदर्य की उद्भावना कर देता है। इसके प्रयोग से जहाँ एक ओर अर्थसौंदर्य की सृष्टि होती है वहाँ शब्द का चमत्कार भी समाविष्ट रहता है। आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण, लोकमणि, सीताराम और नृपशंभु की रचनाओं में पर्याय वक्रता का प्रयोग कुशलता से किया गया है। शेष कवियों ने भी यत्रतत्र इसका प्रयोग किया है। निम्नलिखित उदाहरणों से इनकी प्रतिभा की कल्पना हो सकती है—

(१) केलि के कुंज बजी मुरली बुधि,
गोपवधू की बँधी ब्रजनाथ में।
दोहनी नाथ की हाथै रही,
न रह्यो मनमोहिनी को मन हाथ में ॥[1]

× × ×

(२) चिंतामनि सुंदर सपूत सिद्धि मंदिर,
भयो पुहुमी पुरंदर प्रबल पूरे पेषिए।
दारासाहि तच्छन सौं देत दान लच्छन सों,
जगत के रच्छन विचच्छन विसेषिए ॥[2]

× × +

(३) कैसी मोहन बंसी बजाई।
सुनत धुन मोहे सुध नहिं पाई ॥[3]

---

१. नृपशंभु कृत नायिकाभेद, (माधुरी पत्रिका, जून-१९४१ से उद्धृत)।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।४०।
३. देवनाथ महाराज के पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२४ से उद्धृत)।

(४) प्रेम कियो कुलकानि तजि, पठयो रिसनि रुसाइ।
गयो लाल मो हाथ तें, कहाँ लेऊँ पछिताइ ॥[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में मनमोहिनी, पुरंदर, मोहन और लाल इन पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग अत्यंत कौशलपूर्ण रीति से किए गए हैं। इन शब्दों के स्थान पर उसी अर्थ के दूसरे शब्दों की योजना कर देने पर काव्य का अर्थगत सौंदर्य तो विलुप्त होगा ही, चमत्कृति का भी लोप होगा। प्रथम उदाहरण के अंतर्गत प्रिया अथवा स्त्री के लिये प्रयुक्त पर्यायवाची शब्द 'मनमोहिनी' कवि की अपूर्व प्रतिमा का द्योतक है। इस पर्याय वक्रता की योजना से स्त्री इस सामान्य अर्थ का बोध तो होता ही है प्रत्युत कृष्ण की मुरली की ध्वनि से मोहित उसके मन की वास्तविक स्थिति का सम्यक् ज्ञान भी होता है। द्वितीय उदाहरण में प्रयुक्त 'पुरंदर' शब्द भी काव्य में विशेष सौंदर्य की उद्भावना करता है। यह शब्द इंद्र का पर्यायवाची है। जगत् की रक्षा करनेवाले दाराशाहि के प्रसंग में पुर नामक दुष्ट दैत्य का नाश कर देवताओं की रक्षा करनेवाले 'पुरंदर' इस पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर कवि ने शब्द की आत्मा का परिचय दिया है। इंद्र शब्द विलासिता के द्योतन के लिये अधिक उपयुक्त है। अतः कवि ने 'पुरंदर' शब्द की चातुर्यपूर्ण योजना से दाराशाहि के श्रेष्ठ व्यक्तित्व का यथोचित वर्णन किया है।

तृतीय उदाहरण में प्रयुक्त 'मोहन' यह पर्यायवाची शब्द अपने अभिधेय 'कृष्ण' अर्थ को उसके लोकोत्तर उत्कर्ष—स्वर्गीय संगीतनैपुण्य, गोपीहृदयवशीकरण सामर्थ्य आदि-से भरता हुआ प्रतीत होता है। चतुर्थ उदाहरण में पति अथवा प्रियकर के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द 'लाल' का अत्यंत कुशलता से प्रयोग हुआ है। यह शब्द अपने अभिधेय 'प्रियकर' इस अर्थ को अपने अन्य अर्थ जैसे मूल्यवान् पद्मरागमणि आदि की कमनीयता से अलंकृत होकर नायिका की दीनता को अधिक तीव्र बना रहा है। इस प्रकार अपनी प्रतिभा के द्वारा शब्द की आत्मा को पहचान कर पर्यायवाची शब्दों का प्रसंगानुकूल तथा विषयानुकूल प्रयोग आलोच्य कवियों के काव्य में अनेक स्थलों पर सहज द्रष्टव्य है।

---

१. चिंतामणि रूपांतरित, शृंगारमंजरी, संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र, (सन् १९५६ ई०), पृ० ७६, छंद २७१।

उपचारवक्रता :

भिन्न एवम् दूरस्थ वस्तुओं का जब किसी वस्तु के साथ अभेद स्थापन किया जाता है तब उपचारवक्रता होती है। अर्थात् जहाँ प्रस्तुत वस्तुओं पर अप्रस्तुत वस्तु के सामान्य धर्म का लेश मात्र संबंध से आरोप किया जाता है, वहाँ उपचार होता है। काव्य में उपचार वक्रता के अनेक रूप दिखाई देते हैं। अचेतन पदार्थ पर चेतन पदार्थ के धर्म का आरोप, मूर्त पर अमूर्त सौंदर्य का आरोप, द्रव पदार्थ पर तरल पदार्थों का आरोप, आदि इस उपचारवक्रता के बहुविध वैचित्र्य हैं। यह उपचार मूलतः गौणी अर्थात् लक्षणा वृत्ति का चमत्कार और रूपकादि अलंकारों का मूल आधार है। कुंतक ने इसे रूपकादि-अलंकारों की सरसता का कारण माना है।[1] उपचारवक्रता के कलात्मक प्रयोग से कवि की सौंदर्यप्रेमी समदृष्टि का परिचय हो जाता है। आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में इस वक्रता का प्रयोग मनोयोग से किया है। देखिए—

(१) सरद अंबर परिपूरन ज्यों इंदु कौस्तुभ
मनिगन छाति प्रभापुंज पसराए हैं।
स्याम घन तन बीजुरी बसन कंज नैन
चिंतामनि मोद मुखचंद उमगाए है ॥[2]

× × ×

(२) कलजुग जलधि अपार उद्ध अधरम अंबुमय।
लच्छनि लच्छ मलेच्छ कच्छ अरु मच्छ मगर चय ॥[3]

इन उदाहरणों में उपचारवक्रता सहजता से देखी जा सकती है। प्रथम उदाहरण की अंतिम दो पंक्तियों में इसका प्रयोग स्पष्ट है। कृष्ण के तन, वसन, नेत्र तथा मुख इन प्रस्तुतों पर क्रमशः स्यामघन, विद्युत्, कमल तथा चंद्रमा इन अप्रस्तुतों का आरोपकर उन दोनो में अभिन्नता स्थापित कर उपचारवक्रता की सिद्धि की गई है। इसमें प्रयुक्त उपमानों से कवि की सूक्ष्म समदृष्टि का सहज ही अनुमान हो जाता है। द्वितीय उदाहरण में सांग

---

१. 'यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः', आचार्य कुंतक कृत वक्रोक्ति जीवितम्, २।१४।

२. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र, १।३।

३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० १३८।

रूपक का प्रयोग है। कलियुग अपार सागर है जिसमें अधर्म की प्रबल तरंगें और म्लेच्छरूपी कछुए, मछली तथा मगर समूह विद्यमान हैं। यहाँ प्रस्तुत पदार्थ कलियुग तथा अधर्म अमूर्त हैं और म्लेच्छ मूर्त है। इनपर समुद्र, प्रबलतरंग, तथा कच्छ, मच्छ और मगर का समूह इन मूर्त अप्रस्तुतों के आरोप का उपचारकर उपचारवक्रता की सृष्टि की है। कवि ने इस उपचार-वक्रता से काव्य में चमत्कार तथा अर्थचारुत्व का निर्माण कर उसे आस्वाद्य बनाया है। इसी प्रकार उपचारवक्रता का दूसरा रूप भी देखिए—

देख सखी बनरूह सब प्रफुल्लित भए,
लताद्रुम हंमन सो देख लपटाए ॥[1]

× × ×

कहे कविराज महाराज सिवराज वीर,
तेरी तरवार कैधौं नाची नारी नट की ॥[2]

× × ×

कहत सीस नित पेट सों तोसों बैरी नाह।
तो हित दीन भयो फिरौं; ऊँच नीच की छाँह ॥[3]

प्रथम दो उदाहरणों में चेतन प्राणियों के धर्मों का अचेतन वस्तुओं पर आरोप है। लिपटना और नाचना चेतन प्राणियों के इन धर्मों का क्रमशः लता और तलवार इन अचेतनों पर आरोपकर उन अचेतनों में चैतन्य का सा आभास निर्माण किया है। इन प्रयोगों से काव्य के अर्थगौरव का उत्कर्ष हुआ है। तृतीय उदाहरण में असंभाव्य धर्म का आरोप है। वास्तव में मुख ही वाणी का वाचक हो सकता है सीस नहीं, परंतु यहाँ कवि ने सीस पर मुख के धर्म का आरोपकर चमत्कृति की सृष्टि की है। इस प्रकार उपचारवक्रता के अनेक उदाहरण आलोच्य कवियों की रचनाओं में विद्यमान हैं।

विशेषण वक्रता :

जहाँपर विशेषण के औचित्यपूर्ण प्रयोग से कारक अथवा क्रिया को विशेष सौष्ठव प्राप्त होता है वहाँ विशेषणवक्रता होती है। उसे रस, वस्तु-

---

१. शाहराज कृत राधाबंसीधर विलास, पृ० १६।
२. कविराज कवि का छंदांश. (गोविंद गिल्लाभाई द्वारा संपादित 'शिवराज-शतक के पृ० १२० से उद्धृत)।
३. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।११३।

भाव तथा अलंकार का पोषक होना चाहिए।[1] आलोच्य कवियों में लगभग सभी ने ऐसे विशेषणों की चातुर्यपूर्ण योजना से अपने काव्य में लावण्य निर्मित किया है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित छंदांशों को देखा जा सकता है—

(१) गोरे करेरे तरेरे उरोजन दै कर लागे लला झुकि झूमन।[2]

× × ×

(२) छूटि रही गोरे गोल गाल पै अलक आछी,
कुसुम गुलाब के ज्यों लीक अलि दो की सी॥[3]

× × ×

(३) मुकुर विलोकति वदन त्रिय मान सदन में ऐंठि।
रिस राते लोचन मनो, चंद्र सूर्य ग्रह बैठि॥[4]

× × ×

(४) भौंहन के भाय कछु लजीले सुभाय नैन,
भूल्यो भावती री मनमोहन चकतु है।[5]

× × ×

(५) प्यारी के नैनन को कजरा
पिय प्यारे के ओठन ओप विराजे।[6]

उपर्युक्त उदाहरणों में औचित्यपूर्ण एवम् साभिप्राय विशेषणों की कौशलपूर्ण योजना काव्य को अत्यधिक रमणीय बना रही है। गोरे, करेरे, तरेरे, गोरे, गोल, रिस राते, लजीले ये विशेषण अपने विशेष्यों—उरोज, गाल, लोचन तथा नैन में निहित भाव तथा सौंदर्य को साकार रूप में प्रत्यक्ष कर देने में समर्थ हुए हैं। अंतिम उदाहरण में प्रयुक्त 'ओप' इस क्रिया-

---

१. स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तर श्रियः।
—रसस्वभावालंकारास्तद् विधेयं विशेषणम्॥ वक्रोक्तिजीवितम्, २।१५।५७।

२. नृपशंभु कृत नायिकाभेद, (माधुरी पत्रिका, जून १९४१ से उद्धृत)।

३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, द्वि०सं०), पृ० २४०।

४. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।४०।

५. चिंतामणि कृत रसविलास, ३।२०।

६. लोकमणि कृत नवरसरंग, ३।१६।

विशेषण प्रयोग से ओठों की कांति के अतिरिक्त उसके हृदयगत भावों का चित्र स्पष्ट भी होता है। अथाह शब्दसागर से चुन चुनकर विशेषणों का औचित्य-पूर्ण प्रयोग करना कवि की प्रतिभा पर निर्भर रहता है। आलोच्य कवियों के काव्य में विशेषणवक्रता के प्रयोग सर्वत्र दर्शनीय हैं।

संवृत्तिवक्रता :

जहाँ वैचित्र्यकथन के उद्देश्य से सर्वनामादि के द्वारा वस्तु का संवरण अर्थात् गोपन किया जाता है, वहाँ संवृत्तिवक्रता होती है।[1] आचार्य कुंतक ने अभिव्यंजना की इस पद्धतिविशेष का अत्यंत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उनके मतानुसार अनेक स्थितियों में अथवा अनेक कारणों से स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा उक्ति में कहीं अधिक चारुता आ जाती हैं। इस वंक्रता के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) कारन कौन भयो सजनी, यहु खेल लगै गुडियान को फीको।
काहे ते साँवरो अंग छबीलो लगै दिन द्वैक तें नैननि नीको॥[2]

(२) कहा फूल अरु तिल कहा सब ही हाट बिकान।
चढै महेशै फूल सों भूठी सवै दुकान॥[3]

× × ×

(३) देखत चढि महलनि पुरनागरि जहँ
साहि नृपति सहजहि निकसैं हरखनि हुलसैं।
वै उझकि झरोखे चंदमुखी ललचाइ
सुतनु भावनि विलसैं मुख मोरि हँसैं॥[4]

इन छंदों में प्रयुक्त कौन, यहु, काहे, कहा, सों जहँ, वै आदि शब्द सर्वनाम हैं। इन सर्वनामों का प्रयोग संज्ञा के संवरणहेतु किया गया है जिससे संवृत्तिवक्रता की सिद्धि होकर काव्य में विशेष प्रकार का चारुत्व

---

१. यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया। सर्वनामादिभिः कश्चित् सोक्ता संवृति वक्रता॥—हिंदी वक्रोक्तिजीवितम् २।१६।
२ चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३।८२।
३. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।७६।
४. चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार), ८२।

एवम् चमत्कार निर्माण हुआ है। इसी प्रकार संवृत्तिवक्रता के और भी कुछ उदाहरण देखिए—

(१) हेमपुर दीन्हो ऐसे दरिद सुदामा हूँ को
ऐसे प्रभु छाँडि और काहि उर आनिए।
कीजिए सहाइ मेरी सीतावर टेरि
कहौ औगुन कछूक मेरे मन में न मानिए ॥[१]

× × ×

(२) नाव सुबुधिराव है जाको। वाकों साहे कइक दिन राखो।
जा दिन वाहि बिदा करि दीनो। ता दिन यह कछु वर्णन कीन्हो ॥[२]

इनमें काहि, कछुक, जाको, वाको, जा, वाहि, ता, यह, कछु आदि सर्वनामों के प्रयोग से संज्ञाओं का संवरण अर्थात् गोपन हो जाने पर काव्य में वैचित्र्यनिर्माण हुआ है। प्रथम छंद में प्रयुक्त 'ऐसे' शब्द द्वारा कवि ने अनिर्वचनीय अतिशयता का गोपन बड़ी कुशलता से किया है।

वृत्तिवक्रता :

जिसमें अव्ययी भाव आदि वृत्तियों का सौंदर्य प्रकाशित होता है उसको वृत्तिवैचित्र्य वक्रता कहते हैं।[३] इससे स्पष्ट होता है कि वृत्ति से कुंतक का अभिप्राय कोमला, परुषा आदि वर्णयोजना से न होकर व्याकरणसंमत प्रसिद्ध समास, तद्धित सुब्धातु आदि वृत्तियों से है। इनपर समाश्रित चमत्कार का अंतर्भाव वृत्तिवैचित्र्य वक्रता में हो जाता है। कुंतक ने इसकी विशेषता का विवेचन संस्कृत भाषा को दृष्टि में रखकर किया है जो समासप्रधान भाषा है। आलोच्य कवियों में अधिकांश की भाषा व्रजभाषा है, कुछ एक की भाषा रेखता के ढंग की है। अतः दोनों भाषाएँ व्यासप्रधान होने से उनके अंतर्गत इस वृत्तिवक्रता की सामासिक विशेषता प्रचुर मात्रा में न मिलना स्वाभाविक ही है। ऐसा होते हुए भी चिंतामणि, भूषण, लोकमणि

---

१. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद ३० वाँ।
२. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८४४), पृ० २६८।
३. अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ॥
—हिंदी वक्रोक्तिजीवितम् २।१९।

जैसे कवियों ने अपनी प्रतिभा सामर्थ्य के अनुसार ब्रजभाषा के अंतर्गत कारक-चिह्नों से रहित समस्त अथवा समासप्रधान शब्दावली का प्रयोगकर काव्य में चमत्कार लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। इसमें कहीं कहीं सफलता भी मिली है परंतु वह संस्कृत भाषा के समकक्ष नहीं है, देखिए—

(१) किंकिणी - क्वणित - मनि - नूपुर - रनित,
कल-केलि के भणित - मद-आनँद-अतोल मैं।
छिटकी अलक-अधमुदित-पलक - सेदकनिका,
हलक - उर - पुलक - कपोल मैं ॥[1]

× × ×

(२) अथक अपार भव-पंथ के बिलोकौ स्रम-हरन,
करन - बीजना से बरम्हाइयै।
यह लोक परलोक सफल करन कोकनद,
से चरन हियें आनि कै जुड़ाइयै।
अलि - कुल - कलित-कपोल ध्याय ललित,
अनंदरूप सरित मों भूषन उन्हाइयै।
पाप - तरु - भंजन बिघन - गढ़ गंजन,
भगत - मन - रंजन द्विरद मुख गाइयै ॥

× × ×

तरनि, तचत - जलनिधि - तरनि, जय जय आनँद-ओक।
कोक - कमल - कुल - सोकहर, लोक - लोक आलोक ॥[2]

इन छंदों में समस्त पदावली का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया है। समस्त पदावली के प्रयोग के कारण भाषा तथा भाव का सौंदर्य दब नहीं गया है वरन् उनमें एक विशेष सौंदर्य की उपलब्धि दृष्टिगत होती है। ऐसे प्रयोग अत्यंत कम मात्रा में प्राप्त होते हैं।

---

१. चिंतामणि कृत रसविलास, ३।२२।

२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ १२८-१२९।

लिंगवैचित्र्य वक्रता[1] :

लिंग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग जहाँ सौंदर्य की सृष्टि करता है वहाँ कुंतक के अनुसार लिंगवैचित्र्य वक्रता होती है। इस वक्रता के अनेक रूप हैं जिनमें से तीन प्रमुख हैं। प्रथम के अंतर्गत विभिन्न लिंग के शब्दों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है तो द्वितीय के अंतर्गत अन्य लिंग संभव होने पर भी स्त्रीलिंग रूप अधिक सुंदर मानकर सौंदर्यसाधन के लिये स्त्रीलिंग का ही प्रयोग किया जाता है। तृतीय रूप में विशिष्ट लिंग का प्रयोग आपेक्षिक होता है अर्थात् अन्य लिंगों के प्रयोग संभव होने पर भी विशेष शोभा के लिये *अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का प्रयोगकर काव्य में* चमत्कार की सृष्टि की जाती है।

(१) सेत अबीर के धुंधर में,
इमि बालन की बिकसी मुख आबें।
चाँदनो में चहूँ ओर मनों,
'नृपसंभु' बिराज रहीं महताबें॥[2]

× × ×

(२) बाजि गजराज सिवराज सैन साजत ही,
दिल्ली दल गही दसा दीरघ दुखन की।
तनियाँ न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,
घामै घुघरात छोडि सेजियाँ सुखन की।
भूषन भनत पतिबाँह बहियाँ न तेऊ,
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की।
बालियाँ बिथुर जिमि आलियाँ नलिन पर
लालियाँ मलिन मुगलनियाँ मुखन की॥[3]

१. हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, संपा० डा० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई० का संस्करण), २।२१,२२,२३।

२. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतुसौंदर्य, संकलयिता—प्रभुदयाल मीतल, (प्रथम संस्क०), पृ० २६२।

३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २१०।

प्रथम उदाहरण में सेत अबीर के धुंधर में होली खेलनेवाली ब्रजनारियों के तेजस्वी मुखों की ओर देखकर कवि ने कल्पना की है कि उनके तेजस्वी मुख चंद्रप्रकाश में चारों ओर दृश्यमान चंद्रिकाएँ दिखाई पड़ती हैं। यहाँ उपमेय 'मुख' पुल्लिंग होते हुए भी उसके लिये स्त्रीलिंग उपमान चंद्रिकाओं की कल्पना की गई है। उपमान और उपमेय दोनों का लिंग समान बनाने के हेतु उपमेय 'मुख' के साथ 'आनें' जोड़कर चमत्कृति निर्माण की है। द्वितीय छंद में ग्रालियाँ, आलियाँ, लालियाँ इन शब्दों के औचित्यपूर्ण विशिष्ट स्त्रीलिंग के रूप प्रयोग के कारण चमत्कृति की सृष्टि हुई है। लिंगवैचित्र्य वक्रता का निम्नलिखित छंद देखिए जिसमें शिवाजी की तलवार के लिये पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों उपमानों के प्रयोग किए गए हैं—

> बान अरजुन कौ बषानै मतिराम कवि,
> गदा भीमसेन की सदा ही जस काज की।
> वासब को बज्र, वासुदेव जू को चक्र,
> बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की।
> दंड दंडधर को अदंडन के दंडिबे को,
> नखन की पाँति नरसिंह सिवराज की।
> संभु को त्रिसूल संभु सिस्य को कुठार,
> संभु सुत की सकति, समसेर सिवराज की ॥[1]

क्रियावैचित्र्य वक्रता :

यह वक्रता धातुरूप के प्रयोगों पर आश्रित रहती है। क्रिया के प्रयोग में जहाँपर चमत्कार हो वहाँपर क्रियावैचित्र्य वक्रता होती है। इसके भी पाँच रूप माने गए हैं। प्रथम में क्रिया कर्ता के अत्यंत अंतरंगभूत रहती है, द्वितीय में कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता होती है, तृतीय में क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य, चतुर्थ में उपचारमनोज्ञता और पंचम में कर्मादि की संवृत्ति होती है।[2]

---

१. मतिराम ग्रंथावली, संपा० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, (सं० १९९१ वि०), पृ० २५५-२६।

२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भा० २, डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई०), पृ० २५५-२५८।

(१) केलि समै प्रीतम प्रिया लाज लजाइनि भाजि।[1]

(२) उमडि घुमडि घन अंबर आडंबर कै,
कहाँ लागि प्रलै घन घोर घटा घिरि है।[2]

(३) बिजली-सी बंसी आई परि मोहे मदन कुमार भगाई।[3]

(४) बिज छबि अनदेखे मनौं, बदन कमल कुम्हलाइ।[4]

(५) आँखें सरसीं तीर सी, सुंदर रूप उदार।[5]

इन उदाहरणों में रेखांकित क्रियाओं के कौशल्यपूर्ण प्रयोग से क्रिया-वैचित्र्य वक्रता की सिद्धि होकर काव्य में चमत्कृति का निर्माण हुआ है। तृतीय उदाहरण में 'बिजली सी' इस क्रियाविशेषण का प्रयोग अधिक भावव्यंजक बना है। पदपूर्वार्ध वक्रता के शेष भेदों के उदाहरण भी खोजने पर मिल जाते हैं। आलोच्य कवियों के काव्य में प्रयुक्त पदपूर्वार्ध वक्रता के उपर्युक्त प्रमुख भेदों का विवरण संक्षेप में किया गया है जिससे आलोच्य कवियों की प्रतिभाशक्ति का सहज ही परिचय हो सकता है।

पदपरार्ध वक्रता :

इसके अंतर्गत पदों के उत्तरार्ध का विचार होता है। यह सामान्यतः प्रत्यय रूप होता है। अतएव पदपरार्ध वक्रता को प्रत्ययवक्रता भी कहते हैं। कुंतक ने इसके छह मुख्य भेद किए हैं जो क्रमशः कालवैचित्र्य वक्रता, कारकवक्रता, संख्या वक्रता अथवा वचन वक्रता, पुरुष वक्रता, उपग्रह वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता के नाम से अभिहित हैं।[6] मर्मज्ञ कवि अपनी प्रतिभा से इन वक्रताओं के समावेश से काव्यसौंदर्य को द्विगुणित कर देते हैं। हिंदी और संस्कृत की प्रत्यय प्रकृति में भिन्नता होने से पदपरार्ध वक्रता के सभी भेदों के प्रयोग

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, ३।३३।
२. चिंतामणि कृत कृष्णचरित्र, ७।१६।
३. देवनाथ के पद, हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ४२४ से उद्धृत।
४. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३-२६।
५. वही, ३।३१।
६. हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, संपा० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ का संस्करण), २।२६ से ३२।

आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त नहीं होते। इसकी अपनी प्रकृति के अनुसार इनका यदाकदा प्रयोग मिल सकता है।

कालवैचित्र्य वक्रता :

जहाँ औचित्य के अनुसार काल के प्रयोग किए जाने से काव्य में चमत्कार की सृष्टि होती है, वहाँ कालवैचित्र्य वक्रता होती है। इसमें औचित्य का विशेष महत्त्व रहता है। यदि काल का यह वक्र प्रयोग उचित परिस्थिति अथवा प्रसंग के अनुकूल एवम् सार्थ न होगा तो यह व्याकरण दोष बन जाता है। कालवक्रता का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) बन उपबन फूले अंबनि के झौर झूले,
अवनि सोहात अति सोभा सरसाई है।
अलि मदमत्त भए केतकी बसंतो फूली,
भूषन बखाने सोभा सबै सुख दाई है॥[1]

× × × ×

(२) वैई बाल झाँकी सो देषी आजु झाँकत ही,
सो बाँकी दृग कोर उर मैन बान दै गई।
चिंतामनि मुसक्याइ नैननि नचाई नैंक,
चेटक लगाइ कै बिरह बेली बै गई।
सामुहो न होत होरी मेरो ज्ञान सब गोरी,
करि हाइ चोरी गहि गोरी चित लै गई॥[2]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में भूतकाल और वर्तमान काल का औचित्य-पूर्ण प्रयोग किया गया है। प्रसंग एवम् अर्थ की दृष्टि से इससे विशेष सौंदर्य निर्माण हुआ है। प्रथम के अंतर्गत सरसाई है, दई है तथा द्वितीय के अंतर्गत दै गई, बै गई, लै गई पदों में यह कालवक्रता स्पष्टता से दृष्टिगत होती है।

कारकवक्रता :

जहाँपर किसी विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने के उद्देश्य से सामान्य कारक का मुख्य रूप से और मुख्य का सामान्य रूप से कथन तथा कारकों में

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २४१।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ११८।

विपर्यय किया जाता है वहाँ कारकवक्रता होती है। अर्थात् इसमें कर्ता को कर्म या करण का रूप अथवा कर्म या करण को कर्ता का रूप देकर उक्ति में अपूर्व चमत्कार की सृष्टि की जाती है। निम्नलिखित उदाहरणों में कारक-वक्रता का सौंदर्य द्रष्टव्य है—

(१) जस अपजस तिहु लोक मैं श्रवण सुनत सब कोय।[1]

× × × ×

(२) कर्म कली उघरत नहीं माली रह्यो खिझाय।[2]

× × × ×

(३) क्षुधा देह को दहति है देह क्षुधा लवलीन।[3]

× × × ×

(४) फूल हँसी फल है कुच जाहि के हाथ लगैं सुकृती सों सही है।[4]

× × × ×

(५) लाल करैं प्रात तहाँ नीलमणि करैं रात,
याही भाँति सरजा की चरचा करत है।[5]

× × × ×

(६) भूप सिवराज साहि प्रबल प्रचंड तेग,
तेरो दोर दंड भूमि झारत झडाका है।
हौदा काटि हाथी काटि भूतल बराह काटि,
काटती कमठ पीठ करती कडाका है॥[6]

इन सभी उदाहरणों में कारकवक्रता के चातुर्यपूर्ण प्रयोग से लोकोत्तर सौंदर्य निखर उठा है। प्रथम उदाहरण में श्रवण का प्रयोग करण कारक में न कर कर्ता कारक में किया है। द्वितीय में 'कर्म' शब्द का कर्ता कारक में प्रयोग किया है। इसी प्रकार शेष उदाहरणों में क्षुधा, सों, लाल, नीलमणि,

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।३४।
२ वही, उक्तिविलास, २।६२।
३. वही, उक्ति विलास, २।११२।
४. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३।८३।
५. भूषण ग्रंथावली, संपा० राजनारायण शर्मा, (सन् १९५० ई०), पृष्ठ ७४।
६ गोविंद कवि के छंद से उद्धृत (शिवराज शतक, पृ० ११९-१२० से)।

तेग इन शब्दों के कर्ता कारक में प्रयोग द्रष्टव्य हैं। ऐसे प्रयोग आलोच्य कवियों की रचनाओं में सहजता से प्राप्त होते हैं।

संख्यावक्रता :

इसे वचनवक्रता भी कहा जाता है। जहाँपर एकवचन के स्थान पर बहुवचन अथवा बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया जाता है वहाँ संख्या या वचनवक्रता होती है। निम्नलिखित उदाहरण में वचन-वक्रता के प्रयोग से चमत्कारनिर्माण किया गया है—

गोकुल में अरी नंदलला,
अबलान को चौथि को चंद भयो है।[1]

यहाँ गोकुल की अबलाओं के लिये चौथ के चंद्रमा के उपमान की योजना की है। गोकुल की अबलाएँ अनेक हैं परंतु उनके लिये प्रयुक्त उपमान चौथि का चंद्रमा एक ही है। वास्तव में यहाँ अबला शब्द का प्रयोग एकवचन में करना चाहिए था अथवा उपमान चौथि का चंद्र न कहकर दूसरा कोई देना चाहिए था जो बहुवचन हो सकता है। परंतु वैसा न कर कवि ने बहुवचन प्रस्तुत के लिये एकवचन अप्रस्तुत का प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न किया है।

प्रत्ययवक्रता तथा शेष भेद :

प्रत्ययों के विशिष्ट प्रयोग से जहाँ चमत्कार का निर्माण किया जाता है वहाँ प्रत्ययवक्रता होती है। हिंदी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी संस्कृत में। जैसा संस्कृत के सुबंत और तिङंत पदों में मिलता है, वैसा शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिंदी में प्रायः रहा ही नहीं है। अतएव हिंदी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है, जैसे संदेसड़ा, घइलवा आदि।[2] इसके उदाहरण अत्यंत कम मिलते हैं। इसी प्रकार पदपरार्धवक्रता के शेष भेद पुरुषवक्रता तथा उपग्रहवक्रता के उदाहरण भी आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त नहीं होते। इसका मुख्य कारण यही है कि इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं जो संस्कृत भाषा से भिन्नता रखती है। संस्कृत आचार्यों ने ये भेद संस्कृत भाषा पर अपनी दृष्टि केंद्रित कर किए हैं। अतः आलोच्य कवियों की रचनाओं में इन वक्रताओं की खोज करना असंगत भी होगा।

---

१. नृपशंभु कृत नखशिख से, (माधुरी पत्रिका जून १९४१, पृ० ५२७ से उद्धृत)।
२. हिंदी वक्रोक्तिजीवितम्, भूमिका, डॉ० नगेंद्र, (सन् १९५५ ई०), पृ० ८१।

पदवक्रता :

पदवक्रता के दो भेद हैं—उपसर्गवक्रता और निपातवक्रता। उपसर्गवक्रता में उपसर्ग के विशिष्ट प्रयोगों से उक्ति या शब्द में सौंदर्य की सृष्टि होती है। हिंदी कविता में भी उपसर्गवक्रता का कुशल प्रयोग कवियों ने रस तथा भावादि के उत्कर्ष के हेतु किया है। निपातवक्रता में अवयवरहित अव्ययों की योजना का चमत्कार होता है। निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं। कुशल कवि रसोत्कर्ष के लिये इनका पूर्ण उपयोग करते हैं। आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में पदवक्रता के इन दोनों भेदों का प्रयोग सफलता से किया है—

(१) बुध विभूषण भूत पोषण, भुजबलाहत दूषण।[1]

× × ×

(२) तेरे विलोचन हेरे बिना बहुतेरे त्रिलोचन से भी भिकारी।[2]

× × ×

(३) प्रबल प्रचंड गंडमंडित मधुपवृंद,
विंध्य से विलंद सिंध सातहू के थाह के।[3]

× × ×

(४) भादों की भयानक निसा में तू निसंक आई।[4]

उपर्युक्त उदाहरणों में उपसर्गवक्रता के कारण चमत्कृति की सृष्टि की गई है। विभूषण, विलोचन, प्रबल, प्रचंड तथा निसंक इन शब्दों के मूल रूप भूषण, लोचन, वल, चंड तथा संक हैं। इनमें क्रमशः वि, प्र तथा नि इन उपसर्गों के जोड़ने से विशेष सौंदर्य निर्माण हुआ है। इसी प्रकार निपातवक्रता के भी निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

(१) कंचन के रँग अंग लसै पिय तेरे ही रंग रँगी है रँगीली।[5]

× × ×

---

१. शाहराज कृत विश्वातीतविलास, पृष्ठ १।
२. चिंतामणि कृत नवरसरंग, ११३।
३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ २२७।
४. संकर सुकवि कृत शाहविलास, ६।१११।
५ चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, २।१४२।

(२) सुमन डार जब लौ लग्यो तब लौ भौंर लोभाय ।[1]

(३) संभुजू जग हिं उपदेस कै ठगहि नहीं
चीन्हत दृग हि सो न चेत चित चहा भो ।[2]

(४) देखत सो मग बाम बनो जिन कामबधू हू दीपति लोपी ।[3]

इन उदाहरणों में रेखांकित शब्दों के प्रयोग से निपातवक्रता की सिद्धि होकर काव्य में विशेष सौंदर्य की सृष्टि हुई है।

वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता एवम् प्रबंधवक्रता :

वाक्यवक्रता का स्वरूप अत्यंत व्यापक है। इसमें उदार एवम् सुंदर वस्तु का सुंदर और रमणीय वर्णन रहता है। वाक्यवक्रता किसी पद अथवा पदांश की शोभा नहीं, अपितु पदादि शोभा समुदाय की संवलित शोभा है. जिसके अनंत रूप हैं। इसमें समस्त अलंकार वर्ग अंतर्भूत हो जाते हैं जिनका विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में किया गया है। रसवर्णन तथा भाववर्णन में भी इसका सौंदर्य स्वाभाविक रीति से विद्यमान रहता है। अतः आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त वाक्यवक्रता के सौंदर्यदर्शन के लिये स्वतंत्र चर्चा करना संगत न होगा।

शब्दप्रयोग और वाक्यरचना की रमणीयता के अतिरिक्त प्रकरण अथवा प्रसंग के औचित्य और सुष्ठु रूप की विशेषता का समावेश प्रकरणवक्रता के अंतर्गत होता है। इसके भी अनेक रूप होते हैं। आलोच्य कवियों की लगभग सभी रचनाएँ मुक्तक रूप हैं अतः उनके अंतर्गत प्रकरणवक्रता तथा प्रबंधवक्रता खोजना व्यर्थ होगा। अपवाद स्वरूप चिंतामणि का 'कृष्णचरित्र' एक ऐसा काव्य है जो प्रबंध के अंतर्गत रखा जा सकता है। इसमें कवि ने परंपरागत कथा का आश्रय लिया है अतः उसमें कवि की विशेष नवीन उद्भावना के दर्शन नहीं होते। इसमें कुछ प्रसंग ऐसे अवश्य हैं जिनके वर्णन में कविप्रतिभा का विशेष साक्षात्कार हो जाता है। कृष्ण की बाललीलाओं के वर्णन में वात्सल्य रस का उत्कृष्ट वर्णन है। विशेषतः कालिया मर्दन तथा गोवर्धन लीला के प्रसंग में कवि ने यशोदा की ममता

---

१. सीताराम कृत उक्तिविलास, १।७८।
२. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद, ६५ वाँ।
३. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, १।१५२।

एवम् वात्सल्ययुक्त भावनाओं का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है। इतना होने पर भी कवि का श्रृंगार रस का प्रेम दब नहीं सका। समस्त ग्रंथ में राधाकृष्ण के श्रृंगार का वर्णन ही प्रधान रहा है। अंत में कृष्णमहिमा बताकर उसे भक्ति की भावना से संवरित भी किया है। चिंतामणि ने इसके अंतर्गत वात्सल्य, वीर, श्रृंगार तथा भक्ति इन तीन रसों का अत्यंत कलात्मक रीति से संयोजन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों की लगभग सभी रचनाओं में वक्रोक्ति के प्रमुख भेदों के प्रयोग पाए जाते हैं जिसके कारण काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार एवम् सौंदर्य निखर उठा है। तुकाराम, रामदास, देवनाथ इन भक्त कवियों के काव्य में अन्य कवियों की भाँति वक्रोक्ति के सभी भेद उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण यह है कि उनके काव्य का उद्देश्य अन्य कवियों के उद्देश्य से भिन्न था। साधारण जनता तक अपनी विचारधारा पहुँचाने के लिये उन्होंने हिंदी कविता के माध्यम को स्वीकृत किया था। अतः उनके काव्य में अन्य कवियों की भाँति उक्तिवैचित्र्य की सूक्ष्मता को खोजना असंगत प्रतीत होता है। वर्णविन्यास वक्रता के प्रयोग मात्र इन भक्तों की रचनाओं में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। वक्रोक्ति काव्यसौंदर्य का महत्वपूर्ण मानदंड माना गया है। वक्रोक्ति के औचित्यपूर्ण एवम् कौशलपूर्ण प्रयोग से आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में आशातीत चमत्कार एवम् सौंदर्य की सृष्टि की है।

गुण

काव्य में गुणों के स्वरूप, संख्या आदि के संबंध में आचार्य भरत मुनि से लेकर मम्मट तक पर्याप्त चर्चा हुई परंतु इनमें न्यूनाधिक प्रमाण में मतभिन्नता ही रही। आचार्य मम्मट ने अपनी असाधारण प्रतिभा एवं तर्क से पूर्ववर्ती मतों का खंडन कर केवल तीन गुणों को ही मान्यता दी।[1] विश्वनाथादि परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। गुण काव्य के सारभूत रसतत्व के धर्म हैं।[2] रसधर्म होने के कारण माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही काव्यगुण माने जा सकते हैं। हिंदी के

---

१. आचार्य मम्मट कृत काव्यप्रकाश, संपा० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९६० ई० का संस्करण), पृ० ३९०–३९१।

२. आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, (शशिकला हिंदी व्याख्या), डॉ० सत्यव्रत सिंह, (सन् १९७०), पृ० ६४२–६४३।

आचार्यों ने प्रायः मम्मट और विश्नाथ के अनुसार इन तीन गुणों को ही मान्यता प्रदान की है। चिंतामणि ने इन तीन गुणों के अंतर्गत अन्य गुणों का अंतर्भाव माना है। वे माधुर्य को कवित्व का मूल मानते हैं।[1] आलोच्य कवियों की रचनाओं में इन तीनों गुणों का सम्यक् समावेश दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ छंदों को उद्धृत करना अवांछनीय न होगा।

माधुर्य गुण :

माधुर्य गुण के अंतर्गत श्रुतिसुखदता, समासहीनता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, भावमयता, आह्लादता, चित्ताकर्षकता आदि का समावेश हो जाता है। आचार्यों ने शृंगार, करुण और शांत इन रसों में इसकी स्थिति को स्वीकार किया है। इसकी व्यंजना के लिये उन्होंने ट, ठ, ड, ढ वर्णों तथा समासों का निषेध करते हुए रकार, णकार और अनुस्वारयुक्त वर्णों की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है।[2] माधुर्य गुण से युक्त निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

इक आजु मैं कुंदनि बेलि लखी,
मनि मंदिर की सचि बृंद भरै।
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ,
अरविंदन से मकरंद झरै।
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै,
फल सुंदर द्वैपर आनि परै॥
लखि यों द्युति कंद अनंद कला,
नँद नंद सिला द्रव रूप धरै॥[3]

इस छंद में माधुर्य-गुण के शास्त्रविहित नियमों का पूर्णतः निर्वाह हुआ है। कठोर ध्वनियों का निषेधकर अनुस्वारयुक्त एवं मृदु शब्दावली के प्रयोग में चिंतामणि ने अत्यंत कौशल दिखाया है। लोकमणि के निम्नलिखित छंद में भी माधुर्य गुण दर्शनीय है—

---

१. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३।१२।
२. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० ६४४-६४६।
३. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ३।२१।

उद्दित अनंग अंग अंग न समुद्दत,
उमंग रंग रंग न दुरत उघरत है।
लोकन भनत बेर बेर संभ्रमित हेर,
हेर ही श्रमित फेर फेरे बिहरत है।
किंकिन धूनित कलहंस निध्वनित सुर,
परभृत कंठि कलिकंठ से भरत है।
दरस गुविंद के प्रफुल्लि अरविंद से,
अलिंद नैन कोरन के तोरन करत हैं।[1]

इस छंद में माधुर्य गुण ही प्रधान रूप में विद्यमान है। शास्त्रसंमत लक्षणों के अनुकूल कवि ने रकार, नकार तथा अनुस्वारयुक्त शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। हाँ, षष्ठ पंक्ति में 'कंठि और कलिकंठ' में टवर्ग के ठ का प्रयोग अवश्य है परंतु समस्त पदावली के अंतर्गत उनके अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त वे वर्ण अनुस्वार-युक्त शब्द के अंत में आए हैं इसलिये उनकी कठोरता भासमान नहीं होती। माधुर्य गुण का यह भी एक उदाहरण देखिए—

वृंदावन कुंजन में गुंजत मधुप कुंज,
कुंज बनि रहे सुर लोक के अधारे से।
तहाँ संभुराज मैं बिलोके बृजराज जा पैं,
अंग अंग वरिए अनंग अंग छारे से॥[2]

ओज गुण :

ओज शब्द का अर्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति। सुनने या पढ़नेवाले के मन में जो गुण उत्साह, वीरता, आवेश आदि भाव जाग्रत कर सकता है उसे ओज कहा जाता है। यह गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रस के अंतर्गत अधिक उपयुक्त होता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिये ट, ठ, ड, ढ, श, ष, इन कठोर-ध्वनियों तथा रेफयुक्त अक्षर, प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ वर्णोंका संयोग एवम् लंबे समास आदि की अनिवार्यता मानी गई

---

१. लोकमणि कृत नवरस रंग, १२।१७।

२. नृपशंभु कृत सातसतक, छंद ७१ वाँ।

है।[1] आलोच्य कवियों ने माधुर्य की भाँति इस गुण का भी अपनी रचनाओं में प्रचुरता से प्रयोगकर काव्य का सौंदर्य द्विगुणित कर दिया है। उदाहरण के लिये यह छंद देखिए—

कीन्हें खंड खंड ते प्रचंड वलबंड वीर,
मंडन मही के अरिखंडन भुलाने हैं।
लै लै दंड छंडे ते न मंडे मुख रंचकहू,
हेरत हिराने ते कहूँ न ठहराने हैं।
पूरब पछाहैं आन माने नहिं दच्छिन हू,
उत्तर धरा को धनी रोपै निज थाने हैं।
भूषन भनत नवखंड महिमंडल में,
जहाँ जहाँ दीसैं अब साहिके निसाने हैं॥[2]

इस छंद में भूषण ने शिवाजी के असाधारण पराक्रम का वर्णन करने के लिये ओज गुणोपयोगी कठोर शब्दावली का प्रयोग अत्यंत कुशलता से किया है। छंद को पढ़नेवाले के मन में भी उत्साह एवम् वीरत्व की भावना का उदय करने में प्रयुक्त शब्दावली अपने आप में समर्थ है। जयराम कवि के निम्नलिखित छंद में ओजगुण दर्शनीय है—

दीरत वहर दुद्द दुवल बल,
दुंदुभ लट्ट द्विरद के कृत्ति तरद।
उद्धत भैरव अविःकृत रौरव,
भुक्के फेरव तोरे दखर दंत।
कटकट कट्टत विकर झपट्टत,
उलटि लटघट अरिदल॥[3]

यहाँ ओज गुणानुकूल कठोर वर्णों का प्रयोग तो हुआ है परंतु कवि ने चातुर्य से कोमल शब्दावली को भी द्वित्व कर उसे ओजगुणानुकूल बनाया

---

१. आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, डा० सत्यव्रतसिंह, (सन् १९६० ई०), पृ० ६४६-६४७।
२. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २२६।
३. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, संपा० राजवाडे, (शके १८४४), पृ० २७७।

है। अंतिम दो पंक्तियों में 'ट' वर्ण की ऐसी योजना की है जिससे अरिदल के तलवार द्वारा कट जाने का दृश्य प्रत्यक्ष सा हो उठा है। चिंतामणि का ओज-गुणपूर्ण और एक छंद देखिए—

घन रन महि करवाल किय सो पाटित महि रिपुमुंड।
अति उदंड भुजदंड चल खंडा करि करि सुंड।
खंडा करि सुंडा खसत उडंडा खंन खनं।
अद्धा कटि जुद्धा गिरत सक्रुद्धा तन तन।
विद्दारित पर रूद्राधिक सो समुद्दाम मन मन।
संभारित करि भंभारवजय खंभायन रन ॥[1]

उपर्युक्त दोनों छंद ओज गुण के उत्कृष्ण उदाहरण हैं। ब्रजभाषा में दीर्घ समास तथा कठोरता का अभाव होने से वास्तव में यह वीर रस के अनकूल नहीं है फिर भी कवि ने कोमल शब्दावली के समुचित द्वित्व से उसे ओज गुणानुकूल बनाने में चातुर्य दिखाया है। सीताराम के निम्नलिखित छंद में भी ओज गुण पूर्णरूपेण विद्यमान है—

पीतांबर कटि तट कस्यो शपट ठोकि भुजदंड।
धरनि धर धरि शुंड (अरु) पटक्यो करी प्रचंड ॥[2]

प्रसाद गुण :

प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता। अतः प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ सरल सहज भावव्यंजक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। इसमें सहजग्राह्यता रहती है अर्थात् शब्दावली को सुनते या पढ़ते ही बिना प्रयास के अर्थबोध हो जाता है। इस गुण का प्रयोग किन्हीं विशिष्ट रसों के अंतर्गत ही नहीं होता बल्कि समस्त रसों में होता है।[3] आलोच्य कवियों की समस्त रचनाओं में प्रसाद गुण का सफल प्रयोग द्रष्टव्य है।

मत बोल ऐसी बात वनमाली सो।
वो ही देव, वो ही धान, वो ही नाथ सुमाई।

---

1. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।२१।
2. सीताराम कृत उक्तिविलास, १।२६।
3. विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, संपा० डॉ० सत्यव्रत सिंह, (सन् १९६० ई०), पृ० ६४७।

वो ही तान, वो ही मान, वो ही जीव तुमारा।
कोप तजा हित चित कर देखो माई ॥[1]

इस छंद में प्रयुक्त शब्दावली को पढ़ते ही संपूर्ण अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उसके लिये जरा भी कष्ट नहीं करना पड़ता। सीताराम महापात्र के निम्न-लिखित छंद में प्रसाद गुण विद्यमान है, देखिए—

कोटि जग्य तीरथ फिरौ कर्म अकर्म विचार।
नेम धर्म फीके सबै हैं हरि नाम अधार ॥[2]

प्रसाद गुण युक्त छंदों में प्रयुक्त शब्दावली को पढ़ते ही समस्त अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सिद्ध कवि अपने काव्य में प्रसंगानुकूल गुणों की योजना करते हैं। भक्त कवि अपने काव्य द्वारा जनसाधारण तक अपने विचारों को पहुँचाने की इच्छा रखते हैं। अतः स्वाभाविक रीति से वे ऐसी ही सरल एवम् सहजग्राह्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं। उनके काव्य में अधिकांश रूप में प्रसाद गुण की ही व्याप्ति दृष्टिगत होती है। 'रामदास' का निम्न छंद इसी बात की पुष्टि करता है देखिए—

जित देखो उत रामहिं रामा, जित देखा उत पूरण कामा।
तृण तरुवर सातो सागर, जित देखो उत मोहन नागर ॥
जल थल काष्ट पषाण अकाशा, चंद्र सुरज नच तेज प्रकाशा।
मोरे मन मानस राम भजो रे, 'रामदास' प्रभु ऐसा करो रे ॥[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों की रचनाओं में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—तीनों गुणों का समावेश दृष्टिगत होता है। वैसे प्रत्येक कवि की रचना में सभी गुणों का प्रयोग हुआ है। प्रसंग के अनुसार कवियों ने गुणों की योजना की है। चिंतामणि के काव्य में माधुर्य और ओज गुणों का समान रूप से प्रयोग यद्यपि प्राप्त होता है फिर भी मूलतः उन्हें माधुर्य गुण ही अधिक प्रिय है। रससिद्ध एवम् भाषा के पारखी कवि होने से उन्होंने शृंगार के अंतर्गत माधुर्य और वीर रस के अंतर्गत ओज का सफलता से प्रयोग किया है। भूषण प्रधानतः वीर रस के कवि हैं अतः

१. शाहराज कृत राधावंसीधर विलास, पृ० २३।
२. सीताराम कृत उक्तिविलास, ११०८।
३. रामदास के पद, हिंदी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा प्रथम संस्करण, पृ० ३४३ से उद्धृत।

उनके काव्य में ओज का प्राधान्य स्वाभाविक है। जयराम के काव्य में भी प्रधानता ओज गुण की ही रही है। नृप शंभु, लोकमणि, सीताराम, संकर सुकवि, कविकलस, शाहराज इनकी रचना शृंगारप्रधान होने से प्रधान रूप में माधुर्य गुण का ही प्रयोग हुआ है। रामदास, देवनाथ, तुकाराम आदि भक्त कवियों ने प्रसाद गुण को प्राधान्य दिया है, वैसे न्यूनाधिक परिमाण में सभी कवियों ने सभी गुणों के प्रयोग से काव्यसौष्ठव बढ़ाया है।

ध्वनि :

काव्य के अंतर्गत ध्वनिसिद्धांत का भी अपना विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार शब्द के अलग अलग वर्णों के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभिधा या लक्षणा के द्वारा भी संपूर्ण अर्थ और विशेष रूप से मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा प्राप्त होता है। अभिधा और लक्षणा के उपरांत व्यंजना से ध्वनित होनेवाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है।[1] ध्वन्यालोककार आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को अनुरणन के रूप में स्वीकार किया है। घंटे पर आघात करने पर जिस प्रकार प्रथम टंकार और फिर मधुर झंकार एक के बाद अधिक मधुर निकलती है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है। ध्वनिकाव्य वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें अर्थ स्वयं को और शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं जो काव्य का परम रहस्य होता है।[2] अतः उत्तम काव्य के लक्षणों में ध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है। वाच्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही को विद्वानों ने ध्वनि माना है।[3] ध्वनि के मुख्यतः दो भेद माने हैं जो लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध हैं। आलोच्य कवियों की रचनाओं में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो ध्वनिकाव्य के अंतर्गत आ जाते हैं। ध्वनि के प्रमुख भेदों के आधार पर ही उनका विवेचन करना अधिक संगत होगा।

---

१. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृ० २३५।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥—हिंदी ध्वन्यालोक, संपा० डॉ० नगेंद्र (प्रथम सं० १९५२ , पृ० ५३।

३. (क) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम, विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण, ४।१। (ख) इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः, मम्मट कृत काव्यप्रकाश, १।४।

लक्षणामूला ध्वनि :

लक्षणामूला ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षित-वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बाधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसके भी दो भेद किए गए हैं जो अर्थांतरसंक्रमित वाच्य और अत्यंततिरस्कृत वाच्य से अभिहित हैं।

अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि :

इसमें वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है अर्थात् वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न करके अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है। जयराम कवि की निम्नलिखित पंक्ति में यह ध्वनि विद्यमान है—

रसमंजरि ज्यौं भानुकर लागत भई विकास ॥[2]

इसमें रसमंजरी और भानुकर इन शब्दों के साथ ही 'भई विकास' इस क्रिया की योजना में कवि का कौशल दृष्टिगत होता है। 'रसमंजरी' भानुदत्त मिश्र का सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। इस पंक्ति का अभिधेय अर्थ होगा कि भानु की किरणों का स्पर्श होने पर रसमंजरी अर्थात् रसयुक्त वल्लरी विकसित होने लगी। यह तो प्रसिद्ध है कि सूर्य के प्रकाश के कारण बेली आदि वनस्पतियों का अच्छा विकास हो जाता है। परंतु कवि को यहाँ यह अभिधेय अर्थ अभिप्रेत नहीं है। कवि का अभिप्रेत व्यंग्यार्थ है कि भानुदत्त मिश्र के हाथों से रसमंजरी नामक ग्रंथ का विकास हुआ। अभिप्राय यह है कि भानुदत्त मिश्र ने अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा रसमंजरी ग्रंथ की रचना इस कौशल से की कि वह विद्वानों में अत्यंत प्रसिद्ध हुई। इस पंक्ति में वाच्यार्थ का तिरस्कार न कर उसका अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण हुआ है। इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ उपादान लक्षणा पर आधारित है। अर्थांतर-संक्रमित वाच्य ध्वनि के कुछ और भी उदाहरण देखिए—

सीय संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके
भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है।

---

१. हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका, डॉ० नगेंद्र, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ३९-४०।

२. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, सपा० राजवाडे, पृष्ठ २५०।

भूषन भनत कुलसूर कुलभूषन हैं
दासरथी सब जाके भुज भुजभारु है।
अरि लंक तोर जोर सदा साथ बानर हैं
सिंधुर है बाँधे जाके बल को न पारु है।
तेगहि कै मेटै जौन राकस मरद जान्यौ
सरजा शिवाजी राम ही को अवतारु है ॥[1]

इस छंद में कवि का अभिप्रेत अर्थ शिवाजी के अलौकिकत्व का साक्षात्कार कराना है। इसमें प्रयुक्त शब्दावली के अभिधेय अर्थ के अनुसार राम के अलौकिकत्व का वर्णन स्पष्टतः ग्राह्य हो जाता है। ऐसा होनेपर भी कवि ने वाच्यार्थ को गौणकर व्यंग्यार्थ को ही प्राधान्येन प्रस्तुत किया है। वाच्यार्थ को तिरोहित न करते हुए उपादान लक्षणा के आधार पर व्यंग्यार्थ ही का महत्व स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार और एक उदाहरण देखिए—

इतनो संदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ,
कहो जाय कंत सो बसंत रितु आई है ॥[2]

इसमें 'वसंत रितु आई है' के अंतर्गत व्यंग्यार्थ प्रधान और वाच्यार्थ गौण है।

अत्यंततिरस्कृत वाच्य ध्वनि :

इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार अथवा त्याग किया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार की होती है। अत्यंततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि लक्षणलक्षणा पर आधारित रहती है। इस ध्वनि से युक्त निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

सज्जनता प्रगटित करी, कियो बहुत उपकार।
ऐसा काजु करो सदा, जीवौ बरस हजार ॥[3]

इस उदाहरण में अत्यंततिरस्कृत वाच्य ध्वनि समाविष्ट है। इसके अंतर्गत प्रयुक्त सज्जनता इस शब्द के अभिधेय अर्थ का त्याग कर उसका व्यंग्यार्थ

---

१. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० संस्करण), पृ० १५६।
२. भूषण ग्रंथावली, वही, पृ० २४१।
३. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु, ४।२।१।

दुर्जनता ही कवि का अभीष्ट अर्थ है। यह ध्वनि लक्षणलक्षणा पर आधारित है। इसी प्रकार और भी उदाहरण देखिए—

कुंकम लेप सों कीन्हों सबै तनु लाल हो दीपति पुंज उज्यारे।
दुःखु हरे हम सी चकईन के फूले ये लोचन कौल विचारे।
बाहिर आए ते नारिन की खुली नीविन के हो बँधावनिवारे।
आजु प्रभात दिखाई दई तुम लीजिए मित्र प्रनाम हमारे ॥[1]

यह मध्या अधीरा नायिका की व्यंगोक्ति है। इस छंद में प्रयुक्त पद 'दीपति पुंज उज्यारे', दुःखु हरे हम सी चकइन के' तथा 'लीजिये मित्र प्रनाम हमारे' में निश्चित रूप से वाच्यार्थ में बाध दृष्टिगत होता है क्योंकि इनका अभिप्रेतार्थ अभिनेय अर्थ के सर्वथा विपरीत है। 'दीपति पुंज उज्यारे' द्वारा परनारी में अनुरक्ति के कारण लगे हुए कुंकुम से रंजित शरीर अपनी दीप्ति के कारण स्पष्टतः ही अपराध घोषित कर रहा है। 'दुःख हरे हम सी चकईन के' द्वारा 'हम जैसी चकोरियों को इस वेश में आकर दुःख दिया' इस अर्थ की व्यंजना हुई है। इसी प्रकार 'लीजिए मित्र प्रनाम हमारे' द्वारा 'हे प्रियकर अब हमारा और तुम्हारा कोई संबंध नहीं रहा, आप जा सकते है' का व्यंग्यार्थ ध्वनित हुआ है। यहाँ वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार कर व्यंग्यार्थ को ही प्राधान्य मिला है।

अभिधामूला ध्वनि :

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात् वाच्यार्थ वांछनीय और प्रयोजनीय हो और वह अन्यपरक या व्यंगनिष्ठ हो वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है[2] जो अभिधामूला ध्वनि का दूसरा नाम है। यहाँ वाच्यार्थ का अपना अस्तित्व अवश्य होता है परंतु वह अंततः व्यंग्यार्थ का माध्यम हो जाता है। इसके भी दो भेद माने गए हैं जो संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम नाम से प्रसिद्ध हैं।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि :

इसके अंतर्गत वाच्यार्थ का बोध प्रथम होता है और बाद में व्यंग्यार्थ का। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है तो कहीं अर्थ के आश्रित होता है

---

1. शृंगारमंजरी, संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र. (सन् १९५६), पृ० १८।१९।
2. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २५२।

और कहीं शब्द तथा अर्थ दोनों के आश्रित होता है। शब्दशक्ति उद्‌भव, अर्थशक्ति उद्‌भव और शब्दार्थोभय शक्ति उद्‌भव इस प्रकार इसके तीन भेद किए गए हैं। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि इसी के अंतर्गत समाविष्ट हो जाती हैं।[1] आलोच्य कवियों के काव्य में इस ध्वनि के पर्याप्त प्रयोग प्राप्त होते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(१) मधुमोदित अलि मंजरी, मंजु मौल छबि जाल।
पदम् राग पल्लव ललित, राजत लाल रसाल॥

× × × ×

(२) चौपर खेलत है कहा, जुग ह्वै जीति सुभाय।
लाल जात हैं हाथ तें, अरी चुकै यह दाय॥

× × × ×

(३) मेरी बातन आजु उन, दियो कान छबि खानि।
सुनत तिहारो नाम के मुसकानी मृदु बानि॥[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम दो छंद शब्दशक्ति उद्भव के अंतर्गत आते हैं तथा अंतिम उदाहरण अर्थशक्ति उद्भव के। प्रथम उदाहरण में नायक के लिए 'आम्र' के उपमान की योजनाकर उपमा अलंकार का आभास निर्माण किया है जिससे यहाँ अलकार ध्वनि स्पष्टतः लक्षित होती है। द्वितीय छंद में प्रयुक्त 'लाल' शब्द से ध्वनित शाब्दी व्यंजना द्रष्टव्य है। अंतिम छंद में 'मुसकानी' शब्द के प्रयोग से अर्थ की सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है। यहाँ कवि ने व्यंग्यप्रधान शब्दों की योजना कुशलता से की है। संलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि का और एक उदाहरण देखिए—

राधिका कान्ह विरंचि रचो सब लोकन की सुखमा सब लै लै।
अंग के रंगन सों ढिग जात ही जात ह्वै 'शंभु' सबै रंग मैलै॥[3]

इस छंद में पूरे प्रबंध से यह ध्वनि प्रकट होती है कि राधा कृष्ण का सौंदर्य तथा अंगकांति अनुपमेय एवम् लोकोत्तर है।

---

१. हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका, डॉ० नगेंद्र, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ४१
२. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ४।२।१४, ४।२।१५ तथा ४।२।१६।
३. नृपशंभु कृत नायिकाभेद से (माधुरी पत्रिका, जून १९४१ के पृष्ठ ५२६ से उद्धृत)।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि :

इसके अंतर्गत पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता। यह क्रम अत्यंतात्यंत सूक्ष्म होने से 'शतपत्र भेद' न्याय से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। वाच्यार्थ के ग्रहण करते ही हम व्यंग्यार्थ से इतने अभिभूत हो उठते हैं कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के क्रम का अनुभव अनिश्चित सा जान पड़ता है। भावभेद से असंलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि आठ प्रकार की मानी गई है। वे आठ भेद हैं :—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशांति, भावशबलता। इसका विस्तार से विवेचन इसी प्रबंध के चतुर्थ अध्याय के अंतर्गत किया गया है। अतः यहाँ अधिक विवेचन करना वांछनीय न होगा। इसलिये दो एक उदाहरण मात्र दिए जाते हैं।

रसाभास :

बैठि झरोखे मारि दृग, बानन करति कुकाज।
मृगनैनी मृगया रची, तरुन मृगन पर आज॥[1]

यहाँपर श्रृंगार रस के वर्णन में अनौचित्य हो जाने से रसाभास हो गया है।

भावशबलता :

दूरि हौं तें सौंही चारु अचल हसौंही ऊँची,
भौंहनि के संग सोहैं सुभग नवेली की॥
आयो जब ढिग तब सुबरन बेली पर,
लीनी उनहारि है खंजन जुग केली की॥
पुनि अधखुली इंदीवर की कली सी आइ
परी है तिरीछी डीठि बचाकै सहेली की॥
विविध कटाक्ष भाँति मैन सर पाँति छरी,
खुली आजु अखियाँ अनूप अलबेली की॥[2]

यहाँ एक के बाद अनेक भावों के आगमन से एक ही साथ अनेक भावों के सम्मिलन का सौंदर्य स्पष्ट है। अतः भावशबलता का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

---

१. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ८।१८८।
२. वही, कविकुलकल्पतरु, ८।१६४।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों ने ध्वनि के सभी प्रमुख भेदों के प्रयोग अपने काव्य में न्यूनाधिक परिमाण में किए हैं। इनमें चिंतामणि ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने ध्वनि का शास्त्रीय विवेचन अपने 'कविकुलकल्पतरु' में प्रस्तुत किया। अतः उनकी रचना में ध्वनि के शास्त्रसम्मत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों के उदाहरण मिलना स्वाभाविक है। सीताराम की रचना में भी इसका उत्कृष्ट रूप दृष्टिगत होता है। लोकमणि, शंकर सुकवि आदि की रचनाओं में प्रौढ़ा, धीरा आदि नायिकाओं की व्यंगोक्तियों में ध्वनिकाव्य के सभी गुण परिलक्षित होते हैं। भूषण, जयराम, नृपशंभु, शाहराज आदि की रचनाओं में न्यूनाधिक मात्रा में प्रसंगानुसार 'ध्वनि' के प्रयोग से काव्यसौंदर्य की अभिवृद्धि की गई है। तुकाराम, रामदास, देवनाथ आदि भक्त कवियों में यद्यपि अभिधा शक्ति और प्रसाद गुण की प्रधानता रही है फिर भी कहीं कहीं ऐसे मार्मिक स्थल भी मिल जाते हैं जहाँ सहजगत ध्वनि के कारण काव्यसौंदर्य निखर उठा है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आलोच्य कवियों की लगभग सभी रचनाओं में विषय, प्रसंग तथा भाव के अनुसार ध्वनि का प्रयोग कुशलता से किया गया है जिससे उनके काव्य में चमत्कारनिर्मिति के साथ ही साथ काव्यगत सौंदर्य की सहज सृष्टि दृष्टिगत होती है।

निष्कर्ष :

कलापक्ष के समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों ने अलंकार, वक्रोक्ति, गुण, ध्वनि आदि का अपनी रचनाओं में केवल प्रयोग ही नहीं किया अपितु उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग से सफलता भी प्राप्त की है। यह विवेचन किसी एक कवि के काव्य का न होकर अनेक कवियों के काव्य का है अतः सभी के संबंध में एक ही बात लागू नहीं हो सकती। यह स्वाभाविक है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी ने अलंकारों को प्रधानता दी है तो किसी ने ध्वनि को, किसी ने अभिधा को प्रधानता दी है तो किसी ने माधुर्य अथवा ओज को। इस प्रकार स्वभाव तथा रुचिवैचित्र्य के अनुसार कलापक्ष के अवयवों का न्यूनाधिक परिमाण में प्रयोगप्राधान्य इन कवियों में स्वभावतः प्राप्त होता है जिसका विवेचन प्रत्येक अंग के विवेचन में किया गया है।

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि सौंदर्य सामूहिक प्रभाव पर निर्भर करता है। अतः इन कवियों के कलासौंदर्य का आनंद उनके सामूहिक प्रभाव से

लेना ही तर्कसंगत होगा। समस्त काव्य को कलापक्ष की दृष्टि से देखने पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि लगभग सभी कवि कला के पारखी थे और उन्होंने शब्द की आत्मा को भलिभाँति पहचाना था। यही कारण है कि उन्होंने काव्यसौंदर्य के सभी आवश्यक उपादानों का विवेकपूर्ण एवं औचित्य-पूर्ण रीति से प्रयोग कर अपनी रचना के कलापक्ष को पुष्ट किया है।

आचार्यत्व :

आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण, संकर सुकवि तथा लोकमणि मिश्र इन कवियों ने काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ लिखे हैं, अतः उनके आचार्यत्व के संबंध में कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रबंध की सीमा एवम् विषय की दृष्टि से प्रत्येक कवि की काव्यशास्त्र विषयक समस्त कृतियों का विस्तृत विवेचन करना संगत नहीं प्रतीत होता। अतः इनके आचार्यत्व पर संक्षिप्त विवेचन करना ही अधिक उचित होगा। इन कवियों में चिंतामणि और भूषण तो हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवि हैं। संकर सुकवि एवम् लोकमणि मिश्र भी इन्हीं की श्रेणी के कवि भी है पर अबतक अज्ञात होने से हिंदी साहित्य जगत् के सम्मुख नहीं रहे। ये सभी कवि हिंदी साहित्य के रीति काल के अंतर्गत ही समाविष्ट किए जा सकते हैं। अतः इनपर रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

हिंदी के अधिकांश आचार्यों का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यों से पूर्णतः भिन्न दिखाई देता है। संस्कृत के आचार्यों ने लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर स्वतंत्र लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-शास्त्रीय सिद्धांतों की परीक्षा कर उसका खंडन अथवा मंडन कर ये आचार्य अपने नए सिद्धांतों की स्थापना करते थे। काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदाय तथा शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष आदि के भेदों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या इसी तथ्य का प्रमाण है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय सिद्धांत धीरे धीरे विकसित एवम् खंडितमंडित होते होते आनंद-वर्द्धन और उनके पश्चात् मम्मट के समय तक प्रौढ़ तथा स्थिर बन गए। परंतु हिंदी के आचार्यों में संस्कृत आचार्यों की यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। उन्होंने न तो लक्ष्य ग्रंथों को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण किया न पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का खंडन मंडन अथवा परीक्षण ही। यही कारण है कि इन आचार्यों के ग्रंथों में संस्कृत के आचार्यों के समान सिद्धांतों का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर नहीं होता।

चिंतामणि के दो सौ वर्ष पश्चात् भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं है।[1]

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने भरतमुनि, धनंजय, विश्वनाथ, भोज, विद्यानाथ, जयदेव, भानुदत्त आदि संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों से पर्याप्त मात्रा में सहायता ली है। कहीं कहीं संस्कृत के सिद्धांतों का ब्रजभाषा में ज्यों का त्यों अनुवाद ही प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार समस्त रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश हिंदी आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वमान्य एवम् स्वसम्मत सिद्धांतों को सरल ब्रजभाषा के द्वारा सामान्य पाठक तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। संभवतः उस समय की यह एक माँग ही थी जिसकी पूर्ति इन आचार्यों ने की। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांत खंडित मंडित होते हुए पूर्णतः सुस्थिर एवम् विकसित हो चुके थे। संस्कृत के अंतिम प्रकांड आचार्य पंडितराज जगन्नाथ माने जाते हैं। उनके पश्चात् संस्कृत का प्रभाव धीरे धीरे कम होने लगा और उसके स्थान पर उसी की उत्तराधिकारिणी प्रांतीय भाषाओं का महत्व बढ़ने लगा। तत्कालीन भारत में ब्रजभाषा हिंदी इतनी लोकप्रिय एवम् व्यापक भाषा थी कि हिंदीभाषी क्षेत्र के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण तक के लोगों में उसके प्रति आकर्षण था। उस समय भारत के अधिकांश लोग इस भाषा को सहजता से समझ जाते थे। तत्कालीन शासक तथा कवि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे। शहाजी महाराज ने अपने आश्रित संकर सुकवि को संस्कृत में लिखित 'रसमंजरी' को 'भाषा' में प्रस्तुत करने की जो आज्ञा दी उसका हेतु भी कितना स्पष्ट है, देखिए—

> साह भूप आयसु दयो कवि संकर को आजु।
> रसमंजरी भाषा करो चले जगत को काजु॥[2]

इस प्रकार रीतिकालीन हिंदी आचार्यों ने तत्कालीन माँग की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझा जिसके फलस्वरूप उन्होंने संस्कृत का काव्यशास्त्र सरल हिंदी द्वारा सुगमता से निरूपित कर सामान्य पाठक तक पहुँचाया। उसको स्पष्ट करने के लिये उन्होंने सुयोग्य एवम् पर्याप्त उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

---

१. हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य, डॉ० सत्यदेव चौधरी. (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १२।

२. संकर कवि कृत शाहविलास, १।३।

आलोच्य कवियों में काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ लिखनेवाले चिंतामणि, भूषण, संकर कवि एवम् लोकमणि मिश्र इन प्रमुख कवियों की कृतियों का मौलिकता की दृष्टि से विवेचन कर अंत में उनके आचार्यत्व के संबंध में विचार किया जायगा।

चिंतामणि :

सर्वांगनिरूपक कवियों में चिंतामणि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीतिकाल के प्रतिनिधि आचार्य के रूप में इन्हें देखा जाता है। इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रंथों में केवल कविकुलकल्पतरु, रसविलास, श्रृंगार-मंजरी एवम् भाषापिंगल (छंदविचार) इतने ही ग्रंथ संपूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों के अंतर्गत काव्य, रस, गुण, अलंकार, दोष, शब्द शक्ति, नायकनायिका भेद, छंद आदि काव्यांगों का विस्तृत एवम् सरल विवेचन किया गया है। काव्यशास्त्र के इन अंगों के विवेचन के साथ ही साथ स्वरचित उदाहरणों के द्वारा उन्होंने सिद्धांतों को स्पष्ट भी किया है।

चिंतामणि के काव्यशास्त्र विषयक उपलब्ध ग्रंथों में श्रृंगारमंजरी, तो अकबरसाह कृत मूल तेलुगु के संस्कृत अनुवाद 'श्रृंगारमंजरी' का ब्रजभाषा रूपांतर मात्र है।[1] सिद्धांतों की दृष्टि से इसमें कोई मौलिकता नहीं है परंतु सिद्धांतों के प्रतिपादन एवम् स्पष्टीकरण के लिये चिंतामणि ने जो उदाहरण एवम् व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं उनमें कवि की मौलिकता अवश्य है। ब्रजभाषा रूपांतर होते हुए भी गद्य की दृष्टि से 'श्रृंगारमंजरी' का विशेष महत्व है। सत्रहवीं शताब्दी के पांडित्यपूर्ण हिंदी गद्य का नमूना इस ग्रंथ में देखने को मिल जाता है।

'कविकुलकल्पतरु' और 'रसविलास' इन दो ग्रंथों में चिंतामणि ने काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों का सुस्पष्ट एवम् सरल भाषा में विवेचन प्रस्तुत किया है। इन ग्रंथों की रचना संस्कृत के अनेक ग्रंथों के आधार पर की गई है, जिनमें से कुछ ग्रंथों के उल्लेख चिंतामणि ने अपने ग्रंथों के अंतर्गत स्पष्टतः किए हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

(१) जीवन मैं सत्य जु कहत, अलंकार ये बीस।
'दसरूपक' मैं तिन कहे, सुनहु सुकवि मगईस ॥

---

१. देखिए अकबर साह कृत श्रृंगारमंजरी, (चिंतामणि द्वारा ब्रजभाषा रूपांतर), संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र।

(२) 'साहित दर्पन' मैं कहे, आठ और अधिकाइ।
विश्वनाथ सुतकवि कहत, ते अब सुनहु बनाइ॥

(६) सैसव जोबन संधि मैं, मैन के दशौ विकार।
भाव वरन यौं कहत हैं, 'विद्यानाथ' प्रकार॥[१]

इस प्रकार ग्रंथों के बीच बीच में अनेक स्थानों पर कवि ने संस्कृत आचार्यों का ऋण स्वयम् स्वीकार किया है। जहाँ कहीं उल्लेख नहीं है वहाँ संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि ने अपने ग्रंथों के लिये किन किन संस्कृत आचार्यों का आधार लिया है। डॉ० सत्यदेव चौधरी ने 'हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य' नामक ग्रंथ में चिंतामणि द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र के सिद्धांतों एवम् उनके आधारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इसलिये विस्तार से उनकी चर्चा न करते हुए तुलना के लिये दो चार उदाहरण मात्र यहाँ दिए जा रहे हैं। चिंतामणि ने कविकुलकल्पतरु एवम् रसविलास के अंतर्गत रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—

(१) जो नहिं जाति विजाति सों, होइ तिरसकृत रूप।
जब लगि रसु तत्र लग सुथिर, थाई भाव अनूप॥
सो थाई है समुद सों, जब लगि रस आस्वाद।
तब लगि यह वह रहत है, जो थाई अविवाद॥[२]

(२) जो विरुद्ध अवरुद्ध अरु भावहु ना विच्छेद।
निज भावै न तजै उदधि सो थाई यह वेद॥[३]

चिंतामणि की यह मान्यता आचार्य धनंजय की निम्नलिखित धारणाओं से तुलनीय है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥[४]

---

१. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु, ७।५, ६ और १४।
२. वही, कविकुलकल्पतरु, ५।१।२० और २१।
३. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।१।
४. धनंजय कृत दशरूपकम्, ४।३४, (चंद्रकला हिंदी व्याख्या), सन् १९५५ के संस्करण, ५।२०६।

सजातीय विजातीय भावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो ।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि ने रस के स्वरूप का विवेचन, पूर्णतः धनंजय की मान्यता के अनुसार ही किया है। चिंतामणि ने रस की सामान्य परिभाषा इस प्रकार दी है—

गनि अभाव अनुभाव अरु, संचारी न मिलाइ।
जित थाई है भाव जो, सो रस रूप गिनाइ ॥[2]

इस लक्षण के लिये इनका आधार मम्मटाचार्य ही रहे हैं, देखिए—

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥[3]

कहीं कहीं विभिन्न दो मतों का समन्वय कर सर्वांगपूर्ण लक्षण प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न भी इन्होंने किया है। इन्होंने काव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं उनपर आचार्य विश्वनाथ तथा विद्यानाथ का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है, देखिए—

(१) बतकहाउ रस मै जु है, कवित कहावै सोइ ॥[4]

(२) सगुनालंकारन सहित, दोष रहित जो होय।
शब्द अर्थ ताको कवित, कहत बिबुध सब कोई ॥[5]

इन परिभाषाओं में आचार्य विश्वनाथ और विद्यानाथ की परिभाषाओं का समन्वयात्मक प्रभाव स्पष्ट है, देखिए—

(१) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[6]

(२) गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥[7]

---

१. दशरूपकम्, वही, ४।३४ की कारिका की वृत्ति, पृष्ठ २०६।
२. चिंतामणि कृत कविकुल कल्पतरु ४।१।४७।
३. मम्मटाचार्य विरचित काव्यप्रकाश ४।२८, संपा० डॉ० नगेंद्र, (सन् १९६० ई०), पृष्ठ ९१।
४. चिंतामणि कृत कविकुलकल्पतरु १।४।
५. वही, कविकुल कल्पतरु १।७।
६. विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण १।३।
७. विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्रयशोभूषण, २।१।

इस प्रकार कविकुलकल्पतरु तथा रसविलास के अंतर्गत काव्यशास्त्र के सिद्धांत एवम् लक्षण चिंतामणि ने प्रस्तुत किए हैं उनका प्रमुख आधार संस्कृत आचार्यों के साहित्यदर्पण, दशरूपक, काव्यप्रकाश, प्रतापरुद्रयशोभूषण, कुवलयानंद, रसमंजरी आदि ग्रंथ ही रहे हैं। इससे चिंतामणि द्वारा संस्कृत ग्रंथों का व्यापक एवम् गंभीर अध्ययन सहज ही प्रकट हो जाता है। इन्होंने संस्कृत के उपर्युक्त ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन के उपरांत ही हिंदी में काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना की है।

'भाषा पिंगल' चिंतामणि का छंदशास्त्र विषयक उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसी ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ छंदविचार अथवा छंदोलता इस नाम से भी उपलब्ध होती हैं। यह ग्रंथ अपने समय में अत्यंत लोकप्रिय रहा होगा। भारत के अधिकांश प्रमुख ग्रंथालयों में इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। हैदराबाद की स्टेट लायब्रेरी में इसी ग्रंथ की उर्दू में लिखित हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। यह ग्रंथ 'प्राकृतपैंगलम्', केदार भट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर' तथा दामोदर मिश्र कृत 'वाणीभूषण' पर आधारित है। समस्त ग्रंथ में प्रतिपादित लक्षणों को देखने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि मात्रिक एवम् वर्णिक वृत्तों के विवेचन के लिये प्रमुख रूप से इन्होंने प्राकृतपैंगलम् का ही आश्रय लिया है। चिंतामणि ने 'प्राकृतपैंगलम्' के लक्षणों का कहीं कहीं ज्यों का त्यों भाषा अनुवाद ही प्रस्तुत किया है तो कहीं कहीं उनका भावमात्र ग्रहण किया है। कई स्थलों पर इन्होंने अपनी दृष्टि से अनावश्यक एवम् अग्राह्य अंश को छोड़ भी दिया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद तुलनीय हैं—

(१) प्रथम तीसरे रवि कला दूजे ठारह जानि।
चौथे पद पंद्रह रचौ यो गाहा पहचानि॥
(२) चौबिस चौबिस मत्त जहँ चरन चरन गुरु अंत।
पिंगल मत रोला करत तासो कवि बुधिवंत॥
(३) दोहा दल के अंत में जहाँ पाँच कल होइ।
कवि मन पिंगल नाग मत कहि चुलिआला सोइ॥[१]

उपर्युक्त लक्षण 'प्राकृतपैंगलम्' के निम्नलिखित छंदों का अनुवाद मात्र है, देखिए—

---

१. चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार), २।५१, १।१०५ तथा १।१४६ (नागरीप्रचारिणी सभा प्रति)।

(१) पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीअं दहपंच विहूसिआ गाहा॥
(२) पढम होइ चउबीस मत्त अंतर गुरु जुत्ते।
पिंगल होंते सेसणाअ तणिह रोला उत्ते॥
(३) चुलिआला जइ देह किमु दोहा उप्पर मत्तह पंचइ।
पअ पअ उप्पर संठवहु सुद्ध कुसुमगण अंतह दिज्जइ॥[1]

कहीं कहीं 'प्राकृतपैंगलम्' के लक्षणों को ज्यों का त्यों ग्रहण न कर स्वसम्मत अंश को रखकर शेष की उपेक्षा भी की है, जैसे—

गाथा कौ चौथौ चरनु बीस मत्त जो होइ।
तौ गहिनि सों सिंहिनी उलटि पढ़ै जो कोइ॥[2]

इसमें 'प्राकृतपैंगलम्' के निम्नलिखित छंद के केवल उत्तरार्द्ध का ही अनुकरण किया है और शेष अंश की उपेक्षा की है—

पुव्वद्ध तीस मत्ता, पिंगल पभणेइ मुद्धिणि सुणेहि।
उत्तद्धे बत्तीसा, गहिणि विवरीअ सिंहिणी भणू सच्चं॥[3]

'प्राकृतपैंगलम्' के अतिरिक्त चिंतामणि ने दामोदर मिश्र कृत 'वाणी-भूषण' से भी पर्याप्त सहायता ली है। 'छंदविचार' के प्रारंभ में लघु गुरु-मात्राविचार, मात्राप्रस्तार, गण तथा उनके देवता, वर्णउद्दिष्ट, वर्णमेरु, मात्रामेरु, वर्णपताका आदि का जो विवेचन प्रस्तुत है उसका मुख्य आधार 'वाणीभूषण' ही है। 'प्राकृतपैंगलम्' की भाँति चिंतामणि ने इस ग्रंथ के केवल लक्षणों का अर्थानुवाद किया है। उदाहरण चिंतामणि के अपने हैं। 'वाणीभूषण' के अंतर्गत संस्कृत छंदोपयोगी विवेचन को चिंतामणि ने ग्रहण नहीं किया है। इस दृष्टि से 'छंदविचार' तथा वाणीभूषण के निम्नलिखित छंद तुलनीय हैं—

(१) संजोगी तें प्रथम जो दीरघ बिंदु समेत।
सो गुरु बंक दुमंत कहि कहु चरनंत उपेत॥

---

१. प्राकृतपैंगलम्, संपादक, डॉ० भोलाशंकर व्यास, (सन् १९५९ ई०), पृष्ठ ४२,८० तथा १४७।
२. चिंतामणि कृत भाषापिंगल (छंदविचार), ३।६८, (नागरी प्रचारिणी प्रति)।
३. प्राकृतपैंगलम्, वही, पृष्ठ ६।

(२) ट ठ ड ढ ण गन छ पंच अरु चारि तीनि द्वै मंत।
चिंतामनि गन पंच ए पिंगल कहत अनंत ॥
(३) महिजल अगिनिरु पौन कहि व्योम सूर अरु चंद।
संभु अष्ट गन देवता मनि प्रस्तार फनींद ॥[1]

ये छंद दामोदर मिश्र कृत 'वाणीभूषण' के निम्नलिखित छंदों के अर्थानुवाद मात्र हैं, देखिए—

(१) संयोगिपूर्वं सविसर्गकं च दीर्घस्वरैः संगतमन्त्यगं वा।
विद्यादनुस्वार समन्वितं च गुर्वक्षरं बक्रमिह द्विमात्रम् ॥
(२) टठडढणेति गणाःस्युः षट्पंचचतुस्त्रियुग्ममात्राणाम्।
तेषां, त्रयोदशाष्टक पंचत्रिद्विभेदाः स्युः ॥
(३) महीजलानलांतकः स्वरर्यमेन्दु पन्नगाः।
फणीश्वरेण कीर्तिता गणाष्टकेऽष्ट देवता ॥[2]

'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'वाणीभूषण' के अतिरिक्त केदार भट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर' का भी प्रभाव 'छंदविचार' के कुछ लक्षणों पर दिखाई देता है। परंतु यह प्रभाव कुछ ही छंदों तक सीमित है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

मगन सगन पुनि जगन जहँ सगन तगन पुनि दोई।
शारदूल विक्रीडित तहाँ एक अंत गुरु होई ॥[3]

'वृत्तरत्नाकर' में शार्दूलविक्रीडित का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥[4]

'भाषापिंगल' के अंतर्गत चूड़ामणि, चकोर, महाभुजंगप्रयात, रूपघनाक्षरी, मोहिनी, पवन, चिंतामणि जैसे कुछ छंदों के लक्षणों का स्पष्ट रूप से आधार नहीं मिलता। संभव है कि चिंतामणि ने इस प्रकार के कतिपय छंदों के लक्षण स्वयम् दिए हों अथवा अपने समकालीन कवियों की कृतियों से लिया हो। इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है। अधिकांश छंदों के लक्षण सुस्पष्ट एवम् शुद्ध रूप में मिलते हैं, परंतु कुछ छंदों के लक्षण

---

१. चिंतामणि कृत 'भाषापिंगल' (छंदविचार), १।११, १३, १२।
२. दामोदर मिश्र कृत वाणीभूषण, छंद ५,७ तथा २१।
३. चिंतामणि कृत भाषापिंगल, (छंदोलता), २।६३८।
४. केदार भट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर ३।००० ।

अस्पष्ट एवम् दुरूह भी हो गए हैं। इन दोषों के लिये संभवतः लिपिकार ही उत्तरदायी हो सकते हैं जिनकी असावधानी के कारण भाषाविषयक दोष तथा शब्दलोप प्रायः मिल जाते हैं। काव्यशास्त्र विषयक अन्य ग्रंथों की भाँति लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये चिंतामणि ने इस ग्रंथ में भी स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ग्रंथ के अंतर्गत लघुगुरु मात्राविचार, मात्राप्रस्तार, मात्रापताका, मात्रामर्कटी, वर्णमर्कटी तथा मात्रिक एवम् वर्णिक छंदों का भेदोपभेदों सहित जो विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें अत्यंत सावधानी एवम् सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। निरूपण में सुगमता, सरलता एवम् स्पष्टता का पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ है।

चिंतामणि के पूर्व हिंदी साहित्य में 'छंदशास्त्र' पर उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। केवल केशवदास की 'छंदमाला' नामक रचना का उल्लेख मिलता है जिसमें ग्रंथकार का उद्देश्य छंदशास्त्र का विवेचन करना नहीं था, अपितु छंद का उपयोग करनेवाले उदीयमान कवियों या छात्रों के उपयोग के लिये लघु पुस्तिका का निर्माण करना था। यद्यपि यह ग्रंथ हिंदी का प्रथम छंद ग्रंथ होने से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है फिर भी छंदों की संख्या और विवेचन की दृष्टि से अत्यंत साधारण कोटि का है।[1] छंदशास्त्र के विविध अंगों का स्वच्छ एवम् विस्तृत शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम चिंतामणि के 'भाषापिंगल' में ही प्राप्त होता है। अतः हिंदी के पिंगलनिरूपक आचार्यों में चिंतामणि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि ने काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना संस्कृत एवम् प्राकृत ग्रंथों के आधार पर की है। जहाँतक काव्यशास्त्र के नवीन सिद्धांतों के आविष्कार का प्रश्न है वहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चिंतामणि ने इस दृष्टि से कोई विशेष कार्य नहीं किया। परंतु संस्कृत तथा प्राकृत के ग्रंथों से गृहीत सिद्धांतों एवम् लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये सरस एवम् उत्कृष्ट उदाहरणों की जो राशि प्रस्तुत की है वह चिंतामणि की मौलिक निधि है। काव्यशास्त्र के नवीन सिद्धांतों का आविष्कार चिंतामणि ही क्या संभवतः किसी भी हिंदी आचार्य ने नहीं किया। इसके लिये तत्कालीन परिस्थिति भी कारण रही है। सारांश, चिंतामणि ने संस्कृत तथा प्राकृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों एवम्

---

१. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, (षष्ठ भाग), संपा० डॉ० नगेंद्र, (संवत् २०१९ वि०), पृष्ठ ३०६।

लक्षणों को सयुक्तिक उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट एवम् सरल रूप में हिंदी द्वारा प्रस्तुत कर सामान्य पाठक तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया जिसका अनुसरण हिंदी के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने किया।

भूषण :

भूषण की उपलब्ध कृतियों में 'शिवराजभूषण' काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों के अंतर्गत आ जाता है। इसमें अलंकारों के लक्षण तथा उनको स्पष्ट करने के लिये स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि 'शिवराज-भूषण' अलंकार विषयक ग्रंथ है फिर भी उसका प्रधान उद्देश्य अलंकारों का विवेचन न होकर परंपरा के अनुसार शिवाजी के चरित्र का संकीर्तन करना मात्र था। स्वयम् भूषण ने ग्रंथ के अंतर्गत इस तथ्य की ओर स्पष्टतः संकेत किया है—

> सिव चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषन के चित्त।
> भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करौ कवित्त॥
> सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
> भूषन भूषनमय करत 'शिवभूषन' सुभ ग्रंथ॥[1]

भूषण सर्वप्रथम कवि हैं, बाद में अलंकार निरूपक। यदि वे 'शिवराज-भूषण' की रचना लक्षण ग्रंथ के रूप में न कर स्वतंत्र काव्य के रूप में करते तो संभवतः वह एक उत्कृष्ट अमर कृति बन जाती। 'शिवराजभूषण' को अलंकारों के लक्षण उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना रीतिकालीन प्रवृत्ति के प्रभाव का द्योतक है। इस ग्रंथ के अंतर्गत अलंकारों के जो लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं उनके लिये अलंकार विषयक उत्तम ग्रंथों से सहायता ली गई है। कहीं कहीं स्वमत का कथन भी किया गया है।[2] इस ग्रंथ का प्रमुख आधार मतिराम कृत 'ललितललाम' ही रहा है। शिवराजभूषण और ललितललाम के लक्षणों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भूषण ने अपने बड़े भाई के ग्रंथों से अनेक लक्षण निःसंकोच भाव से ग्रहण किए हैं। कहीं कहीं दोनों लक्षणों में भावसाम्य के अतिरिक्त शब्दावली भी ज्यों की त्यों है। यदि अंतर है तो कवि के नाम मात्र का। इस बात के लिये मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति,

---

१. भूषण ग्रंथावली (शिवराज भूषण), संपा० राजनारायण शर्मा, (सन् १६५० ई०), पृष्ठ १६।

२. लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत सुकवि मानहु सौंच॥

—वही, शिवराजभूषण, पृ० २२५।

दीपक, निदर्शना आदि के लक्षण तुलनीय हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

(१) जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥

(२) जहाँ और को संक करि साँच छिपावत बात।
छेकापह्नुति कहत हैं भूषन कवि अवदात॥[१]

इन लक्षणों की 'ललितललाम' के निम्नलिखित लक्षणों से तुलना कर देखिए—

(१) जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥

(२) जहाँ और को संक करि साँच छिपावत बात।
छेकापह्नुति कहत हैं तहाँ बुद्धि अवदात॥[२]

मतिराम के अतिरिक्त जयदेव कृत 'चंद्रालोक' का प्रभाव भी कतिपय स्थलों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। भूषण ने भाविक छवि आदि को स्वतंत्र अलंकारों के रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिये कुछ समीक्षक इन्हें भूषण द्वारा प्रस्तुत नवीन अलंकार मानते हैं परंतु इन अलंकारों पर जयदेव के चंद्रालोक का ही प्रभाव स्पष्ट है, देखिए—

जहाँ दूरस्थित वस्तु को देखत बरनत कोइ।
भूषन भूषन राज यों भाविक छवि है सोइ॥[३]

× × ×

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः।
त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात्पंचेषुरीक्ष्यसे॥[४]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शिवराजभूषण' अलंकार विषयक ग्रंथ होने पर भी कवि की उद्देश्यभिन्नता के कारण 'अलंकारशास्त्र' की दृष्टि से

---

१. वही; भूषण ग्रंथावली, पृ० ३० तथा ४६।
२. मतिराम ग्रंथावली (ललितललाम), संपा० कृष्णबिहारी मिश्र, (सं० १९९१ वि०), पृ० ३७० तथा ३८१।
३. भूषण ग्रंथावली, संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० १८६।
४. जयदेव कृत चंद्रालोक मयूख ५।११४, संपादक महादेव गंगाधर बाकरे, (सन् १९३४ ई०), पृ० ७४।

कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। जहाँतक अलंकारों के नवीन लक्षणों अथवा आविष्कारों का प्रश्न है वहाँ यह स्पष्ट ही हो जाता है कि भूषण ने इस दृष्टि से मौलिक कार्य नहीं किया है। केवल तत्कालीन प्रवृत्ति का प्रभाव एवम् परंपरा के कारण ही शिवराज के यशोगान के लिये भूषण ने अलंकार निरूपण की पद्धति का अनुसरण किया है, तभी तो अलंकारों के लक्षण-विवेचन में उनके द्वारा सावधानी एवम् सतर्कता का अभाव रहा है। सम, निदर्शना, परिकर, काव्यलिंग, अर्थांतरन्यास आदि अलंकारों के लक्षण सही रूप में नहीं हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने 'भूषण' के अंतर्गत भूषण द्वारा प्रतिपादित अलंकारों के लक्षणों एवम् उदाहरणों के संबंध में जो विस्तृत विवेचन किया है वह विशेष मननीय है। उनके मत में अलंकार-निरूपण की दृष्टि से भूषण की तुलना किसी से करना व्यर्थ है। भूषण के सामने शास्त्र या अलंकारनिरूपण साधन है, व्याज बहाना है, वह भी व्यवस्थारहित।[1] 'शिवराजभूषण' का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भूषण को शिवाजी का चरित्र, तत्संबंधी ऐतिहासिक व्यक्ति एवम् घटना तथा कवित्व का जितना ख्याल है उतना संभवतः अलंकारों के विवेचन का नहीं है। यही कारण है कि वीर रस के श्रेष्ठ कवि के रूप में ही लोग भूषण का गौरव करते हैं न कि एक अलंकारनिरूपक आचार्य के रूप में। यद्यपि पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने भूषण को अलंकारनिरूपक आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है[2] फिर भी उनके द्वारा जो समर्थन दिया गया है वह अपने आप में निर्बल है। भूषण की समस्त कविता का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकल सकता है कि उनकी प्रवृत्ति कवि की थी न कि आचार्य की।

संकर कवि :

हिंदी साहित्य के इतिहास में कहीं भी इस कवि का उल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। इन्होंने शहाजी महाराज की आज्ञा से 'साहविलास' नामक काव्य-शास्त्र विषयक ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ एक दृष्टि से भानुदत्त मिश्र की संस्कृत का 'रसमंजरी' ब्रजभाषा रूपांतर ही है। स्वयम् कवि ने इस बात का स्पष्टतः उल्लेख भी किया है—

---

१. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० संस्करण), पृष्ठ ४२-४६।
२. महाकवि भूषण, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १४२।

जिनकी कृपा कटाक्ष तें रसमंजरि को भाउ।
बरणों साहविलास में गहि कै बुद्धि बनाउ ॥
साह भूप आयसु दयो संकर कवि को आजु।
रस मंजरि भाषा करो चले जगत को काजु ॥
भाषा में रसमंजरी तातें करतु जहान।
जातें रीझे सुनत ही भूपति साहि खुमान ॥[1]

इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि प्रत्येक हिंदी छंद के पूर्व भानुदत्त की मूल रसमंजरी का संस्कृत लक्षण तथा उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है और उसके पश्चात् हिंदी में उनके भावों को व्यक्त किया है। भाव के अनुसार छंदों की योजना की है। छोटे भावों को व्यक्त करने के लिये दोहा अथवा सोरठा और बड़े भावों के लिये घनाक्षरी, सवैया, झूलना आदि छंदों के प्रयोग किए गए हैं। विवेचन का क्रम मूल संस्कृत की रसमंजरी के अनुसार ही रखा है। 'साहविलास' में लक्षणों की छंदसंख्या १३८ और उदाहरणों की छंदसंख्या २९६ है। अधिकांश लक्षणों का कवि ने ज्यों का त्यों अनुवाद ही प्रस्तुत किया है, कहीं कहीं भावमात्र ग्रहण किया है। उदाहरणों में अधिकांश उदाहरण रसमंजरी के ही हैं और कुछ कवि के अपने हैं। जहाँ तक रसमंजरी के ही उदाहरणों का प्रश्न है, कवि ने कहीं शब्दानुवाद ही किया है तो कहीं भावमात्र ग्रहण किया है। संस्कृत के मूल छंदों को उद्धृत कर उनका सशक्त भाषानुवाद प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित रसमंजरी के मूल छंद एवम् साहविलास के भाषानुवादित छंद तुलनीय हैं—

सौंदर्यगर्विता यथा—

कलयति कमलोपमानमक्ष्णोः।
प्रथयति वाचि सुधारसस्य साम्यम्।
सखि कथय किमाचरामि कांते
समजनि तत्र सहिष्णुतैव दोषः ॥[2]

इसी छंद का भाव संकर कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. संकर कवि कृत साहविलास, १/२, ३ तथा ४।
२. भानुदत्त विरचित रसमंजरी, संपा० रामशास्त्री तेलंग, (सन् १९०४ ई.), पृष्ठ १७-१८।

अथ सौंदर्यगर्विता लक्षणम्—

कंजद्रगी कहि कहि बोलत है मोसो लाल,
अलिन की राजी जिन में सदा वसति है।
कलानिधि मुखी कहे कालिमा कलंक ही की,
तामे रहे ताहि के कलेवरे हसति है॥
कैयो बेर कह्यो सो तो सह्यो अनबोली रही,
अब न सहौंगी मुख बात निकसति है।
साहिजू रसिकमनिजू कों तातें बरजू,
आली यह नाम मेरे मनहि मसति है॥[1]

कहीं कहीं ज्यों का त्यों शब्दानुवाद भी प्रस्तुत किया है, देखिए—

(१) मानवती यथा। प्रियाऽपराधसूचिका चेष्टा मानः।[2]

(१) पीतम के अपराध तें सोचु करे जो बाम।
कोविद कवि सब कहत हैं मान ताहि को नाम॥[3]

(२) शृंगारस्योभयनिरूप्यत्वान्नायकोऽपि निरूप्यते।
स च त्रिविधः पतिरुपपतिर्वैशिकश्चेति।
विधिवत् पाणिग्राहकः पतिः।[4]

(२) दंपति में सिंगार रस कहत सकल कविराय।
बरनतु नायक भेद अब गहि मन में अति चाय॥
भाषे जग में भानुकवि नायक तीनि प्रकार।
पति, उपपति, वैशिक कहतु ताही के अनुसार॥
विधिवत करै विवाह जो ताही को पति नाम।
कवि कोविद बरनत सकल ती कों अति सुखधाम॥[5]

---

१. संकर कवि कृत साहविलास, पृ० ७४।
२. वही, रसमंजरी पृष्ठ ६६।
३. वही, साहविलास, पृ० ७५।
४. वही, रसमंजरी पृष्ठ २०७।
५. वही, साहविलास, ७।२१७, २१८, २१९

इस प्रकार संकर कवि ने 'साहविलास' के अंतर्गत भानुदत्त मिश्र की संस्कृत 'रसमंजरी' का ही हिंदी रूपांतर प्रस्तुत किया है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने अनेक बार किया है। लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये भानुमिश्र के अतिरिक्त स्वरचित उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। अतः काव्यशास्त्र के सिद्धांतों एवं लक्षणों की दृष्टि से इस ग्रंथ में कोई मौलिकता नहीं है। दुर्भाग्य से इस कवि का एक ही ग्रंथ उपलब्ध होता है। जबतक अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते तबतक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। रीतिकालीन अन्य आचार्यों की भाँति इस ग्रंथ में भी संस्कृत के काव्यशास्त्र विषयक सिद्धांतों को हिंदी भाषा के माध्यम से सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत कर उन्हें सामान्य पाठक तक पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य किया गया है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसका आधार केवल 'रसमंजरी' ही है और आदृत ग्रंथ के मूल छंद भी कवि ने उद्धृत किए हैं। दूसरी विशेषता यह है कि सुदूर दक्षिण में मराठा राजा शाहजी की आज्ञा से हेतुपूर्वक यह ग्रंथ हिंदी भाषा में लिखा गया है। यद्यपि कवि ने 'साहविलास' को 'रसमंजरी' का भाषा रूपांतर ही कहा है फिर भी यह 'रसमंजरी' का केवल शब्दानुवाद मात्र नहीं है। इसमें कवि ने अनेक स्थलों पर केवल भावमात्र ग्रहण किया है और अपनी रुचि के अनुकूल स्वरचित उदाहरणों के साथ लक्षणों को स्पष्ट किया है। हिंदी के ऐतिहासिक विकास एवं कवित्व की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्व होने पर भी काव्यशास्त्र के मौलिक एवं नवीन सिद्धांतों की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

लोकमणि :

आलोच्य कवियों में लोकमणि मिश्र का काव्यशास्त्र विषयक 'नवरसरंग' नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ का भी उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने नहीं किया है। ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट होता है कि इसका प्रमुख उद्देश्य रसनिरूपण है। यह ग्रंथ भानुदत्त मिश्र कृत रसतरंगिणी एवं रसमंजरी पर आधारित है। इसके संबंध में स्वयं कवि ने भी कहा है---

नवरसरंग सअंग ही रचो सुग्रंथ अगाध।
अंगीकार करौ सुमति छिमा करौ अपराध॥
'रसमंजरी' प्राचीन मथि 'रसतरंगिनी' ग्रंथ।
रसिकन को सउदाहरन रचौ सरल रस ग्रंथ॥[1]

1. लोकमणि कृत नवरसरंग, १२।४०।४१।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसमंजरी तथा रसतरंगिणी ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन के उपरांत कवि ने रसिकों के लिये उदाहरण सहित नवरसरंग नामक रसग्रंथ की रचना की है। लोकमणि का यह ग्रंथ रीतिकालीन अन्य आचार्यों के काव्यशास्त्र विषयक उत्कृष्ट ग्रंथों की कोटि में रखने योग्य है। रसों के अंगोपांगों का विवेचन सुस्पष्ट करने के लिये सरस एवं सुयोग्य उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है जो उनकी मौलिक निधि है। रस, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के काव्यशास्त्र विषयक जो लक्षण एवं सिद्धांत दिए हैं उनमें लोकमणि की भी अपनी मौलिकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है। उदाहरण के लिये आधारभूत ग्रंथों के लक्षणों से लोकमणि द्वारा प्रतिपादित लक्षण तुलनीय है—

भावनुभाव विभाव जुत, स्थाई भाव प्रबुद्ध।
जो पदार्थ उपजत सरस, मन विश्राम विशुद्ध ॥[1]

लोकमणि के इस रसलक्षण में भानुदत्त मिश्र की रसतरंगिणी के निम्नलिखित अंश का भाव पूर्णतः समाविष्ट है—

भावैर्विभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः ॥ प्रबुद्धस्थायिभाव वासना वा रसः ॥[2]

इसी प्रकार उत्साह लक्षण का एक उदाहरण देखिए—

जुद्ध दान अरु दया हिय, परमित मनोविकार।
सो उत्साह जहाँ कछू, होइ वीर संचार ॥[3]

इस लक्षण को 'रसतरंगिणी' के निम्नलिखित अंश से मिलाइए—

शौर्यदानदयान्यतमकृतः परिमितो मनोविकार उत्साहः ॥[4]

जिस प्रकार रस, स्थायीभाव, सात्विक अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि के लिये लोकमणि ने प्रमुखतया 'रसतरंगिणी' का आधार ग्रहण किया उसी प्रकार नायकनायिका भेद तथा संयोग एवं विप्रलंभ शृंगार आदि का भी

---

१. लोकमणि कृत नवरसरंग, १।८।
२. भानुदत्त मिश्र कृत रसतरंगिणी (जीवनाथजी की भाषाटीका), सं. १९७१ वि० का संस्करण, तरंग ६।१, पृष्ठ ११७-११८।
३. लोकमणि कृत नवरसरंग, ८।२३।
४. भानुदत्त मिश्र कृत रसतरंगिणी, वही, तरंग १।१७, पृष्ठ २३।

वर्णन प्रमुखतः 'रसमंजरी' के आधार पर किया गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

बरनी स्वकिया तीन विधि, मुग्धा प्रथम विचारि।
मध्या दूजी और गनि, प्रौढ़ा तीजी नारि॥[1]

इस विवेचन का आधार स्पष्टतः 'रसमंजरी' का निम्नलिखित अंश ही है—

स्वीया तु त्रिविधा। मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति॥[2]

इसी प्रकार शृंगार रस का आधार भी रसमंजरी ही है, देखिए—

सो शृंगार द्वै भाँति को, बरनत सुमति विचार।
यिक जानि संजोग पुनि, विप्रलंभ शृंगार॥[3]

रतिस्थायिभावः शृंगारः। स च द्विविधः संभोगो विप्रलंभश्च।[4]

कहीं कहीं उदाहरणों के अंतर्गत आधारभूत ग्रंथों के उदाहरणों के भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकमणि ने भानुदत्त के रसमंजरी एवम् रसतरंगिणी इन दोनों ग्रंथों से पर्याप्त सहायता ली है। इसके अंतर्गत काव्यशास्त्र के मौलिक सिद्धांतों का पूर्णतः अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने भानुदत्त मिश्र द्वारा संस्कृत में प्रतिपादित रस के अंगों एवम् नायकनायिका भेद का विवेचन अत्यंत सरल एवम् सुबोध रीति से प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्य कवियों द्वारा निरूपित काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों में संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों एवम् लक्षणों को ही सरल एवम् सुगम रीति से प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता की दृष्टि से इनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतों का विशेष महत्व नहीं है, फिर भी उन सिद्धांतों एवम् लक्षणों को सुस्पष्ट करने के हेतु इन कवियों ने जिन मौलिक एवम् सरस उदाहरणों की रचना की है उसे देखकर यह

---

१. लोकमणि कृत नवरसरंग, २।१७।
२. भानुदत्त मिश्र कृत रसमंजरी, संपा० राम शास्त्री तेलंग, (सन् १९०४ ई०), पृष्ठ १६।
३. लोकमणि कृत नवरसरंग, ११।१।
४. भानुदत्तकृत रसमंजरी, पृष्ठ ११३।

स्पष्ट हो जाता है कि ये रीति ग्रंथकार प्रथम कवि थे और बाद में आचार्य। हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों में अधिकांश आचार्य इसी कोटि में आ जाते हैं।

काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों के अंतर्गत उदाहरणों के द्वारा श्रृंगार रस का वर्णन कर इन कवियों ने शुद्ध कविता का एक मार्ग ही खोज निकाला। एक दृष्टि से यह मार्ग प्रतिष्ठित भी था क्योंकि श्रृंगारवर्णन करते हुए भी शास्त्र का आधार लेकर ये कवि स्वयं दोषहीन रह सके। इनका श्रृंगारवर्णन काव्यशास्त्रानुमोदित होने से नियंत्रित एवं संयत भी रहा। अपवादस्वरूप कहीं कहीं कवियों ने नियमों का उल्लंघन भी किया है परंतु समस्त कविता की पार्श्वभूमि पर यह दोष विशेष महत्व नहीं रखता। अधिकांश रीतिकालीन कविता का सौंदर्य इन्हीं उदाहरणों में बिखर पड़ा है। इसके साथ ही साथ समय की माँग को दृष्टि में रखकर संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को हिंदी के द्वारा सरल, सुस्पष्ट एवं बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण कार्य इन्होंने किया। काव्यशास्त्र के विकास में यद्यपि इन्होंने मौलिक रूप में कोई विशेष योगदान नहीं दिया तथापि संस्कृत काव्यशास्त्र की सूखती हुई परंपरा को हिंदी में अवतरित कर लोक में काव्यशास्त्र विषयक जिज्ञासा एवं अभिरुचि को निरंतर जाग्रत रखने का जो प्रशंसनीय कार्य इन्होंने किया वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

६

भाषाशैली एवं छंदयोजना

काव्य के भावों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है और उस भावाभिव्यक्ति को लयबद्ध एवं नादमधुर बनाने का कार्य छंद करते हैं। भाषा और छंद ये दोनों काव्य के बहिरंग अर्थात् शरीर पक्ष से संबंधित होते हैं। अतः काव्य के कलापक्ष के अंतर्गत ही वास्तव में इनका समावेश हो जाता है। परंतु अध्ययन की सुविधा के लिये इनका विचार स्वतंत्र अध्याय में किया जा रहा है। आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषाशैली और छंदों के विवेचन का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

भाषाशैली :

काव्य के अध्ययन के प्रसंग में कवियों की भाषा का वैज्ञानिक अथवा व्याकरणिक अध्ययन अपेक्षित नहीं, वरन् कवियों के द्वारा प्रयुक्त भाषा का शैलीगत विश्लेषण ही यहाँ वांछनीय है, क्योंकि इन कवियों की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन एक स्वतंत्र विषय है और एक अध्याय में उसके प्रति न्याय भी नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इन बहुसंख्यक कवियों का साहित्यिक, सांस्कृतिक दृष्टि से जो विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है वह स्वयं ही पर्याप्त विस्तृत है। अतः इस प्रसंग में उनके द्वारा प्रयुक्त भाषाशैली का ही विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

शैली का संबंध मुख्यतः भाषा से रहता है और भाषा का आधार शब्द है। शब्दों का समुचित एवं युक्तिसंगत प्रयोग ही शैली की मुख्य विशेषता होती है। भाषाशैली के अंतर्गत भावों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त शब्दावली का विशेष महत्व रहता है अतः सर्वप्रथम आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली पर विशेष विचार किया जायगा। इस प्रसंग में इन कवियों की भाषा के स्थूल स्वरूप का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। अतः शब्दावली के विवेचन के पूर्व भाषा के स्वरूप का सामान्य निर्देशन मात्र किया जायगा।

भाषा का स्थूल स्वरूप :

आलोच्य कवियों में अधिकांश की भाषा ब्रजभाषा ही है। ये कवि समस्त भारत में भ्रमण करते थे। अतः विभिन्न प्रांतों के व्यक्तियों के संपर्क में

आ जाने से इनकी भाषा पर अनेक भाषाओं का प्रयत्न या अप्रयत्न प्रभाव स्वाभाविक रीति से हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कवि की अपनी मातृ-भाषा का प्रभाव भी जाने अनजाने उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा पर हुआ है। कभी कभी जानबूझ कर किसी विशेष प्रसंग पर किसी विशेष भाषा के शब्द-प्रयोग भी इनके द्वारा किए गए हैं। मुसलमान शासकों अथवा श्रोताओं की सुविधा के लिये अरबी तथा फारसी शब्दों के प्रयोग भी कुछ कवियों ने बहुलता से किए हैं। भूषण की कविता में ऐसे प्रयोग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। आलोच्य कवियों में भाषा की दृष्टि से दो वर्ग किए जा सकते हैं। एक वर्ग में वे सभी कवि अंतर्भूत हो जाते हैं जिनकी भाषा प्रमुख रूप से ब्रज रही, यद्यपि उसपर अन्य भाषाओं का प्रभाव भी विद्यमान दिखाई देता है। दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं जिनकी भाषा का ढाँचा तो ब्रज का है परंतु वह दक्खिनी हिंदी से अधिक प्रभावित है और उसमें खड़ी बोली के कई रूप विद्यमान हैं। प्रथम वर्ग के अंतर्गत चिंतामणि, भूषण, नृपशंभु, कविकलस, लोकमणि, सीताराम, संकर, सुकवि आदि कवियों की रचनाओं का समावेश हो जाता है और द्वितीय के अंतर्गत जयराम, शाहराज, तुकाराम, रामदास, देवनाथ, प्रभाकर, रामजोशी, अनंतफंदी, सगनभाऊ आदि की रचनाओं का समावेश हो जाता है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा में अनेक भाषाओं के शब्द सहज रूप में सम्मिलित हो जाने से एक बहुविध रंगावली की आभा का सौंदर्य भी सहजता से निर्माण हुआ है।

शब्दावली :

आलोच्य कवियों में अधिकांश की वृत्ति उदार और दृष्टि विशाल थी। इन्होंने अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये न केवल ब्रजभाषा के शब्दों का ही प्रयोग किया बल्कि उन्होंने अरबी, फारसी, तुर्की, मराठी आदि भाषाओं से भी प्रचुरता से शब्द ग्रहण किए हैं। संस्कृत के तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग दृष्टिगत होता है। इन कवियों ने अनेक स्थलों पर दूसरी भाषाओं के शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण न कर उन्हें ब्रज-भाषा के अनुकूल संस्कारित एवम् परिवर्तित कर स्वीकार किया है। आलोच्य कवियों की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली के स्वरूप को जानने के लिये उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्द :

चिंतामणि, भूषण, जयराम, लोकमणि, सीताराम, नृपशंभु आदि कवियों को संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान था। नृपशंभु और जयराम ने तो हिंदी के

अतिरिक्त संस्कृत भाषा में भी काव्यग्रंथों का प्रणयन किया है। चिंतामणि, लोकमणि, सीताराम, भूषण आदि ने संस्कृत के काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था और इसी के परिणामस्वरूप इन्होंने हिंदी में लक्षण ग्रंथों का सृजन किया। अतः इन कवियों की हिंदी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों का न्यूनाधिक मात्रा में आगमन अत्यंत स्वाभाविक है। सामान्यतः मंगलाचरण, देवताओं की प्रशस्ति अथवा अन्य विशेष प्रसंगों में संस्कृत की तत्सम शब्दावली के विशेष प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंदों में प्रयुक्त शब्दावली देखिए—

(१) सजल स्याम घन रंग अंग उद्दाम प्रभामय।
ललित पीत परिधान मनहुँ चमकत चपलामय।
संख चक्र गुरु गदा कमल कर कवल विराजत।
मनिमय कनक किरीट हार अंगद छबि छाजत।
मुसक्यात विमल कन चंद्रिका रहत कितहिं संताप दव।
बास मैं बहुरि ब्रह्मा लखे बाल बच्छगन विश्नु से सब ॥[1]

(२) प्रफुल्लि कुंज कलिका रसाल मंजु मल्लिका,
तमाल पुंज वल्लिका अलिंद गुंज रंत की।
प्रवाह गंध वाह को उमा हरैन नाह को
गुनाह मैन दाह को सलाह राह संत की॥
दुहू दुहूक लोलती तुहू विलोक लोलती,
कहू कुहून बोलती पिकी सखी इ कंत की।
तजो गुमान मानिनी अमंद चंद आननी,
सजो गयंद गामिनी अगामिनी वसंत की॥[2]

(३) सिंह सर्प सब मंत्र बस, जिनै मैं कछू न ज्ञान।
चेतन इंद्रिय पंच नर, मंत्र न मारत जान॥
जैसे निर्धन विप्र तिय, करत पुरुष की आस।
मिले हर्ष अनमिल दुखी, सब गुण निगुण प्रकास॥[3]

---

१. चिंतामणि कृत कृष्णविलास, २।५० ।
२. लोकमणि कृत नवरसरंग, ७।४४ ।
३. सीताराम कृत उक्तिविलास, २।१२१, १२६ ।

(४) पुष्कर बीज गजइंद्र पाय गह्यो नभचक्र।
वय मोचन अधचंद्र से आध गह्यो हरिचक्र ॥[१]

(५) जय रवि शशि नेत्र। जय राज राज मित्र ॥
जय नाम पवित्र। जय सुचरित्र ॥
जय मुनि कृत स्तोत्र। जय कर्पूरगात्र ॥
जय सदावास गात्र। जय सुंदर वस्त्र ॥[२]

इन उदाहरणों में प्रयुक्त सजल, घन, रंग, उद्दाम, प्रभामय, ललित, पीत, परिधान, चपला, चक्र, गुरु, गदा, कमल, कर, कनक, किरीट, हार, अंगद, विमल, चंद्रिका, संताप, ब्रह्मा, प्रफुल्ल, कुंज, कलिका, रसाल, मंजु, मल्लिका, तमाल, पुंज, अलिंद, प्रवाह, गंध, उमा, दाह, संत, विलोक, सखी, मानिनी, अमंद, गामिनी, वसंत, सिंह, सर्प, मंत्र, ज्ञान, चेतन, इंद्रिय, पंच, नर, निर्धन, विप्र, पुरुष, हर्ष, गुण, पुष्कर, गज इंद्र, नभचक्र, चंद्र, मोचन, जय, रवि, शशि, नेत्र, राजराज मित्र, नाम, पवित्र, चरित्र, मुनिकृत, स्तोत्र, कर्पूर, गात्र, गोत्र, सुंदर, वस्त्र आदि संस्कृत की तत्सम शब्दावली के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि इन कवियों का संस्कृत शब्दावली पर कितना अधिकार था। अंतिम छंद में संस्कृत के तत्सम शब्दों का इतना प्रयोग हुआ है कि वह छंद संस्कृत का ही जान पड़ता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों को देखकर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने संस्कृत शब्दावली का चयन अत्यंत कुशलता से किया है। इनमें संस्कृत के अप्रचलित तथा दुरूह शब्दों का आग्रह नहीं है प्रत्युत उच्चारण में सुलभ एवं प्रचलित संस्कृत शब्दों की ओर विशेष झुकाव दिखाई देता है। यह बात इन कवियों की समस्त रचनाओं में देखी जा सकती है।

संस्कृत के तत्सम शब्दों के अन्य प्रयोग :

आलोच्य कवियों ने जिन तत्सम शब्दों के प्रयोग अपनी रचनाओं के अंतर्गत किए हैं उनके स्वरूप तथा वर्गीकरण पर अनेक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। डॉ० प्रेमनारायण टंडन ने ब्रजभाषा में प्रयुक्त

---

१. जयराम कृत राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २५२।
२. शाहराज सुकवि कृत विश्वातीतविलास, पृष्ठ १।

संस्कृत के तत्सम शब्दों को व्यावहारिक, पारिभाषिक और भाषासमृद्धि द्योतक तत्सम शब्द इन तीन वर्गों में विभाजित किया है।[१] आलोच्य कवियों के काव्यग्रंथों में प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी इन तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। नित्य प्रतिदिन में जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिये अनेक शब्द व्यवहृत होते हैं। उसमें खानपान, वेशभूषा से लेकर सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त नित्य व्यवहार के सभी सामान्य शब्द आ सकते हैं। संस्कृत जैसी समृद्ध एवम् प्रतिष्ठाप्राप्त भाषा में व्यवहारोपयोगी ऐसे असंख्य शब्द विद्यमान हैं जो सरल तथा अर्थपूर्ण रहते हैं। इन कवियों ने संस्कृत के ऐसे शब्दों को निःसंकोच रीति से स्वीकार किया है। यह प्रवृत्ति न केवल आलोच्य कवियों में ही दृष्टिगत होती है अपितु तत्कालीन भारत की सभी नवोदित आर्यभाषाओं के कवियों में स्पष्टतः पाई जाती है। आलोच्य कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली में ऐसे असंख्य शब्द हैं जिनमें से उदाहरण-स्वरूप कुछ ये हैं—अखंड, अखिल, अगाध, अंग, अचल, अति, अतुल, अद्भुत, अधर, अध्याय, अध्वर, अनंग, अरविंद, किंकिणी, उल्लास, पुष्प, पुष्कर, पन्नग, त्रास, कल्पना, प्रतिष्ठा, प्रवाह, पंकज, भेषज, मुक्ताहल, ललाट, समाधान, संतोष, सुषमा, सौरभ, परिधान, किरीट, हार, चंद्रिका, कुंज, हर्ष, शोक, भय, शृंगार, वेणी, मंत्र, सिंह, सर्प, विघ्न, विप्र, रवि, शशि, नेत्र, मित्र, चरित्र, गज, हय, दीप, ज्योति, बासर, निशि, उद्यान, वाटिका आदि।

वर्णनात्मक तथा भावात्मक प्रसंगों के अतिरिक्त जहाँ शास्त्रीय तत्वों के विवेचन का प्रसंग आता है वहाँ कवियों को तत्सम पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग करने पड़े हैं। भक्त कवियों के काव्य में भी जहाँ दर्शनशास्त्र का विवेचन अथवा वर्णन आता है वहाँ भी पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं। काव्यशास्त्र के अंतर्गत जहाँ स्वीया, परकीया, मुग्धा, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, प्रगल्भा, धीरा, प्रौढ़ा, ज्येष्ठा, विप्रलब्धा आदि शब्दावली का प्रयोग दिखाई देता है वहाँ दर्शनशास्त्र के प्रसंग में ज्ञान, उपाधि, पिंगला, मिथ्यावाद, माया, भक्ति, परमानंद, ब्रह्म, पारलौकिक, अध्यात्म आदि शब्दावली भी दृष्टिगत होती है। कहीं कहीं ऐसे भी शब्दप्रयोग हैं जो व्युत्पन्नमति, कलामर्मज्ञ और सहृदय पाठक के रसास्वादन के हेतु ही

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण की रूपरेखा, डॉ० प्रेमनारायण टंडन, (प्रथम संस्करण, १९६२), पृष्ठ १८।

प्रयुक्त किए हैं। ऐसे शब्दप्रयोग नखशिख वर्णन के अंतर्गत देखे जा सकते हैं। भाषा की समृद्धि में ऐसे शब्दों का महत्वपूर्ण योग है।

ब्रजभाषा के व्यासप्रधान होने के कारण उसमें संस्कृत की भाँति संधियोजना प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होती। इसमें जो संधियुक्त तत्सम शब्द मिलते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो यौगिक रूप में ही संस्कृत से ग्रहण कर लिए गए हैं और संस्कृत के व्याकरण के ही नियमों से बाधित हैं।[1] आलोच्य कवियों की रचनाओं में भी संस्कृत के तत्सम संधिप्रयोग यत्र तत्र प्राप्त होते हैं, जैसे— कुसुमांजलि, कुसुमायुध, गजेंद्र, नरेंद्र, सुरेंद्र, मुखारविंद, पीतांबर, गोपांगना, महोत्सव, दुर्जन, निर्मल। इसके अतिरिक्त कुछ सामासिक शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—कमलनयन, दीनबंधु, भक्तवत्सल, भवपंथ, अलिकुल, पापतरु, द्विरदमुख, मतिमंद, जगदीश आदि। इस प्रकार आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत आवश्यकतानुसार संस्कृत के तत्सम शब्दों, संधिप्रयोगों तथा सामासिक शब्दों को ग्रहण कर अपना शब्दभांडार अधिक समृद्ध किया है। यद्यपि अपवाद स्वरूप दो चार प्रचलित एवम् कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता भी है फिर भी अधिकांश रूप में इन कवियों ने ऐसी ही संस्कृत शब्दावली को ग्रहण किया है जो सहजगम्य, सरल, प्रचलित एवम् उच्चारण के लिये सुलभ है।

इनमें से अधिकांश कवि संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अतः संस्कृत के शब्दों के चयन में इन्हें अधिक कठिनता नहीं हुई। समस्त रचनाओं को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने सप्रयास इनकी योजना नहीं की थी प्रत्युत विषय, प्रसंग, भाव, रस आदि के अनुरूप ऐसे तत्सम शब्द भावावेश में संभवतः अनायास ही आए हैं। तभी तो इनकी भाषा में कृत्रिमता, शिथिलता तथा आडंबर आदि के दर्शन नहीं होते। इन शब्द-प्रयोगों से इनकी भाषा का सौंदर्य अधिक ही निखर उठा है।

संस्कृत के अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द :

संस्कृत के जो शब्द उच्चारण की दृष्टि से कठिन प्रतीत होते थे अथवा जिनमें कर्कश ध्वनियाँ थीं, ऐसे शब्दों को इन कवियों ने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल परिवर्तित कर दिया है। ऐसे अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण की रूपरेखा, डॉ० प्रेमनारायण टंडन, (प्रथम संस्करण), १९६२ ई० पृ० १६।

आलोच्य कवियों की रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। इन शब्दों के रूप आगम, लोप, विपर्यय, विकार आदि के आधार पर बने हुए हैं। अधिकांश कवियों ने संस्कृत के कठोर एवम् क्लिष्ट शब्दों के अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों का प्रयोग कर भाषा में माधुर्य एवम् प्रवाह लाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि कहीं कहीं एक ही शब्द के तत्सम तथा तद्भव दोनों रूप भी दृष्टिगोचर होते हैं परंतु ऐसे शब्दों के प्रयोग तुलनात्मक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में संस्कृत के अर्द्धतत्सम तथा तद्भव शब्दों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(१) पद पदम् पत्र सम चरन जंघ जिमि करभ कर।
नाभी ललित गभीर ऊदर लंवित विसाल वर॥
उर दीरघ अति मंजु चारि कर देत चारि फल।
एक दंत अरु सुंड लषत हरि जात सकल मल॥
अति नैन चारु ढीली पलक श्रवन सीस छवि सों मढत।
ग्यान होत अग्यान के सो गुन नायक के गुन पढत॥[१]

(२) सपत नगेश आठौं ककुभ गजेस कोल
कच्छप नगेस धरैं धरनि अखंड कौं।
पापी घालै धरम सुपथ चालै मारतंड
करतार प्रतिपालै प्रानिन के चंड कौं।
भूषन भनत महाराज सिवराज सुनौ
म्लेच्छन को मारे किल करिकै घमंड कौं।
जग काजवारे निहचिंत करि डारे सब
भोर देत आसिष तिहारे भुजदंड कौ॥[२]

---

१. नृपशंभु कृत नखसिख, काशी नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति, छं० १।

२. भूषण (ग्रंथावली), संपादक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), पृष्ठ १४६।

(३) रति उतकंठा प्रानपति, जानै पै चित चाह।
पिय की मुंदरी आपनी, राखी अँगुरी माह॥
अन्य उकुति सों जो तिया, कोप प्रकासित होइ।
है यह अति बुधिमंत मत, मध्य अधीरा सोइ॥[1]

(४) भादों की भयानक निसा में तू निसंक आइ,
जामें निसाचर अति भय को धरत ये।
तिमिर में जोर जो दमकि हारी दामिनी,
यों तें न हारी बाम रहीं साहस करत ए।
मारग में उरग को भय नहीं लायो नेकु,
उर अब कहा यों थहरि के डरत ए॥
कहे हिंदू पातसाह साचु कहि मृग नैनी
मेरे परसें क्यों मनु लाज सों भरत ए॥[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त पदम, चरन, गभीर, बिलास, दीरघ, मुंड, लछन, नैन, श्रवन, सीस, ग्यान, अग्यान, गुन, मरत, नगेस, नरेस, परबति, धरम, मारतंड, करतार, प्रान, भूषन, सिवराज, काज, निसदिन, भोर, मद, उतकंठा, प्रानपति, पिय, मुँदरी, अँगुरी, उकुति, तिया, प्रकासित, बुधिमंत, निसा, निसंक, निसाचर, बाम, मारग, परस, लाज आदि अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द क्रमशः संस्कृत के पद्म, चरण, गंभीर, विलास, दीर्घ, मुंड, लक्षण, नयन, श्रवण, शीर्ष, ज्ञान, अज्ञान, गुण, [illegible], नगेश, नरेश, पार्वति, धर्म, मार्तंड, कर्तृ, प्राण, भूषण, शिवराज, कार्य, निशिदिन, [illegible], मद, उत्कंठा, प्राणपति, प्रिय, मुद्रिका, अंगुलि, उक्ति, स्त्री, प्रकाशित, बुद्धिमंत, निशा, निःशंक, निशाचर, वाम, मार्ग, स्पर्श, लज्जा इन तत्सम शब्दों के रूप हैं।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त आलोच्य कवियों की रचनाओं में संस्कृत के अर्द्धतत्सम तथा तद्भव अनेक शब्द प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ शब्द हैं—

---

१. चिंतामणि द्वारा संपादित [illegible], पृष्ठ [illegible]।
२. [illegible] नृपति कृत साहित्यसार [illegible]।

पिय, मिरच, तिरलोक, दर्छन, रछन, अगिन, अम्रित, किरपा, जन्म, सुभाइ, लछन, लछमी, बैद, परजंक, परवीन, परताप, नगन, रतन, परजा, मरजादा, रिषी, रितु, करम, समर, अंधियारी, गयंद, पूनम, चंद, कीरत, दाप, पावस, बच्छ, बैन, पौरी, गाजत, औटि, सोक, जनम, मरन, संभु, असवार, तीरथ आदि। प्रसंगानुकूल तथा आवश्यकतानुसार इन कवियों ने संस्कृत के क्लिष्ट, कठिन तथा उच्चारण में दुरूह शब्दों में परिवर्तन कर अपनी रचनाओं की भाषा के माधुर्य की रक्षा की है।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द :

यह सर्वमान्य तथ्य है कि हिंदी भाषा अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। अतः इसके अंतर्गत अपभ्रंश के शब्दों का समावेश एक स्वाभाविक बात है। आलोच्य कवियों की लगभग समस्त रचनाओं में न्यूनाधिक परिमाण में अपभ्रंश के साथ प्राकृत तथा पाली के शब्द तत्सम रूप में प्राप्त होते हैं। ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल जिन शब्दों में ध्वनियाँ मिलती थीं उनका ही विशेषतः प्रयोग मिलता है। कहीं कहीं कवियों ने प्रास, लय अथवा अन्य किसी कारण से इनके मूल शब्दों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया है। चिंतामणि, भूषण जैसे कवियों ने तो वीर रस के प्रसंग में और विशेषतः अमृतध्वनि छंद के समय अपभ्रंश की पद्धति पर कुछ शब्दों को स्वयम् ढाल दिया है पर इन शब्दों के औचित्यपूर्ण प्रयोग कर अपनी रचनाओं के भावों में सौंदर्य एवम् तीव्रता लाने का प्रयत्न इन सभी कवियों ने किया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंदों में प्रयुक्त शब्दावली को देखिए—

(१) अग्ग ही समग्ग आनि लागत कै कोप।
दुग्ग दुग्ग दल सत्तन उदग्ग गिरि देह सों॥[1]

(२) नाह जु नाहर लागतु है कछु चोसन में उनमान लयौ।
भयो भीत सुभावहि लाल घटे, दिनहू दिन ज्यों उन नेह वयौ॥[2]

(३) भाखा कानन केहरी तब कवि केहरि नाम।
एक ठौर नृप साहे को वरनो गुन जस धाम॥[3]

---

१. रस विलास, ८-४२।
२. कविकुलकल्पतरु, ३।१८८।
३. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २४८।

(४) भूपन चढत मरहट्ठ चित्त चाउ चारु ।
खग्ग खुलि चढ़त है अरिन के अंग में ।[1]

(५) चिकन चिहुर सौरभ सने, दै अंबर की धूप ।[2]
हसन दसन बिज्जु लसन असन चमक दुति पाइ ।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त अग्ग, समग्ग, दुग्ग, उदग्ग, नाह, नाहर, नेह, केहरी, माखा, जस, मरहट्ठ, खग्ग, चिहुर, बिज्जु इन अविकृत शब्दों के अतिरिक्त ऐसे कई शब्दों के प्रयोग भी प्राप्त होते हैं जिनमें आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन भी किए गए हैं। कई स्थानों पर कवियों ने स्वयम् ऐसे शब्दों को गढ लिया है जो अपभ्रंश के से लगते हैं। काव्य में चमत्कृति लाने अथवा विशेष रस या भाव व्यक्त करने की इच्छा से संभवतः इन्होंने ऐसे शब्दों को गढ़ लिया है। ऐसे शब्दों को निम्नलिखित उदाहरणों में देखा जा सकता है——

(१) अज्जिय रिपु तिय मज्जिय विपति धरिज्जिय धीरिजन ।[4]
दौरत्त वहर दुद्द दुवल बल दुंदुभ लद्द द्विरद के ।
कृत्ति तरद उद्धत भैरव आविःकृत रौख भुक्के ॥

(२) विभ्रम भ्रमरिसि भिल्लिय जल मह
दुल्लिय तजितजि चल्लिय जित तित[5] ।

(३) वंकक्करि अति डंकक्करि अस संकक्करि खल ।
सोचच्चकित भरोचच्चलिय विमोचच्चख चल ।
तट्टट्टइ मन कट्ट ट्टिक सो रट्ठट्टिल्लिय ।
सद्दद्दिसि दिसि मद्दद्दवि भइ रद्दद्दिल्लिय ॥[6]

---

१. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ १४६ ।
२ उक्तिविलास, ३।३१ ।
३ वही, ३।२६ ।
४. रसविलास, ८।५२ ।
५. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २७०
६. भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ १६० ।

विदेशी भाषाओं के शब्द :

विदेशी भाषाओं से तात्पर्य अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषाओं से है जिनका प्रचार आलोच्य कवियों के काल विशेष रूप में था। विदेशी अर्थात् मुसलमान शासकों का ज्यों ज्यों प्रभाव बढ़ता गया त्यों त्यों उनकी भाषा से भारत की जनता का संपर्क अधिकाधिक बढ़ने लगा। लगभग समस्त भारत में इनका आधिपत्य हुआ था। फलस्वरूप इन शासकों की भाषा के दैनंदिन व्यवहार के अनेक शब्द केवल हिंदी ही नहीं प्रत्युत समस्त भारत की प्रांतीय भाषाओं में सहजरूप में समाविष्ट हुए। आर्यभाषा के बहिरंग क्षेत्र के पश्चिमी छोर पर स्थित तत्कालीन महाराष्ट्र की मराठी भाषा में भी अरबी, फारसी शब्दों की बहुलता विद्यमान थी। यहाँकी सामान्य जनता तक अरबी, फारसी शब्दों के प्रयोग नित्य व्यवहारों में करती थी। आलोच्य कवियों को तत्कालीन महाराष्ट्र की जनता की इस स्थिति का अवश्य ज्ञान था।

इन कवियों की रचनाओं में विदेशी शब्दों के प्रयोग मुख्यतः दो कारणों से हुए हैं। एक कारण तो यह हो सकता है कि ये कवि भारत के विभिन्न प्रांतों में आश्रयार्थ अथवा अन्य कारण से भ्रमण करते थे। अनेक हिंदू आश्रयदाताओं के अतिरिक्त मुसलमानों के आश्रय में भी रहे। अतः संभव है कि उनके संपर्क से कई अरबी, फारसी शब्दों को अनायास ही उन्होंने ग्रहण किया होगा। दूसरा कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन महाराष्ट्र की जनता में दक्षिण के मुसलमान सुलतान शासकों के संपर्क से अरबी, फारसी आदि का जो प्रभाव विद्यमान था उसका विचार कर इन कवियों ने संभवतः यहाँकी जनता के सुभीते के विचार से हेतुपूर्वक इन विदेशी शब्दों का प्रयोग किया। यहाँकी जनता इन कवियों के काव्य को समझ सकती थी, तभी तो इन कवियों को महाराष्ट्र जैसे अहिंदी प्रदेश के शासकों के पास आश्रय प्राप्त हुआ था। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हो सकते हैं। आलोच्य कविवों में चिंतामणि, संकर सुकवि, लोकमणि, कविकलस, सीताराम आदि की रचनाओं में विदेशी शब्दों का प्रभाव उतनी अधिक मात्रा में नहीं दिखाई देता जितना कि भूषण, नृपशंभु, जयराम, शाहराज़, तुकाराम, रामदास, देवनाथ आदि कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है। इन कवियों की भाषा में अरबी, फारसी तथा तुर्की शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। कहीं कहीं कवियों ने निरंकुश वृत्ति से इन शब्दों को अपने इच्छानुकूल तोड़ मरोड़ भी लिया है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त विदेशी अर्थात्

अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों के उदाहरण क्रम से देना अवांछनीय न होगा।

अरबी के शब्द :

भारत और अरब का संबंध अत्यंत प्राचीन है। भारतीय विद्वानों के अरब में पहुँचने और कुछ संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करने के उल्लेख आठवीं शताब्दी से प्राप्त होते हैं। सन् ९३ हिजरी में मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण करके मुलतान से कच्छ तक और उधर मालवे की सीमा तक अधिकार कर लिया था।[१] इस प्रकार लगभग संपूर्ण सिंधु प्रदेश उसके अधिकार में आ गया था। इस साम्राज्य के मुलतान और मनुसुरा (सिंध) के प्रदेशों पर अरबों का अधिकार सुलतान महमूद की चढ़ाई तक बना रहा।[२] इन तीन चार सौ वर्षों के संपर्क के परिणामस्वरूप भारतीयों का कुछ अरबी शब्दों से अवश्य परिचय हुआ था। परंतु यह प्रभाव सिंध अथवा उसके आसपास के प्रदेशों तक ही सीमित रहा। आलोच्य कवियों की रचनाओं में अरबी के तत्सम तथा तद्भव दोनों प्रकार के शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें से अधिकांश शब्द सीधे अरबी से न आकर फारसी होते हुए आए हैं। सुदूर महाराष्ट्र में सीधे अरबी का संबंध उतना संभव नहीं जितना फारसी का था। इन कवियों की भाषा में अरबी के तत्सम शब्द अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त हुए हैं। तत्सम की अपेक्षा अर्द्धतत्सम या तद्भव शब्द ही अधिक मात्रा में मिलते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में प्रयुक्त अरबी के शब्द द्रष्टव्य है—

(१) नैन चोपदार दौरि दूरि तें अदब करें।[३]

(२) संभराज छवि उमरायन की भीर भारी ···।[४]

(३) ··· उजागर जहाज उतरात हैं।[५]

(४) खलक में हलका खुलत ··· ··· ।[६]

---

१. अरब और भारत के संबंध, स्व० रामचंद्र वर्मा द्वारा अनुवादित (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १४।

२. वही, पृष्ठ २४७।

३. नखसिख छंद, १३५।

४. वही, छंद, १३२।

५. नवरसरंग, २।१५।

६. रसविलास, ८।२५।

(५) साहब सुमेर साहिजू सों ......।[1]

(६) दानव आयौ दगा करि जावली दीह...।[2]

(७) कौन कहुं अब तेरे मुकाबल ...।[3]

(८) देव सिर ताज : गरीब नवाज ... ...।[4]

उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणों में प्रयुक्त अदब तथा ताज ये शब्द अरबी के तत्सम शब्द हैं और उमराय, जहाज, खलक, हलका साहब, दगा, मुकाबल, गरीब ये शब्द क्रमशः अरबी के उमरा, जहाज, खलक, हलका, साहिब, दगा, मुकाबिल, गरीब—इन तत्सम शब्दों के अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूप हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त सभी कवियों की समस्त रचनाओं में अरबी के अनेक शब्द प्राप्त होते हैं। उन सभी को उदाहरण सहित उद्धृत करना वांछनीय न होगा, इसलिये उदाहरण स्वरूप कुछ शब्दों का निर्देश मात्र किया जाता है। हमारे कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त अरबी के कुछ शब्द इस प्रकार हैं, जैसे—बजाज, जालिम, गरूर, गुलाम, कसाई, कौल, जेल, कुलुफ, मेहराब, मुकाम, अकल, अशराफ, खबर, कागज, खरच, खाली, खयाल, गरज, डफ, जबाब, लायक, तलफ, अलम, फौज, तमाँम, फिकिर, आदि जो क्रमशः बजाज, जालिम, गरूर, गुलाम, कसाई, कौल, जेल, कुफ्ल, मिहिराब, मुकाम, अक्ल, अशराफ, खबर, कागज, खर्च, खाली, खयाल, गरज, दफ, जवाब, लायक, तलफ, आलम, फौज, तमाम, फिक्र—इन अरबी शब्दों के अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूप हैं। आलोच्य कवियों ने व्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल अरबी के मूल शब्दों में परिवर्तन कर विदेशी शब्दों को व्रजभाषा हिंदी का रूप प्रदान किया है। अरबी वर्णमाला की क, ख, ग, ज, फ जैसी कुछ ध्वनियाँ जो उच्चारण में कठिन प्रतीत होती थी उनके नीचे के बिंदु हटाकर उन्हें हिंदी के अनुरूप बना दिया है। कहीं कहीं तालव्य, उष्म ध्वनि के स्थान पर दंत्य, मात्राओं की घटाबढ़ी, स्वरभक्ति आदि के द्वारा जहाँ जैसा बन पड़े वैसा परिवर्तन कर इन कवियों ने विदेशी शब्दों को अपनी भाषा के अनुकूल ढाल दिया है।

---

१. शाहविलास, ४।६८।

२. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ १६६।

३. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २४७।

४. विश्वातीतविलास, पृष्ठ २।

फारसी के शब्द :

अरबी की अपेक्षा फारसी के शब्द इन कवियों की रचनाओं में अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। ये शब्द तत्सम; अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूपों में मिलते हैं। फारसी के जो शब्द अधिक सरल एवं ब्रजभाषा में समाविष्ट होने योग्य थे, उन्हें तत्सम रूप में ही स्वीकार किया गया है और जो शब्द उच्चारण की दृष्टि से सुगम प्रतीत नहीं हुए उनमें ब्रजभाषा हिंदी की प्रकृति के अनुसार परिवर्तन किया गया है। भूषण जैसे कवि ने कहीं कहीं फारसी के मूल शब्दों में परिवर्तन करते समय किसी प्रकार के नियमों का पालन न करते हुए मनमाना रूप बना दिया है, जैसे औसान से अवसान, ऐलान से इलाम, पेशानी से पिसानी, कलक से कलकान आदि। ऐसे अनियम परिवर्तन भूषण के अतिरिक्त तुकाराम, रामदास, जयराम, प्रभाकर, अनंतफंदी आदि कवियों की रचनाओं में भी यत्रतत्र दृष्टिगत होता है। अरबी की भाँति फारसी में भी जो ध्वनियाँ हिंदी के लिये नई थीं उनमें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल करने के लिये नीचे के नुक्तों को हटा दिया है। आलोच्य कवियों में सभी की रचनाओं में न्यूनाधिक परिमाण में फारसी शब्दों के प्रयोग अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में फारसी शब्दों के प्रयोग देखे जा सकते हैं।

(१) भजन भरोसे मगन नित सीताराम अराम
  राम खजाना प्रगट धन फिकिर नहीं है दाम ॥[1]

(२) माला मकरंद का फर्जंद यो।
  है खुदा का वली साहि सर्जा वली ॥[2]

(३) मर्द सुखलाल देखे जर्द मुख...।[3]

(४) भाषा में रसमंजरी ताते करतु जहान।
  जाते रीझै सुनत ही भूपति साहि खुमान ॥[4]

---

१. उक्तिविलास, ११९६
२. राधामाधव विलास चंपू, पृष्ठ २४७
३. वही, पृष्ठ २९६
४. शाहविलास ११९।

(५) दूरि ही तें डीठि देके रहे हिंदू पातसाह

(६) मेहर करो निशि दिन मुझ पर।[२]

(७) छकी छबीली मोह मद प्रिय प्रेम गुमान

(८) पीर दस्तगीर ये जाहिर आजमति एक।[४]

(९) तकिया तोषक नरम न्याहली कछु नहीं लागत प्यारी।[५]

(१०) सहजहि रागपर जावत लगायो दाग।[६]

इन उदाहरणों में फारसी के तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव—इन तीनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों में दाम, आराम, गुमान, पीर, मर्द, दस्तगीर ये फारसी के तत्सम शब्द हैं और फर्जंद, खुदा, साहि, जर्द, जहान, पातसाह, मेहर, तकिया, नरम, न्याहली तथा दाग ये शब्द फारसी के तत्सम—फर्ज़ंद, ख़ुदा, शाही, ज़र्द, जहाँ, पातशाह, मेह्र, तक़िया, नर्म, निहाली और दाग़—शब्दों के अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूप हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त ऐसे अनेक फारसी शब्द इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं जिनकी सूची अति दीर्घ बन सकती है। उदाहरण के लिये उनमें से कुछ शब्द देखिए; जैसे—गुलाब, सुलुफ, फानूस, जंग, आब, महताब, चोबदार, दुश्मन, दिल, शाम, गुल, गुलबदन, नेवाज, निसान, जादू, लाल, कूच, बुलंद, हजारन, प्याले, गरद, इकबाल, दगाबाज, फीलखाना, पलंगखाना, वजीरखाना, कमान, चंग, दरबार, राह, आवाज, असवार, दरजी, सोर, ताज, ज्वानी, दरद, जहर, खाक, आखिर, आदि। फारसी पर अरबी का प्रभाव होने से अरबी के कई शब्द तत्सम अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूप में फारसी में विद्यमान थे। इन कवियों ने अधिकांश अरबी शब्द फारसी के द्वारा जाने अनजाने अपनी रचनाओं में प्रयुक्त किए हैं। अतः इनके द्वारा

---

१. शाहविलास, ८।२२७।
२. विश्वातीतविलास पृ० ३।
३. कृष्णचरित्र, ११।७०।
४. शृंगारमंजरी, पृ० ४।
५. देवनाथ महाराज के हिंदी पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२९ से उद्धृत)।
६. नृपशंभु कृत नखशिख, संपा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', (सन् १८९३ ई०), पृ० १।

प्रयुक्त अरबी तथा फारसी शब्द एक दूसरे में इतने घुलमिल गए हैं कि उनको विभक्त करना अपने आप में कठिन है। अनेक स्थलों पर अरबी और फारसी के शब्दों का संयोग कर नए शब्द भी बन गए हैं, जैसे वजीरखाना, गरीबनेवाज, साहिसाहब, जालसाज, दवाखाना आदि। भूषण की रचनाओं में अरबी फारसी शब्दों की प्रचुरता दर्शनीय है, देखिए—

हैबत ही फीलखाने पिलुआ पलंगखाने,
आफत वजीरखाने फाका मोदखाने में।
हुंगवा हरमखाने दारिद दरबखाने,
खाक मालखाने औ खबीस खसखाने में।
सरदी बारूदखाने फसली सिपाहखाने,
घुर्रा बाजखाने और सुस्ती जंगखाने में।
भूषन किताबखाने दीमक दिवानखाने,
खाने खाने आफत ना, वाज तोपखाने में ॥[1]

तुर्की के शब्द :

विवेच्य कवियों की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों के अतिरिक्त तुर्की के शब्द भी यत्रतत्र प्राप्त होते हैं। प्रतीत होता है कि अरबी की भाँति तुर्की के शब्द भी इन कवियों की रचना में सीधे न आकर फारसी से होते हुए आए होंगे क्योंकि तुर्की भाषा का भारतवासियों के साथ घनिष्ठ संबंध कभी नहीं रहा। अरबी और फारसी शब्दों की तुलना में तुर्की शब्दों का प्रयोग अत्यधिक न्यूनता से हुआ है। जिन दो चार शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं उनमें अधिकांश अर्द्धतत्सम तथा तद्भव शब्द ही हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में प्रयुक्त तुर्की शब्द द्रष्टव्य हैं—

(१) कलँगा को दल जौन है दुरंग लाली को।[2]
(२) भाले मरहट्टन के ताले तुरकन के।[3]
(३) खाने खाने आफत ना, वाज तोप खाने में।[4]

---

१. भूषण (ग्रंथावली), पृ० २२६।
२. नृपशंभु कृत नखसिख, संपा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पृ० १।
३. भूषण ग्रंथावली, पृ० २२७।
४. वही, पृ० २२६।

(४) तकिया तोषक नरम न्याहली कछु नहीं लागत प्यारी ।[1]

इन उदाहरणों में प्रयुक्त कलँगा, तुरक, तोप तथा तोषक—ये शब्द तुर्की भाषा के हैं। इनमें तोप और तोषक ये शब्द तत्सम हैं और कलँगा तथा तुरक ये शब्द क्रमशः कलँगः और तुर्क इन तुर्की शब्दों के तद्भव रूप हैं।[2] इन शब्दों के अतिरिक्त चिक, लाश, काबू आदि तुर्की शब्दों के प्रयोग यत्रतत्र मिलते हैं।

इस प्रकार विवेच्य कवियों की रचनाओं में न्यूनाधिक परिमाण में विदेशी भाषा के अरबी, फारसी तथा तुर्की के तत्सम तथा तद्भव दोनों शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

दक्खिनी हिंदी के शब्द :

आलोच्य कवियों में विशेषतः जो अहिंदीभाषी कवि हैं उनकी भाषा में दक्खिनी हिंदी के अनेक शब्द प्राप्त होते हैं। इन कवियों का संबंध दक्खिन के मुसलमानी राज्यों से जितना रहा उतना उत्तर के राज्यों से नहीं। अतः स्वाभाविक रूप से इनकी भाषा में दक्खिनी के शब्द मिल जाते हैं। जो हिंदीभाषी कवि दक्षिण में अर्थात् भोंसला राजाओं के पास आश्रयार्थ रहे उनकी रचनाओं पर भी दक्खिनी का प्रभाव अवश्य रहा परंतु अत्यल्प मात्रा में। दक्खिनी हिंदी के अधिकांश शब्द जयराम, तुकाराम, रामदास, देवनाथ, शाहराज, प्रभाकर, सगनभाऊ, अनंतफंदी, होनाजी आदि अहिंदीभाषी कवियों की रचनाओं में ही दृष्टिगोचर होते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में प्रयुक्त दक्खिनी हिंदी के शब्द द्रष्टव्य हैं।

(१) हातिन के पाय तोर रोदी डारे ।[3]

(२) ·······तुज मों तरत मन हेरो ।[4]

(३) ·······प्रीति को ले न लगायो हात ।[5]

---

१. देवनाथ महाराज के पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२५ से उद्धृत)।

२. हिंदी भाषा, श्यामसुंदरदास, (१९५४), पृ० ६१।

३. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५६।

४. वही, पृ० २५४।

५. वही, पृष्ठ २५४।

(४) ......खड़ा अपने सात ।[१]

(५) तुका सुचित जब मिले, तब तन थंडा होय ।[२]

(६) देहरा तुटेगा मशीदी फुटेगा....।[३]

(७) ....अब धुंडत हूँ नहिं पाते ।[४]

(८) पल चन जुग से मोहे भावत......।[५]

(९) लूट लिया मुजकू कहे उठ जारी ।[६]

इन उदाहरणों में प्रयुक्त हातिन, तुज, हात, सात, थंडा, तुटेगा, धुंडत, चन, मुजकू—ये शब्द दक्खिनी हिंदी से लिए गए हैं। उत्तर भारत की बोल-चाल में जहाँ एक ही शब्द में दो मूर्धन्य ध्वनियाँ पास पास के अक्षरों में आती हैं, वहाँ दक्खिनी हिंदी में पहली के स्थान में दंत्य ध्वनि आ जाती है।[७] इन कवियों की भाषा में इस नियम के अनुसार टूटना, टंटा, ठंडा, ढूँढना के स्थान पर तुटना, तंटा, थंडा, धुंडना आदि शब्द प्राप्त होते हैं। दक्खिनी हिंदी में महाप्राण ध्वनियाँ बहुधा अल्पप्राण में मिलती हैं। अपवाद स्वरूप कहीं कहीं अल्पप्राण व्यंजनों के महाप्राण हो जाने के उदाहरण भी मिल जाते हैं।[८] आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त देक, पिगलना, कुच, चन, समजना, मुजे, तुजे, मिटाई, पडना, हाती, हात, साती, सात, सुकाना, जीव आदि शब्दों में महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियाँ मिल जाती हैं। इसी प्रकार फत्तर, फखवाज, फंखडी आदि में अपवादात्मक परि-वर्तन भी पाया जाता है जिससे अल्पप्राण ध्वनियों के स्थान पर महाप्राण ध्वनियों की योजना हो जाती है। दक्खिनी हिंदी का यह प्रभाव केवल शब्दों

---

१. संत तुकाराम, हरि रामचंद्र दिवेकर, (सन् १६३७ ई०), पृ० १५६।
२. वही, पृष्ठ १५८।
३. श्रीसमर्थ रामदास के पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृष्ठ २४४ से)।
४. देवनाथ महाराज के पद (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४१७ से)।
५. राधाबनसीधर विलास, पृ० २७।
६. प्रभाकर की लावनी, (श्री०य०न०केलकर के हस्तलिखित संग्रह से प्राप्त)।
७. दक्खिनी हिंदी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, (१६५२ ई०), पृ० ४४।
८. दक्खिनी हिंदी, वही, पृ० ४५-४६।

तक ही सीमित नहीं है वरन् अव्यय, सर्वनाम, क्रिया, लिंग आदि पर भी न्यूनाधिक परिमाण में परिलक्षित होता है।

प्रादेशिक भाषाओं के शब्द :

विवेच्य कवियों की भाषा में संस्कृत, अरबी, फारसी, तुर्की, दक्खिनी हिंदी आदि के अतिरिक्त भारत की प्रादेशिक भाषाओं तथा बोलियों के शब्द भी यत्रतत्र मिल जाते हैं। ये कवि भारत के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते रहते थे। अतः जिस प्रदेश से उनका विशेष संबंध रहा उस प्रदेश की भाषा का उनकी हिंदी भाषा पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव होना एक स्वाभाविक बात है। इसके अतिरिक्त दूसरा भी एक कारण है और वह है कवियों की मातृभाषा। यद्यपि इन कवियों ने हिंदी भाषा में रचना की है फिर भी उनकी भाषा पर जाने अनजाने उस प्रादेशिक भाषा अथवा बोली का अनायास प्रभाव रहा है जिस भाषा अथवा बोलीविशेष से कवि का जन्मकाल से संबंध रहा। आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण तथा संकर सुकवि की भाषा में बैसवाडी तथा अंतर्वेदीय शब्दों के प्रयोग उनकी जन्मभूमि तथा निवासभूमि के कारण ही हुए हैं। इसी प्रकार लोकमणि मिश्र, सीताराम महापात्र तथा देवनाथ की भाषा में विदर्भ की स्थानीय बोलियों तथा बुंदेलखंडी और मराठी के प्रयोग, शाहराज की भाषा में तमिल के शब्दप्रयोग तथा जयराम, नृपशंभु, तुकाराम, रामदास, प्रभाकर, अनंतफंदी, होनाजी आदि की रचनाओं में मराठी शब्द-प्रयोग देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये कुछ शब्दप्रयोग देखिए--

बैसवाडी तथा अंतर्वेदीय शब्दप्रयोग :

(१) कालि को जोगी कलींदे को खप्पर।[1]

(२) गजब की ठैल पैल सैल उसलत है।[2]

बुंदेलखंडी के शब्दप्रयोग :

(१) गर्व किये रावण गयो हतो सिंधु के पार।[3]

---

१. भूषण ग्रंथावली, पृ० १८१।

२. वही, पृष्ठ २०७।

३. उक्तिविलास, २।३१।

(२) धीर घरबी न साहि कुतुब की घुर की ।[१]
(३) सिंघ गरबी लोग रटाइ मैं गरूर भयो ··· ।[२]

अवधी भाषा के शब्दप्रयोग :

(१) जगत पियारी लक्ष्मी भक्त पियारो राम ।[३]
(२) आयो पुनि यक गयँद कवि साहे चढायो घोर ।[४]

मराठी भाषा के शब्दप्रयोग :

(१) नाचत भूत बेताल अरि चौसट जोगिनि गन ।[५]
(२) सब जवानी निकल जावे । पीछे गघडा मट्टी खावे ।
गाँवढाल सो क्या लेवे । हगवनी भरी नहीं घोये ।[६]
(३) और मुलुख सर किया तो क्या जी ।[७]
(४) लालभडक गजणी को लहँगा चंद्रकला ऊपर पेणी ।
अरशियाने का चुडा हात में जैसी रायबगन बनी ॥[८]
(५) रुमझुम पाऊल बजावत नयनों की लग रही मार ।[९]

इस प्रकार कवियों की भाषा में बैसवाड़ी, अंतर्वेदी, बुंदेली, अवधी, मराठी आदि भाषाओं के तत्सम अथवा विकृत शब्द प्राप्त होते हैं। ऐसे शब्दों की संख्या अत्यंत कम है। कहीं कहीं प्रादेशिक भाषाओं के मूल शब्दों को रूपांतरित कर हिंदी भाषा में ऐसा ढाल दिया है कि वे अपभ्रंश, प्राकृत के

---

१. भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ १५४ ।
२. चिंतामणि कृत रसविलास, ८।१८३ ।
३. उक्तिविलास, २।३२ ।
४. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २५३ ।
५. वही, पृष्ठ २७७ ।
६. संत तुकाराम, पृष्ठ १५३ ।
७. श्रीसमर्थ रामदास के पद, हिंदी को मराठी संतों की देन, पृष्ठ ३४३ से उद्धृत ।
८. अनंत फंदी, महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, कृ. गं. दिवाकर (प्रथम सं०), पृष्ठ १४५ से उद्धृत ।
९. वही, पृष्ठ १४५ ।

समान इस भाषा के अभिन्न अंग बन गए हैं। उन शब्दों का अनुसंधान कर उनके मूल का पता लगाना अपने आप में कठिन है। यह काम कोई शब्दों का विशेषज्ञ ही कर सकता है।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे कवियों ने अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये ब्रजभाषा के अतिरिक्त देशी, प्रादेशिक तथा विदेशी भाषाओं के अनेक शब्दों का समावेश अपने शब्दभांडार में बड़ी उदार वृत्ति से किया है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है।[1] इसी सिद्धांत के अनुसार हमारे कवियों ने दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा के अनुकूल संस्कारित कर अपनाया है। उच्चारण में सुलभ एवं लिखने में सरल शब्दों को उनके तत्सम रूप में ही स्वीकार कर लिया गया है और कठिन तथा क्लिष्ट शब्दों को हिंदी भाषा की प्रकृति के अनुसार ढाल दिया है जिससे भाषा का सौंदर्य अबाधित रह सका। अधिकांश कवियों ने अपने विचारों एवं भावों के अनुकूल ही शब्दयोजना की है। प्रसंग, भाव, श्रोता, आश्रयदाता आदि के अनुसार इन कवियों ने अपनी वाणी को सजाया है और शब्दावली के चयन में बड़ी कुशलता दिखाई है। शब्दावली के आधार पर यदि इनकी भाषाशैली पर विचार किया जाय तो उसमें मुख्यतः संस्कृतप्रधान शैली, ब्रज शैली, दक्खिनी शैली और मिश्रित शैली—ये चार शैलियाँ देखी जा सकती हैं। शब्दावली के विवेचन में दिए गए छंदों में इन सभी शैलियों के उदाहरण सहजता से देखे जा सकते हैं, अतः स्वतंत्र रूप में इनके उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। मिश्रित शैली के अंतर्गत मणिप्रवाल शैली का भी समावेश किया जा सकता है। एक ही छंद में अनेक भाषाओं का प्रयोग कर काव्य में चमत्कृति निर्माण करने की प्राचीन शैली के प्रयोग आलोच्य कवियों के काव्य में भी मिल जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन में इस शैली का उदाहरण न होने से यहाँ दिया जा रहा है। मणिप्रवाल शैली के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं।—

(१) पाहि पाहि निजभुवनम्। प्रती का बोलशी मुड्दारा॥
निन्नमातना केलु दिल्ला। चल छोड़ पल्लो मेरा॥[2] (रामजोशी)

---

१. हिंदी भाषा, डॉ० श्यामसुंदर दास, (सन् १६५४ ई०), पृ० ६६।
२. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, डॉ० कृष्ण दिवाकर, (प्रथम सं०), पृ० १६६।

(२) लाव खंजर सिर काट घरूँ । धिरं घरवत नाही ।
दाग लगा के पिहु पाछे । मज टाकुन गेला ॥[1] (प्रभाकर)

प्रथम उदाहरण में क्रमशः संस्कृत, मराठी, कन्नड़ तथा हिंदी भाषा के चरण हैं। द्वितीय उदाहरण में क्रमशः हिंदी और मराठी भाषा के चरण हैं। इसमें विभिन्न भाषाओं के प्रयोग से काव्य में चमत्कार तो अवश्य निर्माण हुआ है, साथ ही साथ कवि का भाषाप्रभुत्व भी दिखाई देता है।

शब्दावली के अतिरिक्त भाव एवं गुणों के आधार पर भी शैली का विवेचन किया जाता है। शैली मुख्य रूप से एक वैयक्तिक प्रयोग है। एक सच्चा कलाकार परंपरागत विचारों और जीवनदर्शन संबंधी सिद्धांतों को भी अपनी विशिष्ट शैली द्वारा नवीन और अभूतपूर्व बना देता है।[2] भारतीय आचार्यों ने 'रीति तथा मार्ग' के अंतर्गत शैली का विवेचन किया है। उन्होंने प्रमुखतः वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी और लाटी—इन काव्यरीतियों तथा सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गों अर्थात् काव्यशैलियों का विस्तृत विवेचन उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग में काव्यशैली के विवेचन में ये रीति सिद्धांत उतने वैज्ञानिक एवं पूर्ण प्रतीत नहीं होते। अतः यहाँ उनका विवेचन करना वांछनीय नहीं है। 'शैली या रीति, काव्यरचना संबंधी वह विशेषता है, जो कवि की प्रकृति और व्यक्तित्व, वर्णयोजना, शब्दसंगठन, अलंकारप्रयोग, भावसंपत्ति एवं उक्तिवैचित्र्य के परिणाम स्वरूप प्रकाशित करती है। प्रत्येक कवि की शैली में उसकी निजी विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ भी रहती हैं जो उस वर्ग के सभी कवियों में पाई जाती हैं। शैली का निश्चय केवल व्यक्ति पर ही निर्भर नहीं रहता, वरन् वर्ण्यविषय, पात्र, परिस्थिति, भाव, उद्देश्य आदि के द्वारा भी शैली का रूप निश्चित होता है। इन्हीं बातों के आधार पर डॉ० भगीरथ मिश्रजी ने मुख्य रूप से छह प्रकार की शैलियों को स्वीकार किया है। ये शैलियाँ हैं—सरल शैली, मधुर शैली, ललित शैली, विदग्ध शैली, उदात्त शैली और व्यंग्य शैली।'[3] आलोच्य कवियों की रचनाओं में ये सभी शैलियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें से व्यंग्य शैली का विवेचन

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, वही पृष्ठ १४१।

२. साहित्य विवेचन, क्षेमेंद्र 'सुमन' और योगेंद्र कुमार मल्लिक, (द्वि० सं०)' पृष्ठ ४५।

३. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २१६।

इसी प्रबंध के पंचम अध्याय में वक्रोक्ति के अंतर्गत किया गया है। इसलिये यहाँ उसका विवेचन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। विस्तारभय के कारण शेष शैलियों का केवल सामान्य विवेचन ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सरल शैली :

भाव एवम् रस का निरूपण करनेवाली, प्रसादगुण संपन्न, सरल भाषा में भावानुसार शब्दावली का प्रयोग करनेवाली, सर्वजनसुगम एवम् रमणीय शैली सरल शैली है।[१] आलोच्य कवियों में यद्यपि इस शैली का प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में सभी की रचनाओं में पाया जाता है फिर भी तुकाराम, रामदास, देवनाथ, सीताराम, शाहराज, होनाजी, अनंतफंदी, प्रभाकर, सगन-भाऊ आदि की रचनाओं में सरल शैली सर्वत्र और सहजता से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

(१) जमुना तट के निकट बजावे मधुर धुनि मुरली की।
सुनत कानहू भई बावरी सुध न रही तन मन की॥
आधी रैन सुख चैन सखी री मैं पिया संग सोई।
सुनत नाद मदमस्त दौर के बिंदरावन आई॥[२]

(२) मैं भूली घर जानी बाट। गोरस बेचन आई हाट॥
कान्हारे मनमोहन लाल। सब हीं बिसरूँ देखे गोपाल॥
कहाँ पग डारूँ देख आनेरा। देखें तो सब वोहिन घेरा॥
हूँ तो थकित मेरे तुका। भागा रे सब मन का धोका॥[३]

मधुर शैली :

इस शैली के अंतर्गत मधुर एवम् संगीतमय शब्दों द्वारा उपनागरिका वृत्ति के प्रयोग से सुकुमार और कोमल भावों का वर्णन किया जाता है। इसमें कर्कश, भयानक, बीभत्स आदि प्रसंगों के वर्णन को स्थान नहीं रहता।

---

१. काव्यशास्त्र, डा० भगीरथ मिश्र, (द्वितीय संस्करण), पृ० २१६।
२. देवनाथ महाराज के पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२३ से उद्धृत)।
३. तुकाराम का पद, (हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० २२८ से उद्धृत)।

आलोच्य कवियों की रचनाओं में इस शैली के दर्शन भी यत्रतत्र हो जाते हैं। उदाहरण के लिये मधुर शैली के दो एक छंद देखिए—

(१) आछी छबि छाकि मंद मंद मुसकान लागी,
बिचल बिलोकि तन भूषन के फौज की।
राजै रद मंडली कपोल मंडली मैं,
मानो रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ॥[१]

(२) प्रफुलि कुंज कलिका रसाल मंजु मलिका,
तमाल पुंज वलिका अलिंद गुंज रंत की।
प्रवाह गंधवाह को उमा हरैन नाहको,
गुनाह मैन दाह को सलाह राह संत की ॥[२]

उदात्त शैली :

ओजगुण संपन्न, वीरता, उत्साह, भय आदि भावों की प्रेरक दीर्घमात्रा-युक्त, दीर्घश्वासप्रवाही पदोंवाली, कहीं कहीं संयुक्ताक्षरयुक्त उत्तेजक शैली को उदात्त शैली कहा जाता है।[३] हमारे कवियों में उदात्त शैली का प्रयोग प्रमुख रूप से भूषण और जयराम ने किया है। चिंतामणि ने 'भाषा-पिंगल' तथा 'रसविलास' के अंतर्गत इस शैली का विशेष प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त शेष कवियों ने प्रसंगविशेष में इस शैली का प्रयोग अवश्य किया है, परंतु अधिक मात्रा में नहीं। उदात्त शैली के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने रावराने देस देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने शिवराज जू नरेश के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरानन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के।[४]

---

१. कविकलस का छंद, मिश्रबंधु विनोद, भा० ३, (द्वितीयावृत्ति), पृ० ३५२।
२ नवरसरंग, ७।४४।
३. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, (द्वि० सं०), पृ० २१८।
४. भूषण (ग्रंथावली), पृ० २०७।

(२) अति उतंग नृप साहि अग जब समर काग कर षड्ग धरैं।
कहि कवि चिंतामनि निपट विकट अरि कटक काटि सब धरनि भरैं।
रन हनित हत्थ तनु रुधिर गिरत जनु गिरत गुरुजुत झरनि झरैं।
जिमि अचलनि तें अजगर उदंड इमि खंडित सुंडा दंड परैं ॥[1]

ललित शैली :

इस शैली के अंतर्गत शब्दों का कलात्मक प्रयोग होता है। इसमें रंगीन कल्पना, वर्णन की सूक्ष्मता, चित्रात्मकता, उक्तिचमत्कार, अलंकारयोजना आदि बातें सामान्यतः रहती हैं। इसी प्रबंध के कलापक्ष के अंतर्गत इस शैली के पर्याप्त उदाहरण देखे जा सकते हैं। यह शैली प्रमुख रूप से नृपशंभु, संकर सुकवि, कविकलस, लोकमणि, चिंतामणि, सीताराम आदि की रचनाओं में प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

(१) स्याम ढाल पर बीर बधून की पाँति कैधौं,
भोर की किरनि चली नील घन छाटिके।
कैधौं 'संभुराज' इंद्रमनि कै कटोरा पर,
लाल की सलाका चारु राषि एक जाटिकै ॥
कैधौं धूमधार वीच पातरी लपट बन्यौं,
अंधकार हिए कै प्रवाल माल ठाटि कै ॥
कैधौं माँग बीच रचि सेंदुर को बढी है,
कैधौं सोनधार कढी फनी के फन फाड़ि कै ॥[2]

(१) लरिकाई की दसाँ मिलि, दोऊ जोबन बाल।
सोने मैं ज्यों जगमगे, चूनी मानिक लाल ॥[3]

विदग्ध शैली :

इस शैली में शब्दों का सांकेतिक, लाक्षणिक, प्रतीकात्मक प्रयोग होता है। इसमें गूढ अर्थ या क्लिष्ट कल्पना की प्रचुरता होने से उसका भाव जानने के लिये बुद्धि को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। आलोच्य कवियों में से

---

१. भाषापिंगल (छंदविचार), १, ७२।
२. नखसिख (हस्तलिखित प्रति), छंद १२५।
३. साहविलास, १।२३।

यद्यपि किसी ने प्रमुख रूप से इस शैली का प्रयोग अपनी रचनाओं में नहीं किया है फिर भी शैलीवैचित्र्य के रूप में, इसका प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य हुआ है। ध्वनि, वक्रोक्ति, उलटबाँसी शब्दचमत्कृति तथा दार्शनिक विचारों के प्रसंग में इन कवियों ने विदग्ध अथवा क्लिष्ट शैली के प्रयोग यत्र-तत्र अवश्य किए हैं। इस शैली के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) बात अचंभो एक यह जंत्र सजे को ठाट।
चित्ररचना के दारि मह चित्र चनाके दारि मह।
चित्ररचना केदारि वारन साट लिखि ल्यायौ।
जंत्र सज्यो यह ठाट राग मारुत वुरि गायो ॥[1]

(२) उदै अस्त प्रफुलित मुदित, रवि पंकज दिन रैन।
वह आकाश यह पुहुमि पै, केहूँ नेह दुरैन ॥[2]

अपनी अपनी रुचि के अनुसार विद्वानों ने शैली के अनेक प्रकार माने हैं। अरिस्टॉटिल जैसे पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने शैली के जो भेद दिए हैं उनमें से अधिकांश उपर्युक्त शैलियों के अंतर्गत आ जाते हैं अतः इस प्रसंग में उनका अलग विवरण देना वांछनीय न होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्दप्रयोग के आधार पर आलोच्य कवियों की रचनाओं में संस्कृतप्रधान, ब्रज, दक्खिनी, मिश्रित तथा मणिप्रवाल और गुणों एवम् भाव के आधार पर सरल, मधुर, उदात्त, ललित विदग्ध तथा व्यंग्य ये शैलियाँ प्रमुख रूप में प्राप्त होती हैं।

भाषाशैली के प्रसंग में इन कवियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और कहावतों का विवरण देना अवांछनीय न होगा। अतः स्थूल रूप में उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

मुहावरे :

'मुहावरा' मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जो हिंदी में उसके मूल रूप के अतिरिक्त मुहाविरा, महाव्वरा आदि रूपों में भी प्रयुक्त होता है। इसी अर्थ में हिंदी व्याकरणकारों तथा विद्वानों ने वाग्धारा, वाग्रीति तथा भाषासंप्रदाय आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। उर्दू में इसी अर्थ में रोज़मर्रा तथा

---

१. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २७९।
२. उक्तिविलास २।४।

इस्तलाह शब्दों का प्रयोग होता है।[१] हिंदी में 'मुहावरा' अथवा 'मुहाविरा' इन रूपों के प्रयोग ही अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। मुहावरे किसी भाषा की यथार्थ निधि होते हैं। उनके कारण भाषा की प्रांजलता, प्रवाहता तथा अभिव्यंजना शक्ति में वृद्धि होती है।[२] मुहावरों को भाषा की सजीवता का चिह्न माना जाता है। इनके प्रयोग से भाषा में जिस प्रकार चलतापन तथा प्रभावक्षमता आ जाती है उसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म, कठिन से कठिन एवम् अवर्णनीय भावों की अभिव्यंजना सहज एवं सरलता के साथ हो सकती है। इनके द्वारा भाषा में वक्रता, व्यंग्य तथा लाक्षणिकता आदि की अभिव्यक्ति भी की जाती है। आलोच्य कवियों की समस्त रचनाओं में मुहावरों के प्रयोग न्यूनाधिक परिमाण में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये कुछ मुहावरों के निम्नलिखित प्रयोग देखिए—

(१) यह बात सुने तिय जीसी उठी
तन आनंद और रोमांचनि छायौ।[३]

(२) त्यों हम प्रीति करी हरि सों
ऐसी कोऊ कहूँ विष वेलि न बोऊ।[४]

(३) तारे लागे फिरन सितारे गढधर के।[५]

(४) मेरु हिमांचल ढेर किए यह वाके दिवा निशि तोल तोलत।[६]

(५) साहे खुमान को दान कहा विधि
कै सें कयो निधि मोल लियो है।
कारन याको कह्यो करतार ने
सीसों दिये कुल सीसो दियो है।[७]

१. हिंदी मुहावरा कोष, प्रो. आर. जे. सरहिंदी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १।
२. हिंदी मुहावरा कोश, संपा० भोलानाथ तिवारी, (सन् १९५१), पृष्ठ ३।
३. रसविलास, ७।२७।
४. कृष्णचरित्र, १०।२९।
५. भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ २१०।
६. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २५०।
७. वही पृष्ठ २६८।

(६) बलि गई बातन के बातें सुनों चाहति

हों में तो लहने ते इत नखर पाये हो।[१]

(७) दंपति मिले बनाइ उरमें उरोज लाइ

कंठ अगिराइ ओ अधर पान करिके।[२]

(८) देखत ही लग जात कलंक निसंक ह्वै काहू न अंक लयो है।

गोकुल में अरी नंद लला अबलान को चौथि के चंद भयो है।[३]

(९) दोहनी हाथ की हाथै रही

न रह्यो मनमोहिनी को मन हाथ में।[४]

(१०) सूरत को रस चूसि के चाख्यो।[५]

(११) ठगी लगी धों दीठ यह, औचाक देखत श्याम।

घायल सी घुमत फिरै, छतिया धरकत वाम।[६]

उपर्युक्त उदाहरणोंमें 'जी उठी', 'विष बेलिन बोऊ', 'तारे लागे फिरन', "ढेर किए', 'मोल लियो', 'सीस दीयो', 'बलि गई', 'बातन के बातें', 'अधरपान करिके', 'लग जात कलंक', 'चौथि के चंद भयो', 'हाथ की हाथै रही', 'रह्यो मन हाथ में', 'रस चूसिकै', 'ठगि रही', 'छतिया धरकत' आदि मुहावरों के उचित प्रयोग से इन कवियों का मुहावरों के प्रति सहज प्रेम व्यक्त होता है। इस प्रकार के सैकड़ों मुहावरे इन कवियों की रचनाओं में सहजता के साथ पाए जाते हैं।

कहावतें :

मुहावरों की तुलना में कहावतों के प्रयोग इन कवियों की रचनाओं में अत्यंत कम हुए हैं परंतु जहाँ कहीं इनके प्रयोग हुए हैं वहाँ हृदय के उत्कट

---

१. साहविलास, ३।६३।

२. वही, १।२४।

३. नृपशंभु कृत 'नायिकाभेद', छंद ७वाँ, (माधुरी पत्रिका जून '४१, पृष्ठ ५२७ से उद्धृत)।

४. नायिकाभेद, वही, छंद ८।

५. दत्तकवि कृत सवैया से शिवराजशतक, संपा० गिल्लाभाई, (सन् '५६ ई०), पृष्ठ १२२ से उद्धृत।

६. उक्तिविलास, ३।८६।

भावों की तीव्र अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। इन कहावतों के द्वारा विस्तृत एवम् व्यापक अर्थ भी संक्षेप में कहा गया है। उदाहरण के लिये कुछ प्रयोग देखिए—

(१) गिरे घन घरत के वा बात संघात,
लहि छप्परन संग जंनु टूट टोडे ॥[१]

(२) कूकर के गर बाँधो सुहारी,
ज्यों क्यों तुम्हें राधिका ऐसी ॥[२]

(३) अबकि बबकि जेती जिसी आगे आयो तेती,
लोटन कबूतर लौं लोटत ह्वै गयो है ॥[३]

(४) सिंघ की सिंघ चपेट सहै गजराज करै गजराज को धक्का।[४]

(५) ये अब सूबा ह्वै आवैं सिवा पर,
कालि के जोगी कलींदे को खप्पर ॥[५]

(६) दुनिया दो दिन का सपना बे।[६]

(७) काल आवेगा ले जावेगा कोऊ नहीं है तेरा ॥[७]

(८) प्रलैकाल जब होत है सिंधु तजत मर्जाद ॥[८]

(९) बनी बनाई ना मिटै कौन मिटवन हार ॥[९]

(१०) नाहर कहावते सो सियार हिं भये सब ॥[१०]

---

१. कविकुल कल्पतरु, १।१६।
२. रसविलास, ३।५।
३. रसविलास, ८।१८३।
४. भूषण ग्रंथावली, (द्वि० सं०), पृ० १५१।
५. भूषण ग्रंथावली, पृ० १८४।
६. देवनाथ महाराज के पद, हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२३ से उद्धृत।
७. वही, पृ० ४२३।
८. उक्तिविलास १।६८।
९. वही, १।३१।
१०. राधामाधवविलास चंपू, २५६।

उपर्युक्त विवेचन से आलोच्य कवियों की भाषा के स्वरूप का भी सर्व-सामान्य दिग्दर्शन हो जाता है। अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये अधिक से अधिक सक्षम, अर्थवाहक तथा सुबोध शब्दों का प्रयोग करने की ओर अधिकांश कवियों का आग्रह दिखाई देता है। संभवतः इसी कारण से उन्होंने शब्दों के चयन में किसी संकुचित अथवा मर्यादित दृष्टि को न रखकर व्यापक तथा उदार दृष्टि रखी है। फलस्वरूप इनके शब्दभंडार में तत्कालीन श्रोता, आश्रयदाता तथा पाठक के लिये सहजबोध्य ऐसे संस्कृत, ब्रज, अवधी, बुंदेली, अरबी, फारसी, तुर्की तथा प्रांतीय भाषाओं के अन-गिनत शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। इन कवियों ने विदेशी शब्दों को स्वीकार तो किया है परंतु उनपर हिंदी के ऐसे संस्कार किए हैं कि वे शब्द हिंदी के ही प्रतीत होने लगते हैं। भूषण ने विदेशी शब्दों से क्रियाएँ भी ऐसी बनाई हैं कि जिनका विदेशीपन सहजता से प्रतीत ही नहीं होता। इन कवियों के उदार दृष्टिकोण से हिंदी भाषा के शब्दकोश की एक दृष्टि से श्रीवृद्धि भी हो सकी है। जहाँतक इनकी भाषा में व्याकरण का प्रश्न है वहाँ इन कवियों की भाषा के अंतर्गत लिंग, वचन, संज्ञा, सर्वनाम, कारक, क्रिया आदि के रूपों में आवश्यकता से अधिक विकल्पों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। व्या-करण के कुछ रूपों पर प्रादेशिक भाषाओं के प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। उस समय ब्रजभाषा का क्षेत्र अत्यत व्यापक था जो उत्तर भारत के अतिरिक्त भारत के पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में भी फैल गया था। अधि-कांश कवि इस भाषा में कविता करना गौरव समझते थे और संभवतः इसी कारण हिंदीभाषी के अतिरिक्त अहिंदीभाषी कवियों की भी हिंदी रचनाएँ मिलती है जिनका मुख्य ढाँचा 'ब्रज' ही का है। प्रांतभेद, रुचिभेद, प्रादेशिक भाषा, शासकों की भाषा, कवियों की अपनी मातृभाषा इत्यादि अनेक प्रभावों से इन कवियों की भाषा में अनेक विकल्प प्राप्त होते हैं। मराठीभाषी कवियों पर ब्रजभाषा के अतिरिक्त बोलचाल का खड़ी बोली तथा दक्खिनी हिंदी का प्रभाव भी प्रचुरता से दृष्टिगोचर होता है।

छंदयोजना :

छोटी बड़ी ध्वनियों का तोलमाप में बराबर होना छांदस् रचना का मूल आधार है। ध्वनियों को बराबर करने के विशेष नियम हैं। इन नियमों में बँधी हुई ध्वनियाँ ही लय उत्पन्न कर सकती हैं और इन्हीं नियमों में

आबद्ध रचना को छंद कहते हैं।[1] अधिक स्पष्ट शब्दों में छंद उसी को कहते हैं जिसमें मात्राओं अथवा वर्णों की रचना, गति और यति का नियम तथा चरणांत में समता प्राप्त हो सकती है।[2] कला की दृष्टि से काव्य के अंतर्गत छंदविधान का अपना विशेष महत्व है। इसमें संगीततत्वों का समावेश हो जाने से काव्य में स्वरसारस्य, लयसाम्य एवम् नादमाधुर्य की सृष्टि होती है। छंद का अद्भुत आकर्षण सबके अनुभव की वस्तु है। मानव ही क्या, पशु पक्षी और साँप तक भी इसकी लय पर मुग्ध हो जाते हैं। छंद ही संगीत की योनि है और छंद ही काव्य की जान है। छंद के कलेवर में गुंफित भाव सहस्रों श्रोताओं को मंत्रमुग्ध सा बना देते हैं। साहित्य की दृष्टि से छंदोबद्ध साहित्य अधिक दीर्घजीवी भी हो जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि छंदोबद्धता ही वेदों के दीर्घजीवी रहने का कारण है।[3]

गद्य और पद्य के बीच व्यावर्तन की रेखा खींचनेवाला धर्म छंद ही है। आचार्यों ने स्वर और व्यंजन के आधार पर छंदों का विभाजन मुख्यतः दो वर्गों में किया—मात्रिक और वर्णिक। मात्रिक छंद मूलतः मात्राओं और स्वरों से संबंधित रहते हैं और वर्णिक छंद वर्णों अर्थात् स्वर और व्यंजन दोनों से। विभिन्न छंदों में विशेष ध्वनियों का आगम हो जाने से अनुकूल भावाभिव्यक्ति के लिये छंदविशेष का प्रयोग किया जाता है। वीर भाव की व्यंजना जितनी सुंदरता के साथ छप्पय, घनाक्षरी छंदों में होती है उतनी ही उत्कृष्टता के साथ भक्ति, शृंगार, नीति आदि विषयों की अभिव्यक्ति दोहा, सवैया, चौपाई आदि छंदों में की जा सकती है। संस्कृत की भाँति समास-प्रधान न होकर व्यासप्रधान हो जाने से हिंदी भाषा की प्रकृति में वर्णिक छंदों की अपेक्षा स्वभावतः मात्रिक छंदों का ही अधिक प्राधान्य रहा है। फिर भी कवित्त, सवैया, घनाक्षरी जैसे वर्णिक छंद जो मात्रिक छंदों की भाँति इसकी प्रकृति के अनुकूल रहे, पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं।

---

१. हिंदी छंदप्रकाश, श्रीरघुनंदन शास्त्री, (प्रथम संस्करण), पृ० २७।

२. मत्त बरण गति यति नियम, अंतहिं समता बंद।
जो पदरचना में मिलें, भानु भनत स्वइ छंद ॥ —छंदःप्रभाकर, (दशम सं०), पृ० १।

३. ऑन वैदिक मीटर, श्री० वी० एस्० घाटे, (प्रथम संस्करण), पृ० १८७।

सामान्य स्थिति :

आलोच्य कवियों के काव्य में प्रयुक्त छंदों की पार्श्वभूमि यही रही है। इनमें चिंतामणि ने तो छंदोलता अथवा 'भाषापिंगल' (छंदविचार) के अंतर्गत समस्त मात्रिक एवम् वर्णिक छंदों का शास्त्रीय विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः छंदों की प्रकृति एवम् उपादेयता से वे पूर्णतः परिचित थे। 'भाषापिंगल' में यद्यपि समस्त छंदों के प्रयोग पाए जाते हैं फिर भी इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि कवि को सभी छंद प्रिय रहे हैं। छंद-शास्त्र के निरूपणार्थ उदाहरण के रूप में सभी छंदों में रचना करना उनके लिये आवश्यक था। अतः चिंतामणि के काव्य में प्रयुक्त छंदसौंदर्य का विचार करते समय 'छंदोलता' के अंतर्गत प्रयुक्त सभी छंदों का विवेचन करना असंगत प्रतीत होता है। चिंतामणि के समस्त ग्रंथों में अधिक मात्रा में प्रयुक्त छंदों का ही विचार इसके अंतर्गत करना वांछनीय एवम् न्याय्य होगा। इस दृष्टि से चिंतामणि के काव्य में कवित्त अर्थात् घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, दोहा, तोटक और चौपाई इन छंदों की प्रधानता रही है।

भूषण ने कवित्त, छप्पय, सवैया, हरिगीतिका, गीतिका, लीलावती, अमृतध्वनि, दोहा आदि छंदों में अपनी कविता को निबद्ध किया है। कवित्त इनका विशेष प्रिय छंद दृष्टिगत होता है। इन्होंने सवैया के चार भेदों—मालती, दुर्मिल, अरसात, किरीट—का प्रयोग किया है जिनमें से मालती सवैया का प्रयोग अधिक मिलता है। लोकमणि ने कुंडलिया, कवित्त और दोहा इन छंदों का विशेष प्रयोग किया है। सीताराम के समस्त 'उक्तिविलास' में केवल दोहे और सोरठे ही हैं। इन छोटे छंदों में कवि ने अनेक अनूठे एवम् सुंदर भाव बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किए हैं। नृपशंभु ने कवित्त, छप्पय, सवैया इन छंदों को विशेष रुचि से अपनाया। 'सातसतक' के अंतर्गत कहीं कहीं दोहा छंद का प्रयोग भी किया गया है। संकर सुकवि के काव्य में घनाक्षरी, दोहा, सोरठा, सवैया, कुंडलियाँ, लीलावती, झुल्लणा आदि छंद के प्रयोग द्रष्टव्य हैं। जयराम कवि के 'राधामाधवविलास चंपू' में सबसे अधिक छंदवैविध्य दृष्टिगत होता है। इन्होंने घनाक्षरी, सवैया, सोरठा, दोहा, अरिल्ल, कुंडलिया, तोटक, चर्चरी, लक्ष्मीधर, झुल्लणा, शंभु, चौबोला, मदनहारा, कलसा, अमृतध्वनि आदि छंदों के प्रयोग से अपने रुचिवैचित्र्य का परिचय करा दिया है। इनके द्वारा प्रयुक्त अमृतध्वनि छंद भूषण के

अमृतध्वनि छंद से तुलनीय है। वीर रस का उद्रेक इन छंदों द्वारा अधिक जोरदार रीति से व्यक्त हुआ है।

शाहराज सुकवि ने विश्वातीतविलास और राधाबंसीधर विलास की रचना तेलुगु साहित्य के यक्षगानों की पद्धति पर की है। इनके गीत हिंदी में होने पर भी उनके राग और ताल कर्नाटक संगीतप्रथा के अनुसार हैं। कर्नाटक संगीत में हिंदी जैसी आर्यकुल की भाषा के गीतों की रचना कर कवि ने अपनी गवेषणात्मक प्रतिभा का परिचय करा दिया है। हिंदी साहित्य में यह बात सर्वथा नवीन है। कवि का यह प्रयत्न एक विशेष तथ्य का उद्घाटन करता है। ये गीत 'दरु' इस शीर्षक के अंतर्गत रखे गए हैं। हिंदी भाषा कर्नाकट राग रागिनियों में कैसा मेल खाती है और इस मेल से गीतों का सौष्ठव कैसी वृद्धि पाता है इसका अनुभव श्रुति द्वारा ही अधिक संभव है।

संमानित कवियों में तुकाराम, रामदास, देवनाथ जैसे भक्त कवियों की अधिकांश रचना को छंदशास्त्र की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इनके काव्य का उद्देश्य पंडित कवियों से भिन्न रहा है। अपने विचारों एवं उपदेशों को जन साधारण तक पहुँचाने एवं लोकप्रिय बनाने के लिये वे कीर्तनों एवं प्रवचनादि के प्रसंग में इन काव्यबद्ध रचनाओं को गाया करते थे। ये गीत विभिन्न राग रागिनियों में रचे गए हैं। फिर भी अभंग, मुंढा, गौलण, कटाव, ध्रुवपद, खयाल, लावनी जैसे कुछ विशिष्ट गीत छंद जो मराठी संत साहित्य की विशेषता माने जाते हैं, इनकी हिंदी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। संमानित एवं प्रसंगवश दरबार में आकर पुरस्कार प्राप्त करनेवालों में प्रभाकर, अनंत पंदी, होनाजी, सगनभाऊ, रामजोशी जैसे कवि भी थे जो जनसाधारण के वास्तविक प्रतिनिधि थे। इनकी कविताओं में छंदों की अपेक्षा लय ही अधिक है। इन्होंने अपनी रचना के अंतर्गत प्रमुखतः लावनी और पोवाड़ा इन दो काव्यप्रकारों का प्रयोग विशेष रूप में किया है। आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में जिन छंदों का प्रयोग कर काव्यसौष्ठव समृद्ध किया उनमें से केवल प्रमुख छंदों का ही विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

कवित्त :

यह ब्रजभाषा का अपना छंद है। इसे घनाक्षरी तथा मनहरण नामों से भी पहचाना जाता है। वीर रस के वर्णन के लिये कवित्त अधिक खुलता है। यह मुक्तक वर्णिक छंद है अतः इसपर किसी भी प्रकार का निर्बंध नहीं है। यह ३१ वर्णों का ही नहीं ३२—यहाँ तक कि ३३ वर्णों तक का भी हो जाता

है, लघु गुरु का भी अपने आप में विशेष नियम नहीं है। वीर रस का विशिष्ट छंद होने पर भी यह छंद शृंगारादि अनेक रसों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकता है। मुक्तक रचनाओं के लिये यह छंद अधिक उपयोगी है। वर्णों को घटाने बढ़ाने तथा लघु गुरु का क्रम निर्धारित करने से इसके अनेक भेद किए जाते हैं परंतु सामान्यतः इसके दो ही भेद विशेष लोकप्रिय रहे और वे हैं—मनहर (घनाक्षरी) और रूपघनाक्षरी। प्रथम के अंतर्गत ३१ वर्ण होते हैं और अंत में गुरु रहता है तथा द्वितीय के अंतर्गत ३२ वर्ण और अंत में लघु होता है।[1] इस छंद का मुख्य आधार लय है जो वर्णयोजना के साथ साथ यतियोजना से भी संबंधित रहती है। घनाक्षरी में साधारणतः ८, ८, ८, ७ वर्णों पर और रूपघनाक्षरी में प्रति ८ वर्णों के पश्चात् यति की स्थिति मानी जाती है। यदि यह संभव न हुआ तो १६, १५ तथा १६, १६ पर यति का होना आवश्यक माना है।[2] आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण, नृपशंभु, संकर सुकवि, लोकमणि तथा जयराम ने इस छंद का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। इस छंद का प्रयोग वीर, शृंगार, वात्सल्य, भक्ति आदि रसों में सफलतापूर्वक किया गया है। रूपघनाक्षरी की अपेक्षा मनहर अथवा घनाक्षरी का ही प्रयोग इनकी रचना में अधिक मात्रा में पाया जाता है। भूषण ने वीर तथा शृंगार दोनों रसों के अंतर्गत घनाक्षरी का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। इनका वीर रसपूर्ण एक छंद देखिए—

'कसत में वार वार वैसोई निरस होत,
वैसोई सरस रूप साँवरो भरतु है।
भूषन भनत सिवराज महाराज मनि,
सघन सदाई जस फूलन घरतु है।
बरछी कृपान गोली तीर केते मान,
जोरावर गोला बान तिनहू को निदरतु हैं।
तेरो करवाल भयौ जगत कौ ढाल अब,
सोई हाल म्लेछन के काल कौं करतु है॥[3]

---

१. भानु कृत छंदःप्रभाकर (दसवाँ संस्करण, सन् १९६० ई०) पृष्ठ २१२, २१५।

२. वही पृष्ठ २१३ और २१६।

३. भूषण, (ग्रंथावली), पृष्ठ १६८।

इसमें १६ और १५ के विराम से यति का पूर्णतः निर्वाह किया गया है। अंत में गुरु की योजना भी नियमानुसार ही है। इसमें लय का सौंदर्य भी निहित है। कवि ने अपनी रुचि के अनुकूल वर्णयोजना कर अपने भावों को इस छंद के परिवेश में बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है। वीर रस के अतिरिक्त शृंगार, शांत, बीभत्स, रौद्र आदि रसों की व्यंजना के लिये भी भूषण ने इस छंद का कौशलपूर्ण प्रयोग किया है।

भूषण की भाँति चिंतामणि ने भी इस छंद का खूब खुलकर प्रयोग किया है। शृंगार, वात्सल्य तथा भक्ति रस की व्यंजना के लिये इसका विशेष प्रयोग दृष्टिगत होता है। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार वात्सल्य रस को भी इस छंद में किस प्रकार ढाल दिया है, देखिए—

कहाँ जौ गए हैं बोलि बूझि जसोदा मइया,
चिंतामनि भागु तेरो सुर मुनि गावैं री।
सोहै नीलमनि रंग साँचे धौं सुढारे अंग,
छबि छलकत मनि मोद उमगावैं री।
छोटी छोटी डगन धरत डग मग पग,
बाजैं छुद्र घंटिका हरखु हरि पावैं री।
देत है द्रगन सुख सुंदर हँसत मुख,
धूरि सों लपेटे लला ऊटकन आवैं री।[1]

शृंगार रस के अंतर्गत तो लगभग सभी कवियों ने इस छंद का प्रयोग अतीव सफलतापूर्वक किया है। उदाहरण के लिये शृंगार के अंतर्गत प्रयुक्त निम्नलिखित छंद देखिए—

दंपति मिले बनाइ उर में उरोज लाइ,
कंठ अंगिराइ औ अधर पान करिके॥
साहिजू रसिक मनि केलि रतिरंग गहि,
पूरे अभिलाष आप नखसिख भरिके॥

---

१. कृष्णचरित्र, १।४६।

सूर को उदोंतु जानिबे को जब्र लग्यो लाल,
अलक पसारे अलबेली चित हरि के।
पीन छूटे नेकु तातें करन कमल ढपे,
कर में कमल नैनी अंचल कों धरि के ॥[1]

उपर्युक्त छंदों में कवि ने अपनी रुचि से भावानुकूल वर्णयोजना कर लय का सौंदर्यनिर्माण किया है। इनमें ३१ वर्ण एवम् अंत में गुरु रखकर नियम का पूर्ण निर्वाह किया गया है। जहाँतक यति के निर्देशन का प्रश्न है उसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि लिपिकारों ने प्रतिलिपि बनाते समय उसकी ओर ध्यान नहीं दिया होगा। छंदों को पढ़कर तो ज्ञात होता है कि ये कवि छंदशास्त्र से अच्छी तरह परिचित थे। अतः उनके द्वारा यह दोष रह जाना कम संभवनीय जान पड़ता है। इन्होंने मनहर घनाक्षरी के अतिरिक्त कवित्त के अन्य भेदों का भी प्रयोग अपनी रचना में किया है, परंतु अत्यल्प मात्रा में। रूपघनाक्षरी का निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

एक पलका पै बैठी सुंदरी सलोनी दोऊ,
चाहिकै छबीलौ लाल आयो रति केलि घर।
'चिंतामनि' कहै ढिग बढ्यौ आनि पीतम पै,
काहूँ सों कछून कहि सकत दुहूँ के डर।
सुखकै मनाइवै कौ एक कौं दिखायो नाह,
विपरीति रति को सुरूप लखि चित्र पर।
जौ लौं सकुचनि वह आँखें मूँदि रही तौ लौं,
प्रानप्यारे प्यारी के कुचन पर रख्यौ कर ॥[2]

आलोच्य कवियों में से लगभग सभी की रचनाएँ मुक्तक हैं। कवित्त छंद के मुक्तक के लिये अधिक अनुकूल होने के कारण स्वाभाविक रीति से सभी ने उसका अर्थात् घनाक्षरी का खूब खुलकर प्रयोग किया है। उसमें लयबद्धता का आकर्षण भी सहज दृष्टिगत होता है।

सवैया :

कवित्त की भाँति सवैया भी मुक्तक रचना के विशेष अनुकूल होती है अतः हिंदी के रीतिकालीन कवियों ने इसका प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में किया

---

१. साहविलास, १।२४।

२ कविकुलकल्पतरु, ४।२।११६।

है। सवैया में २२ से लेकर २६ तक वर्णों का समावेश रहता है। इसमें साधारणतः किसी एक गण की ही पुनरावृत्ति रहती है और तुकांत अर्थात् चारों चरणों के अंत्याक्षर समान रहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें प्रयुक्त वर्णों का गुरुत्व या लघुत्व पूर्णतः उच्चारण पर निर्भर होता है, लिखने पर नहीं। अंत में यदि लघुगुरु का क्रम निश्चित कर दिया है तो लय में लपेट आ जाने से एक क्षण के लिये स्वर में वैचित्र्य की निर्मिति भी हो जाती है। आठ गणों और लघु गुरु के हिसाब से इसके अनेक भेद किए जा सकते हैं। चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' अर्थात् 'छंदोलता' के अंतर्गत सवैया के मदिरा, सुंदरी, चकोर, मत्तगयंद, किरीट, दुर्मिल, महाभुजंग प्रयात नामक सात भेदों का उल्लेख किया है।[1] परंतु सामान्यतः भगण, जगण और सगण की लय पर आश्रित सवैयों को ही हिंदी कवियों ने विशेष रूप से अपनाया है। सवैया में वर्णसाम्य के अतिरिक्त लघु गुरु की निश्चित संख्या और निश्चित क्रम होने से विशेष माधुर्य दृष्टिगोचर होता है।

आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण, नृपशंभु, संकर सुकवि और जयराम ने इस छंद का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। चिंतामणि का भाषापिंगल अथवा छंदोलता ग्रंथ छंदशास्त्र पर ही है और उसमें इसके अनेक उपभेद उदाहरण के रूप में आए हैं, परंतु उनके अन्य ग्रंथों में तथा चिंतामणि के अतिरिक्त भूषण, नृपशंभु आदि कवियों की रचनाओं में दुर्मिल, मत्तगयंद अथवा मालती, किरीट और अरसात इन चार भेदों का ही प्रयोग विशेष रूप में किया गया है। इनमें भी मत्तगयंद अथवा मालती सवैया का प्रयोग प्रचुरता से देखा जाता है। भूषण ने तो वीर रस के वर्णन के लिये भी मालती अथवा मत्तगयंद सवैया जैसे कोमल, मधुर छंद का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, देखिए—

मत्तगयंद अथवा मालतीसवैया : (७ भगण, अंत में दो गुरु = २३)

साहितनै सिव साहि निसा में निसाँक लियो गढसिंघ सोहानो।
राठिवरो को संहार भयो भिरिकै सरदार गिर्यो उदैभानो॥
भूषन यों घमसान भो भूतल पैरत लोथनि मानो मसानो।
ऊँचे छतज्ज छटा उछटी प्रगटी परभा परभात की मानो॥[2]

---

१. छंदोलता, वर्णवृत्तविवेचन, १४२, १४४, १४८।

२. भूषण, (ग्रंथावली), पृ० १४४।

श्रृंगार रस के अंतर्गत इस छंद का प्रयोग लगभग सभी ने किया है। अपनी कोमलता एवम् मधुरता से यह छंद श्रृंगार, भक्ति जैसे रस में अधिक खिलता है। संकर सुकवि ने श्रृंगार के अंतर्गत इस छंद का प्रयोग अत्यंत सफलतापूर्वक किया है—

हिंदुन की पति साहि महीपति सो मन में इमि भाँति विचारे।
कुंजतटे पिकनाद जहाँ रचिबें मोहिहे रुचिरंग सुधारे॥
चंद्रमुखी गहिके मधु्र विभ्रम मानहुँ मैन दिये हैं नगारे।
डीठि पसारि तहाँ लखिहे करि नैन सरोज के बंदनवारे॥[1]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में मत्तगयंद सवैया छंद का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। इनके प्रत्येक चरण में २३ वर्ण हैं। प्रत्येक उदाहरण की चारों पंक्तियों के अंत्याक्षर समान हैं। इनमें ७ भगण (ऽ।।) और अंत में दो गुरु (ऽऽ) का भी सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। इसकी मधुर लय द्रष्टव्य है। कभी कभी कोमल शब्दावली में द्वित्व कर इसे वीर रसानुकूल तथा ओजगुण युक्त बनाया गया है।

दुर्मिल सवैया : (८ सगण = २४)

मनमोहन के उर की बनमाल ले आई चुराय सखी सर की।
तिय बैठी हुती गुर लोगनि बीच सुनैन के सैनन सों हरकी।
मुसक्यानि तिरीछी दुराई मुखें तब ओंठ की कोर हरे फरकी।[2]
नृपशंभु सुधाकर ही की बनी मनो तुंग सुधा की कछू दर की॥

इसके अंतर्गत सगण की लय द्रष्टव्य है। दुर्मिल सवैया के लक्षणानुसार इस उदाहरण में प्रत्येक चरण में २४ वर्ण सगण (।।ऽ) की क्रमशः आठ बार आवृत्ति हुई है। इस सवैया का प्रयोग भी मत्तमयंद की तुलना में कम पाया जाता है। आलोच्य कवियों ने वैसे सवैया के अधिकांश उपभेदों का कहीं न कहीं न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग किया है परंतु इनकी मात्रा अधिक नहीं है।

---

१. साहविलास, ६।२१३।

२. नृपशंभुकृत नखसिख, संपा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', छंद ८१।

किरीट सवैया : (८ भगण = २४)

नील पयोद घटान की पाँति दिगंतन कांति छटा परिपूरति ।
मोर किरीट मनो मघवा धनु दामिनि सी प्रगटै पट सूरति ।
मंद हँसी मुखचंद सुधा बरखै मन मोर के बाढै भटू रति ।
नैननि को फल जीवन सार विलोकिए नंदकुमारकी मूरति ॥[1]

इस उदाहरण में आठ भगण (ऽ।।) हैं अर्थात् २४ वर्ण हैं। किरीट सवैया के सभी लक्षणों का पूर्णतः पालन किया गया है। चिंतामणि के अतिरिक्त भूषण, नृपशंभु, संकर सुकवि ने भी इस छंद का प्रयोग किया गया है परंतु अत्यल्प मात्रा में। जयराम जैसे मराठीभाषी कवि ने भी किरीट सवैया का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, देखिए--

राजन के सरजा नृप साहि महाबलवीर किरीट के मंडन ।
चंड गह्यो कर तें करवाल कर्यो अरि के करिको कट खंडन ॥
फैल परे मुकताहल ता परि कुंडलि सी करि तुंड के दंडन ।
मानहु बंधि सनीप समेटि लेय बैठि सौंपनि आपने अंडन ॥[2]

अरसात सवैया : (७ भगण, अंत में रगण = २४)

लाज धरो सिवजू सौं लरो सब सैयद मीर पठान पठाइकै ।
भूषन ह्याँ गढ कोटनि हारे इहाँ तुम क्यों अरे छाइ रिसाइकै ॥
हिंदुन के पति सों न बिसात सतावत हिंदु गरीबनि पाइकै ।
लीजै कलंक न दिल्ली के बालम आलम आलमगीर कहाइकै ॥[3]

इस उदाहरण के अंतर्गत २४ वर्ण और ७ भगण (ऽ।।) तथा अंत में रगण (ऽ।ऽ) होने से अरसात सवैया हो गया है। नृपशंभु ने भी शृंगार के अंतर्गत अरसात सवैया का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है देखिए—

कौहर कौल जपादल विद्रुम का इतनौंजु वंधूक में कोति है ।
रोचन रोरि रची मेहँदी नृपसंभु कहै मुकता सम पोति है ॥

---

1. कृष्णचरित्र, ४।५० ।
2. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५२ ।
3. भूषण, (ग्रंथावली), पृ० १७१ ।

पाय धरैं ढरे इंगुर सो तेहि में घन पायल की मनि जोति है।
हाथ दुतीनि लो चारिहु वोर ते चाँदिनी चूनरी के रंग होति है।।"[1]

आलोच्य कवियों में चिंतामणि, भूषण, नृपशंभु, संकर सुकवि तथा जयराम ने अपनी रचनाओं में कवित्त की भाँति सवैया का विशेषतः मत्तगयंद सवैया का प्रयोग खूब खुलकर किया है। सवैया के अन्य भेदों के प्रयोग भी इनकी रचना में प्राप्त होते हैं, परंतु अत्यल्प मात्रा में। कहीं कहीं लघु के स्थान पर गुरु अथवा गुरु के स्थान पर लघु अक्षरों के प्रयोग भी मिलते हैं परंतु उसके लिये लिपिकार ही अधिक मात्रा में उत्तरदायी हो सकते हैं। शृंगार और भक्ति के प्रसंग के अतिरिक्त वीर रस के अंतर्गत भी इस छंद का सफलता से प्रयोग हुआ है। कवित्त की भाँति यह छद भी लयाश्रित है परंतु इसकी लय उबड़ खाबड़ न होकर समतल एवं नियमित होती है। कवियों ने इस छंद की समस्त विशेषताओं को जानकर सफलता के साथ इनका प्रयोग अपने काव्य में किया है।

छप्पय :

इस छंद की व्युत्पत्ति षट्पद से मानी जाती है। छप्पय इस अपभ्रष्ट रूप के लिये पर्यायवाची शब्द के रूप में 'षट्पद' का प्रयोग भी किया जाता है। इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें छह पद होते हैं। यह छंद अपभ्रंश की भाँति हिंदी में भी बहुत लोकप्रिय रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से छप्पय छंद घनाक्षरी से प्राचीन प्रतीत होता है। पृथ्वीराज रासो में यही छंद कवित्त के नाम से प्राप्त होता है। यह मात्रिक विषम छंद एक प्रकार का संयुक्त छंद ही है जिसके प्रथम चार पद में रोला और अंतिम दो पद में उल्लाला होता है। रोला छंद का प्रत्येक पद २४ मात्राओं का होता है जिसमें ११ और १३ पर यति होती है। उल्लाला के भेदों के अनुसार छप्पय के पाँचवें और छठे पाद में २६ या २८ मात्राएँ हो सकती हैं। आलोच्य कवियों ने १५, १३ की यति से युक्त २८ मात्राओंवाले भेद को ही प्रधान रूप में अपनाया है। भानु ने इसके ७१ भेदों का उल्लेख किया है।[2] इस छद के प्रारभ में प्रयुक्त रोला में गति का चढ़ाव है और अंत में उल्लाला में उतार है। इसी कारण युद्ध आदि के वर्णन में भावों के चढ़ाव उतार का अच्छा वर्णन

१. नृपशंभु कृत नखसिख, (हस्तलिखित प्रति), छंद ४।
२. छंदः प्रभाकर, पृ० ६६।

इसमें किया जाता है। भूषण, चिंतामणि ने वीर रस के अंतर्गत इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। वैसे शृंगार, वात्सल्य, भक्ति आदि के प्रसंग में भी इस छंद के प्रयोग किए गए हैं जिनमें भावानुकूल शब्दावली का चयन कर उन्हें कोमल अथवा कठोर भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ बनाया है। वीर रस के अंतर्गत भूषण द्वारा प्रयुक्त इस छंद को देखिए—

साहन मनि समत्थ जासु अवरंग साह सिर।
हृदय जासु अब्बासु साहि बहुबल विलास थिर॥
ऐदिलसाहि कुतुब्ब जासु भुज जुग भूषन भनि।
पाय म्लेच्छ उमराव काय तुरकात और गनि॥
यह रूप अवनि औतार धरि जिहि मिलि यह जग दंडियहु।
सरजा सिव साहस खग्ग गहि कलियुग सोइ खल खंडियहु॥[1]

इस छंद में शिवाजी द्वारा कलियुग के अत्याचारों के दमन का वर्णन बड़ी कुशलता से किया गया है। प्रथम चार पंक्तियों में चढ़ाव है और अंतिम दो में उतार है। छप्पय छंद के सभी लक्षणों का यहाँ पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ है। जहाँतक यति का प्रश्न है उसके संबंध में कुछ कहना कठिन ही है। बहुत संभव है कि लिपिकारों द्वारा ही प्रतिलिपियाँ बनाते समय यति का निर्देश असावधानी से रहा हो। चिंतामणि ने वात्सल्य का वर्णन छप्पय द्वारा बड़ी सफलता से किया है, देखिए--

श्री हरि भए प्रसन्न सरल सरनागत पालक।
पठए सुरपति सुरग भवन निजु जसुमति बालक॥
आए ब्रज ब्रजनाथ हाथ पूज्यो ब्रजवासिन।
फूल फलन दधि हरद दूब अच्छत मनि रासिन॥
गिरिधरन प्रबल अवदान लखि सबनि हिए अचरिज भयउ।
यह को है अद्भुत ओज निधि सबनि नंद आगे कहेउ॥[2]

इसी प्रकार भक्ति के अंतर्गत भी छप्पय छंद का सफलतापूर्वक प्रयोग देखिए—

---

१. भूषण, (ग्रंथावली), पृ० १३८।
२. कृष्णचरित्र, ७।२६।

पद पद्म पत्र सम चरन जंघ जिमि कनक करभ कर।
नाभी ललित गभीर उदर लंबित बिसाल वर॥
उर दीरघ अति मंजु चारि कर देत चारि फल।
एक दंत अरु सुंड लषत हरि जात सकल मल॥
अति नैन चारू ढीली पलक श्रवन सीस छवि सों मढत।
ग्यान होत अज्ञान के सो गुन नायक के गुन पढत॥[1]

आलोच्य कवियों में से भूषण, चिंतामणि और नृपशंभु ने इस छंद का प्रयोग अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक किया है। इसका प्रयोग न केवल वीर रस के वर्णन के लिये ही वरन् वात्सल्य, शृंगार, भक्ति आदि के प्रसंग में भी हुआ है। कवित्त और सवैया की तुलना में इस छंद का प्रयोग अपेक्षाकृत कम दृष्टिगोचर होता है।

कुंडलिया :

यह भी छप्पय की भाँति छह पद का संयुक्त मात्रिक विषम छंद है। इसके प्रथम दो दल दोहे के होते हैं और अंतिम चार रोला के। इसमें दोहे के चार पाद दो ही गिने जाते हैं। दोहे को छंद का पूर्वार्द्ध और रोला को उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। कुंडलिया के प्रत्येक पाद में २४-२४ मात्राएँ होती हैं। इस हिसाब से संपूर्ण छंद में १४४ मात्राएँ हो जाती हैं। दोहे के चौथे पाद को रोला के प्रथम पाद में दोहराया जाता है और दोहे का प्रथम पाद जिस शब्द से आरंभ होता है वही शब्द रोला के चतुर्थ पाद के अंत में दोहराया जाता है। यति दोहा और रोला के अनुसार ही अर्थात् १३, ११ और ११, १३ पर होती है। यह छंद वीर रस तथा उपदेशादि के लिये अधिक उपयुक्त है। आलोच्य कवियों में से जयराम, लोकमणि तथा संकर सुकवि ने कुंडलिया छंद का प्रयोग वीर, भक्ति तथा शृंगार के अंतर्गत किया हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए—

वीना पुस्तक कमलकर अमल सुभ्र सर्वांग।
भवभयहृत विधि नंदनी कृत प्रणिप्रत अष्टांग॥
कृत प्रणिप्रत अष्टांग अपांग अलंवित अक्षन।
मुक्त हार मंदार जुक्त मुख उक्ति विचक्षन॥

---

१. नखसिख (हस्तलिखित प्रति), छंद १।

मुक्त हार मंदार अलंकृत अंबर झीना।
लोकन कवि कुल वरद विसद रस वदत नवीना ॥[1]
× × ×
राजत कुच मुसकाति है तनु छाई तरुनाइ।
ज्यो तम में गति दीप की यों तिअमें छबि पाइ ॥
यों तिअ में छबि पाइ नैन चंचलता ऐसी।
सारँग रंग निंदित किये नहीं खंजन में तैसी ॥
सारंग निंदित किये मैन मानो दल साजत।
भौहें करति कमान नैन सर बर कुच राजत ॥[2]

इन उदाहरणों में प्रथम छंद के अंतर्गत सरस्वती की प्रशस्ति है और द्वितीय के अंतर्गत यौवना का उदाहरण है। दोनों में कुंडलियों के लक्षणों का निर्वाह दृष्टिगत होता है।

अमृतध्वनि :

यह छंद भी छप्पय, कुंडलिया की भाँति मिश्रित छंद है जो मात्रिक विषम छंदों के अंतर्गत आता है। इसमें छह दल होते हैं और प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। प्रथम दो दल दोहे के होते हैं और अंतिम चार दल काव्यछंद अर्थात् रोला के होते हैं। अंत में चारों चरणों में आठ आठ मात्राओं पर यति होती है। छंद के आदि तथा अंत में एक ही शब्द होता है[3] और द्वितीय दल के अंतिम शब्द तृतीय दल के आदि में रखे जाते हैं। डा० रामशंकर शुक्ल रसाल ने इसे वीर तथा रौद्रादि उग्र रसों के लिये अधिक उपयुक्तोपयोगी माना है। इसमें प्रायः निरर्थक वर्णावृत्ति भी रहती है।[4] भूषण और जयराम ने इस छंद का प्रयोग अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम-वर्णन के प्रसंग में अत्यंत सफलता से किया है। चिंतामणि ने भी कहीं कहीं वीर रस के अंतर्गत इसका प्रसंगोचित प्रयोग किया है। भूषण और जयराम के निम्नलिखित छंदों में अमृतध्वनि छंद की संपूर्ण विशेषताएँ सहज रूप से दृष्टिगोचर होती हैं, देखिए—

---

१. नवरसरंग, ३।२।
२ साहविलास, ३।१२।
३. छंदःप्रभाकर, पृष्ठ ६४।
४. छंदशास्त्र, डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', (प्रथमावृत्ति), पृष्ठ २८७।

दिल्लिय दलनि गजाइ कै सिव सरजा निरसंक।
लूटि लियौ सूरति सहर बंककरि अति डंक।
बंककरि अति डंकक्कर अस संक्ककरि खल।
सोच च्चकित भरोच्च्चलिय विमोचच्चख चल।
तट्ठट्ठइ मन कट्ठट्ठिक सो रट्टट्ठिल्लिय।
सद्दद्दिसि दिसि मद्दद्दवि भइ रद्दिद्दिल्लिय॥[1]

× × ×

नृपबल निकरत हय गज पतितर सैन सजे चतुरंग।
नृपवर तरकस बाँधिकै करि तहाँ करकस जंग।
जंजंजंगं करन तुरंगं चढ़ि रनरंगं।
लहि अरि भंगं कियरत बंबं बिलपि कलिंगं।
दवरत्त तिलंगं भजि जिम गंगं जलनि मतंगं।
प्रविरख तरंगं तट पर लंघे निकरत नृपबल॥[2]

इन उदाहरणों में प्रथम छंद भूषण का है जिसमें शिवाजी के पराक्रम का वर्णन जोरदार शब्दावली में हुआ है। द्वितीय छंद जयराम कवि का है जिसमें शहाजी भोंसला की सेना के वीर कर्म का वर्णन है। प्रथम छंद में अमृतध्वनि के उपरोक्त सभी लक्षण विद्यमान हैं। द्वितीय छंद यद्यपि अमृतध्वनि के अंतर्गत रखा है फिर भी प्रथम दो पंक्तियों की मात्राएँ अधिक आती हैं। आलोच्य कवियों में केवल भूषण, जयराम तथा चिंतामणि ने ही इस छंद का प्रयोग विशेष रूप में किया है। तुलना में इस प्रकार के छंदों की संख्या अत्यल्प ही है।

दोहा :

'दोहा' या 'दूहा' की उत्पत्ति कतिपय विद्वानों ने संस्कृत के 'दोधक' से मानी है। 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकारों ने इसका मूल 'द्विपदा' शब्द बताया है। उत्तरकालीन अपभ्रंश का यह प्रमुख छंद है।[3] इसे 'दुहरा' या 'दोहरा' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें वस्तुतः मात्राओं का दोहरा दल चलता है।[4] हिंदी

---

१. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ ११०।
२. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २७६-७७।
३. हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ ३४३।
४. छंदशास्त्र, पृष्ठ २८४।

साहित्य में प्रचलित साखी अथवा साषी छंद भी दोहे का समानार्थी छंद है। गोरखपंथियों से प्रभावित होकर यह शब्द कबीरपंथियों की रचनाओं में आया और बाद के साहित्य में दूहे का अर्थ भी 'साखी' ग्रहण किया गया।[1] प्रयोग की प्रचुरता के कारण ही इसके अनेक रूपभेद भी हो गए हैं। इसकी मात्राओं तथा लघुगुरु को घटा बढ़ाकर इसके २३ भेद किए गए हैं। चिंतामणि ने भी छंदोलता अथवा भाषापिंगल के अंतर्गत २३ भेदों का उल्लेख किया है।[2] लक्षणकारों द्वारा निर्देशित ये सब भेद अनावश्यक विश्लेषणप्रवृत्ति के परिणाम दीखते हैं। उनमें विशेष सार वस्तु उपलब्ध नहीं होती।[3]

कुल २४ मात्राओं का दोहा छंद ही हिंदी साहित्य में सर्वाधिक प्रिय रहा है। इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में १३, १३ और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में ११, ११ मात्राएँ होती हैं। यति चरणांत ही में होती है। विषम चरणों के आदि में जगण (।ऽ।) नहीं आना चाहिए, और सम के अंत में लघु पड़ना आवश्यक है। तुक प्रायः सम चरणों की ही मिलती है विषम चरणों की नहीं। किसी भी रस, विषय अथवा भाव के अनुकूल यह छंद सहजता से बैठ सकता है, संभवतः इसलिये अधिकांश कवियों ने इस छंद का खूब खुलकर प्रयोग किया है। आलोच्य कवियों में सीताराम महापात्र ने अपने 'उक्ति-विलास' के अंतर्गत केवल दोहा और सोरठा—इन दो ही छंदों का प्रयोग किया है। लोकमणि, चिंतामणि, भूषण, संकर सुकवि ने शास्त्रीय ग्रंथों के अंतर्गत लक्षणों के लिये प्रायः इसी छंद का प्रयोग किया है। भक्त तुकाराम ने 'साषी' के अंतर्गत इसी छंद को अपनाया है। शेष कवियों ने भी प्रसंग तथा विषय के अनुसार इस छंद का प्रयोग किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में इस छंद का सफलतापूर्वक प्रयोग द्रष्टव्य है—

सूर सिरोमनि सूर कुल, सिव सरजा मकरंद।
भूषन क्यों औरंग जितै, कुल मलिच्छ कुलचंद ॥[4]

× × ×

शशिवदनी कमलाक्षनी, पिकरव गवन मराल।
कनक वरन मृदु विमल वपु, जानि पद्मिनी बाल ॥[5]

---

१. हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ ३४३।
२. छंदोलता, (जयपुर की हस्तलिखित प्रति)।
३. हिंदी छंदप्रकाश, पृष्ठ ८३।
४. भूषण, (ग्रंथावली), पृष्ठ १३८।
५. नवरसरंग, २१४।

मो मन मधुकर संत हित, भरचो ग्रंथ रसविंद।
चित्रकूट के सिलनि जे, फूले पग अरविंद ॥[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में दोहा छंद का प्रयोग क्रमशः वीर, शृंगार, भक्ति, भयानक और वात्सल्य के अंतर्गत किया गया है। इन छंदों में यद्यपि यति का निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है फिर भी छंद को पढ़ते समय ठीक १३, ११, १३, ११ मात्राओं पर विराम हो जाता है। छंदों में जहाँतक यति के निर्देशन का प्रश्न है उसके संबंध में लिपिकार ही अधिक उत्तरदायी हो सकते हैं। नहीं तो छंद के अन्य लक्षणों का सफलतापूर्वक निर्वाह करनेवाला कवि केवल यतिनिर्देश करना ही क्योंकर छोड़ सकता है? इस छंद के उदाहरण लगभग सभी कवियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

सोरठा :

यह मात्रिक अर्द्धसम छंद है जो दोहे का ठीक उलटा रूप है। इसके प्रथम तथा तृतीय चरण में ११, ११ और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में १३, १३ मात्राएँ होती हैं। इसमें चरणांत पर ही यति होती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह संस्कृत के सौराष्ट्र का अपभ्रंश रूप है।[2] दोहे के समान इसके भी कई भेद हो सकते हैं। भानु ने इसके २३ भेदों का उल्लेख किया है।[3] हिंदी साहित्य में यह छंद दोहे की भाँति ही पर्याप्त प्रिय रहा है। प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों ने दोहे के साथ इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रबंधों में सोरठे के द्वारा कथा के नवीन सूत्रों की स्थापना में सुगमता होती है। आलोच्य कवियों में सीताराम, जयराम और संकर सुकवि ने सोरठा छंद का प्रयोग किया है। सीताराम ने 'उक्तिविलास' के अंतर्गत केवल दोहों और सोरठों का ही प्रयोग किया है। सोरठों का सबसे अधिक प्रयोग इसी कवि की रचना में प्राप्त होता है। शेष दोनों की रचनाओं में इस छंद का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में ही हुआ है। निम्नलिखित उदाहरणों में सोरठा छंद का सफलतापूर्वक प्रयोग देखा जा सकता है—

---

१. सातसतक, छंद ३।

२. भाषा शब्दकोष, डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', (तृतीयावृत्ति), पृ० १६३।

३. छंदःप्रभाकर, पृ० ८६।

प्रभु बिन खाली गात, मसक भरी ज्यों कूप जल।
धौंकति है दिन राति, सौं स्वासा हरि भजन बिन ॥[1]

× × × ×

स्वामी सों अनुरक्त, जो सुया सोई जानिय।
पातिव्रत की भक्त, धीर सलज्ज अक्रोध तिय ॥[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में सोरठा छंद के समस्त लक्षणों का सफलता के साथ पालन दृष्टिगोचर होता है। आलोच्य कवियों में बहुत कम कवियों ने इस छंद का प्रयोग किया है। फिर भी जहाँ कहीं प्रयोग हुए हैं वे बड़ी सफलता के साथ हुए हैं। सीताराम की रचना में इस छंद का प्रयोग बहुलता के साथ हुआ है।

लीलावती :

यह मात्रिक सम छंद का एक भेद है। 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार इसमें बिना लघु गुरु के विचार से ३२ मात्राएँ प्रति चरण में होती हैं।[3] चिंतामणि ने भी प्राकृत पैंगलम् के अनुसार ही 'लीलावती' छंद का लक्षण दिया है।[4] इसमें लघु गुरु की भाँति यति का भी कोई नियम नहीं होता। भानु ने रामदासजी के मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि जहाँ सब पदों के अंत में सगण (।ऽऽ) पड़ता जाय वहाँ 'लीलावती' छंद होता है।[5] आलोच्य कवियों में संकर सुकवि, भूषण और चिंतामणि ने इस छंद का प्रयोग किया है। चिंतामणि ने तो छंदोलता अथवा भाषापिंगल के अंतर्गत उदाहरण के रूप में ही इस छंद का प्रयोग किया है, अन्यत्र नहीं। भूषण और संकर सुकवि ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत इस छंद का प्रयोग अत्यंत सफलता से किया है, देखिए—

मदजल धरन द्विरद बर लागत, बहु जलधरन जलद छवि साजै।
भूमिपरन फनिपत्ति लसत अति, तेजधरन ग्रीषम रवि छाजै।

---

१. उक्तिविलास, २ ५०।
२. साहविलास, १ ७।
३. प्राकृत पैंगलम्, १।१७७।
४. गुरु लघु अच्छर नियम नहिं पै गनि मत्त बतीस। 'लीलावती' विन यति नियम छंद कहत फणिईस ॥—छंदोलता (जयपुर प्रति)।
५. छंदः प्रभाकर, पृ० ७३-७४।

खग्ग धरन सोकत भट रोचत रुचि भूषन जुन धरन समाजै।
दिल्ली दलन दच्छिन दिसि थंभन ऐंड धरन सिवराज बिराजै ॥[1]

× × × ×

कहति बात इमि सुनत पिउ मनो
करन कांहि अति कोमल लग्गे।
क्रुद्ध करत्ति कबहुँ नहिं संकर
अधरनि हास बिलास सों पग्गे।
नयन निसीले समुद्र भरित्त
नरप्पति साहि कसो अनुरग्गे।
नित्त बढ़ावति हेतु अधिक्क
केहे पुनवंति चलत्ति सुमग्गे ॥[2]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'लीलावती' छंद के लक्षणों का बड़ी सफलता से निर्वाह किया गया है। प्रति चरण में ३२ मात्राओं के साथ साथ अंत में यगण (।ऽऽ) भी पड़ता गया है। इसमें तरल तुरंगम चाल द्रष्टव्य है। इस छंद का प्रयोग इन कवियों ने छंदवैचित्र्य के रूप में ही किया है।

तोटक :

यह वर्णिक छंदों में समवृत्त का एक भेद है। इसमें चार सगण (।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ) होते हैं।[3] संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। आलोच्य कवियों में जयराम और चिंतामणि ने वीर रस के वर्णनों में इस छंद का सफलता से प्रयोग किया है। द्रुतगति के कारण यह छंद वीर रस में अधिक खिल गया है। निम्नलिखित उदाहरणों में इस छंद का सफल प्रयोग द्रष्टव्य है—

करिये कछु लाल विचार हियाँ। गहिये परनारि को यों बहियाँ ॥
यह है व्रज गाँव चबाव मई। तुम देखत कान्ह न कान दई ॥[4]

---

१. भूषण ग्रंथावली, पृ० १५१।
२. साहविलास, १।८।
३. छंदःप्रभाकर, पृ० १४८।
४. छंदोलता, ४३।

अभंग :

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अभंग का समावेश विषम वृत्तों में प्राप्त मुक्तक वृत्त के अंतर्गत किया है।[१] तेरहवीं शती के चौंडरस नामक कन्नड कवि के मतानुसार 'विठ्ठल' विषयक ओवी प्रबंध ही आगे चलकर अभंग बन गया है। अभंग का कोशगत अर्थ है अटूट अर्थात् जो भंग नहीं होता। 'अभंग' सर्वथा महाराष्ट्रीय छंद है। इस वृत्त में न लघु गुरु का बंधन है न मात्रा-संख्या का। जब महाराष्ट्रीय संतों ने इस छंद में काव्यरचना आरंभ की तब संस्कृत पंडितों ने उनकी रचनाओं में छंदोभंग, यतिभंग, मात्राभंग इत्यादि अनेक प्रकार के दोष निकाले।[२] परंतु इस छंद के विकास में उसका कुछ परिणाम नहीं हुआ। दिन प्रति दिन यह छंद अधिक ही लोकप्रिय बना। संत तुकाराम ने तो इस छंद को परमोत्कर्ष की अवस्था तक पहुँचाया है। अभंग प्रायः दो प्रकार के होते हैं—छोटे और बड़े। छोटा अभंग १६ अक्षरों का और दो सम चरणों पर आधारित होता है। इसमें ताल छंदोभंग नहीं होता। कुछ अभंग रचनाओं में गण, यति, लघु, दीर्घ, विसर्ग आदि बातें ढूँढने पर मिल जाती हैं परंतु उनमें नियमितता न होने से वे बड़ी जटिल हो जाती हैं। बड़े अभंग की रचना में अक्षरसंख्या दीर्घ प्रचुर हुआ करती है। इसमें २२ अक्षर के साढ़े तीन चरण होते हैं। तीन चरण के १८ अक्षर और अगले आधे चरण के चार अक्षर मिलाकर २२ हो जाते हैं। अभंग किस भी राग में गाया जाता है। इसके संबंध में कोई विशेष नियम नहीं प्राप्त होते। डॉ. जोगलेकर ने अभंग को 'अध्यात्मगीत छंद' कहा है।[३] भानु ने 'छंदःप्रभाकर' में अभंग के पाँच प्रकार दिए हैं। 'अभंग' के नियम अत्यंत लचीले होने से उसका निश्चित प्रकार कहना कठिन हो जाता है। प्रत्येक संत के अभंग में उनकी अपनी विशेषता रहती है। आलोच्य कवियों की उपलब्ध हिंदी रचनाओं में साढ़े तीन चरणवाले अभंग नहीं मिलते। तुकाराम के कुछ अभंगों में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलाकर प्रत्येक चौक में अठारह अक्षर हैं और दोनों अर्द्धों के अंत में तुक मिलता है।

---

१ छंदःप्रभाकर, पृ० २३०।

२ संत तुकाराम, पृ० ८१।

३. हिंदी और मराठी का वैष्णव साहित्य और उसका तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० न० चि० जोगलेकर, पृ० ६१६-१७।

निम्नलिखित उदाहरण में यह लक्षण विद्यमान है—

> दासों के पीछे दौरे रान। सोवे खडे आप मुकाम ।।
> प्रेम रसडी बाँधी गले। खैंच चले उधर चले ।।
> अपने जनसुं भूल न देवे। कर धर आगे बाट बतावे ।।
> तुका प्रभु दीन दयाला। वारि तुझ पे हूँ गुपाला ।।[1]

उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त छंदवैचित्र्य के रूप में इन कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ स्थानों पर विधाता, भुजंगिनी, कुंडिल, झूलना, पादाकुलक, लक्ष्मीधर, शंभु, चर्चरी जैसे छंदों के भी प्रयोग अवश्य किए हैं जो विशेष रूप से प्रचलित एवम् लोकप्रिय नहीं हैं। ऐसे छंदों के प्रयोग बहुत ही कम स्थलों पर किए गए हैं और वह भी पूरी सफलता के साथ नहीं। विस्तारभय के कारण ऐसे छंदों का विवरण न देकर केवल प्रमुख एवम् कवियों के प्रिय छंदों का ही विवेचन यहाँ किया गया है। चिंतामणि का 'भाषापिंगल' छंद-शास्त्र विषयक ग्रंथ है अतः इसमें तो सभी छंदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। उन सभी का विवरण देना एक प्रकार से समस्त ग्रंथ को ही उद्धृत करना होगा, अतः वह वांछनीय नहीं है।

विशेष गीतशैलियाँ :

इन छंदों के अतिरिक्त मराठीभाषी कवियों ने अपनी रचनाओं में गौलण, कटाव, लावनी पोवाडा जैसे काव्यप्रकारों के प्रयोग भी किए हैं जो मुख्यतः मराठी साहित्य के अंतर्गत ही पाए जाते हैं। कुछ समीक्षक इनका समावेश छंदों के अंतर्गत भी करते हैं परंतु वस्तुतः इन्हें छंद न कहकर गीतशैली अथवा काव्य प्रकार ही कहना अधिक समीचीन है। इन गीतशैलियों के अंतर्गत विविध मात्रिक छंद मिल सकते हैं जिनकी संख्या इतनी अधिक होगी कि उन सब का विवरण देना इस प्रसंग में विस्तारभय के कारण वांछनीय प्रतीत नहीं होता। अतः केवल इन कवियों द्वारा प्रयुक्त मुख्य गीतशैलियों का सामान्य परिचय मात्र यहाँ दिया जायगा। इसी के अंतर्गत शाहराज द्वारा प्रयुक्त तेलुगु भाषा के 'दरू' का भी समावेश किया जा सकता है।

गौलण :

मराठी संत कवियों ने इस काव्यप्रकार का खूब खुलकर उपयोग किया है। गौलण का अर्थ है ग्वालन। इसके अंतर्गत गोपियों का कृष्ण के प्रति

---

१. संत तुकाराम, पृ. ८१।

जो प्रेम होता है, उसकी अभिव्यंजना होती है। एकनाथ की 'गौलण' मराठी में विशेष प्रसिद्ध है। आलोच्य भक्त कवियों में हिंदी रचना के अंतर्गत तुकाराम ने इस विशिष्ट काव्यप्रकार का प्रयोग किया है। इसका आध्यात्मिक पक्ष ही प्रधान होता है, लौकिक शृंगार पक्ष गौण। मन की रागात्मिका वृत्ति को ही गौलण माना जाता है जो कृष्ण प्रेम में पगी रहती है। तुकाराम की 'गौलण' देखिए—

मैं भूली घर जानी बाट।
गोरस बेचन आई हाट।
कान्हारे मन मोहन लाल।
सब ही बिसरूँ देखे गोपाल।
कहाँ पग डारूँ देख आनेरा।
देखें तो सब वोहिन घेरा।
हूँ तो थकित मेरे तुका।
भागा रे सब मन का धोका॥[1]

इसमें सात्विक प्रेम की सुंदर अभिव्यंजना हुई है।

कटाव :

इसे कटिबंध भी कहा जाता है। प्रधान रूप से अष्टमात्रिक आवर्तनयुक्त, प्रदीर्घ, प्रवाहमयी मात्रिक रचना को कटाव अथवा कटिबंध कहा जाता है।[2] डॉ० माधवराव पटवर्धन ने इसे एक प्रकार का पद्यप्रबंध कहा है। इसमें उद्धव द्विपदी का ध्रुवपद होता है और उसके आगे पादाकुलक में किसी एक यमक से संबद्ध चरणों के समूह होते हैं। एक समूह से दूसरे समूह पर जाने के लिये बीच में जो पद्मावर्तनी अष्टमात्रिक अंतरा होता है, उससे आगे के समूह का यमक साधा जाता है। कड़ी के अंत का संबंध यमक द्वारा ध्रुवपद से जोड़ा जाता है। समूह के चरणों की संख्या अनिश्चित रहती है। गतिशील रचना के लिये 'कटाव' एक सुविधाजनक पद्यप्रबंध है।[3]

---

१ संत तुकाराम, पृ० १५०।

२. मराठी छंदोरचनेचा विकास, डॉ० ना० ग० जोशी, (सन् १९६४ ई०), पृ० ४३६।

३. छंदोरचना, डॉ० मा० त्रि० पटवर्धन, (सन् १९३७ ई०), पृ० ३९१-३९२।

आलोच्य कवियों में देवनाथ ने इस शैली का सफलता से प्रयोग किया है, देखिए—

त्रिभुवन को पालनवाला भज साहेब नाथ गोपाला ।। ध्रुवपद ।।
जो है नाम रूप सो न्यारा, अलख अगम अगोचर प्यारा,
सो गुरु आप रूप विस्तारा,
गहरा खूब भरा दर्याव लहरा, ज्याको बाकी सो हरहीरा,
बसेनि देह देहरे विचरवन ही,
काला पीला हरा लाल कछु रंग तरहा को,
निजरंगसो, अभंगजू, प्रभू या जगमाहे,
घटघट व्यापो लपट लगाये, गुरुपुज श्रीगुरुकृपासो बिकट घाटको,
पलट कमलमो उलट चले, जब निकट घोटमन, पलट रह्यो
नद, अयन रूप निजनयन प्रगट लखाट भयो उजियाला ।।
त्रिभुवन को ।। १ ।।[1]

मुंढा :

'मुंढा' नाम के मुसलमान फकीरों पर लिखी हुई कविताओं को 'मुंढा' कहा जाने लगा। ये फकीर हाथ में एकतारा और झाँझ लेकर भजन करते, नाचते, कूदते, एक दूसरों को चपतें लगाते और नशे के जोर से चिल्ला चिल्ला कर भीख माँगते थे। इन मुंढों पर लिखित कविताओं की गणना व्यंग्य काव्य के अंतर्गत होने लगी। तुकाराम का निम्नलिखित 'मुंढा' देखिए—

सब सवरी नचाव म्याने, खडा अपने सात।
हात पाँवो रखते जबाव, नहीं आगली बात ।।
सुनो भाई बजार नहीं, सब ही नर चलावे।
नन्हा वडा नहीं कोये, एक ठौर मिलावे।
एकतार नहीं प्यार, जीवन की आस।
कहे तुका सो हि मुंढा, राख लिया पाएँन पास ।।[2]

इस प्रकार 'मुंढा' एक काव्यशैली मानी जाने लगी जो तिक्त व्यंग्य से परिपूर्ण रहा करती है।

---

१. देवनाथ महाराज के पद, पृ० ४३१।
२. संत तुकाराम, पृ० ८३।

लावनी :

लावनी अथवा लावणी महाराष्ट्र के लोकाभिमुख काव्य का एक प्रसिद्ध एवम् लोकप्रिय छंद है। मराठी संतों तथा शाहीरों ने इस छंद का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसमें प्रधानरूप से शृंगार रस के वर्णन मिलते हैं परंतु कहीं कहीं भक्ति तथा शांत रस का समावेश भी दृष्टिगोचर होता है। 'लावणी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मतभेद पाए जाते हैं। लवण, लावण्य, लापनिका, लौनी, लावना, मराठी क्रिया 'लावणें' आदि शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति बताई गई हैं, परंतु किसी भी मत का सप्रमाण समर्थन नहीं किया गया। ये सभी केवल अनुमानाश्रित ही मत हैं। वस्तुतः लावनी लोककाव्य का अत्यंत प्रमुख एवम् प्रिय छंद है। इसकी रचना लोकभाषाओं, हिंदी बोलियों और साहित्यिक भाषाओं में समान रूप से हुई है। संगीत कल्पद्रुम में लावनी को एक उपराग माना है।[1] कहा जाता है कि लावनी अर्थात् लावणक देश से जो मगध के पास है, संबंधित होने से इस छंद का नाम लावणी पड़ा।[2] लावनी के अनेक भेद हैं जैसे लावनी भूपाली, लावनी कलांगडा, लावनी रेखता आदि।

लावणीकारों में 'तुर्रा' और 'कलगी' ये दो पक्ष पाए जाते हैं जो क्रमशः शिव और शक्ति के उपासक होते हैं। 'तुर्रा' पक्ष के प्रवर्तक महात्मा तुकनगिरि और 'कलगी' पक्ष के संत शाह अली थे जो क्रमशः वेदांत और सूफ़ी दर्शन से प्रभावित थे।[3] इन दो दलों की सदैव स्पर्धा लगी रहती थी। महाराष्ट्र में प्रचलित 'लावणी' छंद में और हिंदी 'लावनी' में अनेक बातों में समता होने पर भी मराठी 'लावणी' में अपनी विशेषता दृष्टिगोचर होती है। ये लावणियाँ लोकाभिमुख और लोकरंजनार्थ रची गई थीं जो सुस्वर कंठ से जनता के सम्मुख गाई जाती थीं। इनकी अधिकांश रचनाएँ आठ मात्राओं के पद्मावर्तनी वृत्त में पाई जाती हैं। कहीं कहीं छह मात्राओं के भृंगवर्तनी वृत्त भी पाए जाते हैं। ये लावणियाँ ताल गेय जाति वृत्तों में रहती थीं।[4] आलोच्य कवियों में प्रसंगवश दरबार में आकर पुरस्कृत होने-

---

१. संगीत राग कल्पद्रुम, पृष्ठ १७।

२. हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ ६८२।

३. सप्तसिंधु, जून १९६३, पृष्ठ १२।

४. मरहाठी लावणी, मधुकर वासुदेव धोंड, (प्रथमावृत्ति) पृष्ठ १४।

वाले शाहीरों में लगभग सभी ने लावणी छंद का खूब खुलकर प्रयोग किया है। संत कवियों ने भी इस छंद का प्रयोग किया है। प्राप्त लावणियों में शृंगार रस प्रधान रूप में और भक्ति तथा शांत रस गौण रूप में मिल जाता है। प्रभाकर कवि की यह लावनी देखिए—

प्यारी देखन चली कुंज बिहारी ॥धृ०॥
जमुना के तीर वो मिले रंग खेले।
सब गोकुल के लड़के बाले।
हिल मिल खेलत बनसीवाले।
खड़े बीच काना गोपी घेरे लेके।
लूट लिये सबकूँ घूमकर लेके।
छीन छीन चुनरियाँ छुपे दूर जाके।
कहूँ क्या उनकी गम्मत न्यारी ॥ १ ॥[1]

इसी प्रकार अनंत फंदी की लावनी का निम्नलिखित अंश देखिए—

बारा वरस का पठा देखो अंगी नयन पर झुरमुर डारी।
नयनों में कजरा डार दिया पणघटपर था सिरपर घगरी ॥धृ०॥
छातीयन पर दो जोबन थोर रहे गये जैसे अभर।
भिर भिर नयन झुकावत चाल चलत गोरी गज भार।
गल मोतन के हार छोभा छिम बिचवन के झनकार।
रूमझुम पाउल बजावत नयनों की लग रही मार।
करंज फुल कानों में चमकत माया ऊपर शाल जरी।
बारा बरस के पठा देखो अंगी नयन पर झुरमुर डारी।
नयनों में कजरा डार दिया पणघट पर था सिरपर घगरी॥१॥[2]

आलोच्य कवियों की लावनियों में २२ मात्राओं के छंद भी प्राप्त होते हैं जिसे डॉ० दीक्षित ने[3] 'राधावशीकरण' नाम से अभिहित किया है।

---

१. प्रभाकर, महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, पृष्ठ १२७ से उद्धृत।
२. अनंत फंदी, महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, पृष्ठ १४५ से उद्धृत।
३. सप्तसिंधु, जून १९६३, पृष्ठ १७।

'लावणी' के लोकछंद होने से सहज सुलभ शैली तथा जनसाधारण में प्रचलित शब्दावली का प्रयोग इसमें किया गया है।

पोवाड़ा :

पोवाड़ा अथवा पवाड़ा महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोकछंद है। यह अपनी शैली तथा विषयवस्तु की दृष्टि से राजस्थानी चारणों की विरुदावली शैली के समस्त तत्वों से पूरित होकर विशुद्ध वीरगीत के रूप में सामान्यतः मान्य है। 'पवाड़ा' डफ, तुनतुनिया वाद्यों के सहयोग से ऊँची आवाज में गाया जाता है। कोश के अनुसार पवाडा शब्द का अर्थ है वीरों के पराक्रम, विद्वानों की बुद्धि, अथवा किसी की शक्ति, गुण, कौशल आदि का काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति, स्त्रोत्र आदि।[1] कुछ विद्वानों के मतानुसार 'पोवाड़ा' प्रवाद शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। हिंदी में प्रवाद शब्द का अर्थ होता है, बातचीत, जनरव, जनश्रुति, अपवाद।[2] परंतु मराठी भाषा में इस शब्द का अर्थ भिन्न है। मिथ्यारोप के लिये इस शब्द का प्रयोग विशेष रूढ है अतः यह व्युत्पत्ति समीचीन नहीं जान पड़ती। डॉ० केतकर ने 'पवाड़ा' शब्द मूलतः प्राकृत माना है।[3] ब्रज में यही लोकछंद पमारा और मालवा में पँवारा कहलाता है।

लावणियों की तुलना में पोवाड़ों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। आलोच्य कवियों में अग्निदास, तुलसीदास तथा अनंत फंदी के हिंदी पोवाड़े प्राप्त होते हैं जिनमें अनंत फंदी का एकमात्र 'नाना फडणीस का पोवाड़ा' पूर्ण रूप से उपलब्ध है। पोवाडों को सुनकर वीर रस उमड़ पड़ता है। इसमें छंद नहीं, केवल लय होती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस संपूर्णतः गेय रचना में छंदशास्त्र को देखना व्यर्थ है।[4] डॉ० जोशी ने पोवाड़ों को छंद-शास्त्र की कसौटीपर कसने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है परंतु इनको निश्चित नियमों में बाँधना कठिन प्रतीत होता है। अनंत फंदी के पोवाड़े का यह अंश देखिए—

सवाई माधवराव सवाई सवाई डंका बजाया।
फडणीस नाना की तारीफ अक्कल ने तो गजब किया।धृ०।

---

१. महाराष्ट्र शब्दकोष, भा० ५, पृ० १६५५।
२. भाषा शब्दकोष, पृ० १२५२।
३. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, (प्रथम संस्करण), पृ० २१७।
४. मराठी छंदोरचना, डॉ० ना० ग० जोशी, सन् १६५५ ई०), पृ० २६६।

बिन धार से राज्य चलाया ना किसे चकमक झडी।
कैक मुत्सदी चुप भये बस गये नाना की तो अकल बडी।
दिल्ली अटक लाहोर माहोर कर्नाटक बीच पुकार पडी।
चारों तरफ तजेला निकला चंदा ऐसी किरत बडी॥
जिने बैठे राज कमाया दिल के तैं खूप दिल दिलासा दिया।
साहेब बंदगी करना पूना छाँड कहूँ आया न गया।
अजी बडी अकल सवाई माधवराव सवाई सवाई डंका बजाया।
फडणीस नाना की तारीफ अक्कल ने तो गजब किया॥

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवियों ने अपनी रुचि के अनुकूल विषयानुरूप छंदों का चयन किया और उनमें अपनी वाणी को नियमितता प्रदत्त कर काव्यसौंदर्य की वृद्धि की है। इन कवियों का समय हिंदी साहित्य के रीतिकाल का समय होने से तत्कालीन प्रवृत्तियों के अनुसार प्रसिद्ध एवं प्रिय छंदों का प्रभाव इनपर भी सहजता से रहा है। अतएव कवित्त, घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय आदि छंदों का प्राधान्य इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। चिंतामणि के अतिरिक्त अन्य किसी का छंद-शास्त्र विषयक ग्रंथ प्राप्त नहीं है। यद्यपि छंदवैचित्र्य के रूप में कवियों ने एकाध स्थान पर कुछ छंदों के प्रयोग किए हैं फिर भी उन्हें उनके प्रिय छंद मानना ठीक न होगा। ऐसे छंदों का प्रयोग एकाध स्थान पर ही मिलता है जब कि सवैया, घनाक्षरी, दोहा आदि के प्रयोग समस्त रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

दरु :

दक्षिण भारत में तेलुगु भाषा में ध्रुवपद ही 'दरु' नाम से प्रचलित हुआ है। विजयनगर साम्राज्य के अधीन होने के बाद याने सन् १५०० ई० के बाद तमिल देश में भी, तमिल नाटकों में ये पद अपने अपने अभिनय और नर्तन के साथ प्रयोग में आने लगे; पर आजकल 'दरु' का प्रयोग उत्तर तथा दक्षिण भारत के नाटकों में क्रमशः कम होकर रुक गया है। तथापि उत्तर के गायकों के संप्रदाय में 'ध्रुपद' राग के रूप में वह न केवल जीवित है अपितु उच्च स्थान भी पा चुका है। इतने पर भी इन पदों को गाने में जो कठिनता

---

१. अनंत फंदी, महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, पृ० १४७ से उद्धृत।

होती है, उसके कारण उत्तर भारत में भी आज इन पदों के गायकों की संख्या धीरे धीरे कम हो रही है। दक्षिण भारत में प्राचीन संप्रदायों के नाटकों एवं नृत्यों में 'दरु' के प्रयोग आज भी अंशतः प्रचलित हैं। इनके विषय प्रायः भक्ति, ईश्वरस्तुति, राजाओं की प्रशस्ति, मंगल उत्सवों का वर्णन, धर्मतत्व, पुराण, मतसिद्धांत और संगीतशास्त्रांतर्गत श्रुतिस्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि के लक्षणवर्णन इत्यादि होते हैं। शृंगारादि नवरसों में इनके पदों की रचना हुई है।[1]

इसमें स्थायी, अंतरा और आभोग ऐसे तीन भाग होते हैं। इनकी रचना शुद्ध राग रागिनी में होती हैं। इसके अंतर्गत प्रायः चौताार, त्रिवट, धमार और कभी कभी झंपाताल और सूरफाक आदि तालों के प्रयोग होते हैं। आलोच्य कवियों में शाहराज ने 'विश्वातीतविलास' और 'राधावंनसीधर विलास' में 'दरु' का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया है। ये छंद हिंदी भाषा में रचे हैं परंतु इनके राग और ताल कर्नाटक संगीत प्रथा के अनुसार रखे हैं। कुछ छंदों के प्रारंभ में राग और ताल दोनों के नाम भी दिए हैं। रागों के अंतर्गत नाट, अटाणा, सारंगा, वेगडा, कांबोदी, सुरठी, गौरी, जमुना कल्याणी, हमीर कल्याणी, पूर्वी, रामकली आदि और तालों में एकताल, त्रिपुटताल, अटताल, झंपताल, आदि के नाम प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये सुरठी राग और अटताल में रचित निम्नलिखित छंद देखिए—

शाम कू सखी कब मैं देखूँ
बिन देखे राह्यो न जाय ॥ घ्रु० ॥
सुन सखी विरहानल मेरो
हरने कू बनमाली घन कब पाऊँगी ॥ १ ॥
अधर पल्लव मेरे इछ करे ऐसो
पुरख कोकिल कब पाऊँगी ॥ २ ॥
विरह सागर ये तरेबे को मैं सखी
कान अछो नावु कब पाऊँगी ॥ ३ ॥[2]

---

१. संगीतशास्त्र, के० वासुदेवशास्त्री, (प्रथम संस्करण, सन् १९५८ ई०), पृष्ठ २४३–२९३।

२. शाहराज कृत राधाबंसीधरविलास, पृष्ठ २७।

जयराम ने 'राधामाधवविलास चंपू' के अंतर्गत शंभु, लक्ष्मीधर, चर्चरी, चौबोला, कलश, रेखता, अरिल्ल जैसे अप्रचलित छंदों एवं उनके उपभेदों के प्रयोग भी किए हैं। रचना को देखकर अनुमान होता है कि कवि अवश्य ही छंदशास्त्र का अच्छा ज्ञाता रहा होगा। कई उदाहरणों के छंद लक्षणों की कसौटी पर कसने पर ठीक नहीं उतर पाते। किसी स्थान पर मात्राएँ अधिक हैं तो किसी स्थान पर आवश्यकता से कम। कहीं वर्णों की संगति ठीक है तो एकाध पंक्ति का अंग खंडित या स्खलित हो जाने से कुछ वर्ण भी नहीं हैं। यह स्थिति न केवल 'राधामाधवविलास चंपू' तक ही सीमित है अपितु न्यूनाधिक मात्रा में सभी कवियों की रचनाओं में प्राप्त है। ऐसा होने का मुख्य कारण लिपिकारों की असावधानी तथा संपादकों की असमर्थता ही जान पड़ती है। जहाँ कुछ अंश अथवा शब्द खंडित या लुप्त हुए हैं उसके संबंध में कुछ किया भी नहीं जा सकता। परंतु जहाँपर लघु गुरु के कारण छंद के लक्षणों के निर्वाह में बाधा पहुँचती है वहाँ विवेक तथा तर्कशक्ति की सहायता से ठीक करा दिया जा सकता है।

ये सभी कवि उस युग के हैं जिस युग में कवि अपनी रचनाओं को अपने आश्रयदाताओं तथा रसिक जनों को सुनाया करते थे। परिणामस्वरूप इन्हें अपनी रचना के अधिकांश छंद कंठस्थ करने पड़ते थे और संभवतः इसी कारण से सभी की रचनाओं में लयबद्धता तथा छंदोबद्धता दृष्टिगोचर होती है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अहिंदीभाषी कवियों ने भी अपनी हिंदी रचनाओं में छंदों के सफल प्रयोग किए हैं और साथ ही साथ अपनी मातृभाषा मराठी के अभंग जैसे छंद एवं पोवाडा, कटाव, गौलण जैसी कुछ विशिष्ट गीतशैलियों में हिंदी कविता को निबद्ध कर हिंदी साहित्य को नए छंद एवं गीतशैली की एक दृष्टि से भेंट ही दी है। आलोच्य कवियों की अधिकांश रचना मुक्तक रूप में प्राप्त है। एक मुक्तक छंद सर्वथा स्वतंत्र और अपने में पूर्ण रहता है। उसे अपनी रसजागृति के लिये किसी दूसरे छंद से कोई भी सहायता कदापि नहीं मिल सकती, इसलिये अभीष्ट रसप्रवाह के लिये तदुपयुक्त छंदप्रवाह का होना भी उसमें आवश्यक हो जाता है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त छंदों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कवियों ने इस तथ्य को जानकर ही रस, विषय, भाव आदि के अनुकूल छंदयोजना कर अपने काव्य में लयबद्धता, संगीतात्मकता, नाद-सौंदर्य आदि का अंतर्भाव किया है।

सामाजिक जीवन एवम् ऐतिहासिक तथ्य

सामाजिक जीवन :

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। साहित्यकार जिस समाज में रहता है उसमें विद्यमान संस्कार, विश्वास, वातावरण, प्रथाएँ, विचारधारा आदि का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में उसके साहित्यपर अवश्य रहता है, अतएव किसी भी काल की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिये प्रयुक्त उपकरणों में समकालीन साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण अंग रहता है। आलोच्य कवियों की अधिकांश रचनाएँ काव्यशास्त्र विषयक एवम् मुक्तक रूप में हैं, अतः उनमें समाजपरक रचनाओं तथा प्रबंधकाव्यों की भाँति समाजजीवन का चित्रण विस्तारपूर्वक एवम् क्रमबद्ध रीति से प्राप्त नहीं होता। फिर भी इन कवियों की रचनाओं में ऐसे कुछ प्रसंग अवश्य मिलते हैं जिनके द्वारा उत्तरमध्युगीन भारत के, विशेषतः भोंसला राज्यांतर्गत प्रदेश के, सामाजिक जीवन के अंशतः दर्शन हो जाते हैं। इसके अंतर्गत बहुदेवोपासना, हिंदू धर्म में श्रद्धा, परधर्मसहिष्णुता, पापपुण्य विषयक धारणाएँ, गुरु की महत्ता, नैतिक शिक्षा, प्रसाधन, वेशभूषा, उत्सव त्योहार, मनोरंजन के साधन, प्रसिद्ध एवम् वैभवशाली नगर, समाज की साहित्यिक अभिरुचि आदि बातों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रबंध के प्रथम अध्याय में भोंसला शासन की पृष्ठभूमि के अंतर्गत विभिन्न स्रोतों के आधार पर यहाँ के समाजजीवन का विस्तृत विवेचन किया गया है, अतः इस अध्याय में केवल आलोच्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त सामाजिक जीवन का संक्षिप्त विवरण मात्र दिया जा रहा है।

बहुदेवोपासना :

यहाँ ईश्वर के सगुण निर्गुण दोनों रूप मान्य थे। जनसाधारण के लिये सगुण रूप अधिक बोध्य एवम् सरल होने से यहाँके संतों ने जानबूझकर सगुणोपासना का समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप यहाँ विठ्ठल, राम, विष्णु, शिव, दत्त, जगदंबा, गणपति, हनुमान आदि देवी देवताओं के मंदिरों की स्थापना हुई। यहाँकी जनता में अवतारवाद पर श्रद्धा थी। जब जब धर्मपर विपत्ति आती है तब तब दुष्टों का संहारकर धर्मस्थापन करने के लिये एक

ही भगवान् को भिन्न भिन्न अवतार लेने पड़े हैं—श्रीमद्भगवद्गीता के इस तत्त्वपर उसका पूर्ण विश्वास था। हमारे कवियों की रचनाओं में इस विश्वास का संकेत अनेक स्थलोंपर मिलता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद देखिए :—

पुहुमि भार अघ पुहुमि पर साधु कष्ट शरीर।
धर्मस्थापन औतरे जुग जुग श्याम शरीर ॥[1]
राजत है दिनराज को बंस अवनि अवतंस।
जामें पुनि पुनि अवतरे कंसमथन प्रभु अंस ॥[2]

अवतारवाद में विश्वास होने के कारण सभी देवताओं को समान रूप में पूज्य माना जाता था। उनमें श्रेष्ठ कनिष्ठ का भाव नहीं था। शिव की उपासना करनेवाला व्यक्ति उसी भक्तिभाव से विष्णु की भी पूजा करता था। "सर्वदेव नमस्कारम् केशवम् प्रतिगच्छति" इस सिद्धांत पर इनका पूर्ण विश्वास था। आलोच्य कवियों ने अपनी रचनाओं में गणेश, विष्णु, शिव, हनुमान, विट्ठल, राम, कृष्ण, ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सरस्वती, लक्ष्मी, सीता शक्ति, देवी जगदंबा आदि देवियों की स्तुति मुक्त कंठ से की है। ग्रंथारंभ में तथा प्रसंगवश वर्णन में इसके अनेक उदाहरण सहजता से प्राप्त हो जाते हैं। विस्तारभय के कारण यहाँ उनके उदाहरण देना संभव नहीं है।

ईश्वर के सगुण रूप के अतिरिक्त उसके निर्गुण रूप को भी यहाँकी जनता में मान्यता थी। परंपरा के अनुसार विश्व की समस्त वस्तुओं में तथा जीवात्माओं में एक ही पूर्णब्रह्म की सत्ता का अस्तित्व माना जाता था। अतः पशु पक्षियों, निम्न जाति के मनुष्यों, प्राणियों के प्रति सहानुभूति का भाव प्राप्त होता है। भूतदया समाज का एक अंग बन गया था। ईश्वर की सर्वव्यापकता का श्रीसमर्थ रामदास ने जो वर्णन किया है, वह द्रष्टव्य है—

जित देखो उत रामहिं रामा, जित देखो उत पूरण कामा ॥ध्रु॥
तृण तरुवर सातो सागर, जित देखो उत मोहन नागर ॥
जल थल काष्ठ पषाण अकाशा, चंद्र सुरज नच तेज प्रकाशा ॥
मोरे मन मानस राम भजोरे, रामदास प्रभु ऐसा करो रे ॥[3]

---

१. उक्तिविलास, १।७० ।
२. भूषण, (ग्रंथावली), पृ० १२६ ।
३. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ३४४ ।

इस प्रकार यद्यपि ईश्वर के सगुण निर्गुण दोनों रूपों की उपासना यहाँ की जाती थी फिर भी निर्गुणोपासना की अपेक्षा सगुणोपासना का प्रभाव ही यहाँ के समाज में विशेष दिखाई देता है। इसके परिणामस्वरूप मूर्तिपूजा का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में रहा। वारकरी संप्रदाय में विट्ठल, महानुभाव संप्रदाय में कृष्ण, समर्थ संप्रदाय में राम, दत्त संप्रदाय में दत्तात्रेय की मूर्तियों की पूजा की जाती थी। इसके अतिरिक्त असंख्य देवी देवताओं की मूर्तियों की पूजा समान भाव से यहाँ चलती रहती थी। हमारे कवियों की रचनाओं में इन बातों का समर्थन अनेक प्रसंगों पर मिलता है। अपवादस्वरूप केवल शाहराज के 'विश्वातीतविलास' में 'शैव वैष्णव' का संघर्ष दिखाकर शिव की महत्ता का समर्थन किया गया है। शाहराज का निवास तंजौर में होने के कारण दक्षिण के शैव वैष्णव संघर्ष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया उनकी रचना में प्रतिबिंबित हुई है। शेष कवियों ने तो एकात्मवाद तथा बहुदेवोपासना का ही समर्थन किया है।

हिंदू धर्म एवम् परधर्म सहिष्णुता :

कवियों ने भोंसला राजाओं को 'हिंदुपतपातशाह', 'हिंदुन के पति', 'हिंदु छत्रपति' आदि संबोधन दिए हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ये राजा हिंदू धर्म के संरक्षक एवम् अभिमानी थे। यहाँकी जनता में हिंदू धर्म के प्रति नितांत प्रेम एवम् आदर था। उसकी रक्षा के लिये वे अपना सर्वस्व तक समर्पित करने को तैयार रहते थे। औरंगजेब जैसे महान् शक्तिशाली बादशाह को मुट्ठीभर मराठों ने नाकों दम किया था—इसका रहस्य मराठों का स्वधर्मप्रेम ही था। यहाँ वेद, पुराण, गो, ब्राह्मण आदि को बहुत सम्मान दिया जाता था। आलोच्य कवियों की रचनाओं में इस तथ्य का समर्थन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। हिंदू धर्म की रक्षा करनेवाले आश्रयदाता नृपतियों की भूरि भूरि प्रशंसा इन कवियों ने की है। इस दृष्टि से जयराम का शहाजी विषयक निम्नलिखित छंद देखिए—

इंद भयो सब हिंदुन को अरु आयुखमान यो छत्र कियो है।
ज्योंहि गोवर्धन कृष्ण धर्‍यो तर गोकुल को कुल लोक जियो है॥[1]

---

1. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २९८।

इसी प्रकार भूषण का यह छंद भी उल्लेखनीय है—

राखी हिंदुवानी हिंदुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे बेदबिधि सुनी मैं।
राखी राजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यो गुन राख्यो गुनी मैं।[१]

यद्यपि भोंसला राज्य के अधिकांश लोग हिंदूधर्मीय थे फिर भी वे कट्टर मुसलमानों की तरह संकुचित एवम् धर्मांध नहीं थे। हिंदूधर्म के स्वयम् उदार एवम् सर्वसमावेशक होने से उसके अनुयायियों में भी यह उदार दृष्टि थी। शहाजी, शिवाजी, रामदास आदि महानुभाव यद्यपि हिंदूधर्म के प्रबल समर्थक थे तथापि उन्होंने परधर्मियों पर अत्याचार कभी नहीं किया, वरन् उनके प्रति सहिष्णुता का ही व्यवहार किया। यहाँके लोगों ने इस्लाम का विरोध नहीं किया अपितु इस्लाम के नाम पर हिंदुओं पर अत्याचार करनेवाले आततायी मुसलमानों का विरोध किया। आवश्यकता पड़ने पर स्वधर्म की रक्षा के लिये इन्होंने उनका दमन भी किया। हिंदू धर्म का द्वेष अथवा विरोध न करनेवाले सदाचारी इस्लामधर्मियों की ओर यहाँकी हिंदू जनता ने भाईचारे का ही व्यवहार किया है। हिंदूधर्मियों पर अमानुष अत्याचार करनेवाले दुष्ट वृत्ति के औरंगजेब की निंदा करनेवाले भूषण ने हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा रखनेवाले उसके पूर्वज बाबर, अकबर, हुमायू, जहाँगीर, शाहजहाँ, आदि की प्रशंसा भी की है।[२]

श्रीसमर्थ रामदास के निम्नलिखित छंद में परधर्मसहिष्णुता के भाव स्पष्टतः दिखाई देते हैं—

घट घट साहिया रे अजब अलामिया रे ॥ध्रु०॥
ये हिंदु मुसलमाना दोनों चलावे, पछाने सो भावे ॥
सुरिजन हारा बडा करता है, कोई एक जाने पार ॥
अवल अखैर समझ दिवाने, अकलमंद पछाने ॥
गरीबन काज बड़ा धनी है, बंदे कमीन कमीन ॥[३]

---

१. भूषण, (ग्रंथावली), पृ० २०६।
२. देखिए, वही, पृ० २१६, छंद ४४७।
३. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ३४४।

यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि मराठों के प्रतिनिधि नेता छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी थी कि वे अभियान के समय मसजिद, कुरान तथा स्त्री को कदापि हानि न पहुँचाएँ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के लोगों ने हिंदूधर्म को शिरोधार्य करते हुए भी अन्य धर्मियों के प्रति विद्वेष की भावना नहीं रखी अपितु उनके साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया।

पापपुण्य विषयक धारणाएँ :

परंपरा से प्रचलित पापपुण्य विषयक कल्पनाएँ यहाँ के समाज में भी विद्यमान थीं। उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य को सत्कर्म से पुण्य और दुष्कर्म से पाप की प्राप्ति होती है। उनका पुनर्जन्म तथा कर्मानुसार फल-प्राप्ति पर भी पूर्ण विश्वास था। मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार ही जन्म प्राप्त होता है। सुख अथवा दुःख, स्वर्ग अथवा पाताल की प्राप्ति मनुष्य के कर्मानुसार ही होती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन में अधिक से अधिक सत्कर्म कर पुण्य प्राप्त करे। चिंतामणि के निम्नलिखित छंद में यही विश्वास दृष्टिगोचर होता है—

कान्ह कह्यो करम ते जगत की उतपति,
करम ते लय अरु करम ते थिति है।
दुख सुख छेम करम तें पावत है,
करम ते सुरग औ पाताल छिति है॥
ईसुर जो कोऊ सो तौ करम के करता,
को जो विन करम वह तासो तौ न जिति है॥
'चिंतामनि' कहै होइ ईसुर करम जेहि,
करम सो बाँधे सब जग परिमिति है॥[1]

सीताराम के निम्नलिखित छंद में भी यही धारणा व्यक्त हुई है—

सुख दुःख दाता हरि, कर्मलीक परिमान।
करि करणी भरनी वही, परी चीह्नी पहिचान॥
बँध्यो कर्म सों जगत सब, सीतल निश्चै चाह।
चंद्र सूर भरमत रहै, और ग्रसत है राह॥[2]

---

१. कृष्णचरित्र, ७।२।
२. उक्तिविलास, २।४८, २।१२०।

पुण्यप्राप्ति के लिये तीर्थाटन, पवित्र नदियों में स्नान, ब्राह्मणों को दान देना, गौ पूजन, व्रतपालन, भूतदया आदि परंपरा के अनुसार जो बातें हिंदू समाज में प्रचलित थीं उन सभी का प्रचलन यहाँ के समाज में भी था। आलोच्य कवियों की कृतियों में इनके उल्लेख प्राप्त होते हैं। भारतीयों के अतिरिक्त अन्य जातियों ने भी तीर्थस्थान का महत्व स्वीकार किया है। तीर्थस्थानों में जाने से संत समागम, चित्तशुद्धि, पुण्यादि की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ के कई लोग समस्त भारत में स्थित प्रसिद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा किया करते थे। हमारे कवियों की कृतियों में तीर्थराज प्रयाग, काशी, द्वारका, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार, पंढरपुर, रामेश्वर आदि प्रसिद्ध तीर्थों के नाम अनेक स्थानों पर आए हैं। इन्हीं तीर्थस्थानों के साथ ही साथ गंगा, यमुना, गोदावरी, भीमा, गोमती, रेवा, तापी आदि पवित्र नदियों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। लोगों का विश्वास था कि इन पवित्र नदियों में स्नान करने पर समस्त पाप धुल जाते हैं। अतः इन पवित्र नदियों में स्नान करने, उनकी पूजाकर उनमें दान आदि करने की परंपरा यहाँकी जनता में प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी। मुक्तिस्वरूपा गंगा नदी की महिमा का संकर कवि का यह वर्णन इसी विश्वास की पुष्टि करता है, देखिए—

पावन प्रवाह प्यारी पंकज नयनि जू को,
बर पानी छुयो फिरि पापु परसे नहीं।
संकर सुकवि हे अमर मूरि जह्नुसुता,
जामें मरें मानों ते गनीजे मरसे नहीं॥
सरल सलोनी मेदिनी की सुख देनी,
बयकुंठ की निसेनी ताकों कौन तरसे नहीं।
भीखम की जननी जगनमाता जंबूदीप,
जाके लखें नेक जनु जमु दरसे नहीं॥[1]

इसी प्रकार भीमा, गंगा, गोमती, तापी आदि के निम्नलिखित उल्लेख भी द्रष्टव्य हैं—

---

१. साहविलास, ६।२६६।

(१) भीमा छोड़ पाछे गंगा कू नहाई।
रमते हरीदार कासी जगाई ॥[1]

(२) गंगा गोमति रेवा तापी।
और बनारस न्हाया तो क्या जी ॥[2]

इसके अतिरिक्त उत्सव, पर्व अथवा विशेष प्रसंगपर ब्राह्मणों को संमान सहित भोजन, दक्षिणा देना पुण्यप्राप्ति का एक साधन माना जाता था। चिंतामणि ने 'कृष्णचरित्र' के अंतर्गत इस विश्वास को अत्यंत स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

बहुत मिठाई मृदु मोदक जलेबी आदि,
गोरस प्रकार पेरा आदि आगे धरिए।
विप्रन सो अनल में होम कर बैठे,
दीजै उनको भोजन नहि दक्षिना बिसरिए ॥[3]

इस वर्णन में तत्कालीन भोजन के पकवानों का भी सहज उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार के भाव अन्य कवियों की रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं। होनाजी कवि की नायिका भी अपनी समस्त संपत्ति, अलंकार आदि ब्राह्मणों को दान देना चाहती है—

कोई हिंदू बम्मन बुलावो लूटो महल खजाने।
तन पर से उतारो कुछ बाबद सब गहिने ॥[4]

ब्राह्मणों की भाँति गौ की पूजा का भी हिंदूधर्म में महत्व रहा। यह परंपरा प्राचीन काल से चली आई है। शिवाजी महाराज के लिये 'गो ब्राह्मण प्रतिपालक' की विशेष उपाधि दी जाती है। गाय की पूजा तथा उसकी रक्षा लोग अपना कर्तव्य समझते थे। इसके अतिरिक्त निम्न श्रेणी के मनुष्यों तथा जीवजंतुओंपर दया दिखाना, गणेशचतुर्थी, हरितालिका, गोवर्धन, एकादशी तथा आदि व्रतों का पालन भी पुण्यप्राप्ति के साधनों में परिगणित होता था। इन कवियों की रचनाओं में यत्रतत्र इसके संबंध में भी संकेत प्राप्त

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, (प्रभाकर), पृ० १३४।
२. हिंदी को मराठी संतों की देन, (रामदास), पृ० ३४३।
३. कृष्णचरित्र, ७१४।
४. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, पृ० १५८।

होते हैं। चिंतामणि की यशोदा ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त कूकर से लेकर चोर, चांडाल तक को भोजन देना उचित समझा है—

और पुनि कूकर ते लै कै जीव है जे और,
चोरऊ चांडाल हूते तिनहू को दीजिए।
यथाविधि गाइन को सजिए पायरा,
गिरिराज श्रीगोवरधन हेत बलि कीजिए ॥[१]

गुरु के प्रति श्रद्धा :

भारतीय समाज में गुरु का विशेष महत्व माना गया है। गुरु को ईश्वर का प्रतिरूप कहा जाता है। दुर्गम एवम् अगम्य संसार में मार्गदर्शन करने के लिये गुरु ही की आवश्यकता होती है। 'गुरु बिन कौन बताने बाट' वाला विश्वास यहाँ की जनता में पूर्ण रूप से विद्यमान था। गुरु के बिना पूर्णज्ञान नहीं मिल सकता। गुरुकृपा होनेपर मूर्ख, गँवार व्यक्ति भी परमपद प्राप्त कर सकता है। निम्न छंदों में यही विश्वास दृष्टिगोचर होता है—

झीलर सों सरिता भई सरिता सिंधु समान।
यौं निगुरा जब गुरु करैं पावै पद निर्वान ॥[२]

× × ×

(२) गुरु बिन ज्ञान मिलै ना पूरा।
मन साफी सों गुरुचरण सों भाव पकर, हो शरन ॥

× × ×

संसार नरक का मूल, नाहक लपटाया।
कर याद गुरु वस्ताद, पकर ले पाया ॥[३]

गुरु की महिमा अधिकांश कवियों की रचना में प्राप्त होती है। ईश्वर के पश्चात् यहाँ गुरु ही को श्रेष्ठ माना जाता था। इसी लिये किसी भी कार्य के प्रारंभ में इष्टदेवता के बाद गुरु ही को प्रणाम किया जाता था। लोकमणि के निम्नलिखित छंद से इसी बात की पुष्टि होती है—

नमत इष्ट के देव को, गुरुपद को शिर नाइ।
रचहु सु नवरसरंग को, सुमती करहु सहाइ ॥[४]

---

१. कृष्णचरित्र, ७।१।
२. उक्तिविलास, १।८४।
३. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४१८।
४. नवरसरंग १।४।

नैतिक शिक्षा :

आलोच्य कवियों में तुकाराम, रामदास, देवनाथ, सीताराम की रचनाओं में समाज के लिये नैतिक शिक्षा देनेवाले अनेक छंद प्राप्त होते हैं। इसके अंतर्गत सत्संग, सत्य वचन, प्राणिमात्र पर दया, जातिभेद निर्मूलन, प्रेम की महत्ता, सांसारिक प्रलोभन से विरक्ति, षड्रिपुओं का विरोध, सत्कर्म का समर्थन और दुष्कर्म का विरोध, पतिव्रता नारी का महत्त्व, चित्तशुद्धि, धार्मिक आडंबर से मुक्ति, निष्पाप प्राणियों की हत्या का विरोध आदि समाज के स्वास्थ्य के लिये उपकारक असंख्य बातों की नैतिक शिक्षा इनके काव्य में मिलती है। इनसे तत्कालीन समाज के नैतिक आदर्श की कल्पना सहजता से आ सकती है। इनका विस्तृत विवेचन एक अलग विषय हो सकता है। इन परिमित पृष्ठों में उसके प्रति पूर्ण रूप से न्याय भी नहीं हो सकेगा इसलिये उसका विवरण यहाँ न देकर समाजजीवन के अंग के रूप में संकेत मात्र करा दिया है। उदाहरण के लिये नैतिक शिक्षा के दो एक छंद देखिए—

(१) उपर खासी काया रखी, मन का मैल नहिं धोया।
हित करने को ये तन दीयो, सो हित तैं नहिं चाह्या ॥[१]

× × ×

(२) तुका संग तीन्हसु करीये, जीनथें सुष दुनाय।
दुर्जन तेरा मुष काला, थीता प्रेम घटाय ॥[२]

× × ×

(३) औगुण में सहस्र गुण, सब गुण अवगुण होय।
सुरा बुंद ज्यों गंग घट, नष्ट करै सब तोय ॥
माया को दवरो फिरत, धर्म न जानत मूढ़।
काल अचानक मारिहै, कहा तरुण कहँ बूढ़॥[३]

शाहराज ने 'विश्वातीतविलास' के अंतर्गत शंकर के द्वारा ब्रह्मा और विष्णु को इस प्रकार उपदेश दिया है—

भ्रम छोड़ो तुम समझ लेवो।
निसदिन मन में जान तुम।

---

१. हिंदी को मराठी संतों की देन, (देवनाथ), पृष्ठ ४२।
२. वही, (तुकाराम), पृष्ठ ३२८।
३. उक्तिविलास, २।३७।

लड़ो मत तुम दोउ बड़ाई करकर।
यामे कछु लाभ नहीं समझो ॥[1]

इसके माध्यम से कवि ने शिव और विष्णु के नाम पर झगड़ा करनेवाले समकालीन समाज को ही शिक्षा दी है।

प्रसाधन एवम् वेशभूषा :

भोंसला शासनकालीन समाज में प्रचलित अलंकारों एवम् वेशभूषा का विस्तृत विवेचन 'पृष्ठभूमि' के अंतर्गत किया गया है। आलोच्य कवियों की रचनाओं में विशेषतः नायक नायिकाओं के वर्णन के अंतर्गत वेशभूषा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। चिंतामणि, लोकमणि, सीताराम, संकर सुकवि, शाहराज, नृपशंभु आदि के नखशिख तथा नायिकाभेद विषयक छंदों में नायक नायिकाओं की वेशभूषा तथा प्रसाधनों का उसी प्रकार वर्णन मिलता है जिस प्रकार हिंदी के अन्य रीतिकालीन कवियों के तद्विषयक ग्रंथों में प्राप्त होता है। यद्यपि भोंसला राज्य के लोगों में से कुछ विशिष्ट वर्ग के अंतर्गत ही अधिकांश वेशभूषा तथा अलंकारों का प्रचलन रहा फिर भी वह वेशभूषा यहाँ का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त डॉ० बच्चन सिंह ने 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' में रीतिकालीन नायिकाओं की वेशभूषा एवं अलंकारों का इतना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है[2] कि उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करना वांछनीय भी नहीं है। अतः मराठीभाषी कवियों की रचनाओं में अलंकारों एवं वेशभूषा के जो वर्णन यत्रतत्र प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे भोंसला शासनकालीन प्रदेश के समाज के प्रसाधनों एवं वेशभूषा की कल्पना आ सकेगी। होनाजी की नायिका की यह महाराष्ट्रीय अलंकृति देखिए—

चंद्रकोर, सीसफूल ये झुमकेदार नथनी।
मोहनमाला और हतसर, पवच्या, कंगनी ॥

---

१. विश्वातीतविलास, पृष्ठ १६।
२. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, डॉ० बच्चन सिंह, (प्रथम संस्करण), पृ० २६१-३१५।

चिचपेट्या, आँगोठ्या, जडाव ज्योर हिरकनी।
दे डालो सबकू तोला तोला सोना ॥'

इस छंद में कथित चंद्रकोर, सीसफूल, झुमकेदार नथ, मोहनमाला, हल-सर, पवच्या (पहुँची), कंगन, चिचपेट्या, हीरों से जड़ी अँगोठ्या (अँगूठी) आदि अलंकार महाराष्ट्रीय स्त्रियों में विशेष प्रचलित हैं। आज भी ये अलंकार खानदानी घराने की महिलाएँ बड़े गर्व से पहनती हैं। इसके अतिरिक्त आँखों में काजल, भालपर कुंकुम तथा हल्दी, बालों में मोती तथा फूल, सीमंत, भुजाओं में बाजूबंद, पैरों में बिछुएँ, गले में सोना, हीरे, मोती आदि मूल्यवान् चीजों की मालाएँ, कानों में बालियाँ तथा कर्णफूल आदि अलंकारों का वर्णन आलोच्य कवियों की रचनाओं में यत्रतत्र मिलता है। यहाँकी अधिकांश महिलाओं में साड़ी तथा चोली पहनने की प्रथा थी। अमीरी तथा गरीबी के हिसाब से उनमें अंतर अवश्य रहता था। अमीरों की महिलाएँ महीन वस्त्र, बूटेदार रेशम के शालू पहना करती थीं तो गरीब महिलाएँ मोटे धागे से बने वस्त्र पहनती थीं। इसके अतिरिक्त लहँगा, ओढ़नियाँ आदि का भी प्रचलन कहीं कहीं था, जिनके उल्लेख कवियों की रचनाओं के अंतगत सहज देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

चुनड़िया लाल बुटी गहरी। ओढ़नी जरतारी लहरी ॥[2]
× × ×
लालभड़क गजणी कौं लेहँगा चंद्रकला ऊपर पेणी ॥[3]

महिलाओं की भाँति पुरुषों में भी सजधज की इच्छा रहती थी। साधारणतः यहाँके पुरुषों में धोती, कमीज, पगड़ी अथवा टोपी पहनने की प्रथा थी। कुछ दरबारी लोग पाजामे का भी उपयोग करते थे। उच्च वर्ग के पुरुष रेशम के कपड़ों का परिधान करते थे। इसके अतिरिक्त पगड़ी पर सिर-पेंच, हीरे, मोतियों की माला आदि का प्रयोग भी किया जाता। एक समृद्ध वर्ग के नायक की वेशभूषा का यह वर्णन देखिए—

आरी सखी देखो महेल आँगन पुरख।
नीचे तर को कौन खड़ा था ॥

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, पृ० १२८।
२. वही, (प्रभाकर), पृ० १२६।
३ वही, (अनंत फंदी), पृ० १४९।

सुफेद सी सिरपर पगड़ी थी।
सिर्पेंच की चमक बड़ी थी॥
हिरे और हिरकण्या जड़ी थी।
लाल सखी मैं पिहुसे बिगड़ी थी॥[1]

इस प्रकार आलोच्यकाल के समाज में प्रचलित प्रसाधन एवम् वेशभूषा का वर्णन सभी कवियों की कृतियों में न्यूनाधिक मात्रा में प्राप्त होता है। शाहराज ने जोगी की वेशभूषा का यथार्थ वर्णन किया है, देखिए--

निसदिन बन में बासे भस्म चढाये।
अंग अंग सब रुद्रक्षामाल धरे जपकर नीको।
जटा मुकुटधर बाघाँबर मोरचल कमंडल हात्त बाके।
निसिबासर शिवध्यान करें निर्मल शांत मूर्ति हे तुम॥[2]

उत्सव तथा त्योहार :

महाराष्ट्र में वर्षप्रतिपदा, रामजन्मोत्सव, हनुमानजयंती, नारियल पौर्णिमा, गणेशचतुर्थी, दशहरा, दीपावली, मकरसंक्रांति, होली, रंगपंचमी आदि अनेक त्योहार एवम् उत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाने की परंपरा अब भी विद्यमान है। पेशवाओं के समय गणेशोत्सव को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ था। आलोच्य कवियों की रचनाओं के अधिकांश विषय समाजपरक न रहने से उनमें समाज के इस अंग का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। सभी में होली के उत्सव का ही वर्णन उपलब्ध होता है। होली के दिनों में बड़ी धूम-धाम रहती हैं। शृंगार रस के घट उँडेल दिए जाते हैं। 'फागुन' के इन चार दिनों में खूब आनंद लूटा जाता है। कपड़ों पर पिचकारी से रंग डाला जाता है। इन दिनों में गालीगलौज को असभ्य नहीं माना जाता। सदा ढोल पखावज आदि की आवाज गूँजती रहती है।

इस दृष्टि से जयराम का निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

आवो फागुन मास तब देत परसपर गारि।
कवि कोविद यह विध रची सो गुणिजन गावे धमारि॥

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, (होनाजी), पृ० १६०।
२. राधावंसीधरविलास, पृ० २१।

खेलत साहे महीपति होरी।
बिबिध बसन आभूखन पहरे बनिता बनि एक गोरी ॥ध्रु०॥
लखेत फाग पिय राग रंग सो बनक बनी सुरतान की।
ताल पखावज बाजत्त लय सो वली वली हू यह गात की ॥[१]

देवनाथ का यह होली वर्णन देखिए—

होरी खेलन आई या ब्रिज की ब्रिजराणी ॥ध्रु०॥
आयो बसंत बिलासत कुंजमां। कोकिला बोले बानी ॥
कुंजगली बिच पायो कन्हय्या। मूरत ग्यान सुहानी ॥
हात गुलाल भरे भर मूठी। लयो मारत है मन मानी ॥
देवनाथ प्रभु नाथ निरंजन। मंद हँसे मू सखयानी ॥[२]

इस प्रकार का होली वर्णन न्यूनाधिक अंतर से अन्य कवियों के काव्य में भी मिलता है।

मनोरंजन के साधन :

अवकाश के समय संत्रस्त तथा व्यस्त जीवन से मुक्ति पाकर लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार मन का रंजन कर लेते थे। भोंसला शासनकालीन समाज में मनोरंजन के अनेक एवम् विविध साधन थे। अवस्था, रुचि तथा सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये साधन चुनता था। राजा महाराजाओं में शिकार खेलने तथा विभिन्न जातियों के पशु पक्षियों के संग्रह का बड़ा शौक दिखाई देता है। जयराम ने 'राधामाधवविलास चंपू' के अंतर्गत अवकाश के समय शहाजी महाराज के शिकार खेलने जाने का उल्लेख किया है। भूषण ने भी शाहू महाराज के शिकार खेलने का इस प्रकार वर्णन किया है—

सारस से सूबा करवानक से साहजादे,
मोर से मुगल मीर धीर में धचैं नहीं।
बगुला से बंगस बलूचियो बतक ऐसे,
काबुली कुलंग यातें रनमें रचैं नहीं।

---

१. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २६१।
२. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ४२८।

भूषनजू खेलत सितारे में सिकार साहु,
संभा को सुवन जातें दुवन सचें नहीं।
बाजी सब बाज की चपेट चहूँ ओर फिरें,
तीतर तुरक दिल्ली भीतर बचें नहीं।[१]

इसके अतिरिक्त चौपड़, गंजीफा, शतरंज, ताश आदि खेल भी उस समय अत्यंत प्रिय थे। ये खेल छोटे बड़े, स्त्रीपुरुष सब कोई खेल सकते थे। चिंतामणि के 'कविकुलकल्पतरु' में 'चौपर' का उल्लेख इस प्रकार आया है--

चौपर खेलत है कही, जुग ह्वै जीति सुभाइ॥
लाल जातु हैं हाथ ते, अरी चुकै यह दाइ॥[२]

सीताराम के 'उक्तिविलास' में 'शतरंज' नामक खेल का उल्लेख है--

सतुरंज खेलत सखिन तह आए घनश्याम॥[३]

उत्सवों, त्योहारों के अवसर पर नृत्य, गीत, विभिन्न वाद्य आदि का प्रयोग भी मनोरंजन के लिये किया जाता था। जनसामान्य से लेकर राजा महाराजाओं तक पोवाड़े, लावनियाँ, भारूड, ललित, लोकनाट्य आदि का प्रचलन विशेष रूप में था[४]। मनोरंजन के इन साधनों में लोकतत्व अधिक रहने से जनसामान्य में ये साधन बहुत ही लोकप्रिय रहे। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के और भी कई साधन उपलब्ध थे जिनका विवेचन इसी प्रबंध के प्रथम अध्याय के अंतर्गत किया गया है, अतः उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं है।

प्रसिद्ध एवम् वैभवशाली नगर :

आलोच्य कवियों की रचनाओं में तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध एवं वैभवशाली नगरों के अनेक उल्लेख मिलते हैं; दिल्ली, आगरा, उज्जैन, लखनऊ, अयोध्या, जयपुर, उदयपुर, अहमदाबाद, भड़ोच, श्रीरंगपट्टन, बीजापुर, औरंगाबाद, हैदराबाद, नागपुर, नासिक, सितारा, पूना आदि नगरों के उल्लेख अनेक बार आए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय ये

---

१. भूषण, ग्रंथावली', पृ २३५
२. कविकुलकल्पतरु, २।२७।
३. उक्तिविलास, २।६।
४. इन सभी प्रकारों का विस्तृत विवेचन लेखक ने 'महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य' इस ग्रंथ के अंतर्गत किया है।

शहर किसी न किसी कारण से प्रसिद्ध थे जिससे उनके प्रति जनता का सहज आकर्षण रहता था। पूना शहर छत्रपति शाहू महाराज के पेशवाओं का मुख्य केंद्र था। उसकी समृद्धि एवं वैभव संपन्नता का यह वर्णन द्रष्टव्य है --

पूना शहर निमोना श्रीमंतराव पेशवों का।
बहार बड़ी बस्ती थी कि यारो अलम् सुघर कांका।
बंगले दीवाणखाने बड़ा जोर बाँधा बाँका।
नल कारंजे हौद बनाए जागे जागे।
चौकी भरे हौदे बल की तारीफ बड़ी हाय।
जोगेसरी, बेलबाग, मुरलीधर, तुलसीबाग सजीलो ॥[1]

साहित्यिक अभिरुचि :

साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध होता है। दोनों अन्योन्याश्रयी हैं। साहित्य के बिना समाज उन्नत नहीं होता और समाज के बिना साहित्य जीवित नहीं रह सकता। अतः समाज में उत्कृष्ट तथा उच्च साहित्य निर्माण के प्रति रुचि होना उस समाज की उन्नति तथा उच्चता का द्योतक है। भोंसला शासनकालीन समाज में यह रुचि अत्यंत परिष्कृत रूप में प्राप्त होती है। यहाँके लोगों में विद्या के प्रति विशेष प्रेम था। उदार एवं समावेशक दृष्टिकोण के द्वारा उन्होंने न केवल अपनी मातृभाषा मराठी ही के साहित्य से प्रेम किया अपितु संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य के प्रति भी रसिक के नाते न्याय किया। यहाँके भोंसला राजा भी साहित्यप्रेमी थे। उन्होंने भी विभिन्न रूपों में साहित्य की उन्नति का प्रयत्न किया। यहाँके लोगों के शुद्ध साहित्यप्रेम के कारण ही इस भूमि में मराठी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्यिक ग्रंथों की रचना हो सकी। इस प्रबंध के प्रथम अध्याय के अंतर्गत साहित्यिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है, अतः यहाँ फिर से उसका विवेचन अवांछनीय है। यहाँके राजा साहित्य की उत्कृष्ट कृतियों को सामान्य जनता तक पहुँचाना चाहते थे और उसी के परिणामस्वरूप शाहजी महाराज ने संकर सुकवि को 'रसमंजरी' नामक प्रसिद्ध संस्कत ग्रंथ का 'भाषा' में अनुवाद करने की आज्ञा दी थी—

---

१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, (होनाजी), पृष्ठ १६२।

साह भूप आयसु दयो कवि संकर को आजु।
रस मंजरी भाषा करो चले जगत को काजु॥[1]

इस प्रकार कवियों की रचनाओं में, यहाँ के राजा एवं प्रजा की साहित्यिक अभिरुचि दिखाई देती है। भोंसलाकालीन समाज की यह साहित्यिक रुचि उसके उत्कर्ष एवं विकासावस्था का द्योतक है।

समाजजीवन का यह विवेचन आलोच्य कवियों की कृतियों में प्राप्त तथ्यों के आधार पर किया गया है। इन कवियों की अधिकांश रचनाएँ स्फुट एवं काव्यशास्त्रीय विषयों पर होने से समकालीन समाजजीवन का संपूर्ण चित्रण इसमें नहीं मिलता। अतः उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त तत्कालीन समाजजीवन के और भी कई पहलू हैं जिनका समावेश इन कवियों की कृतियों के अंतर्गत नहीं हो सका। इतिहास तथा समकालीन अन्य सामग्री के आधार पर इसी प्रबंध के प्रथम अध्याय में समकालीन पृष्ठभूमि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर चित्रित समाजजीवन से कवियों द्वारा वर्णित समाजचित्रण का अनेक बातों में जो साम्य दिखाई देता है, उससे कवियों के वर्णन की यथार्थता प्रकट हो जाती है।

ऐतिहासिक तथ्य :

आलोच्य कवियों की रचनाओं में तत्कालीन समाजजीवन के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ तथ्यों का विवरण अथवा उल्लेख इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध होता है, परंतु कुछ तथ्य ऐसे भी हैं कि जिनका उल्लेख तक इतिहास में नहीं मिलता, जैसे भोंसला राजाओं की 'मकरंद' उपाधि, 'भोंसला' शब्द की व्युत्पत्ति, शहाजी का अनेक भाषा कोविदत्व, मीर जुमला की शाहजी द्वारा पराजय तथा दंडरूप में कौड़ी तक न देना, शिवाजी के पुत्र संभाजी, शहाजी के पौत्र शाहराज आदि नृपतियों का साहित्यसृजन, इत्यादि। इतिहासलेखन में जिन साधनों का उपयोग किया जाता है, उनमें समकालीन व्यक्तियों द्वारा लिखित इतिहास विषयक संदर्भ अथवा उल्लेख आदि का भी अपना महत्व होता है। हमारे कवियों का किसी न किसी रूप में राजदरबारों से संबंध होने से उनके काव्य में

---

१. साहविलास, पृष्ठ १।

तद्विषयक ऐतिहासिक उल्लेख सहज एवं स्वाभाविक रीति से उपलब्ध होते हैं।

यह सत्य है कि राजाश्रित कवियों द्वारा वर्णित घटनाओं अथवा प्रसंगों में न्यूनाधिक परिमाण में अतिरंजन रहता है परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके द्वारा वर्णित घटना, प्रसंग आदि बातें सर्वथा असत्य ही होती हैं। तत्कालीन शासक तथा जनता के सामने ये कवि अपनी रचनाएँ सुनाया करते थे। अतः सर्वथा असत्य बातों का कथन उनके लिये कैसे संभव था ? अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति के समय उनके व्यक्तित्व, ऐश्वर्य, सेना आदि की संख्या, इत्यादि के संबंध में इन कवियों की रचनाओं में अतिरंजन अवश्य दृष्टिगोचर होता है जिसका तात्पर्य मात्र स्वीकार करना चाहिए, परंतु राजवंश वर्णन, ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम, घटना अथवा प्रसंग आदि के संबंध में जो वर्णन प्राप्त होता है उसमें अतिरंजन तथा कल्पना की मात्रा अत्यधिक कम है, इसलिये वह ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस प्रबंध के कवियों में प्रमुखतः जयराम और भूषण की रचनाओं में ही ऐतिहासिक तथ्य विशेष मात्रा में उपलब्ध होते हैं। शेष कवियों की रचनाओं में अपने आश्रयदाता नृपतियों की प्रशस्ति अथवा उनकी विरुदावली के प्रसंग में समकालीन व्यक्तियों के उल्लेख एकाध स्थानपर प्राप्त होते हैं, जैसे चिंतामणि के 'रसविलास' के अंत में दी गई विरुदावली में अपने प्रमुख आश्रयदाता शाहजहाँ के अतिरिक्त दारा, हृदयसाहि, जाफरखान, जैनदी मुहम्मद आदि व्यक्तियों के किए गए उल्लेख। इन वर्णनों के अंतर्गत नामोल्लेख के अतिरिक्त ऐतिहासिक घटनाओं अथवा समकालीन व्यक्तियों के जीवनचरित्र विषयक सामग्री प्राप्त नहीं होती। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से उनमें कोई महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त नहीं होते।

जयराम तथा भूषण में से भूषण की रचनाओं से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का विस्तृत विवेचन आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'भूषण'[1] तथा डा० टीकम सिंह तोमर के 'हिंदी वीरकाव्य'[2] के अंतर्गत किया गया है। अतः उनका यहाँ फिर से विवेचन करना व्यर्थ की पुनरावृत्ति मात्र होगी। इसके अतिरिक्त अनुसंधान में प्राप्त आलोच्य कवियों की संख्या अधिक होने से उनके जीवनपरिचय तथा साहित्य की समीक्षा के कारण प्रबंध का कलेवर

---

१. भूषण, पृ० ६३-१२७।

२. हिंदी वीरकाव्य, पृ. २०१-२३७।

भी आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है, अतएव इस अध्याय में ऐतिहासिक तथ्य के अंतर्गत आलोच्य कवियों की हिंदी रचनाओं में प्राप्त उन्हीं बातों का विशेष रूप में विवेचन किया जा रहा है, जिनका समावेश उपर्युक्त विद्वानों के ग्रंथों के अंतर्गत नहीं हो पाया। विस्तारभय के कारण आलोच्य कवियों की कृतियों में वर्णित राजवंश, राजवैभव, ऐतिहासिक व्यक्ति तथा घटनाएँ आदि का विवेचन अत्यंत संक्षेप में दिया जा रहा है।

राजवंश वर्णन :

जयराम[1], चिंतामणि[2] तथा भूषण[3] ने शाहजी; शिवाजी आदि भोंसला राजाओं को सूर्यवंशी बतलाया है। इतिहासों में भी भोंसला कुल को सूर्यवंशी कहा गया है।[4] अतः इन कवियों का कथन पूर्णतः इतिहास के अनुकूल है। भूषण कवि ने 'कंसमथन, प्रभुअंस' के उसी कुल में बार बार अवतीर्ण होने की बात कही है।[5] यह प्रसिद्ध है कि कंससंहारक श्रीकृष्ण का जन्म चंद्रवंशी यादव कुल में हुआ था। अतः भूषण के कथन का अभिधार्थ न लेते हुए लक्ष्यार्थ मात्र ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा छंद की प्रथम पंक्ति और द्वितीय पंक्ति के अर्थ में संगति नहीं बैठ पाती। अतः 'श्रीकृष्ण' से भूषण का अभिप्राय 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।' वाले उनके भगवान् विष्णु के रूप से लेना ही अधिक तर्कसंगत है। जयराम ने भी सूर्यवंशी शाहजी को लोकसंरक्षक गोवर्धनधारी कृष्ण की उपमा दी है।[6]

सीसौदिया वंश और भोंसला राजा :

भोंसला राजाओं को मूलतः उदयपुर के सीसोदिया वंश का माना जाता है।[7] इतिहासग्रंथों तथा समकालीन पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि इस परंपरागत विश्वास को भोंसला राजाओं, समकालीन पुरोहित, राजगुरु आदि

---

१. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २४७।
२. भाषापिंगल, छंद ३।
३. भूषण, (ग्रंथावली), छं० ४।
४. मराठी रियासत, भाग १, शहाजी, पृ० १७।
५. भूषण, (ग्रंथावली), छंद ४।
६. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २६८।
७. मराठी रियासत भाग १, शहाजी, पृ० १७।

अधिकारी व्यक्तियों तथा राजपूतों की भी मान्यता थी।[1] आलोच्य कवियों में जयराम[2] तथा भूषण[3] दोनों ने शाहजी तथा शिवाजी को सीसोदिया वंश का बतलाया है। सीसोदिया वंश के नामकरण के संबंध में दोनों का कथन एक ही है कि 'सीस देने' के कारण इस वंश का नाम 'सीसोदिया' पड़ा। इनका कथन चारणों में प्रचलित दंतकथा का अनुकरण मात्र है जिसका समर्थन इतिहासों में नहीं मिलता। वास्तव में सीसोदिया वंश का नाम सीसोदे निवासी होने के कारण पड़ा था[4]।

'भोंसला' नाम की व्युत्पत्ति :

भूषण ने 'शिवभूषण' के अंतर्गत एक छंद में 'भौंसिला' नाम की व्युत्पत्ति के विषय में लिखा है कि मालोजी के 'रनभू सिला' होने अर्थात् रणभूमि में पत्थर की शिला की भाँति दृढ़ रहने के कारण इनके वंश का 'भौंसिला' नाम पड़ा है।[5] 'भौंसला' नाम की व्युत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों में भी पर्याप्त मतभेद पाए जाते हैं। एक दंतकथा प्रचलित है कि जब अलाउद्दीन खिलजी ने चौदहवीं शताब्दी के आरंभ (सन् १३०३ ई०) में चित्तौड़ गढ़ पर अधिकार कर लिया तब राजाओं के शासक परिवार का एक व्यक्ति सज्जन सिंह या सुजान सिंह विदेशियों की विजय के कष्टों से बचकर भाग निकला। वह मुहम्मद तुगलक के क्षुब्ध शासनकाल में आजीविका की खोज में दक्षिण प्रदेशों में भ्रमण करता रहा। सज्जन सिंह का देहांत लगभग १३५० ई० में हुआ। उसकी पाँचवीं पीढ़ी के वंशज उग्रसेन के कर्णसिंह और शुभकृष्ण नामक दो पुत्र हुए। आगे चलकर कर्णसिंह के पुत्र भीमसिंह के वंशधर 'घोरपड़े' और शुभकृष्ण के वंशज 'भोंसले' कहलाए।[6]

कुछ इतिहासकारों के मतानुसार चित्तौड़ के सीसोदिया वंश के देवराजजी नामक व्यक्ति सन् १४१५ ई० के आसपास दक्षिण में आए थे। उनके वंश में

---

१. राधामाधवविलास चंपू, (प्रस्तावना), पृ० ३१।
२. वही, पृ० २५७।
३. भूषण, (ग्रंथावली), छं० ५।
४. राजपूताने का इतिहास, खं० २, पृ० ४४६–४७।
५. भूषण, (ग्रंथावली), छं० ८।
६. मराठों का नवीन इतिहास, भाग १, पृ० ४५।

एक व्यक्ति का नाम 'भोंसाजी' था और उन्हीं के नाम पर से उनके वंश को 'भोंसला' कहा जाने लगा।[1] कुछ विद्वान् 'भोंसले' शब्द की व्युत्पत्ति द्वारसमुद्र के शासक 'होयसाल' से मानते हैं। उनका कहना है कि 'भोंसला' होयसाल का विकृत रूप है। इन होयसालों को यादव वंश की एक शाखा कहा जाता है[2] 'भोंसला' को 'होयसाल' का विकृत रूप मान लेने का अर्थ हुआ कि भोंसला यदुवंशीय थे जो इतिहास के पूर्णतः प्रतिकूल है। दूसरे शहाजी के साथ यदुवंशीय जीजाबाई का विवाह संबंध हुआ था। यदि 'भोंसला' यादव वंशीय होते तो यह विवाह संबंध सर्वथा असंभव था। अतः 'भोंसला' शब्द की यह व्युत्पत्ति तर्कशून्य एवम् निराधार है।

मराठा इतिहास के विशेष अध्येता श्रीकालेजी ने अद्यावत् सामग्री के आधार पर 'छत्रपति शिवाजी महाराज' नामक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्होंने 'भोंसले' नामकरण के संबंध में विवेचन करते हुए लिखा है कि दौलताबाद-वेरुल के पास विद्यमान 'भोसली' नामक ग्राम के निवासी होने से संभवतः 'भोंसले' उपनाम पड़ा था।[3] श्रीमान् कालेजी का यह मत अधिक विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है। भूषण ने 'भौंसिला' शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है उसका समर्थन इतिहासग्रंथों तथा समकालीन अन्य ऐतिहासिक सामग्री से नहीं होता है। अतः भूषण का इसके संबंध में जो कथन है उसमें इतिहास की अपेक्षा काव्यकल्पना ही अधिक प्रतीत होती है।

भोंसला राजाओं की 'मकरंद' उपाधि :

भोंसला राजाओं में विशेषतः मालोजी, शहाजी तथा शिवाजी के लिये उनके नामों के साथ हमारे कवियों ने 'मकरंद' शब्द का प्रयोग किया है। चिंतामणि[4], जयराम[5] तथा भूषण[6] ने मालोजी के लिये 'मालमकरंद' शब्द का प्रयोग किया है। शहाजी के आश्रित वेद नामक संस्कृत कवि ने अपने 'संगीत मकरंद' नामक ग्रंथ में शाहजी के लिये साहिमकरंद तथा मकरंदशाह

---

१. हिंदुस्तानचा अभिनव इतिहास, पृ० २८।
२ मराठों का नवीन इतिहास, भाग १, पृ० ४५ (पादटिप्पणी)।
३. छत्रपति संभाजी महाराज, पृ० ८।
४. भाषापिंगल, छंद २।१६४।
५. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २४६, २४८, २५१ आदि।
६ भूषण (ग्रंथावली), छंद ६।

शब्दों के प्रयोग किए हैं।[1] चिंतामणि[2] तथा जयराम ने[3] भी शाहजी के लिये साहिमकरंद तथा भूषण ने[4] शिवाजी के लिये 'शिव सरजा मकरंद' शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि 'मकरंद' यह कोई उपाधि थी जो तत्कालीन जनता तथा मालोजी, शाहजी, शिवाजी इन भोंसला राजाओं को भी मान्य थी। इतिहासग्रंथों अथवा समकालीन पत्रों में भोंसला राजाओं के नामों के साथ 'मकरंद' शब्द का न कहीं प्रयोग हुआ है अथवा न उसके संबंध में कुछ कहा ही गया है। चिंतामणि, जयराम, भूषण आदि के द्वारा प्रयुक्त 'मकरंद' शब्द को देखकर कुछ इतिहासकारों ने उसे भोंसला राजाओं की श्रेष्ठत्वदर्शक उपाधि माना है, परंतु इसके संबंध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

राजवैभव वर्णन :

अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में उनके ऐश्वर्य एवम् वैभव का भी वर्णन इन कवियों ने स्वाभाविक रीति से किया है। भूषण ने 'शिवराजभूषण' के अंतर्गत शाहजी तथा शिवाजी के वैभव का वर्णन किया है। शाहजी के वैभववर्णन के समय वे कहते हैं—मालमकरंदजी के पुत्र शाहजी ने इतने हाथी दान में दिए जिनको सरस्वती भी नहीं गिन सकती। इनकी सभा के वैभव को देख पृथ्वी के अन्य राजागण अत्यंत मलीन दिखाई देते हैं। अपार साहसी, हिंदुओं के आधार, धैर्यवान्, समस्त सीसौदिया कुल के दीपक, वीर शाहजी खुमान राजाओं को शरण और सिपाहियों को आश्रय देने में संसार भर में प्रसिद्ध हो गए।[5] भूषण के अतिरिक्त चिंतामणि तथा जयराम ने भी शाहजी के वैभव का वर्णन किया है जो भूषण के वर्णन से खूब मिलता है। चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' (छंदविचार) में तथा जयराम कवि ने 'राधामाधवविलास चंपू' के अंतर्गत शाहजी के द्वारा दिए गए दान का वर्णन किया है।[6] दान के अंतर्गत मूल्यवान् अश्व एवम् हाथी भी

---

१. देखिए वेदकवि कृत संगीत मकरंद (हस्तलिखित प्रति तंजौर), क्र० १०७२४।

२. भाषापिंगल, छंद, ३।

३. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २४६।

४. भूषण (ग्रंथावली), पृ० १६८, छंद ३६५।

५. वही, पृ० १३०, छं० १०।

६ भाष पिंगल, ३।७२ तथा राधामाधवविलास चंपू, पृ० २७५।

रहते थे जो स्वर्ण, हीरे और मोतियों की झलकती हुई झालरों से युक्त थे।[1] ऐसे गजों एवम् अश्वों को सहजता के साथ दान करनेवाले राजा के ऐश्वर्य एवम् वैभव की सहज ही कल्पना की जा सकती है। जयराम ने 'राधामाधव-विलास चंपू' में शाहजी की राजसभा का जो विस्तृत वर्णन[2] किया है, उससे उनकी वैभवसंपन्नता का अनुमान किया जा सकता है।

शाहजी के ऐश्वर्य एवम् वैभव का जो वर्णन इन कवियों ने किया है उसका समर्थन इतिहास भी करता है। इतिहास के अनुसार 'शाहजी अपने उत्तरकालीन जीवन में बंगलौर में एक बड़े सरदार के अनुरूप राजसी ठाठबाट के साथ रहते थे। वे अपना अधिकांश समय बंगलौर ही में व्यतीत करते थे, कभी कभी कोलार और बालापुर में भी दरबार लगा करते थे। इस अपरिचित स्थान में सैनिक और प्रशासकीय कार्य के लिये उन्होंने महाराष्ट्र से मराठे परिवार बुला लिए और उनको अपने हित के लिये स्वामि-भक्त अधिकारियों के रूप में शिक्षित कर दिया। कर्नाटक के प्रदेशों में उन्होंने मराठी को राजभाषा बना दिया। उनका खुला दरबार लगता था जिसमें वे गायकों, कवियों, लेखकों और संतों का आदर सत्कार करते थे। दक्षिण के प्रदेशों की जनता शाहजी के शासन को विधाता द्वारा प्रदत्त वरदान मानती थी जो विजयनगर के प्राचीन हिंदू राज्य की परंपरा को जीवित रखनेवाला था'।[3] इससे स्पष्ट होता है कि भूषण तथा जयराम ने शाहजी के ऐश्वर्य तथा वैभव का जो वर्णन किया है वह केवल कल्पना नहीं है वरन् इतिहासानुरूप है।

भूषण ने रायगढ़ का जो वर्णन किया है उससे शिवाजी के राजवैभव का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। रायगढ़ का वर्णन करते हुए भूषण ने लिखा है कि शिवाजी ने रायगढ़ को राजधानी बनाया।[4] यहाँपर गगनचुंबी एवम् मणिजटित राजमहल शोभायमान है। मणिमालाओं, मुक्तावलियों, हीरा, नीलम, लाल, पुखराज आदि मूल्यवान् मणिरत्नों की चमक से उसका सौंदर्य विलोभनीय बना है। विविध प्रकार के जलाशय,

---

१. भाषापिंगल, १।७२।
२. राधामाधवविलास चंपू, सप्तमोल्लास।
३. मराठों का नवीन इतिहास, भा० १, पृ० ८०-८१।
४. भूषण (ग्रंथवली), पृ० १३२, छं० २४।

पक्षीगण, लतादुम, फलफूल आदि के कारण रायगढ़ की प्राकृतिक शोभा अवर्णनीय बनी है।[1]

ऐतिहासिक विवरण के अनुसार रायगढ़ का प्राचीन नाम रायरी है। यह गढ़ कुलाबा जिले के अंतर्गत महाड तालुके में पूना से ३२ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। इसकी ऊँचाई सागर की सतह से २८५१ फुट है। सन् १६४८ ई० में इसका नाम रायगढ़ रखकर शिवाजी ने यहाँ अपनी राजधानी बनाई। इसमें विविध प्रकार के लगभग तीन सौ पाषाणनिर्मित भवन थे। सन् १६६४ ई० में सूरत की लूट के धन से यह नगर और भी धनधान्य से पूर्ण हो गया था। इसी दुर्ग में सन् १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ था।[2] इस स्थान पर राजधानी के अनुकूल सभी सुख-सुविधाएँ, बारूदखाने, धान्यागार, सरोवर, लगभग तीन सौ भवन, भव्य राजमहल तथा दरबार महल, जगदीश्वर का मंदिर आदि को शिवाजी ने योजनापूर्वक बनवाया था। इस प्रकार स्वतंत्र राज्य की राजधानी के लिये योग्य राजवैभव यहाँ विद्यमान था।[3]

यदुनाथ सरकार ने रायगढ़ में स्थित शिवाजी के सिंहासनगृह का वर्णन करते हुए लिखा है—इस गृह की सजावट के लिये बहुत ज्यादा धन रत्न खर्च किए गए थे। छत के नीचे जरी का चँदोवा टँगा गया था जिसमें मोतियों की लड़ियाँ झूलती थीं। जमीनपर मखमल का फर्श बिछा हुआ था। बीच में मूल्यवान् नवरत्नों से खचित एक बड़ा भारी सोने का सिंहासन था। सिंहासन के नीचे का भाग सोने से मढ़ा हुआ था। आठों कोने में सोने के पत्तर मढ़े हुए मणिजटित आठ खंभे थे। इन आठ खंभों के सिरेपर चमकीली जरी का चँदोवा टँगा था जिसमें जगह जगह मोतियों के गुच्छे, हीरे और पदमराग इत्यादि झूलते थे।[4]

ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट होता है कि भूषण द्वारा वर्णित रायगढ़ का वर्णन केवल काल्पनिक ही नहीं है अपितु इतिहासानुकूल है। भूषण ने रायगढ़ में स्थित जिन पेड़पौधों का वर्णन किया है उनमें 'लवली लवंग

---

१. भूषण ग्रंथावली, छं० १५-२४।
२. इंपीरिअल गजेटियर ऑव् इंडिया, भा० ११, पृ० ३६३-३६४, (सन् १८८६ ई०)।
३. छत्रपति शिवाजी महाराज, पृ० १८१।
४ शिवाजी, सर यदुनाथ सरकार, पृ० १०७-८।

यलानि केरे' के साथ ही 'दाख दाड़िम सेव' भी है। कुछ विद्वानों ने इसे 'परंपरागत लकीर का पीटना' मात्र कहा है और अपने समर्थन में यह भी लिखा है—उपवन का वर्णन करते समय भूषण ने वृक्षों, लताओं तथा पक्षियों के नाम गिननेवाली परिपाटी का अनुकरण किया है। वे वृक्षादि वहाँ उत्पन्न होते हैं या नहीं इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। दाख, दाडिम, सेव आदि उत्तरी भारत के वृक्ष दक्षिण में लगाकर उन्होंने देशदोष एवम् अज्ञान का परिचय दिया है।[१] भूषण ने परंपरागत परिपाटी का अनुकरण किया है यहाँतक यदि कोई कहे तो वह एक दृष्टि से स्वीकार भी किया जा सकता है, परंतु 'दाख, दाडिम, सेव आदि उत्तरी भारत के वृक्ष दक्षिण में लगाकर भूषण ने अज्ञान का परिचय दिया है'—यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे कई वृक्ष हैं जो उत्तर तथा दक्षिण भारत में समान रूप से न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं। दाख और दाडिम तो महाराष्ट्र की भूमि में सहजता के साथ सर्वत्र देखे जाते हैं। रही बात सेव की। उसका समर्थन समकालीन प्रमाणों एवम् इतिहासों के आधार पर किया जा सकता है। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि विशेष प्रयत्न एवम् परिश्रम से किसी विशिष्ट वृक्ष को उसके अनुकूल खाद आदि डालकर सफलता के साथ लगाया जा सकता है। भूषण के समकालीन कवि जयराम ने 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' नामक संस्कृत ग्रंथ में 'महाड़' नगर का प्राकृतिक वर्णन इस प्रकार किया है—

ततस्तीरे तु सावित्र्या महाहनगरोत्तमे।
नालिकेरेक्षुपनसखर्जूराम्रातकैर्वृते॥
दाडिम्याक्रोटकदलीद्राक्षामंडपसंकुले।
मध्याह्नमनयद्राजा तालव्यजनवीजितः॥[२]

यह प्राकृतिक वर्णन महाड़ नगर का है और रायगढ़ दुर्ग इसी महाड़ जिले के अंतर्गत तथा पार्श्व में है। जब महाड़ की पार्श्ववर्ती भूमि में दाख, खजूर, दाडिम, आक्रोड आदि फलों के वृक्ष हो सकते हैं तो रायगढ़ में जहाँ शिवाजी जैसे प्रकृतिप्रेमी की विशेष व्यवस्था थी वहाँ, इनका होना कैसे असंभव है! इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक पत्रों से ज्ञात होता है कि छत्रपति शिवाजी से लेकर छत्रपति शाहू तक सभी मराठा शासकों में फलों के प्रति

---

१. हिंदी वीरकाव्य, डॉ० टीकमसिंह तोमर, पृ० १४९।
२ पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान, पृ० १६, १३-४।

विशेष प्रेम था। शिवाजी महाराज ने अपनी राजधानी रायगढ़ जैसे पहाड़ी दुर्गपर विशेष आज्ञा देकर देशी तथा विदेशी फलों के वृक्ष लगवाए थे।[1]

भूषण ने रायगढ़ में 'छहु रितु बसत बसंत' कहा है। इसका तात्पर्य इतना ही लेना चाहिए कि वहाँ का प्राकृतिक वातावरण सभी ऋतुओं में बसंत ऋतु जैसा आह्लाददायक एवम् मनोहर था। संभव है कि शिवाजी ने वहाँके उद्यानादि के संबंध में विशेष व्यवस्था रखी हो जिससे वहाँ सभी ऋतुओं में बसंत सा वातावरण प्रतीत होता था। हिंदी के मर्मज्ञ समीक्षक आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने इसके संबंध में जो मत प्रदर्शित किया है वह ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतः संगत एवम् महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं—'राजा रईस अपने बगीचों में से शौकिया दूसरे देशों के फल फूल के पेड़ पौधे भी लगाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से रायगढ़ समशीतोष्ण भी हो सकता है। अतः वर्षभर बसंत की सी स्थिति कहना कविप्रौढोक्तिसिद्ध न होकर प्रकृतिसिद्ध भी है।[2] ऐतिहासिक तथा सत्य स्थिति के अध्ययन के अभाव में भूषण जैसे कवि को अज्ञानी कहना उनके प्रति अन्याय करना है।

भूषण ने शाहजी, शिवाजी के अतिरिक्त उनके संपर्क में आए हुए अनेक छोटे मोटे राजाओं तथा उमरावों के लिये प्रसंगवश कुछ प्रशस्ति के छंद लिखे हैं जिनमें प्रशंसित व्यक्ति के वैभव का संकेत न्यूनाधिक मात्रा में मिल जाता है। इसी प्रकार चिंतामणि ने भी शाहजी के अतिरिक्त शाहजहाँ, दाराशिकोह, हृदयसाह, रुद्रशाह सुलंकी आदि की प्रशस्ति के कुछ छंद लिखे हैं जिनमें इन राजाओं द्वारा दिए गए दान का वर्णन भी है। इस प्रकार शाहजी और शिवाजी के अतिरिक्त अन्य आश्रयदाताओं के संबंध में भूषण और चिंतामणि के जो प्रशस्तिपरक छंद उपलब्ध हैं उनमें उनके राजवैभव का विशेष एवं विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता। इन शासकों द्वारा दिए गए 'दान' से उनके ऐश्वर्य एवं वैभव की कल्पना मात्र की जा सकती है। विस्तारभय के कारण यहाँ उन सभी का विवरण देना संभव नहीं है। राजवैभव के अंतर्गत राजाओं की 'सेना' का भी समावेश हो जाता है परंतु इसका भी ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन 'हिंदी वीरकाव्य' के अंतर्गत किया गया है।[3] इसलिये उसकी पुनरपि चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

---

१. महाराष्ट्र दर्शन: गो० नी० दांडेकर, पृ० ६२।
२. भूषण (अंतदर्शन), पृ० २१।
३. हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ २३६-२३७।

व्यक्तिपरिचय :

आलोच्य कवियों में भूषण ही एक ऐसे कवि हैं कि जिनकी रचनाओं में अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शेष कवियों की रचनाओं में ऐतिहासिक व्यक्तियों के उल्लेख अवश्य पाए जाते हैं, परंतु भूषण की भाँति प्रचुर मात्रा में नहीं। इन कवियों द्वारा उल्लिखित व्यक्तियों में अधिकतर पुरुषों के ही नाम दृष्टिगत होते हैं। ढूँढ़ने पर ही एकाध नाम स्त्री पात्र का मिल सकेगा।

भूषण की रचनाओं में[1] उल्लेखित ऐतिहासिक व्यक्तियों में शिवाजी के पितामह मालोजी, शाहजी, शिवाजी, संभाजी, शाहू, बाजीराव, छत्रसाल, हृदयरामसुत रुद्र सोलंकी, बीरबल, भगवंत (भगवानदास), मानसिंह, चंपतिराय, जयसिंह, जसवंतसिंह, सुजानसिंह, भगवंतराय, भाऊ, राव बुद्ध, अमरसिंह, चंद्रावत, मोहकमसिंह, किशोरसिंह, करन (राव कर्णसिंह), रामसिंह, जगतसिंह, महासिंह, उदैभान, चिमणाजी आप्पा, अवधूतसिंह, अनिरुद्धसिंह, तथा बाबर, अकबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, दारा, मुराद, शाहशुजा, तहवरखान (तहव्वरखान), अफजल खाँ, अब्बासशाह, अदिलशाह, कुतुबशाह, खुवासखाँ, नवसेरी खाँ (नौशेरी खाँ), कारतलब खाँ, दलेल खान (दिलेरखाँ), बहलोल खाँ, अल्ली फते, शेर खाँ (लोदी), अनवर खाँ, अमी खां, सिरजे खाँ, याकूत खाँ, महाबत खाँ, अबदुल्ल समद (सैफुद्दौला नवाब अब्दुस्समद खाँ बहादुर दिलेरजंग), महमद बंगस, सआदत खाँ, दाऊद खाँ आदि के नाम प्रमुख हैं।

इनमें से अधिकांश का इतिहासों के आधार पर संक्षिप्त व्यक्तिपरिचय डॉ० टीकमसिंह तोमर के 'हिंदी वीरकाव्य' के अंतर्गत दिया गया है।[2] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने अपने 'भूषण' के अंतर्गत उपर्युक्त व्यक्तियों में से छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल, साहूजी, बाजीराव, चिंतामणि, अवधूत सिंह, हृदयरामसुत रुद्र सुलंकी, जयसिंह, रामसिंह, अनिरुद्धसिंह, बुद्धराव, अफजलखाँ, अब्बासशाह, अमरसिंह, अल्लीफते, इखलास खाँ, उदैभान, कर्णसिंह, कारतलब खाँ, किशोरसिंह खवास खाँ, जसवंत सिंह, दारा, नवसेरी खाँ, फतेह खाँ, बहलोल खाँ, बहादुर खाँ, भाऊसिंह, महाबत खाँ,

---

१. भूषण (ग्रंथावली) में संकलित समस्त छंद।

२. हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ २०४–२५०।

मोहकमसिंह, याकूत खाँ, रुस्तमे जमाँ, शाइस्ता खाँ, शाहशुजा, शेर ख़ाँ लोदी सिरजे खाँ, सुजानसिंह का विस्तृत परिचय दिया है।[1] इसके अतिरिक्त मालोजी, शाहजी, शिवाजी, संभाजी, शाहू, बाजीराव आदि का परिचय इस प्रबंध के प्रथम अध्याय के अंतर्गत भी दिया गया है;[2] अतः इन व्यक्तियों का फिर से यहाँ परिचय देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

डॉ० टीकमसिंह तोमर ने अनिरुद्ध, अवधूतसिंह, अल्लाफते, अंकुश खाँ, याकूत खाँ को अनिश्चित पात्रों के अंतर्गत रखा है,[3] परंतु आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने अपने विवेचन में इन पात्रों का जो परिचय दिया है,[4] उससे स्पष्ट होता है कि ये पात्र अनिश्चित नहीं हैं वरन् निश्चित और ऐतिहासिक हैं। हृदयरामसुत रुद्र को डॉ० टीकमसिंह तोमर ने अनिश्चित पात्रों में रखा है,[5] तो आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन्हें गहोरा के हृदयराम सुरकी माना है।[6] इसी प्रबंध के द्वितीय अध्याय में लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भूषण के ये पदर्वादाता हृदयराम सुरकी न होकर हृदयराम सुलंकी के पुत्र रुद्र ही थे।[7]

भूषण के अतिरिक्त जयराम के 'राधामाधवविलास चंपू' के अंतर्गत जो हिंदी रचना है उसमें भी कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें उल्लिखित ऐतिहासिक व्यक्तियों में मालमकरंद, शाहजहाँ, शिवाजी, अफजल खाँ, मीरजुमला, संताजी, मुहम्मद आदिलशाह, जगदेव, यखलास खाँ, सावंतराय आदि के नाम हैं। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त शाहजी के दरबारी कवियों का उल्लेख भी जयराम ने किया है जिसका विवेचन इसी प्रबंध के तृतीय अध्याय के अंतर्गत हो चुका है।[8] ऐतिहासिक व्यक्तियों में मीरजुमला, संताजी, मुहम्मद आदिल शाह, जगदेव, यखलास खाँ और सावंतराय का परिचय

---

१. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ ६३-१२७।
२. द्रष्टव्य, इसी प्रबंध का प्रथम अध्याय, राजनीतिक पृष्ठभूमि।
३. हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ २१०।
४. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ ६४, ६५, ११२, १२४।
५. हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ २१०।
६. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ ६४-६५।
७. द्रष्टव्य, इसी प्रबंध का द्वितीय अध्याय, भूषण के अंतर्गत 'हृदयरामसुत रुद्र' का विवेचन।
८. इसी प्रबंध का तृतीय अध्याय।

भूषण की रचनाओं के अंतर्गत नहीं हो पाया, अतएव केवल उन्हीं का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

मीरजुमला :

ये ईरान के इसफहान नामक स्थान के निवासी थे। इनका मूल नाम मुहम्मद सैयद था। सन् १६३० ई० में ये गोलकुंडा में आए और जौहरी के रूप में प्रसिद्ध हुए। अपने कर्तृत्व से इन्होंने अब्दुल कुतुबशाह का दीवानपद प्राप्त किया। ये किसी राजा की भाँति ऐश्वर्य के साथ रहते थे। इन्होंने अपने पास योरोपियन सेना रखी थी। उस सेना की सहायता से तथा अपनी बुद्धिमत्ता से कडप्पा, गंडीकोट किला आदि प्रदेशों पर तथा हीरों की खानों पर इन्होंने अधिकार कर लिया। इनका ऐश्वर्य एवम् कर्तृत्व देखकर स्वयम् कुतुबशाह के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वे भी इनका विरोध करने लगे। तब इन्होंने औरंगजेब की सिफारिश से शाहजहाँ के यहाँ सन् १६५५ ई० में नौकरी स्वीकार की। शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब ने इन्हें सन् १६६० ई० में बंगाल के सूबेदार के पदपर नियुक्त किया।[१] कूचबिहार तथा आसाम पर मुगलों ने जो अधिकार प्राप्त किया उसमें मीरजुमला का ही सबसे प्रमुख कार्य था। मुगल दरबार में इनका महत्वपूर्ण स्थान था।[२] मीरजुमला अत्यंत शूर एवम् दूरदर्शी थे। जयराम ने शाहजी और मीरजुमला के युद्ध का सुंदर वर्णन किया है।[३]

संताजी :

जयराम ने इन्हें शाहजी के पुत्र तथा उनका दाहिना हाथ कहा है और इनके पराक्रम का वर्णन किया है।[४] इतिहास में शाहजी के दासीपुत्र का नाम संतोजी मिलता है[५] जो उन्हीं के परिवार में राजकुमार की भाँति रहते थे। कुछ इतिहासों में संतोजी के स्थान पर संताजी नाम भी मिलता है।[६] अतः यह निश्चित हो जाता है कि जयराम द्वारा वर्णित संताजी ये ही हैं।

---

१. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, श्रीसिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृष्ठ ६३९-६४०।

२ हिस्ट्री ऑव् औरंगजेब, भा० ३, पृ० १७८-८३।

३. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५५।

४. वही, पृ० २६ ।

५. युगप्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज, बा० कृ० भावे, (सन् १९५५ ई०), पृष्ठ २९५-९६।

६ मराठों का नवीन इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३०९।

शाहजी के पुत्र तथा शिवाजी के सौतेले भाई एकोजी के पास ही ये प्रारंभ से रहते थे। जब शिवाजी कर्नाटक में आए थे तब उनके असामान्य व्यक्तित्व एवम् पराक्रम को देखकर संतोजी ने अपना समस्त जीवन उन्हीं की सेवा में व्यतीत करने का निश्चय किया और तबसे संतोजी शिवाजी के पास ही रहने लगे। अत्यंत पराक्रमी एवम् युद्धनीति में पारंगत होने से शिवाजी को इनका अमूल्य साहाय्य हुआ।[१] इससे स्पष्ट होता है कि जयराम का संताजी विषयक वर्णन इतिहासानुकूल ही है।

मुहम्मद आदिलशाह :

ये बीजापुर के आदिलशाह इब्राहीम द्वितीय के पुत्र थे। बीजापुर का प्रसिद्ध गोलगुंबज इन्हीं की आज्ञा से बनवाया गया। विलासी होने पर भी प्रजा के संरक्षण की ओर इनका सदैव ध्यान रहता था। इनका शासनकाल अत्यंत समृद्ध रहा। इन्होंने अपने राज्य में अनेक सुधार किए। राज्यसंरक्षण तथा राज्यविस्तार के हेतु इन्होंने जो लड़ाइयाँ कः उनमें से अधिकांश में इन्हीं की विजय हुई।[२] इतिहास से ज्ञात होता है कि आदिलशाही के संरक्षण तथा राज्यविस्तार में शाहजी का बहुत ही बड़ा हाथ था। गुणग्राहक एवम् दूरदर्शी मुहम्मद आदिलशाह शाहजी के कर्तृत्व एवम् पराक्रम से भलीभाँति परिचित थे[३], इसलिये वे सत्य को स्वीकार कर किसी प्रकार का संकोच न करते हुए कहते थे कि 'मेरी सब बादशाही शाहजी ने राखी है।[४] ता ४ नवंबर १६५६ ई० को इनकी मृत्यु हुई।[५]

जगदेव :

जयराम ने इनका उल्लेख मालोजी के दानवर्णन के प्रसंग में किया है और कहा है कि मालोजी के गुण एवम् दान के आगे जगदेव का कोई मूल्य नहीं है।[६] लोककथाओं, साहित्यिक ग्रंथों तथा इतिहासों में जगदेव के विलक्षण शौर्य तथा अलौकिक दानशूरता का वर्णन मिलता है। एक आदर्श तथा स्वामिनिष्ठ वीर पुरुष के रूप में इसका स्मरण अनेक स्थानों पर किया गया है।

---

१. युगप्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज, पृष्ठ २६५-६६।
२. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृ० ६४१।
३. मराठी रियासत, भा० १, (शहाजी), पृ० ६२।
४. राधामाधवविलास चंपू. पृ० २४८।
५. मराठों का नवीन इतिहास, भा० १, पृ० ६१।
६. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५८।

राजस्थान में 'जगदेव का पँवारा' अत्यंत श्रद्धा तथा उत्साह से गाया जाता है। जगदेव धार के परमारवंशीय राजा उदयादित्य की जेष्ठ पत्नी सुलंकनी का पुत्र था। अपनी सौतेली माँ बघेलनी माँ की इच्छानुसार तथा अपने सौतेले छोटे भाई रणधवल के हित की दृष्टि से स्वाभिमान तथा त्याग के साथ वह धारानगरी छोड़कर अपनी वीरपत्नी वीरमती के साथ दूर के रिश्तेदार पाटन के महाराज सिद्धराज जयसिंह के पास पहुँचा। जगदेव की वीरता तथा स्वामिनिष्ठा से प्रसन्न होकर सिद्धराज ने उसे अपने आश्रय में सम्मान के साथ रखा। जगदेव ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर सिद्धराज को एक भयंकर संकट[1] से मुक्त कर लिया। जगदेव की दानवीरता के संबंध में प्रमुखतः दो प्रकार की कथाएँ मिलती हैं—एक के अनुसार[2] सिद्धराज ने जगदेव की स्वामिनिष्ठा देखने के हेतु जान बूझकर परीक्षा ली थी। कुछ रोती हुई स्त्रियों को जगदेव के पास भेजकर यह कहलाया गया कि सिद्धराज की आयु थोड़े ही दिनों में समाप्त होनेवाली है अतः यदि जगदेव अपना बलिदान दे दे तो सिद्धराज की आयु बीस साल और बढ़ सकती है। जगदेव ने अपनी पत्नी वीरमती को तथा बच्चों को समझाया परंतु वे नहीं माने। वे भी जगदेव के साथ खुशी से आत्म बलिदान को तैयार हुए। देवी के मंदिर के सामने बलि चढ़ाने के यंत्र में जगदेव तथा उसका परिवार अपने स्वामी सिद्धराज के कल्याण के हेतु सहर्ष बैठा तब परीक्षा लेने-वाले सिद्धराज का हृदय गदगद हो उठा और उसने जगदेव की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए कहा—'ऐसी स्वामिनिष्ठा विरले ही व्यक्तियों में मिल सकती है।' ऐसे स्वामिनिष्ठ वीर की गाथा अमर रहेगी तो कोई आश्चर्य नहीं है।

दूसरी कथा के अनुसार जगदेव की सत्यपरीक्षा लेने के लिये स्वयम् भगवती देवी उसके घर चारिणी के रूप में गईं और जगदेव तथा उसकी पत्नी वीरमती के पूछने पर उन्होंने जगदेव का सिर दान में माँगा और वह भी वीरमती से हाथों से। ऐसे कठिन प्रसंग पर भी दोनों ने प्रसन्नता के साथ चारिणी की याचना को स्वीकृति दी और वीरमती ने थाल में अपने पति का

---

१. पदमावत, संपादक वासुदेवशरण अग्रवाल, (प्रथमावृत्ति), पृ० ६६४, ६७४। तथा —

२. भारतवर्ष की वीर और विदुषी स्त्रियाँ, (प्रथम भाग), (१९१२ ई०)। संपादक श्याम लाल वर्मा।

सिर भगवती को दान के रूप में समर्पित किया[1]। सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल १०९४ से ११४३ ई० तक था।[2] अतः यह स्पष्ट है कि जगदेव सिद्धराज के यहाँ इसी के बीच कभी आए होंगे। सिद्धराज की आयु का माँगा हुआ दान इस बात का द्योतक है कि सिद्धराज की प्रौढ़ावस्था में जगदेव उसके पास थे।

शामजी सावंतराय :

'राधामाधवविलास चंपू' के वर्णन से ज्ञात होता है कि मुहम्मद आदिलशाह ने शाहजी विषयक अपनी आदरभावना इनके पास व्यक्त की थी।[3] इससे अनुमान होता है कि ये सावंतराय आदिलशाह के कोई विश्वसनीय व्यक्ति थे। इतिहासाचार्य राजवाडे ने इन्हें 'राजनीतिज्ञ' कहा है और यह भी लिखा है कि मुहम्मद आदिलशाह के साथ शाहजी का पत्र-व्यवहार इन्हीं के द्वारा होता था।[4] इतिहास से ज्ञात होता है कि इनके वंशज कोंकण के कुडाल नामक प्रांत के निवासी थे। बीजापुर के आदिलशाही की ओर से इन्हें सदैव प्रोत्साहन एवम् साहाय्य प्राप्त होता था जिसके फलस्वरूप ये अंत तक आदिलशाही के आश्रित रहे।[5] इतिहासों में सावंत वंश के लखम सावंत, खेम सावंत आदि के नाम मिलते हैं परंतु शामजी सावंत का उल्लेख नहीं मिलता।

यखलास खान :

ये बीजापुर के आदिलशाह के कोई सरदार थे। जयराम ने लिखा है कि 'पिंगोडा' पर शाहजी ने विजय पाई परंतु उसका श्रेय यखलास खान को दिया गया।[6] इससे ज्ञात होता है कि ये कोई उच्च श्रेणी के तथा पराक्रमी व्यक्ति थे। इतिहासों में यखलास खान का उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. विस्तृत जानकारी के लिये पढ़िए, जगदेव की कहानी, स्व० मैथिलीशरण गुप्त, (पदमावत, पृ० ७३५)।
२. टॉड कृत 'राजस्थान', भा० १, खंड-१, प्रधान संपादक डॉ० रघुवीर सिंह, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १५२।
३. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५८।
४. वही, (प्रस्तावना), पृ० २६।
५. युगप्रवर्तक श्री शिवाजी महाराज, पृ० १८६।
६. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५६।

भूषण तथा जयराम के अतिरिक्त चिंतामणि के ग्रंथों में शाहजी, शाहजहाँ, दाराशिकोह, हृदयसाह, जैनदीं मुहम्मद तथा जाफरखान—इन ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है। इनमें से शाहजी, शाहजहाँ तथा दाराशिकोह का परिचय भूषण द्वारा उल्लिखित व्यक्तियों के अंतर्गत किया गया है, अतएव शेष व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जायगा।

हृदयशाह :

चिंतामणि ने 'रसविलास' के अंतर्गत प्रेमशाह के पुत्र हृदयशाह की वीरता की प्रशंसा की है।[१] ये गोंड थे और गढा के निवासी थे, जो जबलपुर जिले का एक गाँव है। ये राजा अपने पिता प्रेमशाह की मृत्यु के बाद सं० १६६१ के आसपास गद्दी पर बैठे थे और संवत् १७२० तक जीवित रहे।[२] इनके आश्रित मुरलीधर 'कविभूषण' ने इनका नाम 'हृदयशाह' के अतिरिक्त 'हृदयनारायण' भी दिया है।[३] शाहजहाँ ने हृदयशाह की सहायता के लिये पहाड़सिंह पर चढ़ाई की थी।[४] मुरलीधर तथा चिंतामणि के हृदयशाह विषयक वर्णनों से ज्ञात होता है कि ये अत्यंत वीर, दानी, दयालु तथा प्रजाहितदक्ष थे।[५]

जैनदीं मुहम्मद :

ये चिंतामणि के आश्रयदाता थे। 'रसविलास' के अंतर्गत इनकी वीरता का भी चिंतामणि ने वर्णन किया है।[६] संवत् १६९० वि० में इनको शाहजहाँ ने मनसबदारी के पदपर नियुक्त किया था।[७] ये स्वयम् कवि और कवियों के आश्रयदाता थे।[८]

---

१. रसविलास, ८।२८, ८।३३।

२. बुंदेलखंड का इतिहास, पृ० १४६।

३. छंदोहृदयप्रकाश, पृ० ४ तथा ९४–९५।

४. बुंदेलखंड का इतिहास, पृ० १४६।

५. देखिए, 'छंदोहृदय प्रकाश' तथा 'रसविलास की बिरुदावली'।

६ रसविलास, ८।१८३-१८४।

७. मआसिर उल उमरा, (हिंदी अनुवाद), पृ० ३४४।

८. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० १५६।

आगे चलकर नाना फडणीस और सवाई माधवराव में अनेक बातों में मतभेद होने लगे। नाना फडणीस के विरुद्ध सवाई माधवराव ने बाजीराव से गुप्त पत्रव्यवहार चालू रखा. जिसके लिये नाना ने पेशवा का निषेध किया। इस बात का सवाई माधवराव के मन पर जो प्रभाव हुआ उसके परिणामस्वरूप ये ज्वर तथा वात रोग से बीमार पड़े। १५ अक्तूबर १७९५ के दिन इन्होंने 'शनिवार वाडे' के ऊपरी मंजिल से नीचे के फुहारे पर कूदकर आत्महत्या की।[1] सवाई माधवराव के शासनकाल में मराठों का राज्यविस्तार एवम् आतंक लगभग समस्त भारत भर में फैला था।[2] अनंत फंदी ने इसी तथ्य का वर्णन अपनी रचना में किया है।[3]

नाना फडणीस :

नाना फड़णीस का जन्म सन् १७४१ ई० में हुआ। इनकी शिक्षा दीक्षा प्रथम माधवराव पेशवा के साथ ही हुई। सन् १७६३ ई० में इन्हें पेशवा दरबार में फडणीस का पद मिला। नाना ने पेशवाई में तीस पैंतीस वर्ष व्यतीत किए। कुशाग्र बुद्धि, असाधारण स्मरणशक्ति, स्वामिनिष्ठा, व्यवहार-चातुर्य, राजकारणपटुता, नियंत्रणक्षमता आदि गुणों के कारण स्वयम् पेशवा से लेकर सभी पर उनका प्रभाव एवम् आतंक था। स्वकीय शत्रुओं पर नियंत्रण रखना, परकीय शत्रुओं को मराठा राज्य में प्रविष्ट न होने देना तथा मराठा साम्राज्य का विस्तार एवम् यश चहुँओर बढ़ाना—ये तीन महत्त्व-पूर्ण कार्य इन्होंने बड़ी सफलता से किए। स्वयम् पेशवा भी इनके परामर्श के बिना स्वतंत्र निर्णय तक नहीं ले सकते थे।[4] समकालीन कवि अनंत फंदी ने इनके संबंध में जो लिखा है उसमें यही ऐतिहासिक तथ्य है—

बिनधार से राज्य चलाया ना किससे चकमक झड़ी।
कैक मुत्सद्दी चुप गए बस भए नाना की तो अकल बड़ी॥[5]

निजामअली :

ये निजामउल्मुल्क असफजाह के चौथे पुत्र थे। इन्होंने पेशवों के साथ 'राक्षसभुवन' पर लड़ाई की जिसमें इनकी पराजय हुई। मराठों के चौथाई

१. मराठी रियासत, उत्तर विभाग १, पृ० ४६६।
२. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्र कोश, पृ ६३०।
३. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य (अनंत फंदी), पृ० १४७-१४८।
४. हिंदुस्तानचा अभिनव इतिहास, पृ० ४०१।
५. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य (अनंत फंदी), पृ० १४७।

(चौथ) के दो करोड़ रुपए देना इन्होंने अस्वीकार किया जिसके परिणामस्वरूप मराठों ने खर्डा की लड़ाई में इनको पूर्णतः हरा दिया।[१] अनंत फंदी ने अपने पोवाड़े में मराठों द्वारा निजामअली के भगाए जाने का उत्तम वर्णन किया है।[२]

टीपू :

ये मैसूर के राजा हैदरअली के ज्येष्ठ पुत्र थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् दिसंबर १७८२ में ये मैसूर की गद्दी पर बैठे। टीपू ने सत्रह वर्ष राज्य किया। ये चंचल स्वभाव के, लोभी, अविश्वासी, क्रूर तथा धर्मांध थे। इन्होंने हिंदू प्रजा पर अनेक ज़ुल्म किए। टीपू युद्धनीति में अत्यंत निपुण एवं शूर थे।[३] मराठों के साथ इनकी दो लड़ाइयाँ हुईं जिनमें इनकी हार ही हुई।[४] अनंत फंदी ने 'टीपू सरीखे लाए बगल में' कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।[५]

अनंत फंदी ने 'नाना फड़णीस का पोवाड़ा' के अंतर्गत दाभाडे, पाटणकर, निंबालकर, हरिपंत फड़के, आप्पा बलवंत मेहेंदले, रास्ते, पवार, जाधव इत्यादि अनेक मराठा सरदारों के नामों को गिनाया है। विस्तारभय के कारण इन सभी का परिचय देना वांछनीय प्रतीत नहीं होता।

घटनावली :

ऐतिहासिक व्यक्तियों की भाँति हमारे कवियों में भूषण ही की रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख तथा वर्णन प्रचुरता के साथ मिलते हैं। भूषण के अतिरिक्त जयराम के राधामाधवविलास चंपू तथा प्रसंगवश दरबार में आनेवाले कवियों में सुखलाल और अनंत फंदी की स्फुट रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख यत्रतत्र प्राप्त होते हैं। शेष कवियों की रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन का अभाव सा है। अधिकांश कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के ऐश्वर्य एवं पराक्रम का काव्यात्मक वर्णन ही किया

---

१. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृष्ठ ४६४।
२. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य (अनंत फंदी), पृष्ठ १४७।
३. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृष्ठ ४१८-४२०।
४. हिंदुस्तानचा अभिनव इतिहास, पृष्ठ ३६३।
५. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य, (अनंत फंदी), पृष्ठ १४८।

है, अतएव ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से उसमें कोई महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है।

भूषण द्वारा वर्णित घटनाओं एवं प्रसंगों के अंतर्गत जावली विजय[1], अहमदनगर एवं जुन्नर की लूट तथा नौशेरी खाँ की पराजय[2], औरंगजेब द्वारा दारा और मुराद का मारा जाना और शाह शुजा का भगाया जाना,[3] अफजल खाँ वध[4], रुस्तमे जमाँ का पलायन[5], खवास खाँ से युद्ध तथा उसपर शिवाजी की विजय[6], सिंगारपुर विजय[7], रायगढ़ पर राजधानी स्थापित करना,[8] कारतलब खाँ को लूटना[9], शाइस्ता खाँ की दुर्दशा[10], सूरत की लूट[11], जयसिंह से संधि और दुर्गसमर्पण[12], शिवाजी की औरंगजेब से भेंट [13], कैद से निकलकर लौट आना[14], सिंहगढ़ विजय[15], लोहगढ़ विजय[16], फत्ते खाँ से संधि,[17] सलहेरि का युद्ध,[18] बहादुर खाँ को सेनानायकत्व, [19] जवारि तथा रामनगर की विजय,[20] तिलंगना विजय, परनाला

१. भूषण ग्रंथावली, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (द्वि० सं०), छंद १८८।
२. वही, छंद, ६४, २८४।
३. वही, छंद, १६७।
४. वही, छंद ३८, ४६, १४५, १५६, २२१, २३३, ३१५, ३८४।
५. वही, छंद २२१।
६. वही, छंद ३०६, ३७५।
७. वही, छंद १८८।
८. वही, छंद ६४।
९. वही, छंद ३४, ७२, ६४, १२६, १७४, ३०१, ३०४, ३१५, ३६१।
१०. वही, छंद १८२, ३१२, ३३२।
११. वही, छंद १६३, ३७०।
१२. वही, छंद ३३, १७६, १८६, १६४, २३२, २६२, ३८२।
१३. वही, छंद ७४, १५५, १७६।
१४. वही, छंद ६२, २३६, २६२।
१५. वही, छंद २३६।
१६. वही, छंद २२१।
१७ वही, छंद ६४।
१८. वही, छंद ७२, ३०१।
१९. २०२, २२१, ३०६, ३३३।
२०. वही, छंद ३३५।

विजय[1], बीजापुर की रक्षा[2], बहलोलखाँ के दल को कुचल डालना[3] जसवंत सिंह की हार[4], भाऊ सिंह हाडा पराजय[5], कर्ण सिंह की हार[6], बहादुरखाँ से युद्ध[7], शिवाजी की कर्नाटक तथा दक्षिण विजय[8], शिवाजी का आतंक[9], शिवाजी तथा पाश्चात्य जातियों के संबंध[10], महाराज छत्रशाल बुंदेला के युद्ध[11], बाजीराव की छत्रसाल बुंदेला को सहायता[12], शाहू का आतंक एवम् वैभव[13] आदि प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त चित्रकूटाधिपति हृदयराम सुत रुद्र सुलंकी का भूषण को पदवीदान, सुलंकी युद्ध प्रयाण, अवधूत सिंह की युद्ध यात्रा, मानसिंह, जगत सिंह, महा सिंह, जयसिंह तथा रामसिंह का दानशीलता एवम् वीरता, महाराज अनिरुद्ध तथा रावबुद्ध के आतंक, गढवाल नरेश की कीर्ति, कुमाऊँ नरेश के हाथी इत्यादि का प्रशस्तिपरक वर्णन भी भूषण के कतिपय छंदों में मिलता है[14] जिनमें से अधिकांश का विवरण प्राप्त सहायक इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है। ये वर्णन किसी विशेष ऐतिहासिक घटनावली की ओर संकेत भी नहीं करते। संभवतः इसी कारण से साधारण प्रशस्ति के रूप में कहे गए इन वर्णनों का विवरण इतिहासों में प्राप्त नहीं होता। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र[15] तथा डा० टीकमसिंह तोमर[16] ने अपने ग्रंथों में भूषण द्वारा वर्णित

---

१. वही, छंद ६८, १६१, १८६, ३७५।
२. वही, छंद १८८, ३७५, ३८४।
३. वही, छंद १४५, १५६, २२१, २२४, ३३६, ३६६।
४. वही, छंद ३४, ७२, ३४१,।
५. वही, छंद ७२, ३०१।
६. वही, छंद ७२, ३०१।
७. वही, छंद ७२, ३०१।
८. वही, छंद १४, १०६, १८६, ३३८ ४२४, ४३३, ४३५ आदि।
९. वही, छंद १५६, ४१२, ४१६, ४२३–४२४, ५१, ८० आदि।
१०. वही, छंद १०६, १६३, २३८, ४२४, ४६३–४३४, ४३६, ४८२।
११. वही, छंद ५०७, ५१६।
१२. वही, छंद ५३०।
१३. वही, छंद ५२६-५२६।
१४. वही, छंद २८, ५३२, ५४०।
१५. भूषण (ग्रंथावली) का अंतर्दर्शन, पृष्ठ १०२-१२७।
१६. हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ २१०, २३७।

इन घटनाओं का विभिन्न इतिहास ग्रंथों के आधार पर तर्कशुद्ध एवम् विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन के अंतर्गत उन्होंने भूषण द्वारा वर्णित अथवा कथित घटनाओं की ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर परीक्षा भी की है। उनके विवेचन में मतभेद के लिये विशेष स्थान नहीं है और एकाध स्थान पर जहाँ लेखक उनसे सहमत नहीं है, वहाँ अपने मत की स्थापना उसने की है। अतः इन घटनाओं का ऐतिहासिकता की दृष्टि से विवेचन करना इन्हीं विद्वानों के कथन की पुनरावृत्ति मात्र होगी, अतएव इनका विवेचन यहाँ करना वांछनीय नहीं है।

पं० अहलाद मिश्र लिखित एवम् संकलित एक काव्यसंग्रह में भूषण के दो नवीन छंद मिले हैं जिन्हें डा० किशोरीलाल गुप्त ने 'हरिऔध पत्रिका' में प्रकाशित किया है।[1] ये ही छंद आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने अपने 'भूषण' के 'अनुवचन' के अंतर्गत समाविष्ट किए हैं।[2] इनमें से एक छंद शांतरस का है जिसमें ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है। दूसरे छंद में शिवाजी के असामान्य पराक्रम एवम् धैर्य का वर्णन है—

एक ओर गोवा ते फिरंगी जंगी भट भिरे,
दल फैलो समुद लौं जाकी बाँह छाँह सों।
एक ओर रन घेरि मुलुक दबाय लीन्हो,
भूषन लगै न पाई साझि औ सुबाह सों॥
ऐसी काल पायकै विकल ह्वै भूपाल सबै,
कौन भट भिरैगो बलसिंधु अथाह सों।
एक ओर सिवराज एदिल सौं लरो करै,
एक ओर टक्कर दिल्ली के नरनाह सों॥[3]

समकालीन ऐतिहासिक पत्रों एवम् इतिहास ग्रंथों से[4] विदित होता है कि शिवाजी महाराज को स्वराज्यनिर्मिति के लिये एक साथ ही मोगल, बीजापुर के आदिलशाह तथा अंग्रेज, पुर्तगीज, डच आदि फिरंगियों के साथ युद्ध करने

---

१. हरिऔध पत्रिका, जुलाई १९५८, पृष्ठ ५२।
२. भूषण (ग्रंथावली), पृष्ठ ११।
३ वही, पृष्ठ ११।
४. शिवकालीन पत्रसार संग्रह, भाग १, २, ३, और मराठा इतिहास विषयक लगभग सभी इतिहास।

पड़े थे। छंद में वर्णित प्रसंग निश्चित रूप से किस युद्ध का संकेत करता है, यह कहना कठिन है। छंद के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस वर्णन से भूषण का अभिप्राय किसी विशिष्ट प्रसंग अथवा घटना से न होकर शिवाजी के असामान्य कर्तृत्व एवं उनके समय की विकट स्थिति से है। छंद में प्रयुक्त 'गोवा ते फिरंगी' का स्पष्टतः अभिप्राय पुर्तुगालियों से है। संभवतः यह वर्णन उस समय का है जब अकेले शिवाजी ने सन् १६६० से ६५ ई० के बीच मोगल, आदिलशाह, पुर्तुगालियों तथा अंग्रेजों के साथ युद्ध कर अद्वितीय पराक्रम के साथ विजय पाई थी।[1] इतिहास से ज्ञात होता है कि अकेले शिवाजी को मोगल, आदिलशाह, पुर्तुगीज, अंग्रेज आदि अनेक शत्रुओं से एक ही समय सामना करना पड़ा था। ये शत्रु शिवाजी की सत्ता को नष्ट करने के हेतु एक दूसरों की सहायता और योजनापूर्वक आक्रमण भी करते थे।[2] अतः यह स्पष्ट है कि भूषण ने शिवाजी विषयक जो वर्णन किया है वह इतिहास के अनुकूल है।

भूषण के अतिरिक्त जयराम ने 'राधामाधवविलास चंपू' के अंतर्गत शाहजी से संबंधित कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है।

मालोजी का ताल खुदवाना :

जयराम ने लिखा है कि शाहजी के पिता मालोजी ने तालाब खुदवाकर उसके किनारे क्यारियों तथा पेड़ पौधों के लिये आवश्यक आलवाल, पाल आदि की व्यवस्था बड़ी कुशलता से की जिसके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई।[3] इतिहास में लिखा है कि शिंगणापुर के शंभुमहादेव के पर्वतपर प्रत्येक चैत्रमास में विशेष मेला लगता था जिसमें लगभग पाँच सात लाख लोग सम्मिलित होते थे। यहाँ पीने के पानी के कुएँ अथवा जलाशय न होने से तीन कोस की दूरी पर से पानी लाना पड़ता था। आनेवाले यात्रियों को पानी के अभाव से अतीव कष्ट होते थे। लोगों की यह असुविधा देखकर अपरिमित द्रव्य खर्चकर मालोजी ने शिंगणपुर के शंभु महादेव के पर्वतपर एक विस्तीर्ण तालाब खुदवाया जिसके कारण दौलताबाद से लेकर सातारा के पार्श्ववर्ती शंभुमहादेव तक के प्रदेश में मालोजी का नाम विशेष प्रसिद्ध हुआ।[4] इसके

---

१. युगप्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज, पृ० ३३१-३३२।
२. वही, पृ० ३३२, ३३४, ३३६।
३. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५८।
४. छत्रपति शिवाजी महाराज, पृ० १३, मराठी रियासत भाग १, (शहाजी), पृ० २१ तथा यदुनाथ सरकार कृत शिवाजी, पृ० १३।

अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न वृक्षों से सुशोभित उद्यान, बावड़ियाँ, धर्मशालाएँ, प्याऊँ आदि बातों की भी वहाँ योजना की थी।[१] इससे स्पष्ट होता है कि जयराम का मालाजी विषयक यह वर्णन ऐतिहासिक ग्रंथों के अनुसार ही है।

शाहजी का पराक्रम एवम् आतंक :

अपने आश्रयदाता शाहजी के अलौकिक पराक्रम का वर्णन तथा उनके आतंक का वर्णन जयराम ने अनेक छंदों में किया है। उन्होंने लिखा है कि मालमकरंद के पुत्र शाहजी इतने पराक्रमी हैं कि इनकी धाकमात्र से शत्रुगण काँपने लगते हैं, तो इनके सामने युद्धभूमि पर कौन रह सकेगा ?[२] शाहजी हाथ में तलवार लेकर जब अभियान के लिये निकल पड़ते थे तब फिरंगियों के मुख का रंग उड़ जाता था[३] और शत्रु चारों दिशाओं को भाग जाते थे।[४] शाहजी का असाधारण व्यक्तित्व एवम् पराक्रम देखकर स्वयम् शाहजहाँ भी सोचते थे यदि शाहजी इनमें शामिल हो जायँ तो इनके हाथ मजबूत हो जायँगे।[५] निजामशाह भी इसी प्रकार की इच्छा करते थे।[६] बीजापुर के मुहम्मद आदिलशाह तो यह स्वीकार ही करते हैं कि 'मेरी सब बादशाही शाहजी ने राखी है।'[७] इसके अतिरिक्त शाहजी के द्वारा किए गए विभिन्न युद्धों तथा अभियानों के प्रसंग में भी इनके शौर्य एवम् आतंक का वर्णन किया गया है।

इतिहासों में शाहजी के पराक्रम एवम् आतंक का जो विवरण प्राप्त होता है वह अधिकांश रूप में जयराम के उपर्युक्त वर्णन से मेल खाता है। सभी इतिहासकारों ने शाहजी के अद्वितीय युद्धकौशल एवम् पराक्रम का वर्णन किया है।[८] कुछ इतिहासकारों ने तो इनके पराक्रम एवम् कार्य के लिये 'अभूतपूर्व एवम् असामान्य' विशेषणों का प्रयोग किया है।[९] इतिहासों से

---

१. शिवभारत, १।५१, ५५।
२. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २४६ छं० १।
३. वही पृ० २४७ छं० ३।
४. वही. पृ० २४८, छं० ५ तथा पृ० २५२, छं० २८।
५. वही, पृ० २५० छं० १०।
६. वही. पृ० २५७, छं० ५८।
७. वही. पृ० २५८. छं० ५२।
८. युगप्रवर्तक श्री शिवाजी महाराज, पृ० ५१ तथा हिंदुस्तानचा अभिनव, इतिहास, पृ० ५८४।
९. छत्रपति शिवाजी महाराज, पृ० २८४।

यह ज्ञात होता है कि निजामशाही तथा आदिलशाही के एकमात्र आधार शाहजी भोंसले थे।[१] निजामशाह ने अपनी रक्षा के लिये शाहजी की प्रार्थना भी की थी।[२] स्वयम् शाहजहाँ भी शाहजी के प्रभावी व्यक्तित्व एवम् असाधारण पराक्रम से भलीभाँति परिचित थे और इसलिये वे शाहजी से सदैव आतंकित रहते थे।[३] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आदिलशाह, निजामशाह तथा शाहजहाँ के संबंध में जयराम ने जो वर्णन किया है वह केवल कविकल्पना अथवा अतिरंजन मात्र नहीं है अपितु इतिहासानुकूल ही है।

इसी प्रकार फिरंगियों के संबंध में जयराम का कथन भी इतिहासानुकूल ही प्रतीत होता है। गोवा सरकार के दफ्तर में प्राप्त सामग्री से यह ज्ञात होता है कि शाहजी और गोवा के फिरंगी पुर्तगालियों में पत्रव्यवहार होता था।[४] गोवा के तत्कालीन वाइसराय ने पुर्तगाल के बादशाह को दि० ५ मई, १६५८ को जो पत्र लिखा था उसमें शिवाजी का प्रथम परिचय 'शाहजी का पुत्र' कहकर दिया था।[५] इससे ज्ञात होता है कि पुर्तगाल के बादशाह तक शाहजी का आतंक फैला था। इसके अतिरिक्त १६६१ के फरवरी में पांडिचेरी के तेगनापट्टन तथा अक्तूबर में पोर्टोनोव्हो पर शाहजी ने अधिकार कर लिया था।[६] इन ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि फिरंगियों के संबंध में जयराम का जो वर्णन है वह भी इतिहासानुमोदित ही है।

मीर जुमला की दुर्दशा :

जयराम ने शाहजी और मीर जुमला के घमासान युद्ध का वर्णन हिंदी और मराठी में किया है। इस युद्ध में शाहजी ने मीरजुमला की अत्यंत दुर्दशा की। मीर जुमला जैसा पराक्रमी और कुतुबशाह का प्रधान मंत्री शाहजी का पराक्रम देखकर किंकर्तव्यमूढ हो गया। वह शाहजी को न रोकता था न उनके साथ युद्ध करता था। वह खड़ा भी न रहता था। उसके पास

---

१. मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष, पृ० २६।
२. छत्रपति शिवाजी महाराज, पृ० २६।
३. ऐतिहासिक प्रस्तावना, पृ. २१० तथा छत्रपति शिवाजी महाराज, पृ. २२।
४. शिवचरित्र प्रदीप, पृ. १०८।
५. युगप्रवर्तक श्री शिवाजी महाराज, पृ० ३२३।
६. वही, पृ० ४६।

बीस हजार की सेना होने पर भी वह युद्ध से भागने लगा। भय के मारे सभी सेना को छोड़कर वह गुत्ती के किले में छिपकर बैठा। शाहजी ने जब उसपर घेरा डाला तब कहीं अंत में विवश होकर शाहजी की शरण में आया परंतु वह इतना कंजूस था कि उसने एक कौड़ीतक नहीं दी। मीर जुमला जैसे पराक्रमी एवं बलवान सेनानी को पराजित कर उसकी दुर्दशा करने के कारण शाहजी की प्रसिद्धि रूमशाम तक हुई।[1]

इतिहासों में इस युद्ध का अत्यंत संक्षिप्त विवरण इस प्रकार मिलता है—'सन् १६५१ ई० में कुतुबशाह और आदिलशाह का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में कुतुबशाह की ओर से मीर जुमला तथा आदिलशाह की ओर से शाहजी प्रमुख थे। शाहजी ने मीर जुमला के साथ घमासान युद्ध कर उसकी अत्यंत दुर्दशा की और दंड के रूप में नौ लाख 'होनों'[2] के मूल्य की चीजें वसूल की।[3] इससे स्पष्ट होता है कि जयराम का उपर्युक्त वर्णन इतिहास के अनुसार ही है। केवल शाहजी के द्वारा वसूल की गई चीजों के संबंध में ही दोनों के कथनों में अंतर है। जयराम के कथन का संभवतः यही तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष रूप में मीर जुमला ने स्वेच्छा से कुछ न दिया था, परंतु शाहजी ने उससे दंड के रूप में नौ लाख 'होनों' के मूल्य की चीजें लूट कर अथवा जबरदस्ती से वसूल की हो, अन्यथा जयराम का कथन इतिहास के विपरीत सिद्ध होगा।

विजयनगर का अभियान :

विजयनगर के अभियान का वर्णन करते हुए शाहजी के दरबारी कवि सुखलाल ने कहा है—'विजयनगर के रायलु से जंतकल में युद्धकर शाहजी ने उनको बुरी तरह से परास्त किया। शाहजी का पराक्रम देखकर वे डर डरने लगे, नाहर कहलाने वाले सियार बन गए। सभी के मुख पीले पड़ गए। हाथी रौंद डाले गए, शत्रुओं की अत्यंत दुर्दशा हुई और क्षत्रियों की लाज छोड़ कर डर के मारे विजयनगर के राजा रायलु भाग गए।'[4]

इतिहास से ज्ञात होता है कि विजयनगर के राजा श्रीरंग तृतीय, पर शाहजी ने बीजापुर के आदिलशाह की तरफ से चढ़ाई की थी। श्रीरंग राय

---

१. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५५-२५६।
२. होन,एक सुवर्ण मुद्रा।
३. मराठी रियासत भाग १, (शहाजी), पृष्ठ ७७।
४. राधामाधवविलास चंपू, पृ० २५६।

ने अपनी रक्षा के बहुत प्रयत्न किए परंतु अंत में शाहजी के सामने उन्हें परास्त होना पड़ा। पराजित होने पर ये अज्ञातवास में रहते थे।[1] श्रीरंग को 'श्रीरंग रायला' भी कहा जाता था।[2] इससे स्पष्ट होता है कि विजयनगर के युद्ध का सुखलाल का वर्णन इतिहास के विपरीत नहीं है। सुखलाल के 'देखियत नैनांन सोयि वैन बोलतु है'—इस कथन से ज्ञात होता है कि कवि स्वयं युद्ध में संमिलित थे। अतः उनका यह वर्णन अधिक यथार्थ प्रतीत होता है।

पेनुकोंडा विजय :

जयराम ने लिखा है कि पिंगोडा अर्थात् पेनुकोंडा प्रांत पर शाहजी ने आक्रमण कर उस पर विजय पाई, परंतु इसका श्रेय मात्र यखलास खाँ को दिया गया।[3] रणदुल्ला खान के साथ शाहजी के पेनुकोंडा पर आक्रमण का उल्लेख इतिहास में मिलता है, परंतु उसकी विजय के श्रेय के संबंध में कुछ विवरण प्राप्त नहीं होता।

दक्षिण विजय :

शाहजी के पराक्रम तथा अभियानों का वर्णन करते समय जयराम ने लिखा है कि दक्षिण के कर्नाटक, गोलकुंडा, करनौल, श्रीरंगपट्टण, पेनुकोंडा, तेलीचरी, तिलंग, कलिंग आदि प्रांतों पर शाहजी ने अधिकार प्राप्त कर रामेश्वर तथा रूमशाम तक अपनी धाक जमाई।[4] इतिहासों से ज्ञात होता है कि बीजापुर के आदिलशाह की ओर से शाहजी दक्षिण अभियान पर गए थे। वहाँ बिंदुपुर, वृषपत्तन, कावेरीपट्टण, श्रीरंगपट्टण, तंजावर, जिंजी, मदुरा, पीनगोंडा, विद्यानगर, हंसकूट, मैसूर, वेल्लोर आदि स्थानों के राजाओं पर विजय पा ली।[5] दक्षिण की इस विजय के उपलक्ष्य में शाहजी को बंगलौर, कोल्लार, सीरा तथा मैसूर राज्य के और कुछ विभाग की जागीर प्राप्त हुई।[6] जयराम द्वारा उल्लिखित प्रांतों में से गोलकुंडा, करनौल, तेलीचरी, तिलंग

---

१. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृष्ठ ७८६-७८७।
२. युगप्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज, पृष्ठ ४०।
३. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २५६, छंद ५४।
४. वही, पृ० २५७-२५६ तथा २७७।
५ शिवभारत, पृष्ठ १८ तथा मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष, पृष्ठ १८३।
६. मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष, पृष्ठ १८४।

और कलिंग के उल्लेख उपलब्ध इतिहासों में नहीं मिलते। शाहजी की दक्षिण विजय का वर्णन करते समय इतिहासकारों ने कुछ प्रमुख प्रांतों के नामों का उल्लेख कर 'इत्यादि' कह दिया है। अतः जयराम द्वारा उल्लिखित प्रांत संभवतः इस 'इत्यादि' में समाविष्ट हुए हैं। तात्पर्य रूप में जयराम का कथन यही है कि शाहजी ने दक्षिण के अधिकांश प्रांतों पर विजय पाई थी और यह तथ्य पूर्णतः इतिहासों के अनुकूल है।

शाहजी की सेवा में अनेक 'राजा' :

शाहजी के दरबार के एक 'हिंदुस्तानी भाट' ने लिखा है कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण उत्तर के राजा महाराजा शाहजी के सम्मुख सिर धुनते थे। वर्गी, बक्सर, ठठा, भक्कर बागलाण, काबुल के बड़े बड़े राजा शाहजी की सेवा में रहते थे। कोई उनके दरबार में चौकी पहरा देते थे तो कोई हाथ जोड़कर खड़े थे। कोई झाड़ू लगाते थे तो कोई पीकदानी धरते थे। कोई पानी लाते थे तो कोई सिर पर छत्र धरते थे। इस प्रकार सभी राजा शाहजी की सेवा करते थे और स्तुति स्तोत्र गाते थे[1] यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। इतिहासों में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। इतिहासाचार्य राजवाडे के मतानुसार कवि के कथन का तात्पर्य संभवतः यही है कि शाहजी के दरबार में तथा दल में काबुल, वर्गी, बक्सर तथा बागलाण आदि प्रांतों के 'राजा' उपाधिधारी सरदार आदि लोग थे जो विभिन्न काम करने में सदैव तैयार रहते थे।[2] श्रीमान् राजवाडे का यह मत उचित ही है।

शाहजी का प्रजाधर्म एवम् न्यायदान :

जयराम ने शाहजी के प्रजाधर्म तथा न्यायदान की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि शिवि, हरिश्चंद्र, पुरु, जनक आदि राजाओं के समान शाहजी प्रजाहितदक्ष, गुणवान् एवम् दयानिधि हैं। उन राजाओं का धर्म ही शाहजी का धर्म था।[3] कृष्ण ने जिस प्रकार गोवर्धन पर्वत उठाकर गोकुलवासियों की रक्षा की उसी प्रकार शाहजी ने हिंदुओं की रक्षा की है।[4] अतिथियों का आदर सत्कार, गुणियों तथा ब्राह्मणों को दान, प्रजा की रक्षा

---

१. राधामाधवविलास चंपू, पृष्ठ २७१।
२ वही, (प्रस्तावना) पृष्ठ ३२।
३. वही, पृष्ठ २५, छंद ३५।
४. वही, पृष्ठ २६८; छंद १०४।

आदि बातों के उल्लेख शाहजी के संबंध में पाए जाते हैं।[१] शाहजी के न्यायदान के विषय में जयराम ने लिखा है कि उनके न्यायदान की कीर्ति त्रिभुवन में फैल गई है।[२] इतिहासों में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। अतः जयराम के इस अतिशयोक्तिपूर्ण कथन का तात्पर्य यही लेना चाहिए कि शाहजी न्यायप्रिय एवम् हिंदुओं के रक्षक, प्रजाहितदक्ष, दयालु एवम् गुणग्राहक थे। इतिहास में वर्णित शाहजी का समस्त जीवन देखने पर ज्ञात होता है कि कवि के कथन का तात्पर्य योग्य ही है।

निजामअली से मराठों का युद्ध :

अनत फंदी ने निजामअली और मराठों के घमासान युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस युद्ध में 'साहब' निजामअली की सहायता करना चाहते थे परंतु न कर सके। इस युद्ध में शिंदे, होलकर, दाभाडे, पाटणकर, हरिपंत फडके, अप्पा बलवंत आदि सभी प्रमुख मराठा सरदार सम्मिलित थे। इन्होंने निजामअली की सेना को अत्यंत दुर्दशा की और निजामअली को भगा दिया।[३]

इतिहास में लिखा है कि अंग्रेजों की सहायता पर निर्भर रहकर निजामअली ने मराठों को चौथ और सरदेशमुखी के रुपए देना अस्वीकार किया। उसके परिणामस्वरूप नाना फडणीस ने महादजी शिंदे, हरिपंत फडके, परशुराम भाऊ पटवर्धन आदि प्रमुख सरदारों के साथ निजामअली पर चढ़ाई की। सन् १७९५ ई० में निजामअली और मराठों में खर्डा के पास घमासान युद्ध हुआ और उसमें निजामअली बुरी तरह परास्त हुए।[४] इससे स्पष्ट होता है है कि कवि द्वारा वर्णित घटना इतिहास के अनुसार ही है।

विवेचन से स्पष्ट होता है कि आलोच्य कवियों में से भूषण, जयराम, सुखलाल, चिंतामणि तथा अनंत फंदी की रचनाओं में ही ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शेष कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में उनके यश, दान, व्यक्तित्व, पराक्रम आदि का वर्णन किया है, परंतु यह वर्णन किसी विशेष ऐतिहासिक घटना को लक्ष्यकर न लिखा जाने से ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है। कवियों द्वारा उल्लिखित घटनाओं की इतिहास ग्रंथों के आधार पर जो परीक्षा की

---

१. वही पृष्ठ २६८-२६९।
२. वही पृष्ठ ८।
३. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य (अनंत फंदी), पृष्ठ १४८।
४. हिंदुस्तानचा अभिनव इतिहास, पृ० ३९५-३९६।

गई है उससे स्पष्ट होता है कि अधिकांश घटनाओं का वर्णन इतिहास के अनुसार ही किया गया है।

कवियों द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटना अथवा प्रसंग का इतिहास से समन्वय करते समय इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि इतिहास और काव्य में अंतर होता है। यदि काव्य में भी इतिहास की भाँति सूचनाओं तथा घटनाओं का रूखा विवेचन ही रहेगा तो इतिहास और काव्य में अंतर ही क्या रहेगा ? 'ऐतिहासिक सत्य' को स्वीकार करनेपर भी कवि काव्य की सरसता एवम् रोचकता में बाधा डालना नहीं चाहता। वह उस 'सत्य' को रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, शैली तथा कल्पना के सतरंगों से स्वभावतः सजाता रहता है। अतः इन कवियों की रचनाओं में इतिहास देखना हो तो उनका 'काव्य' छोड़कर तथ्यात्मक तात्पर्य मात्र ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि इन कवियों ने इतिहास की भाँति सभी ऐतिहासिक घटनाओं का स्वतंत्र एवम् क्रमवार वर्णन नहीं किया तथापि समकालीनत्व के कारण इनके द्वारा वर्णित ऐतिहासिक तथ्य का अत्यंत महत्व है। कई प्रसिद्ध इतिहासकारों ने भी अपने इतिहासग्रंथों में समकालीन कवियों के काव्य को प्रामाणिक माना है और उनके आधारपर विवेचन भी प्रस्तुत किया है। श्री० गो० स० सरदेसाई,[1] श्री० वा० कृ० भावे,[2] श्री० दि० वि० काले,[3] श्री० वा० सी० बेंद्रे,[4] श्री० यदुनाथ सरकार[5] आदि इतिहासकारों ने अपने इतिहास ग्रंथों के अंतर्गत परमानंद के शिवभारत, जयराम के पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान तथा राधामाधवविलास चंपू, संभाजी के बुधभूषण, भूषण के शिवराजभूषण आदि समकालीन कवियों के ग्रंथों के अनेक आधार लिए हैं। इतिहासाचार्य राजवाड़े ने भूषण के काव्य में प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखों को पूर्णतः प्रामाणिक कहा है।[6] इससे स्पष्ट होता है कि व्यतिक्रम, काव्यात्मकता, कल्पना तथा न्यूनाधिक मात्रा में अतिशयोक्ति के होते हुए भी समकालीन प्रमाण के रूप में इन कवियों के काव्य का महत्व इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है।

---

१ देखिए, मराठों का नवीन इतिहास तथा मराठी रियासत।
२ युगप्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज।
३ छत्रपति शिवाजी महाराज।
४ छत्रपति संभाजी महाराज।
५. शिवाजी।
६. ऐतिहासिक प्रस्तावना, पृ० २६८।

उपसंहार

इस प्रकार समस्त प्रबंध के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्र जैसे अहिंदीभाषी क्षेत्र ने हिंदी के विकास में विभिन्न रूपों में योगदान दिया है। हिंदी के प्रति यहाँ के भोंसला राजाओं का एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। भारत के अंतरप्रांतीय व्यवहार के लिये उन्होंने संस्कृत के पश्चात् हिंदी जैसी जनव्यापी, सुलभ तथा लोकप्रिय भाषा को ही स्थान दिया और उस दृष्टि से हिंदी को राजाश्रय तथा प्रोत्साहन देकर यहाँ की जनता में हिंदी के प्रति रुचि विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शिवाजी के पिता शाहजी तथा शाहजी के पौत्र शाहराज ने क्रमशः ईसा की सत्रहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में बंगलौर तथा तंजौर जैसे द्रविड़-भाषी प्रदेशों में मराठी के अतिरिक्त हिंदी साहित्य की निर्मिति के लिये रचनात्मक कार्य किया।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में शाहजी महाराज ने संकर सुकवि को भानुदत्त की संस्कृत 'रसमंजरी' का अनुवाद अन्य किसी भाषा में नहीं, वरन् हिंदी ही में करने के लिये कहा था और वह भी न केवल भारतीय जनता के हित के लिये अपितु 'जगत के काजु'! इससे स्पष्ट होता है कि भोंसला राजाओं का हिंदी के प्रति कितना व्यापक दृष्टिकोण था। ऐतिहासिक तथा समकालीन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि हिंदी भाषा तथा साहित्य के प्रति सुदूर दक्षिण तक की अहिंदीभाषी जनता में ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही विशेष रुचि रही। महाराष्ट्र के भोंसला राजाओं ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से लोगों की इस 'रुचि' को अधिक सुस्थिर तथा व्यापक बनाने का स्पृहणीय प्रयत्न किया।

दूसरी विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भोंसला राजदरबार के कवियों में संस्कृत तथा मराठी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्यकार भी थे जिनमें हिंदी साहित्यकारों की संख्या सबसे अधिक है। इनमें चिंतामणि, लोकमणि जैसे आचार्य की कोटि के कवियों से लेकर जनसाधारण के प्रतिनिधि मराठीभाषी भक्त कवि तथा लोक-कवियों का भी समावेश होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हिंदी काव्य के समझने तथा उसका रसास्वादन करने की क्षमता दक्षिण भारत के कई केंद्रों तथा महाराष्ट्र के केवल विशिष्ट वर्ग तक

ही सीमित न थी वरन् जनसामान्य तक भी थी। हिंदी के व्यवहार एवं उसके साहित्यिक विकास के इतिहास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

हिंदी के प्रति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से ही संभवतः उन्होंने चिंतामणि, भूषण, संकर सुकवि, लोकमणि, कविकलस, सीताराम जैसे हिंदी के प्रतिभा-संपन्न एवम् उत्कृष्ट कोटि के कवियों को आश्रय दिया था। इन कवियों के यहाँ रहने तथा हिंदी भाषा में रचित उत्कृष्ट छंदों को यहाँकी जनता को सुनाने का परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र तथा दक्षिण के अहिंदीभाषी प्रदेशों की जनता में हिंदी भाषा के अतिरिक्त हिंदी साहित्य के प्रति भी विशेष आकर्षण का निर्माण हुआ। यहाँके मराठीभाषी कवियों ने मराठी के अतिरिक्त हिंदी भाषा में जो काव्यरचनाएँ की हैं उसका यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त यहाँके राजाओं ने इन मराठी कवियों द्वारा रचित हिंदी काव्य का यथोचित सम्मान कर उन्हें प्रोत्साहन भी दिया। मराठीभाषी हिंदी काव्य-रचनाकार कवियों में जयराम, नृपशंभु, शाहराज, देवनाथ जैसे कुछ ऐसे भी कवि हैं जो भाषा तथा कवित्व की दृष्टि से हिंदीभाषी उत्कृष्ट कवियों के समकक्ष ठहरते हैं। शाहजी के दरबार में आए हुए हिंदीभाषी कवियों द्वारा दी गई समस्याओं की पूर्ति जयराम ने हिंदी भाषा में रचित छंदों से की थी जिससे इस मराठी भाषीकवि का आत्मविश्वास भी प्रकट होता है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि मराठीभाषी जनता ने हिंदी साहित्य का न केवल रसास्वादन ही किया है अपितु हिंदी में काव्यरचना कर उसमें रचनात्मक योगदान भी दिया।

इसके अतिरिक्त इस प्रबंध में संकर सुकवि, जयराम, शाहराज, लोकमणि, सीताराम, कविकलस आदि अप्रसिद्ध कवियों का तथा उनके साहित्य का उपलब्ध सामग्री के आधार पर विस्तृत परिचय भी दिया गया है। चिंतामणि, भूषण, पद्माकर तथा नृपशंभु के संबंध में जो भ्रममूलक धारणाएँ थीं उनका निराकरण उपलब्ध अद्ययावत् सामग्री के आधार पर किया गया है जिससे इन कवियों के संबंध में हिंदी साहित्य के पाठकों को यथायोग्य सूचना मिल सकेगी।

आलोच्य कवियों के काव्य का भाव पक्ष, काव्यकला, आचार्यत्व, भाषा-शैली, छंदयोजना आदि की दृष्टि से जो समालोचन किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि इनमें अधिकांश कवि भाषा तथा काव्य की दृष्टि से समर्थ थे। इसके अतिरिक्त इन कवियों के काव्य में प्राप्त सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक तथ्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध में मराठीभाषियों के द्वारा हिंदी साहित्य के विकास में जो योगदान रहा उसका सम्यक् विवेचन भी हो सका है। सौभाग्य-वश भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र भारत के उत्तर तथा दक्षिण को जोड़नेवाले सेतुबंध के रूप में स्थित है। महाराष्ट्र को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परंपरा एवम् उसका हिंदी के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण देखकर विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अतीत तथा वर्तमान की भाँति भविष्यत् में भी मराठीभाषी जनता हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास की दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहेगी।

★

परिशिष्ट—१

तीन दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथों के छायाचित्र
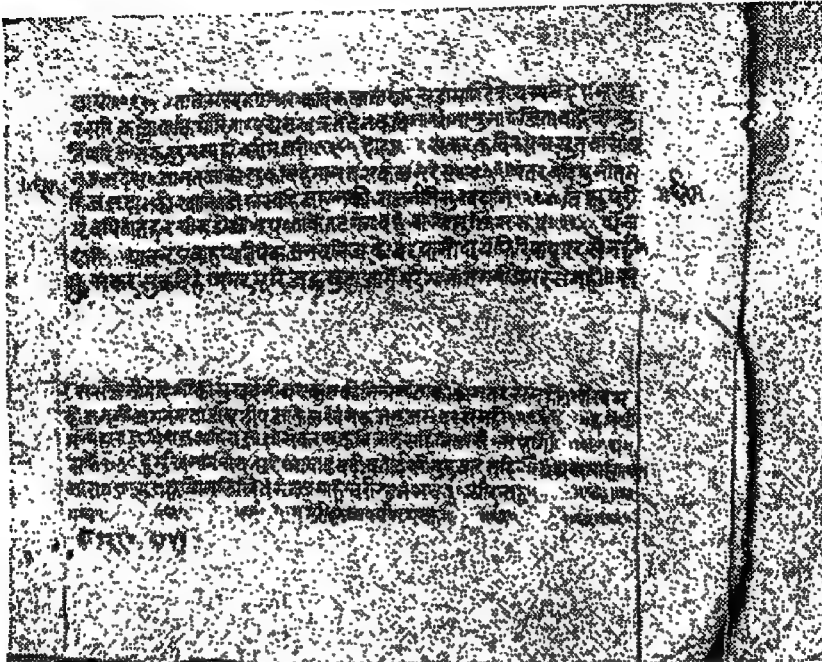
'साहविलास' का अंतिम पृष्ठ
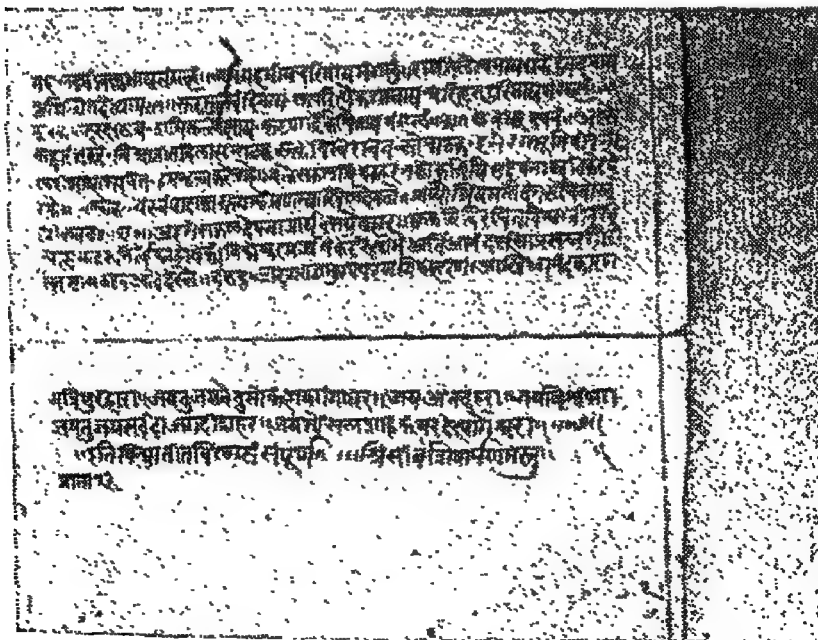
'विश्वातीत विलास' का प्रथम एवं अंतिम पृष्ठ
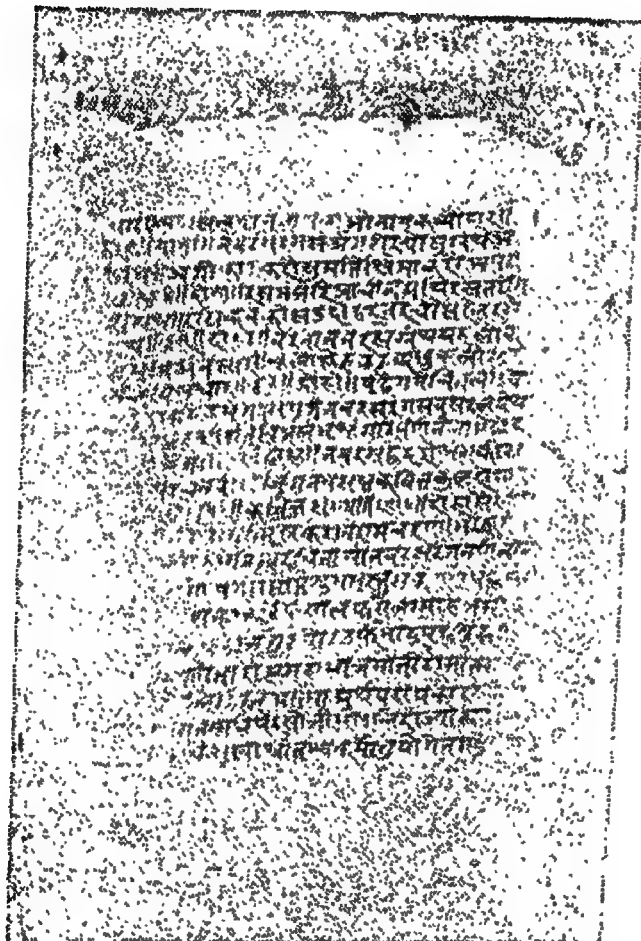
'नवरसरंग' का अंतिम पृष्ठ

परिशिष्ट : २

सहायक ग्रंथ सूची

(क) संस्कृत ग्रंथ :

१. अभिनव भारती (अभिनव गुप्त), संपा० डॉ० नगेंद्र (प्रथम संस्करण)
२. अलंकार सर्वस्वम् (रुय्यक), संपा० टी० गणपति शास्त्री (सन् १९१५ ई०)
३. कवींद्रचंद्रोदय (कवींद्राचार्य अभिनंदन ग्रंथ) संपा० पाटकर शर्मा (सन् १९३९ ई०)
४. काव्यप्रकाश (आचार्य मम्मट), संपा० डॉ नगेंद्र (सन् १९६० ई०)
५. चंद्रालोक (जयदेव), संपा० म० गं० बाकरे (सन् १९३४ ई०)
६. जगद्विजय छंदः (कवींद्राचार्य), संपा० डा० सी० कुन्हन राजा (सन् १९४५ ई०)
७. दंडनीति (केशव पंडित), संपा० वा० सी० बेंद्रे (प्रथम संस्करण)
८. दशरूपकम् (धनंजय , व्याख्याकार डॉ० भोलाशंकर व्यास (संवत् २०११ वि०)
९. ध्वन्यालोक (आनंदवर्धन), संपा० डॉ० नगेंद्र (सन् १९५२ ई०)
१०. नाट्यशास्त्रम् (भरतमुनि), संपा० शर्मा और उपाध्याय (सन् १९२९ ई०)
११. पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान (जयराम), संपा० वि० का० राजवाड़े (शके १८४४)
१२. प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ), संपा० कमलाशंकर त्रिवेदी (सन् १९०९ ई०)
१३. बुधभूषण (शंभुराज , संपा० ह० दा० वेलणकर (सन् १९२६ ई०)
१४. भावप्रकाशम् (शारदातनय), संपा० बी० भट्टाचार्य (सन् १९३० ई०)
१५. मेदिनी कोश—चौखंबा संस्कृत—सिरीज, बनारस (संवत् १९९७ वि०)
१६. रस गंगाधर (पंडितराज जगन्नाथ), संपा० रा० ब० बाठवले (सन् १९५३ ई०)
१७. रसतरंगिणी (भानुदत्त मिश्र) जीवनाथजी की टीका (संवत् १९७१ वि०)
१८. रसमंजरी (भानुदत्त मिश्र), संपा० रामशास्त्री तेलंग (सन् १९०४ ई०)
१९. राधामाधवविलास चंपू (जयराम), संपा० वि० का० राजवाड़े (शके १८४४)

२०. वक्रोक्तिजीवितम् (आचार्य कुंतक), संपा० डॉ० नगेंद्र (सन् १९५५ ई०)
२१. वाणीभूषण (दामोदर मिश्र), काव्यमाला सिरीज (सन् १९०३ ई०)
२२. वृत्तरत्नाकर (केदार भट्ट), संपा० केदारनाथ शर्मा (सन् १९४८ ई०)
२३. शाहेंद्र विलास (श्रीधर व्यंकटेश, संपा० डॉ० वी० राघवन् (सन् १९५२ ई०)
२४. शिवभारत (परमानंद), संपा० स० म० दिवेकर (शके १८४९)
२५. शिवसूत्र विमर्शिणी (क्षेमराज), आर्किऑलॉजीकल् ऐंड रि० डि० श्रीनगर (प्रथम संस्करण)
२६. शृंगारमंजरी (अकबरसाहि), संपा० डॉ० वी० राघवन् (प्रथम संस्करण)
२७. साहित्यदर्पण (आचार्य विश्वनाथ), संपा० डॉ० सत्यव्रतसिंह (सन् १९५७ ई०)
२८. हरिभक्तिरसामृत (रूपगोस्वामी), अच्युत ग्रंथमाला, काशी (प्रथम संस्करण)

(ख) हिंदी ग्रंथ :

१. अलंकार प्रकाश–मुरलीधर कविभूषण–सं० शूरवीर सिंह पँवार (प्रथम संस्करण)
१(अ). उक्तिविलास–सीताराम महापात्र–संपादक–डॉ० कृष्णदिवाकर (प्रथम संस्करण)
२. कला साहित्य और समीक्षा–डॉ० भगीरथ मिश्र (सन् १९६३ ई०)
३. कविकुलकल्पतरु–नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित (सन् १८७५ ई०)
३(क). कवींद्र चंद्रिका–संपादक-डॉ० कृष्ण दिवाकर (सन् १९६६ ई०)
४. काव्य विवेचन–विपिन त्रिवेदी और उषा गुप्ता (प्रथम संस्करण)
५. काव्य शास्त्र–डॉ० भगीरथ मिश्र (द्वितीय संस्करण)
६. कुमायूँ का इतिहास–पंडित बद्र दत्त पांडेय (प्रथम संस्करण)
७. खोज रिपोर्ट, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सन् १९२०-२३)
८. गोरखबानी–संपा० डॉ० पीतांबरदत्त बडथ्वाल (सन् १९४२ ई०)
९. छत्रपति शिवाजी-लाला लाजपतराय (प्रथम संस्करण)
१०. छंदःप्रभाकर–जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (दशम संस्करण)
११. छंदःशास्त्र–रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (प्रथम संस्करण)
१२. छंदोहृदयप्रकाश–मुरलीधर कविभूषण-संपा० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद (प्रथम संस्करण)

१२ (क). टॉड कृत राजस्थान भा० १, खं० २;
प्र० संपा० डॉ० रघुवीर सिंह (प्रथम संस्करण)
१३. दक्खिनी हिंदी–डॉ० बाबूराम सक्सेना (प्रथम संस्करण)
१४. दाराशिकोह–डॉ० कालिकारंजन कानूनगो (सन् १९५८ ई०)
१५. नखशिख (नृपशंभुकृत)–संपा० बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सन् १८९३ ई०)
१६. नाथ संप्रदाय–हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १९५० ई०)
१६ (क). पद्मावत–स्व० वासुदेव शरण अग्रवाल (प्रथमावृत्ति)
१७. पद्माकर ग्रंथावली –संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (प्रथम संस्करण)
१८. बुंदेलखंड का इतिहास–गोरेलाल तिवारी (संवत् १९९०)
१९. ब्रजभाषा–धीरेंद्र वर्मा (प्रथम संस्करण)
२०. ब्रजभाषा व्याकरण की रूपरेखा–प्रेमनारायण टंडन (प्रथम संस्करण)
२१. ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौंदर्य–संपा० प्रभुदयाल मीतल (प्रथम संस्करण)
२१ (क). भारतवर्ष की वीर और विदुषी स्त्रियाँ, प्रथमभाग–शामलाल वर्मा (सन् १९१२ ई०)
२२. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भा. २, डॉ. नगेंद्र (सन् १९५५ ई०)
२३. भाषा शब्दकोश–रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (तृतीय संस्करण)
२४. भूषण (ग्रंथावली)–संपा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीय संस्करण)
२५. भूषण (ग्रंथावली)–संपा० अरुणोदयराय (संवत् १९५७ वि०)
२६. भूषण ग्रंथावली–संपा० ब्रजरत्नदास (सन् १९३० ई०)
२७. भूषण ग्रंथावली–संपा० मिश्रबंधु (सप्तम संस्करण)
२८. भूषण ग्रंथावली–संपा० पं० राजनारायण शर्मा (सन् १९५०)
२९. भूषण ग्रंथावली–संपा० रामनरेश त्रिपाठी (चौथा संस्करण)
३०. भूषण भारती–श्री हरदयालुसिंह (सन् १९५८)
३१. भूषण; मतिराम तथा उनके अन्य भाई–डॉ० किशोरीलाल गुप्त (प्रथम संस्करण)
३२. भूषण विमर्श–पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित (द्वितीय संस्करण)
३३. मतिराम कवि और आचार्य–डॉ० महेंद्रकुमार (सन् १९६०)
३४. मतिराम ग्रंथावली–पं. कृष्णविहारी मिश्र (द्वितीय संस्करण)
३५. मतिराम मकरंद–हरदयालु सिंह (प्रथम संस्करण)
३६. मराठों का इतिहास–गो० स० सरदेसाई, हिंदी संस्करण (सन् १९५७ ई०)

३७. मराठों का नवीन इतिहास–गो० स० सरदेसाई, हिं० संस्करण (सन् १९५९ ई०)

३८. मराठों का नवीन इतिहास–भा० २, गो० स० सरदेसाई हिं० सं० (सन् १९६१ ई०)

३९. महाकवि भूषण–पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित (प्रथम संस्करण)

४०. महाकवि मतिराम–डॉ० त्रिभुवन सिंह (प्रथम संस्करण)

४१. महाराष्ट्र का हिंदी लोककाव्य–डॉ० कृष्ण दिवाकर (प्रथम संस्करण)

४२. मिश्रबंधु प्रलाप–श्रीनारायण प्रसाद 'बेताब' (प्रथम संस्करण)

४३. मिश्रबंधु विनोद भा० १–मिश्रबंधु (चतुर्थ संस्करण)

४४. मिश्रबंधु विनोद–भाग० ३–मिश्रबंधु (द्वितीय संस्करण)

४५. मिश्रबंधु विनोद भा० ४–मिश्रबंधु (संवत् १९९१ वि०)

४६. मुगल दरबार भा० ३ (मआसीर-उल्-उमरा का हिंदी अनु०)–ब्रजरत्नदास (प्रथम संस्करण)

४७. रससिद्धांत–स्वरूप–विश्लेषण–डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित (प्रथम संस्करण)

४८. राजपूताने का इतिहास–भा० २, डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा (सन् १९२३)

४९. राजस्थान का पिंगल साहित्य–डॉ० मोतीलाल मेनारिया (द्वितीय संस्करण)

५०. रीतिकालीन कविता एवम् शृंगार रस का विवेचन–डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी (प्रथम संस्करण)

५१. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना–डॉ० बच्चनसिंह (प्रथम संस्करण)

५२. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि–डॉ० शिवलाल जोशी (प्रथम संस्करण)

५३. रीति काव्य संग्रह–डॉ० जगदीश गुप्त (प्रथम संस्करण)

५४. विश्वातीतविलास नाटक एंड राधावंशीधर विलास नाटक–संपा० एस० गणपतिराव (सन् १९६१ ई०)

५५. विश्वासराऊ प्रशस्ति–संपा० कृ० गं० कवचाले (सन् १९४२ ई०)

५६. वीररस का शास्त्रीय विवेचन–बटेकृष्ण (प्रथम संस्करण)

५७. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत–डॉ० गोविंद त्रिगुणायत (प्रथम संस्करण)

५८. शिवाजी–सर यदुनाथ सरकार (द्वितीय संस्करण)

५९. शिवराज भूषण—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (प्रथम संस्करण)
६०. शिवराज भूषण—निर्णयसागर प्रेस, बंबई (प्रथम संस्करण)
६१. शिवराज भूषण—संपा० लक्ष्मीशंकर व्यास (प्रथम संस्करण)
६२. शिवराज भूषण काव्य—संपा० ज० बा० मोडक (सन् १८८९ ई०)
६३. शिवराज शतक—संपा० तथा टीकाकार—श्री गोविंद गिल्लाभाई (सन् १९१६ ई०)
६४. शिवसिंह सरोज—डॉ० शिवसिंह सेंगर (प्रथम, तृतीय तथा सप्तम संस्करण)
६५. शृंगार मंजरी—संपा० डॉ० भगीरथ मिश्र (सन् १९५६ ई.)
६६. संगीत राग कल्पद्रुम—कृष्णानंद व्यास (संवत् १९६३ वि.)
६७. संगीतशास्त्र—के० वासुदेव शास्त्री (प्रथम संस्करण)
६८. संत तुकाराम—ह० रा० दिवेकर (सन् १९३९ ई.)
६९. संपूर्ण भूषण—संपा० रा० गो० काटे (सन् १९३० ई.)
७०. साहित्य विवेचन—क्षेमचंद्र 'सुमन' और मल्लिक (द्वितीय संस्करण)
७१. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण भा० १, २, ना० प्र० सभा, काशी (संवत् २०२१ वि.)
७२. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल (संवत् २००७ वि.)
७३. हिंदी काव्य में प्रकृतिचित्रण—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता (प्रथम संस्करण)
७४. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र (द्वितीय संस्करण)
७५. हिंदी को मराठी संतों की देन—डॉ० विनयमोहन शर्मा (सन् १९५७ ई.)
७६. हिंदी छंद प्रकाश—रघुनंदन शास्त्री (प्रथम संस्करण)
७७. हिंदी नवरत्न—संपा० मिश्रबंधु (षष्ठ संस्करण)
७८. हिंदी भाषा—डॉ० श्यामसुंदर दास (सन् १९५४ ई०)
७९. हिंदी भाषा का इतिहास—धीरेंद्र वर्मा (तृतीय संस्करण)
८०. हिंदी मुहावरा कोश—प्रो० आर० जे० सरहिंदी (तृतीय संस्करण)
८१. हिंदी मुहावरा कोश—संपा० भोलानाथ तिवारी (सन् १९५१ ई०)
८२. हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य—डॉ० सत्यदेव चौधरी (प्रथम संस्करण)
८३. हिंदी रीति साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र (द्वितीय संस्करण)

८४. हिंदी वीरकाव्य–डॉ० टीकमसिंह तोमर (प्रथम संस्करण)
८५. हिंदी साहित्य–डॉ० श्यामसुंदर दास (दशम संस्करण)
८६. हिंदी साहित्य–डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १९५५ ई०)
८७. हिंदी साहित्य का इतिहास–डॉ० रामकुमार वर्मा (सन् १९५७ ई०)
८८. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्र शुक्ल (सं० २०१८ वि.)
८९. हिंदी साहित्य का इतिहास–डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (५वाँ संस्करण)
९०. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास–रामबहोरी शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र (सन् १९५६ ई०)
९१. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास ६; संपा० डॉ० नगेंद्र (संवत् २०१५ वि.)
९२. हिंदी साहित्यकोश–प्रधान संपा० डॉ० धीरेंद्र वर्मा (संवत् २०१५ वि.)

(ग) मराठी ग्रंथ :

१. अनंत फंदी कृत कविता–संपा० शं० तु० शालिग्राम (सन् १९०८ ई०)
२. आजकाल चा महाराष्ट्र–पाध्ये आणि टिकेकर (सन् १९३५ ई०)
३. उग्र प्रकृति संभाजी–गो० स० सरदेसाई (सन् १९३५ ई०)
४. ऐतिहासिक पोवाडे,–भाग १, य० न० केलकर (सन् ९२८ ई०)
५. ऐतिहासिक प्रस्तावना भाग १, वि० का० राजवाडे (सन् १९[illegible]८ ई०)
६. कविता संग्रह–रा० दा० ओक (शके १८९६)
७. जेधे शकावली–भारत इतिहास सं० मंडल, पुणे (सन् १९४७ ई०)
८. छंदोरचना–प्रा० मा० त्रि० पटवर्धन (सन् १९३७ ई०)
९. छत्रपति संभाजी महाराज–वा० सी० बेंद्रे (प्रथम संस्करण)
१०. छत्रपति शिवाजी महाराज–दि० वि० काले (सन् १९६० ई०)
११. तंजावरचे राजे–वि० स० वाकसकर (सन् १९३३ ई०)
१२. तुकाराम–डॉ० रा० ग० हर्षे (शके १८५५)
१३. तुकारामाची गाथा–भाग १, २ सावलाराम आणि मंडली (सन् १९०३ ई०)
१४. तुकाराम चरित्र–ल० रा० पांगारकर (सन् १९२– ई०)
१५. तुकाराम बाबांच्या अभंगाची गाथा—संपा० पु० मं० लाड (सन् १९५५ ई०)
१६. तुकाराम महाराजाची गुरुपरंपरा–वा० सी० बेंद्रे (सन् १९६० ई०)
१७. दत्त संप्रदायाचा इतिहास–रा० चिं० ढेरे (सन् १९५८ ई०)
१८. दासबोध—श्रीरामदास–संपा० कृ० ना० आठल्ये (सन् १९०४ ई०)

१९. नागपूरकर भोसल्यांची बखर–का० रा० गुप्ते (द्वितीय संस्करण)
२०. नागपूरचा सांस्कृतिक इतिहास–दे० गो० लांडगे (सन् १९५४ ई०)
२१. परशुराम भाऊचे चरित्र–मि० षों० लिगुडकर (प्रथम संस्करण)
२२. पांच संतकवि–डॉ० शं० गो० तुलपुले (द्वितीय संस्करण)
२३. पेशवे कालीन महाराष्ट्र–वा० कृ० भावे (प्रथम संस्करण)
२४. पेशव्यांची बखर–कृ० वि० सोहनी (सन् १८७८ ई०.)
२५. प्रभाकर कृत पोवाडे व लावण्या–संपा० शं० न० जोशी (सन् १९२० ई०)
२६. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप–प्रा० ह० श्रीशेणोलीकर (द्वितीय संस्करण)
२७. भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्र कोश–सिद्धेश्वर शास्त्र चित्राव (सन् १९३७ ई०)
२८. मंत्र गीता–संत तुकाराम महाराज कृत—संपादक वा० सी० बेंद्रे (सन् १९५० ई०)
२९. मराठी छंदोरचना–डॉ० ना० ग० जोशी (प्रथम संस्करण)
३०. मराठी छंदोरचनेचा विकास–डॉ० ना० ग० जोशी (प्रथम संस्करण)
३१. मराठी भाषा : उद्गम व विकास–प्रा० कृ० पां० कुलकर्णी (सन् १९५७ ई०)
३२. मराठी रियासत–उत्तर विभाग १, गो०स० सरदेसाई (सन् १९२९ ई०)
३३. मराठी रियासत–मध्य विभाग २, गो०स० सरदेसाई (सन् ११२१ ई०)
३४. मराठी रियासत- मध्य विभाग ३, गो० स० सरदेसाई (सन् १९२१ ई०.)
३५. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास- ल० रा० पांगारकर, खंड २ (सन् १९३५ ई०)
३६. मराठी वाङ्मयाचा परामर्श–प्रा०गं०भा० निरंतर (सन् १९४९ ई०)
३७. मराठी वाङ्मयाभिरुचीचे विहंगमावलोकन–प्रा० रा० श्री जोग (सन् १९५६ ई०)
३८. मराठी साहित्याची रूपरेखा–डॉ० वि० पां० दाडेकर (सन् १९५२ ई०)
३९. मराठी साहित्याचे सिंहावलोकन–द० के० केलकर (सन् १९६३ ई०)
४०. मराठ्यांच्या सत्तेचा उत्कर्ष–म० गो० रानडे (मराठी सं०) (सन् १९२५ ई०)
४१. महाराष्ट्रांच्या संबंधाने चार उद्गार–रा० रा० भागवत (प्रथम संस्करण)
४२. महाराष्ट्र आणि मराठे–सेतुमाधवराव पगडी (सन् १९६२ ई०)
४३. महाराष्ट्र इतिहास दर्शन–रा० चिं० ढेरे व भा० द० खरे (सन् १९६१ ई०)

४४. महाराष्ट्र दर्शन–गो० नी० दांडेकर (सन् १९६० ई०)
४५. महाराष्ट्र धर्म–भा० वा० भट (शके १८४७ ई०)
४६. महाराष्ट्र धर्माचे प्रणेते–आकाशवाणी व्याख्यान संग्रह (सन् १९४९ ई०)
४७. महाराष्ट्र सारस्वत–वि० ल० भावे (चवथे संस्करण)
४८. महाराष्ट्राचा सांस्कृतिक इतिहास–शं० दा० पेंडसे (सन् १९३१ ई०)
४९. महाराष्ट्राची चार दैवते–प्रा० ग० ह० खरे (सन् १९५८ ई०)
५०. महाराष्ट्रातील पाँच संप्रदाय–पं० रा० मोकाशी (सन् १९५४ ई०)
५१. महाराष्ट्रीय शब्दकोश–य० रा० दाते (सन् १९३६ ई०)
५२. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भा० १७–डॉ० श्री० व्यं० केतकर (सन् १९२५ ई०)
५३. महाराष्ट्रीयांचे काव्यपरीक्षण–डॉ० श्री० व्यं० केतकर (सन् १९२८ ई०)
५४. मुसलमानी रियासत–गो० स० सरदेसाई (सन् १९२८ ई०)
५५. मोरोपंत चरित्र–ल० रा० पांगारकर (प्रथम संस्करण)
५६. युगप्रवर्तक श्री शिवाजी महाराज–वा० कृ० भावे (सन् १९५५ ई०)
५७. रामजोशीकृत लावण्या–संपा० शं० तु० शालिग्राम (सन् १९०८ ई०)
५८. रामदासाचे समग्र ग्रंथ–चित्रशाला प्रकाशन, पुणें (प्रथम संस्करण)
५९. लोकनाट्याची परंपरा–वि० कृ० जोशी (सन् १९६१ ई०)
६०. वैदर्भ काव्यसंग्रह–संपा० अ० सी० साठे (प्रथम संस्करण)
६१. शककर्ता शिवाजी–गो० स० सरदेसाई (सन् १९३५ ई०)
६२. शहाजी–गो० स० सरदेसाई (सन् १९३५ ई०)
६३. शिवकालीन पत्रव्यवहार–संपा० वि० का० राजवाडे (प्रथम संस्करण)
६४. शिवकालीन पत्रसारसंग्रह खंड ३–शं० ना० जोशी (सन् १९३७ ई०)
६५. शिवचरित्र प्रदीप–द० वि० आपटे व स० म० दिवेकर (शके १८४७)
६६. शिवचरित्र वृत्त संग्रह–खंड ३–संपा०–ग० ह० खरे (प्रथम संस्करण)
६७. शिवाजी निबंधावली–भा० १, २–श्री शिव चरित्र कार्यालय–पुणें (सन् १९३० ई०)
६८. श्री गुरु गोरक्षनाथ–रा० चिं० ढेरे (सन् १९५८ ई०)
६९. श्री शिवछत्रपतींची ९१ कलमी बखर–वि० स० वाकसकर (सन् १९६२ ई०)
७०. श्री शिवछत्रपति महाराज यांचे सप्त प्रकरणात्मक चरित्र–म० रा० चिटणीस (सन् १९२४ ई०)
७१. श्री समर्थ चरित्र–न० रा० फाटक (सन् १९५१ ई०)
७२. श्री समर्थ रामदास स्वामींचे चरित्र–केरल कोकील (सन् १९०४ ई०)

७३. श्री समर्थांचा गाथा—अनंतदास रामदासी (शके १८५०)
७४. संकीर्ण निबंध—वि० का० राजवाड़े (सन् १६३५ ई०)
७५. संकेत कोश—श्री० शा० हणमंते (सन् १६५८ ई०)
७६. संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति—प्रा० गं० बा० सरदार (द्वितीय संस्करण)
७७. सगनभाऊकृत लावण्या व पोवाड़े—संपा० जहागिरदार अधिकारी (सन् १६२४ ई०)
७८. समर्थ चरित्र—स० खं० आलतेकर
७९. हिंदुस्थानचा अभिनव इतिहास-वि० सी० चितले (प्रथम संस्करण)
८०. होनाजी बालाकृत लावण्या—संपा० शं० तु० शालिग्राम (सन् १६०८ ई०)

(घ) अंग्रेजी ग्रंथ :

१. आचार्य पुष्पांजली (डॉ० डी० आर० भांडारकर कॉम्मेमोरेशन वाल्यूम) (सन् १६४० ई०)
२. एनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका भा० ८ (सन् १६६२ ई०)
३. एस्थेटिक (क्रोचेकृत)—अनु० डलस एंजली (सन् १६२२ ई०)
४. कैटलाग ऑव द लायब्रेरी ऑव इंडिया ऑफिस भा० ८ (सन् १६०४ ई०)
५. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया भा० ४—वोलजले हैग (सन् १६५७ ई०)
६. द प्रिंसिपल्स ऑव आर्ट—आर० जी० कलिंगवूड (सन् १६५५ ई०)
७. द मीनिंग ऑव आर्ट—हरबर्ट रीड (सन् १६२२ ई०)
८. फॉरीन बायाग्राफीज ऑव् शिवाजी भा० २—सुरेंद्रनाथ सेन (प्रथम संस्करण)
९. मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान—डॉ० ग्रियर्सन (सन् १८८६ ई०)
१०. शिवाजी एंड हिज टाइम्स—यदुनाथ सरकार (सन् १६१६ ई०)
११. शिवाजीज व्हिजिट टु औरंगजेब अॅट आगरा—जदुनाथ सरकार एंड रघुवीर सिंह (सन् १६६२ ई०)
१२. हिंदी लिटरेचर—एफ् ई० कीथ (सन् १६२० ई०)
१३. हिस्ट्री ऑव् औरंगजेब—भा० ३-जदुनाथ सरकार (सन् १६१६ ई०)
१४. हिस्ट्री ऑव् द मराठाज—जेम्स ग्रांट डफ, भा० १ (सन् १६१८ ई०)
१५. हिस्ट्री ऑव् द मराठा पिपुल—भा० २, किंकेड एंड पारसनीस (प्रथम संस्करण)

(ङ) पत्र पत्रिकाएँ :

हिंदी :

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ सं० ३-४, वर्ष ५३ सं० २, वर्ष ६० सं० २ आदि
२. मनोरमा-अप्रैल १९२७
३. माधुरी-जुलाई १९२४; अप्रैल १९२६, जून १९४५
४. राष्ट्रवाणी-नवंबर, १९६०
५. विशाल भारत-अगस्त १९३०, जनवरी १९५६
६. सप्तसिंधु-जून १९६३
७. साहित्य संदेश-मार्च १९५६
८. साहित्य समालोचक-भा० ४, संख्या १ संवत् १९९६ वि०
९. सुधा-दिसंबर १९३२
१०. हरिऔध-अप्रैल १९५८, जुलाई १९५८, अक्तूबर १९५९
११. हिंदी अनुशीलन, अप्रैल, जून १९६१

मराठी :

१. नवभारत-नवंबर १९५०
२. युगवाणी-अप्रैल १९५२

अंग्रेजी :

१. एनल्स ऑव् द भांडारकर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, पूना ग्रंथ १६, भा० ३-४
२. द जर्नल ऑफ् द तंजौर सरस्वती महल लायब्रेरी-सन् १९६० ई० (भा० १४ नं० १), सन् १९६१ ई० (भा० १५ नं० १), सन् १९६३ ई० (भा० १७ नं० १)

(च) हस्तलिखित ग्रंथसूची

१. अमरेश विलास-नीलकंठ कृत-शिवराम पुस्तकालय, गुलेर (काँगड़ा)।
२. उक्तिविलास-सीताराम कृत, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
३. कवींद्र कल्पलता-कवींद्राचार्य सरस्वती कृत, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
४. कवींद्र कल्पलता—भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
५. कवींद्र चंद्रिका—कवींद्राचार्य सरस्वती कृत, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर

६. कवींद्र चंद्रिका–भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना
७. कृष्ण चरित्र–चिंतामणि कृत, डॉ० सत्यकुमार चंदेल की निजी प्रति
८. छंदोलता चिंतामणि कृत, राजस्थान, पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जयपुर
९. छंदोविचार—चिंतामणि कृत, सरस्वती महल, तंजौर
१०. नखसिख—नृपशंभु कृत, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
११. नवरसरंग—लोकमणि कृत, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२. पंचभाषा विलास—शाहराज कृत, सरस्वती महल ग्रथालय, तंजौर
१३. भाषा पिंगल–चिंतामणिकृत–नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
१४. ,, ,, ओरीएन्ट इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
१५. रसिक विलास–केहरी कविकृत–अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
१६. रसविलास–चिंतामणिकृत–अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
१७. राधावंशीधर विलास–शाहराज कृत–सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर
१८. राधामाधवविलास चंपू–जयरामकृत–राजवाडे इतिहास संशोधन मंदिर, धुलिया
१९. ,, ,, ,, सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर
२०. विश्वातीत विलास–शाहराजकृत–सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर
२१. संगीत मरकंद (संस्कृत) वेदकवि कृत–सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर
२२. सातसतक–नृपशंभु कृत–नागरीप्रचारिणी, सभा वाराणसी
२३. साहविलास–संकर सुकविकृत–सरस्वती महल ग्रंथालय, तंजौर
२४. होनाजी, प्रभाकर, अनंत फंदी, सगनभाऊ, नृपशंभु, शिवराज, देवनाथ आदि के विभिन्न स्थानों से प्राप्त स्फुट छंद

(छ) अप्राशित शोधप्रबंध :

(१) चिंतामणि त्रिपाठी और उनका काव्य—डॉ० सत्यकुमार चंदेल
(२) हिंदी और मराठी का वैष्णव साहित्य और उसका तुलनात्मक अध्ययन —डॉ० न० चिं० जोगलेकर